G1/110B

भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास

पहला भाग

[प्राचीनकाल से १५२५ ईसवी तक]

श्रीनेत्र पाण्डेय

भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास

पहला भाग

XI A

भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास

(प्राचीन काल से १५२५ ई० तक)

(पहला भाग)

G1/110B

अठारहवाँ संस्करण

लेखक

प्रो० श्रीनेत्र पाण्डेय

एम० ए०, एल-एल० बी०

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गाधी मार्ग, इलाहाबाद-१

"भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित।"

State Museum Library Lucknow
G1
1106

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित
●
अठारहवाँ संस्करण
१६७७-७८
●
मूल्य Rs 7 - 30

कॉपीराइट
श्री श्रीनेत्र पाण्डेय

●
लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के पूर्व भी लेखक द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। यद्यपि उन ग्रन्थों से भी अध्यापकों तथा विद्यार्थियों का बड़ा कल्याण हुआ है, परन्तु उनमें मौलिकता का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही विवेचनात्मक है, परन्तु स्पष्टता तथा सुबोधता का आद्योपान्त ध्यान रक्खा गया हैं, संस्कृत, अरबी तथा फारसी के जिन महत्त्वपूर्ण शब्दों का इस ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है, उनकी व्याख्या कर उनके सारगर्भित अर्थ को समझा दिया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ इतिहास-रचना में एक नई शैली का सूत्रपात करता है। तथ्यों के बाहुल्य से ग्रन्थ बोझिल नहीं बनाया गया है। वरन् बड़ी ही सरल तथा सुबोध शैली में विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है और तथ्यों के तारतम्य की निरन्तरता बनाये रखने का पूरा प्रयास किया गया है। लेखक ने यथा-स्थान अपने मौलिक विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न भी किया है। इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि ग्रन्थ को पढ़ने से विद्यार्थियों में गुलामी की भावना न उत्पन्न हो वरन् उनमें स्वाभिमान तथा जात्यभिमान की वृद्धि हो। निष्पक्ष-निर्णय देने का लेखक ने सर्वत्र प्रयास किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ नई शैली में लिखा गया है, परन्तु अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की की पूर्ति का ध्यान रक्खा गया है। आशा है, यह ग्रन्थ इतिहास की रचना तथा उसके अध्ययन के एक नये युग का सूत्रपात करेगा।

—लेखक

नये संस्करण की भूमिका

विद्यार्थियों तथा अध्यापकों ने इस ग्रन्थ का जो स्वागत किया है उसके फलस्वरूप बारह वर्ष की अवधि में ही यह इसका अठारहवाँ संस्करण प्रकाशित हो रहा है । इस पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण में न केवल पर्याप्त संख्या में आवश्यक मानचित्र दे दिये गये हैं बल्कि स्थान-स्थान पर विभिन्न निष्कर्षों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध भारतीय एवं विदेशी इतिहासज्ञों के मत भी उद्धृत कर दिए गए हैं । इस संस्करण के प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में विश्रुत विद्वानों के उद्धरण देकर ग्रन्थ को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास किया गया है, विद्यार्थियों तथा जिज्ञासु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

—श्रीनेत्र पाण्डेय

३१-सी० बेली रोड, प्रयाग
मई, १९७७ ई०

विषय-सूची

१—भूगोल तथा इतिहास का सम्बन्ध १
२—भारत की मौलिक एकता १६
३—प्राचीन भारत का इतिहास जानने के साधन २३
४—पाषाण-कालीन सभ्यता २७
५—कोल तथा द्रविड़ सभ्यता ३३
६—सिन्धु-घाटी की सभ्यता ३७
७—आर्यों का परिचय ४७
८—वैदिक-काल की सभ्यता ५६
९—वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम ७५
१०—महाकाव्यों का काल ८२
११—धार्मिक क्रान्ति का युग ९२
१२—बौद्ध-कालीन भारत १२६
१३—सिकन्दर का आक्रमण १३२
१४—मौर्य-साम्राज्य १४४
१५—विच्छिन्नता का युग १९४
१६—मौर्योत्तरकालीन सभ्यता तथा संस्कृति २०९
१७—गुप्त-साम्राज्य २१५
१८—पुष्यभूति-वंश २५४
१९—राजपूत-वंश २६६
२०—दक्षिण-भारत के राज्य २८८
२१—भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध २९४
२२—इस्लाम का उत्कर्ष ३०३
२३—अरब वालों का भारत पर आक्रमण ३०८
२४—तुर्कों का उत्थान ३१४
२५—गजनवी-वंश ३१७
२६—गोरी-वंश ३३०
२७—दिल्ली-सल्तनत का युग ३४२

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२८—गुलाम-वंश ३४६
२९—खिलजी-वंज ३६८
३०—तुगलक-वंश ३९०
३१—सैय्यद-वंश ४१७
३२—लोदी-वंश ४१९
३३—बहमनी तथा विजयनगर के राज्य ४२४
३४—सूफी-मत तथा भक्ति-आन्दोलन ४३३
३५—पूर्व-मध्यकालीन भारत ४३९
३६—प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान ४४९
३७—परीक्षोपयोगी प्रश्न ४५१

अध्याय १

भूगोल तथा इतिहास का सम्बन्ध

"History is related to space, place or locality. It must have a physical basis. It must be rooted in the soil. There must be a ground prepared for it. In the early stages Man's History was very largely the Creation of Geography. He lacked the mental power by which he could control to his advantage the forces and resources of Nature."

—Dr .R. K. Mookerji.

भूगोल का अर्थ—भूगोल दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् भू + गोल। भू का अर्थ होता है भूमि अथवा पृथ्वी और गोल का अर्थ होता है घेरा अथवा मण्डल। इस प्रकार भूगोल का शाब्दिक अर्थ हुआ भू-मण्डल अथवा पृथ्वी या भूमि का घेरा। व्यापक अर्थ में भूमि के अन्दर वह सभी चीजें आ जाती हैं जो पृथ्वी के भीतर, पृथ्वी पर तथा पृथ्वी के ऊपर विद्यमान हैं और जो प्रकृति की देन हैं अर्थात् जिन्हें मनुष्य ने अपने परिश्रम से उत्पन्न नहीं किया है। पृथ्वी के भीतर विभिन्न प्रकार के के खनिज पदार्थ यथा लोहा, कोयला, ताँबा, सोना, चाँदी, मिट्टी का तेल आदि पाये जाते हैं। पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार के वनस्पति, जीव-जन्तु, नदियाँ, तालाब, सागर आदि पाये जाते हैं। पृथ्वी के ऊपर विशाल वायुमण्डल पाया जाता है। अतएव व्यापक अर्थ में यह सभी चीजें भूमि के अन्दर आ जाती हैं। भूमि की बनावट विभिन्न प्रकार की होती है। कहीं की भूमि समतल होती है और कहीं की ऊँची-नीची, कहीं की भूमि उपजाऊ होती है तो कहीं की कँकरीली-पथरीली और कहीं की मरुस्थल। इसी प्रकार विभिन्न स्थानों के तापक्रम अथवा जलवायु में भी अन्तर होता है। कहीं की जलवायु अत्यन्त गर्म होती है तो कहीं की अत्यन्त ठंडी और कहीं की मध्यम अर्थात् न बहुत गर्म और न बहुत ठंडी।

किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हम उपर्युक्त सभी बातों का अध्ययन करते हैं अर्थात् उस देश की सीमा कैसी है, उसका क्षेत्रफल कितना है, उसे कितने प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है और प्रत्येक प्राकृतिक भाग की दशा कैसी है, उसमें कौन-कौन से खनिज पदार्थ पाये जाते हैं, उसके विभिन्न भागों की जलवायु कैसी है, उसकी भूमि किस प्रकार की है, वहाँ कौन-कौन से वनस्पति तथा जीव-जन्तु पाये जाते हैं, वहाँ किस प्रकार के पर्वत, नदियाँ, जलाशय तथा सागर विद्यमान हैं, उस देश में कौन से लोग रहते हैं और वे अपना जीवन किस

प्रकार व्यतीत करते हैं । अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूगोल वह सामाजिक शास्त्र है जो हमें भूमि तथा उस पर निवास करने वाले मनुष्यों के विषय में विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराता है ।

इतिहास का अर्थ—इतिहास तीन शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् इति + ह + आस । संस्कृत में इति का अर्थ होता है ऐसा ही, ह का अर्थ होता है निश्चित रूप से और आस का अर्थ होता है था । इस प्रकार इतिहास का शाब्दिक अर्थ हुआ निश्चित रूप से ऐसा ही था अर्थात् जो घटनाएँ भूत-काल में निश्चित रूप से घटी हैं वही इतिहास हैं । इतिहास शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से की जाती है । इस व्याख्या के अनुसार इतिहास केवल दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् इतिह + आस । इतिह अव्यय शब्द है और इसका अर्थ है जो परम्परा के अनुकूल हो । अतएव इतिहास का अर्थ हुआ वे घटनायें जो परम्परा के अनुकूल हों । इतिहास शब्द की एक तीसरी व्याख्या भी है । इस व्याख्या के अनुसार इतिहास दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् इति तथा हास । इति का अर्थ होता है अन्त और हास का अर्थ होता है हँसी । हमारे ऋषि-मुनि भौतिक जीवन को केवल हँसी-खेल समझते थे । अतएव इतिहास का अर्थ भौतिक जीवन की उन घटनाओं से है जिनका अन्त हो गया है अर्थात् जो भूतकाल में घट चुकी हैं । परन्तु व्यापक अर्थ में इतिहास वह सामाजिक शास्त्र है जो हमें भूतकाल के लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन का परिचय कराता है । जब हम किसी देश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात का पता लग जाता है कि वहाँ पर किन-किन राज-वंशों का उत्थान-पतन हुआ, उनके उत्थान तथा पतन के क्या कारण थे, उनकी शासन व्यवस्था कैसी थी, और उसके क्या परिणाम हुए । जब हम वहाँ के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात का ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वहाँ के लोगों के आचार-व्यवहार, उनके रीति-रिवाज, उनका खान-पान तथा उनकी वेष-भूषा कैसी थी; उनके आमोद-प्रमोद के साधन क्या थे; उनमें वर्ग तथा श्रेणी-भेद था अथवा नहीं और यदि था तो प्रत्येक की क्या दशा थी; उस समाज में कौन-कौन सी कुरीतियाँ प्रचलित थीं, उनका प्रचलन किस प्रकार हुआ और उनको दूर करने के लिये क्या प्रयत्न किये गये । जब हम किसी देश के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात की जानकारी प्राप्त हो जाती है कि उनकी जीविका के क्या साधन थे अर्थात् वे कौन-कौन सा व्यवसाय करते थे, उनके उद्योग-धन्धे क्या थे, मुद्रा की क्या व्यवस्था थी और उनका जीवन सम्पन्न था अथवा विपन्न । जब हम किसी देश के धार्मिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तब हम इस बात से अवगत हो जाते हैं कि वहाँ के लोग आस्तिक थे अथवा नास्तिक और यदि वे आस्तिक थे तो किन देवी-देवताओं में उनका विश्वास था और उनकी वे किस प्रकार पूजा-अर्चना किया करते थे; अपने धर्म की रक्षा तथा प्रचार के लिये उन्होंने क्या-क्या किया; उस धर्म के कौन-कौन से प्रमुख प्रचारक तथा सुधारक थे; उस धर्म के अनुयायियों में धार्मिक

सहिष्णुता थी अथवा नहीं और उस धर्म के मूल तत्व क्या थे। जब हम किसी देश के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात की जानकारी प्राप्त हो जाती है कि वहाँ पर शिक्षा की क्या व्यवस्था थी, शिक्षा का स्वरूप तथा उसकी विधि कैसी थी और शिक्षा के कौन-कौन से प्रमुख केन्द्र थे, साहित्य तथा कला में वहाँ के लोगों की कितनी रुचि थी, किस प्रकार के साहित्य तथा किन-किन कलाओं का उन लोगों ने सृजन किया और उस देश ने किन-किन महान् साहित्यकारों तथा कलाकारों को जन्म दिया। इस प्रकार व्यापक अर्थ में इतिहास मनुष्य के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक जीवन का क्रम-बद्ध वैज्ञानिक विवेचन करता है। वास्तव में इतिहास मनुष्य के भूत-काल के जीवन का सांगोपांग अध्ययन है।

भौगोलिक परिस्थितियों का इतिहास पर प्रभाव—भूगोल तथा इतिहास में बड़ा घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में भूगोल को इतिहास का 'दर्पण समझना चाहिए। किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वहाँ के इतिहास का पर्याप्त आभास मिल जाता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियों की उपज कहा गया है। अतएव भौगोलिक परिस्थितियों का उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक परिस्थितियों का तात्पर्य यह है कि उस देश की सीमा कैसी है, उसका विस्तार कैसा है, उसकी भू-रचना कैसी है, उसमें कौन-कौन से खनिज पदार्थ पाये जाते हैं, वहाँ की जलवायु कैसी है, उसे कितने प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है और प्रत्येक भाग की दशा कैसी है; उस देश में वर्षा तथा वनस्पतियों का वितरण किस प्रकार का है, पर्वतों तथा नदियों की स्थिति किस प्रकार की है। इन सभी बातों का वहाँ के लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर, जिसका हम इतिहास में अध्ययन करते हैं बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का वहाँ के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ता है यह निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा :—

(१) सीमा का प्रभाव—किसी देश की सीमा का उसके इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि उसकी अपनी निश्चित 'प्राकृतिक सीमाएँ होती हैं तो पड़ोस के देशों से वह पृथक् हो जाता है और स्वतन्त्र रूप से वह अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास करता है। प्राचीन काल में जब आने-जाने के साधनों की बड़ी कमी थी तब ऐसे देशी-विदेशी आक्रमणों से भी बहुत-कुछ सुरक्षित रहते थे। अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ सीमा के लिये झगड़े होने की भी बहुत कम संभावना थी।

(२) विस्तार का प्रभाव—किसी देश के विस्तार का भी उसके इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। विशाल देशों में अनेक राज्यों के स्थापित हो जाने तथा उनमें निरन्तर संघर्ष चलते रहने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशा में राजनीतिक एकता स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। विशाल देश में विभिन्न प्रकार की जातियों के निवास करने की संभावना रहती है, जिनकी प्रायः अपनी अलग-अलग भाषा, धर्म, रीति-रिवाज तथा संस्कृति होती है। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता की भावना समाप्त हो जाती है और छिन्न-भिन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ बलवती हो जाती हैं।

वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ जाने के कारण ईर्ष्या-द्वेष बढ़ जाता और सद्भावना तथा सहयोग का अभाव हो जाता है। विशाल देश के विभिन्न की भूमि तथा जलवायु में अन्तर हो जाने के कारण उनकी आर्थिक समस्याएँ भी सी नहीं होतीं। अतएव उनको सुलझाने में भी कठिनाई होती है।

(३) **भूमि का प्रभाव**—भूमि का भी इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव है। जब मनुष्य किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से निवास करने लगता है वही उसकी जन्म-भूमि हो जाती है जो उसे अत्यन्त प्रिय हो जाती है और उसके वह अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर करने के लिये उद्यत हो जाता है। से देश-प्रेम तथा देश-भक्ति की भावना उत्पन्न होती है और इसी के फलस्वरूप बड़े देशभक्तों तथा शहीदों का प्रादुर्भाव होता है जो अपने देश के लिए अपना सर्व निछावर कर देते हैं। भू-रचना का भी इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूमि उपजाऊ हुई तो वहाँ के लोगों को थोड़े ही परिश्रम में जीविका के साधन प्राप्त जाते हैं और उन्हें साहित्य तथा कला सृजन के लिये काफी समय प्राप्त हो जा है। परिणाम यह होता है कि ऐसे प्रदेशों के लोग शान्ति-प्रिय हो जाते हैं और यु कला में उनकी विशेष रुचि नहीं रह जाती। सामरिक प्रवृत्ति के न होने के कारण प्रायः युद्धों में परास्त हो जाते हैं। अपना अधिकांश समय वे अपनी सभ्यता त संस्कृति के विकास में लगाते हैं। साहित्य तथा कला से उनका प्रगाढ़ प्रेम हो जाता और वे अपना अधिकांश समय साहित्य तथा कला के सृजन में लगाते हैं। धन-सम्पन्न के कारण उनमें विलासिता भी आ जाती है और वे अपना समय प्रायः आमोद-प्रमो में व्यतीत करने लगते हैं। इससे उनमें वीरता, साहस, शूरता आदि गुणों की क पाई जाती है और उनमें कायरता तथा कापुरुषता आ जाती है। इसके विपरीत जि देश की भूमि उपजाऊ नहीं होती वहाँ के लोगों को अपनी जीविका के लिए दिन र परिश्रम करना पड़ता है। इससे साहित्य तथा कला को उन्नत करने के लिए उन्हें सम नहीं मिलता और इनमें उनकी कोई रुचि नहीं रहती है। ऐसी दशा में ऐसे देशों के लोग प्रायः असभ्य तथा बर्बर होते हैं। अपनी जीविका के लिये प्रकृति के साथ निरन्त संघर्ष करते रहने के कारण वे बड़े ही शूर-वीर तथा साहसी होते हैं। वे बड़ी सामरि प्रवृत्ति के तथा बड़े ही रण-कुशल होते हैं। लूट-मार उनका प्रायः व्यवसाय-सा ब जाता है।

(४) **जलवायु का प्रभाव**—किसी देश की जलवायु का भी उसके इतिहा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की जलवायु गर्म होती है वहाँ के लोग प्रा निर्बल, आलसी तथा कम परिश्रमी होते हैं। इसके विपरीत जिस देश की जलवा ठंडी होती है वहाँ के लोग वीर, साहसी तथा परिश्रमी होते हैं। अतएव जब का इनमें संघर्ष हो जाता है तो प्रायः ठंडे देशों के लोग गर्म देशों के लोगों पर विजय प्रा कर लेते हैं। जलवायु का खान पान तथा वेश-भूषा पर भी प्रभाव पड़ता है। ठंडे दे के लोग प्रायः मांसाहारी होते हैं और गर्म देशों के लोग प्रायः शाकाहारी होते है ठंडे देशों के लोगों को अधिक तथा गर्म वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है परन्तु

ों के लोगों को कम तथा ठंडे वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है ।

(५) प्राकृतिक साधनों का प्रभाव—प्राकृतिक साधनों के अन्दर हम तीन जों को रक्खेंगे अर्थात् खनिज पदार्थ, वनस्पति तथा जीव-जन्तु । इन तीनों ही इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ता है । जिस देश में खनिज पदार्थों की अधिकता ती है वह बड़ा ही सम्पन्न देश बन जाता है । वहाँ पर बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे आरंभ जाते हैं और आज-कल के विज्ञान के युग में ऐसे ही देश सबसे अधिक बलवान बन ये हैं और उनकी गणना संसार से प्रमुख राष्ट्रों में हो रही है । सम्पन्न होने के ारण ऐसे देशों के लोगों को साहित्य तथा कला के सृजन के लिए काफी समय मिल ाता है । ऐसे देशों के लोग विज्ञान के विकास में लगे रहते हैं और नई-नई खोज था आविष्कार किया करते हैं जिनसे सारे संसार का कल्याण होता है । इसके विप- ीत जिन देशों में खनिज पदार्थों की कमी रहती है उनमें बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का ोना सम्भव नहीं होता है । ऐसे देश प्रायः निर्धन रहते हैं और सभ्यता की दौड़ में पीछे ह जाते हैं । सम्पन्न राष्ट्रों से लोहा लेने की इनमें शक्ति नहीं रहती । वनस्पति ा भी मानव-जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । जहाँ जिस प्रकार की वनस्पति ायी जाती है, वहाँ के लोगों का व्यवसाय उसके अनुकूल ही हो जाता है । जहाँ घास बड़े-बड़े मैदान होते हैं वहाँ के लोग प्रायः पशु-पालन का कार्य करने लगते हैं । हाँ जंगल पाये जाते हैं वहाँ के लोग प्रायः लकड़ी का काम करने लगते हैं । जीव न्तुओं का भी मानव-जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । पशुओं का शिकार र मनुष्य अपनी जीविका चलाता है । उपयोगी पशुओं को मनुष्य पालता है और, नसे अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । दूध, मक्खन, घी मड़ा आदि उसे इन्हीं पशुओं से प्राप्त होता है । मछलियाँ पकड़कर मनुष्य उनसे ी अपनी जीविका चलाता है । बहुत से जीव-जन्तु बड़े हानिकारक होते हैं जिनसे मनुष्य की कृषि आदि को बड़ी हानि पहुँचती है ।

(६) पर्वतों का प्रभाव—पर्वतों का भी इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता ै । यदि कोई देश चारों ओर से पर्वत-मालाओं से घिरा रहता है तो वह अपने पड़ोसी ेशों से भिन्न अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास करता है । प्राचीन काल में व जब ामनागमन से साधनों में कमी थी तब ऐसे देश बहुत बड़े अंश में बाहरी आक्रमणों से ुरक्षित रहते थे । यदि पर्वत बर्फ से ढँके होते हैं तो उस देश की जलवायु ठंडी हो जाती है और वहाँ के लोग वीर, साहसी तथा युद्ध-प्रिय हो जाते हैं और अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं । बर्फ से ढँके हुए पर्वतों से निकली हुई नदियाँ ाल भर पानी से भरी रहती हैं जिनसे सिंचाई में बड़ी सहायता मिलती है । पर्वत-ालाएँ कभी-कभी मानसूनी हवाओं को रोककर वर्षा भी कराती हैं । पर्वतों से विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ तथा जड़ी-बूटियाँ भी मिलती हैं । इस प्रकार पर्वतों का ानव-जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है ।

(७) मैदानों का प्रभाव—मैदानों का भी इतिहास पर कुछ कम प्रभाव नहीं ड़ता है । मैदान प्रायः उपजाऊ होते हैं । अतएव कृषि तथा पशु-पालन यहाँ के लोगों

का मुख्य व्यवसाय हो जाता है। मैदानों के लोग प्रायः शान्ति-प्रिय होते हैं और यु से उन्हें घोर घृणा हो जाती है अतएव वे असभ्य तथा लड़ाकू जातियों का साम करने में असमर्थ हो जाते हैं। मैदानों के लोगों को थोड़े ही परिश्रम से जीविका साधन प्राप्त हो जाते हैं। अतएव इन्हें साहित्य तथा कला के सृजन के लिए स प्राप्त हो जाता है। मैदान के लोगों की साहित्य तथा कला में बड़ी रुचि होती और वे इसी के सृजन में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। मैदानों के निवा प्रायः विलास-प्रिय हो जाते हैं और विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद में अपना स व्यातीत करते हैं।

(८) **मरुस्थल का प्रभाव**—मरुभूमि का भी इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभा पड़ता है। मरुस्थल के निवासी प्रायः बड़े वीर, साहसी तथा स्वतन्त्रता-प्रेमी होते है मरुस्थल प्रायः स्वतन्त्रता-प्रेमियों के लिए शरण-स्थल बन जाता है। मरुस्थल के निवा प्रायः युद्ध-प्रिय होते हैं और साहित्य तथा कला में उनकी विशेष रुचि नहीं होती धन की कमी के कारण उनका जीवन बड़ा संघर्षमय होता है।

(९) **समुद्र से दूरी का प्रभाव**—मानव-जीवन पर समुद्र से दूरी का भी बहु बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो देश चारों ओर से समुद्र से घिरे रहते हैं वे बहुत बड़े अं में वैरियों के आक्रमणों से सुरक्षित रहते हैं। वहाँ के लोग बड़े चतुर नाविक बन जा हैं और विदेशों के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। ऐसे दे विदेशों में उपनिवेशों को स्थापित करने का प्रयत्न करने लगते हैं और साम्राज्यवा बन जाते हैं। सागरीय युद्ध में वे बड़े कुशल हो जाते हैं और समुद्र पर अपना आधि पत्य स्थापित कर अपनी व्यापारिक तथा राजनीतिक सत्ता को बढ़ाने का प्रयत करते हैं। समुद्र से उन्हें बड़ा प्रेम हो जाता है और इस प्रेम की छाप उनके साहि में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

(१०) **पड़ोसी देशों की प्राकृतिक दशा का प्रभाव**—किसी देश के इतिहास प न केवल उस देश की ही प्राकृतिक दशा का प्रभाव पड़ता है वरन् पड़ोसी देशों क भी प्राकृतिक दशा का उस पर प्रभाव पड़ता है। यदि पड़ोस के देश निर्धन हैं औ उनकी प्राकृतिक दशा ऐसी है कि वहाँ के लोग युद्ध-प्रिय तथा सामरिक प्रवृत्ति के है तो उनसे सदैव संघर्ष चलते रहने की सम्भावना तथा उनकी ओर से आक्रमण हों की आशंका बनी रहेगी। परन्तु यदि पड़ोसी देश सम्पन्न हैं और वहाँ की भौगोलि परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि वहाँ के लोग शान्ति-प्रिय हैं और साहित्य तथा कला रुचि रखते हैं तो उनके साथ मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध बने रहने की सम्भावना बनी रहत है। प्रायः ऐसे देशों के साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता और पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सहयो तथा सहकारिता बढ़ जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का वहाँ के लोगों के रहन-सहन, उनके खान-पान तथा उनकी वेश-भूषा प बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि किसी देश की भौगोलि

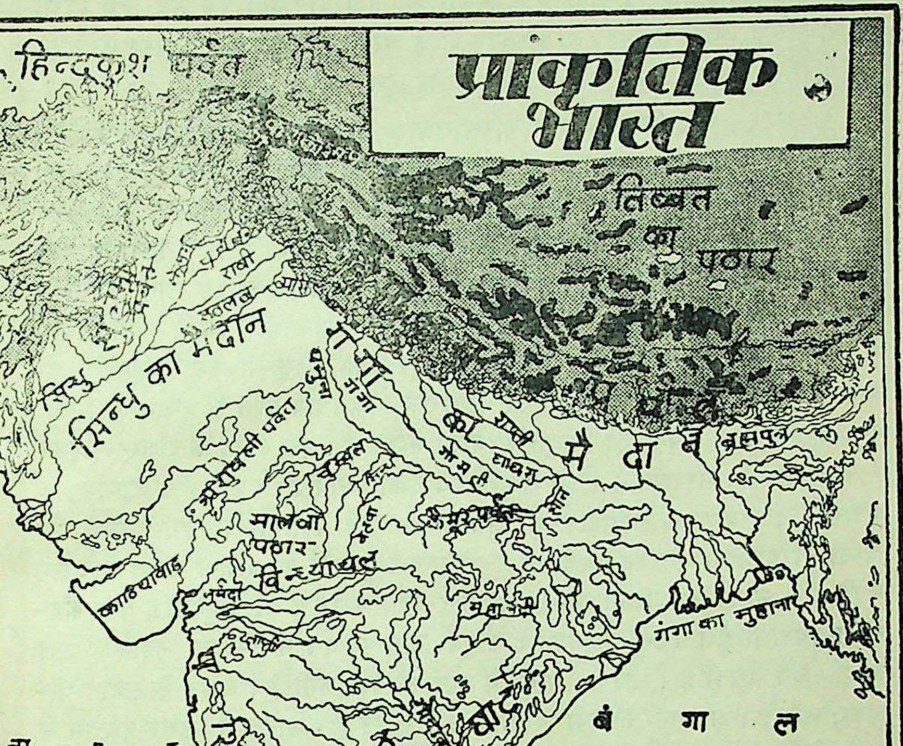
प्राकृतिक भारत
हिन्दकुश पर्वत
तिब्बत का पठार
रावी
सतलज
सिन्धु
सिन्धु का मैदान
गंगा
यमुना
अरावली पर्वत
चम्बल
मालवा पठार
विन्ध्याचल
काठियावाड़
नर्मदा
गंगा का मैदान
राप्ती
घाघरा
गोमती
सोन
कैमूर पर्वत
ब्रह्मपुत्र
महानदी
गंगा का मुहाना
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
दक्षिण का पठार
पश्चिमी घाट
पूर्वी घाट
गोदावरी
कृष्णा
लंका
अंडमन द्वीप समूह
हिन्द महासागर
☐ ६००० फुट से अधिक
■ १८००० फुट से अधिक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परिस्थितियाँ उस देश के इतिहास के निर्माण में बड़ा योग देती है। अब हम भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे और इस बात पर विचार करेंगे कि उन परिस्थितियों का हमारे देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है।

भारत की भौगोलिक परिस्थितियाँ—भारत एक अत्यन्त विशालदेश है। यदि रूस को यूरोप से अलग कर दें तो भारतवर्ष का क्षेत्रफल उतना ही बड़ा होगा जितना शेष यूरोप का। अतएव हम भारतवर्ष को एक छोटा-सा महाद्वीप कह सकते हैं। इस विशाल देश की निश्चित प्राकृतिक सीमाएँ हैं। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं। हिमालय पर्वत की शाखाएँ उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व की ओर फैली हुई हैं। हिमालय पर्वत में कुछ पर्वतीय मार्ग हैं जिनसे पड़ोसी देशों में जाना सम्भव है। भारत के दक्षिण, दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम में हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर हैं। हिमालय पर्वत के दक्षिण में सिन्धु, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र नदियों का विस्तृत उपजाऊ मैदान है। इस मैदान के दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान का मरुस्थल है। इस सम्पूर्ण प्रदेश को आर्यावर्त कहते हैं। आर्यावर्त के दक्षिण में विन्ध्याचल, सतपुड़ा तथा अमरकण्टक की पर्वत-मालाएँ तथा नर्मदा एवं ताप्ती नदियाँ तथा घने वन विद्यमान हैं जो उत्तरी भारत को दक्षिण भारत से अलग करते हैं। भारत का दक्षिणी भाग एक बहुत बड़ा पठार है जो अनुपजाऊ तथा कँकरीला-पथरीला है। परन्तु इस पठार के पूर्व तथा पश्चिम में उपजाऊ मैदान हैं जहाँ अच्छी कृषि होती है। पठारी भाग में वर्षा की बड़ी कमी है। भारत के समीप श्रीलंका, लक्षद्वीप, अंडमान-निकोबार आदि द्वीप स्थित हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान, फारस, आदि ऐसे देश स्थित हैं जो अनुपजाऊ तथा निर्धन हैं और जहाँ के लोग सामरिक प्रवृत्ति के हैं। इसके उत्तर चीन तथा तिब्बत और उत्तर-पूर्व में बर्मा के उपजाऊ तथा समृद्धिशाली देश स्थित हैं जहाँ के लोग शान्ति-प्रिय तथा विद्याव्यसनी हैं। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इन भौगोलिक परिस्थितियों का भारत के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है।

(१) विशालता का प्रभाव—भारत की विशालता के उसके इतिहास पर अनेक प्रभाव पड़े हैं। विशाल होने के कारण इसमें शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण तीनों प्रकार की जलवायु पाई जाती है। फलतः देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। इससे विभिन्न भागों के लोगों के खान-पान उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा रूप-रंग में बड़ा अन्तर पाया जाता है। इससे हमारी विभिन्नता बढ़ गई है और देश के विभिन्न भागों की सभ्यता तथा संस्कृति में बड़ा अन्तर हो गया है। विशालता का दूसरा परिणाम यह हुआ कि इस देश में अनेक जातियाँ आकर बस गईं जिनकी भाषा, जिनका धर्म तथा आचार-व्यवहार एक-दूसरे से भिन्न थे। इससे उन लोगों ने अपनी अलग-अलग सभ्यता तथा संस्कृति का विकास किया। विशालता का तीसरा परिणाम यह हुआ कि भारत में कभी राजनीतिक एकता स्थापित न हो सकी। इसके विभिन्न भागों में विभिन्न राज्य स्थापित थे जिनकी

प्राकृतिक सीमाएँ न थीं। अतएव उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। इस आंतरिक कलह से विदेशियों ने लाभ उठाया और बड़ी सरलता से यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। आज भी यही स्थिति विद्यमान है क्योंकि हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के बीच कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है और उनमें सदैव संघर्ष चलते रहने की सम्भावना है।

(२) निश्चित प्राकृतिक सीमा का प्रभाव—भारत की अपनी निश्चित प्राकृतिक सीमाएँ थीं जिनसे यह अपने पड़ोसी देशों से पृथक् हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी विशिष्ट सभ्यता तथा संस्कृति का विकास किया। यह संस्कृति अपने पड़ोसी देशों की संस्कृति से बिलकुल भिन्न थी। इसके अपने/अलग आदर्श थे और धार्मिकता की इस पर गहरी छाप थी। भयंकर आँधियों का इस संस्कृति ने सामना किया है और अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल रही है।

(३) हिमालय का प्रभाव—भारत के इतिहास पर हिमालय का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हिमालय की ऊँची चोटियों ने सदैव प्रहरी का काम किया है और भारत की बाह्य आक्रमणों से रक्षा की है। हिमालय के उत्तरी भाग में बहुत कम पर्वतीय मार्ग हैं और जो हैं भी वे इतने दुर्गम हैं कि उनसे सेनाएँ नहीं आ-जा सकतीं। फलतः उस युग में जब गमनागमन के साधनों का अभाव था तब भारत उत्तर की ओर से पूर्ण-रूप से सुरक्षित था। हिमालय का दूसरा प्रभाव यह पड़ा है कि इसने उत्तर की ठंडी हवाओं से सदैव भारत की रक्षा की है और मानसूनी हवाओं को रोक कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत में वर्षा कराई है। यदि हिमालय भारत के उत्तर में स्थित न होता तो हमारा देश निश्चित ही एक बहुत बड़ा मरुस्थल बन गया होता और इसका इतिहास केवल मरुभूमि का इतिहास रहा होता। हिमालय केवल मानसूनी हवाओं को रोक कर वर्षा ही नहीं कराता बल्कि वह वर्ष भर उत्तर भारत की नदियों को जल देता है जिससे सिंचाई होती है। इससे उत्तरी भारत अत्यन्त धन-धान्य-पूर्ण बन गया है और भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रकार हिमालय को हम उत्तरी भारत का प्राण कह सकते हैं जिसके बिना उसका जीवित रहना असम्भव था। हिमालय के पर्वतीय प्रदेश का इतिहास प्रायः शेष भारत की राजनीतिक घटनाओं से अप्रभावित रहा है। अतएव यहाँ के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते रहे। यहाँ के लोगों के रहन-सहन, खान-पान तथा वेशभूषा भिन्न प्रकार की रही और इनका अपना सामाजिक संगठन भी रहा है। हिमालय से विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियाँ तथा औषधियाँ प्राप्त होती रही हैं। सम्भवतः इसी से भारतवर्ष में आयुर्वेद का इतना बड़ा महत्त्व रहा है। लकड़ियाँ तथा खनिज पदार्थ भी बहुत बड़ी मात्रा में हिमालय से प्राप्त होते हैं। हिमालय के प्राकृतिक दृश्यों तथा इसकी कन्दराओं ने सदैव साहित्यकारों तथा संन्यासियों को आकृष्ट किया है। वास्तव में अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिमालय मानसिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन के लिए रमणीय स्थान रहा है और उसने भारतीय साहित्य तथा कला को अत्यधिक प्रभावित किया है।

(४) पर्वतीय मार्गों का प्रभाव—हिमालय में स्थित पर्वतीय प्रदेशों का भी

भारत के इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ा है। हिमालय के उत्तरी भाग में तीन पर्वतीय मार्ग हैं। एक मार्ग दार्जिलिंग से लासा को, दूसरा शिमला से तिब्बत को और तीसरा कराकोरम जो चीनी तुर्किस्तान में है, से यारकन्द तक जाता है। यह तीनों मार्ग अत्यन्त दुर्गम हैं परन्तु इनके द्वारा व्यापार हो सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का तिब्बत तथा चीन के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापारि तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध चला आ रहा है। तिब्बत तथा चीन दोनों ही शान्ति-प्रि तथा सम्पन्न देश रहे हैं। अतएव भारत के साथ इनका निरन्तर विचार के विनिमय तथा सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आदान-प्रदान चलता रहा है। भारत-धर्मोपदेशक तथा व्यापारी इन देशों में जाया करते थे और उन देशों से भी जिज्ञासु महानुभाव ज्ञान की खोज में भारत आया करते थे। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में भी मकरान, खैबर, बोलन आदि पर्वतीय मार्ग हैं। यह मार्ग बहुत दुर्गम नहीं हैं और इनसे सेनाएं आ-जा सकती हैं। इन पर्वतीय मार्गों को पार कर लेने पर फिर कोई प्राकृतिक सीमा नहीं पड़ती और शेष भारत में जाना अत्यन्त सरल हो जाता है। इन पर्वतीय मार्गों का भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इन्हीं मार्गों से यूनानी, शक, कुषाण, हूण, अरब, ईरानी, मुगल, पठान आदि जातियों ने भारत की अतुल सम्पत्ति से आकृष्ट होकर इसे लूटने तथा यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए आक्रमण किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत विभिन्न जातियों का निवास-स्थान बन गया जिनकी सभ्यता तथा संस्कृति एक-दूसरे से भिन्न थी। इससे हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ अत्यन्त जटिल हो गईं। प्रेम-भावना तथा सहयोग का प्रायः अभाव रहने लगा और आन्तरिक कलह बढ़ गया। इन पर्वतीय मार्गों का एक यह भी प्रभाव पड़ा कि भारत की पृथक्ता समाप्त हो गई। अब उसका विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया और उनके साथ विचार-विनिमय होने लगा। इन पर्वतीय मार्गों ने उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा की भी समस्या उत्पन्न कर दी। शेष भारत की सुरक्षा के लिए उत्तर-पश्चिम में सुसज्जित सेनाएं रखना तथा उसका दुर्गीकरण नितान्त आवश्यक हो गया। फलतः भारत के सभी सम्राटों को उत्तर-पश्चिम की निश्चित सीमा-नीति का अनुकरण करना पड़ा।

(५) सिन्धु, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के मैदानों का प्रभाव—उत्तरी भारत में पश्चिम से पूर्व तक फैला हुआ सिन्धु, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र का एक विशाल मैदान है। इन नदियों ने इस मैदान को अत्यन्त उपजाऊ बना दिया है। चूंकि यह नदियाँ वर्ष भर जल से भरी रहती हैं अतएव सिंचाई के लिए यह बड़ी उपयोगी हैं। प्राचीन काल में जब देश घने वनों से भरा पड़ा था और यातायात के साधनों का अभाव था तब यह नदियाँ यातायात की प्रमुख साधन थीं और इनके द्वारा व्यापार होता था। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टिकोणों से इस मैदान का बहुत महत्त्व रहा है। राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका यह महत्त्व रहा है कि बड़े-बड़े राज्यों का उत्थान तथा पतन इसी मैदान में हुआ है। वैदिक-काल में आर्यों ने अपनी राज-संस्था की स्थापना इसी मैदान में की थी और इसका नाम आर्यावर्त रक्खा

था। कौरवों तथा पाण्डवों के राज्य की स्थापना भी इसी भू-भाग में हुई थी। कोशल मिथिला, काशी आदि राज्यों का विकास भी इसी मैदान में हुआ था। मौर्य तथा गुप्त साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन इसी क्षेत्र में हुआ था। तुर्कों तथा मुगलों के अत्यन्त विशाल साम्राज्यों का विकास तथा विनाश इसी मैदान में हुआ था। राजनीतिक दृष्टिकोण से इस मैदान का एक और महत्व है। बड़े-बड़े निर्णयात्मक युद्ध इसी मैदान के रणक्षेत्रों में लड़े गये थे। महाभारत के युद्ध में कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में कौरवों तथा पांडवों के भाग्य का निर्णय हुआ था। तरावड़ी के मैदान में पृथ्वीराज चौहान तथा मुहम्मद गोरी का संग्राम हुआ था जिसके फलस्वरूप तुर्कों की राज-संस्था भारत में स्थापित हुई थी। पानीपत के तीनों युद्ध इसी मैदान में लड़े गये। प्रथम दो युद्धों के फलस्वरूप भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई थी और तृतीय युद्ध ने मरहठों के भाग्य का निर्णय किया था। खानवा के युद्ध में राजपूतों के भाग्य का निर्णय हुआ था। प्लासी तथा बक्सर के युद्धों ने भारत में अंग्रेजों के भाग्य का निर्णय किया था। भारत के बड़े-बड़े नगरों का उत्थान इसी मैदान में हुआ था। इनमें पाटलिपुत्र को मगध साम्राज्य की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त था। आगरा तथा दिल्ली को तुर्कों तथा मुगल सम्राटों की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त था। कलकत्ता तथा दिल्ली को ब्रिटिश सरकार की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। हरिद्वार, मथुरा काशी, अयोध्या गया, सारनाथ आदि तीर्थ-स्थान भी इसी मैदान में स्थित हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इस मैदान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। हिन्दू जाति-प्रथा तथा अस्पृश्यता का प्रादुर्भाव इसी मैदान में हुआ था। हिन्दू धर्म-शास्त्रों की रचना, जिनके द्वारा हिन्दू-समाज शताब्दियों से संचालित होता चला आ रहा है, इसी मैदान में हुई थी। बड़े-बड़े समाज-सुधार-आन्दोलन इसी मैदान में चलाये गये थे। धार्मिक दृष्टिकोण से भी इस मैदान का कुछ कम महत्त्व नहीं हैं। ब्राह्मण-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म, वैष्णव तथा शैव-धर्म, ब्राह्म-समाज, आर्य समाज, सिक्ख-धर्म, सभी का प्रादुर्भाव इसी मैदान में हुआ था। भारत में इस्लाम-धर्म का प्रचार भी इसी मैदान में आरम्भ हुआ था। बुद्ध, शंकराचार्य, रामानन्द. कबीर, नानक, राजा राममोहन राय आदि सुधारक इसी मैदान की विभूतियाँ थे। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी इस मैदान का बहुत बड़ा महत्त्व है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता, आर्य-सभ्यता, मुस्लिम-सभ्यता सभी का प्रचार इसी मैदान में हुआ था। विभिन्न प्रकार के साहित्य तथा कलाओं का सृजन भी इसी मैदान में हुआ था। आर्थिक दृष्टिकोण से भी इस मैदान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा हे। इस मैदान की धन-सम्पन्नता के कारण ही भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था और इस मैदान की ही अपार सम्पत्ति को लूटने के लिए विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण किया था। उत्तर के इस विशाल मैदान को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् उत्तर-पश्चिम का मैदान, गंगा-यमुना का मैदान तथा सुदूर-पूर्व का मैदान। इन तीनों भागों की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। उत्तर-पश्चिम के भाग की जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक है। अतएव यहाँ के लोग बड़े हृष्ट-पुष्ट होते हैं। यद्यपि नदियों के कारण पंजाब उपजाऊ हो गया है परन्तु अपनी जीविका के लिए

यहाँ के लोगों को अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पड़ता है। अतएव ये बड़े अध्यवसायी, वीर, साहसी, परिश्रमी तथा युद्ध-प्रिय होते हैं। प्रकृति के साथ संघर्ष करते-करते ये अपने वैरियों से भी संघर्ष करना सीख गये हैं। यही कारण है कि उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय भागों से आने वाली बर्बर जातियों का इन्होंने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ सामना किया था। इस भू-भाग का एक और महत्त्व है। भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता का विकास, जिसे सिन्धु-घाटी की सभ्यता कहते हैं, यहीं पर हुआ था। चूँकि इस प्रदेश के लोग रण-प्रिय हो गये और इन्हें युद्धों में सदैव संलग्न रहना पड़ता था अतएव साहित्य तथा कला में इनकी रुचि न रह गयी। दूसरा भाग गंगा-यमुना का मैदान है। इस भाग पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ की भूमि इतनी उपजाऊ है कि थोड़े ही परिश्रम से सभी भौतिक आवश्कताओं की पूर्ति हो जाती है। यहाँ की जलवायु भी निर्बल बनाने वाली है। अतएव यहाँ के लोग आलसी, भीरु तथा शान्ति-प्रिय होते हैं। परन्तु साहित्य, कला, काव्य, दर्शन आदि में उनकी विशेष रुचि होती है। यही कारण है कि वीर विदेशियों से यह पराजित हुए। यूनानी, शक कुषाण, हूण, मुसलमान आदि आक्रमणकारियों के विरुद्ध यह सदैव असफल रहे परन्तु दक्षिण भारत में इन्होंने सदैव अपना प्रभुत्व स्थापित रखा। तीसरा भाग सुदूर पूर्व का है। यह भी दूरस्थ होने के कारण बहुत दिनों तक वैरियों के आक्रमण से मुक्त रहा। इस भाग की जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं है। अतएव यहाँ के लोग निर्बल होते हैं और युद्ध में इनकी विशेष रुचि नहीं है। परन्तु इनमें बड़ी ही उच्च-कोटि की मानसिक प्रतिभा होती है। अतएव साहित्य, कला तथा विज्ञान में इनकी विशेष रुचि होती है। यह प्रदेश अपनी सम्पन्नता के लिए सदैव प्रसिद्ध रहा है।

(६) राजस्थान की मरुभूमि का प्रभाव—उत्तरी मैदान के दक्षिण-पश्चिम में राजपूताने की मरुभूमि है जिसके पश्चिमी भाग में अरावली की पहाड़ियाँ हैं। इन पहाड़ियों के पश्चिम में थार तथा सिन्ध की मरुभूमि है। राजपूताने की मरुभूमि का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। संकटकाल में यह मरुस्थल भारतीयों के लिए शरण-स्थल बन गया। जब राजपूत लोग उत्तर के मैदानों में विदेशी आक्रमणकारियों का सामना न कर सके तब वे इसी मरुस्थल में पलायन कर गये और वहीं पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार यह प्रदेश वीर राजपूतों का निवास-स्थान बन गया और इसी से यह राजपूताना कहलाने लगा। राणा साँगा तथा राणा प्रतापसिंह जैसे वीर राजपूतों का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था। भारत की स्वतन्त्रता का सुदृढ़ दुर्ग यही प्रदेश था। इस प्रदेश ने भारत के गौरव को सदैव उन्नत रखा है। इतना ही नहीं, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की सुरक्षा इसी प्रदेश में हुई। जब शेष भारत पर विदेशियों का प्रभुत्व व्याप्त हो गया था तब इसी सुरक्षित प्रदेश में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति स्वतन्त्र रूप में विकसित हो रही थी। इसी मरुभूमि में वीर राजपूतों ने ऐसे सिद्धान्तों तथा आदर्शों की स्थापना की थी जिन पर प्रत्येक भारतीय आज भी गर्व कर सकता है। वीर राजपूतों का आदर्श था, "शरणागत की रक्षा करनी चाहिए, शत्रु को पीठ नहीं दिखानी चाहिए, किसी के साथ विश्वासघात

नहीं करना चाहिए, अपने वचन को पूरा करना चाहिए, अपनी आन पर मर मिटना चाहिए आदि।'' यह सब आदर्श आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और भारत के मस्तक को ऊँचा उठाते हैं।

(७) मध्यवर्ती वनों, पर्वतों तथा नदियों का प्रभाव—आर्यावर्त के दक्षिण में विन्ध्य, सतपुड़ा तथा अमरकण्टक की पर्वतमालाएँ तथा नर्मदा और ताप्ती नदियाँ हैं। प्राचीन काल में यह भाग घने वनों से भरा पड़ा था। अतएव उत्तर से दक्षिण में जाना अत्यन्त कठिन कार्य था। ऐसी दशा में उत्तर तथा दक्षिण में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित न हो सका और दोनों ने अपनी अलग-अलग सभ्यता तथा संस्कृतियों का विकास किया। चूँकि उत्तरी भारत में आर्य लोग निवास करते थे अतएव उत्तर की सभ्यता आर्य-सभ्यता कहलाई और चूँकि दक्षिण भारत में द्रविड़ लोग निवास करते थे अतएव दक्षिण की सभ्यता द्रविड़-सभ्यता कहलाई। चूँकि भारत के मध्य के यह पर्वत अभेद्य नहीं हैं और नदियों को भी पार किया जा सकता है अतएव कालान्तर में जब यातायात के साधनों में वृद्धि हो गई और वनों को काट डाला गया तब उत्तर तथा दक्षिण में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया और आर्यों तथा द्रविड़ों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हो गया और दोनों ने मिलकर एक ऐसी सभ्यता का निर्माण किया जिसे भारतीय सभ्यता कहते हैं।

(८) दक्षिण के पठार का प्रभाव—दक्षिण भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। अनुपजाऊ तथा दरिद्र होने के कारण दक्षिण का उतना बड़ा महत्त्व नहीं है जितना उपजाऊ तथा सम्पन्न उत्तर का। दक्षिण के राजाओं ने कभी उत्तर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। इसके विपरीत उत्तर के सभी महत्त्वाकांक्षी सम्राटों ने दक्षिण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया था। समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, शाहजहाँ, औरङ्गजेब आदि सभी महत्त्वाकांक्षी शासकों ने दक्षिण को नत-मस्तक करने के सफलता प्राप्त की थी। दक्षिण का इतिहास इतना नगण्य रहा है कि इस प्रदेश का इतिहास जानने के पर्याप्त साधन भी नहीं हैं। परन्तु दक्षिण भारत के पश्चिमी भागों में मरहठों की वीर जाति निवास करती है। मुगल-काल के उत्तरार्द्ध में इस जाति ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ मुसलमानों के आक्रमणों का सामना किया था। छापा-मार रणनीति का प्रादुर्भाव इसी क्षेत्र में हुआ था। सुदूर दक्षिण का भाग द्रविड़-देश कहलाता है। यह प्रदेश उत्तर के महत्वाकांक्षी सम्राटों के प्रभाव से सदैव मुक्त रहा है। अतएव इसने स्वतन्त्र रूप से अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास किया जो द्रविड़-सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि दक्षिण का पठार उपजाऊ नहीं है परन्तु उसकी काली मिट्टी में कपास बहुत पैदा होती है। इससे इस प्रदेश में कपड़े का अच्छा कार्य होता है। आज-कल भी कपड़े की अधिकांश मिलें बम्बई, मद्रास तथा गुजरात में पाई जाती हैं। मूल्यवान् खनिज-पदार्थों की भी अधिकता इस प्रदेश में रहती है। गोलकुण्डा में हीरे की और मैसूर में सोने की खानें विद्यमान हैं। चन्दन की लकड़ी भी इसी प्रदेश में पाई जाती है। नीलगिरि की पहाड़ियों के आस-पास

चाय तथा कहवा पाई जाती हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत पर कुछ अंशों में प्रकृति की विशेष कृपा रही है। दक्षिण भारत में एकता का सदैव अभाव रहा है। इसके विभिन्न भागों में तेलगू, तमिल, मलयालम, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का प्रयोग होता आया है। अतएव इसकें विभिन्न भागों के आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज आदि में बड़ा अन्तर रहा है। इस प्रदेश में राजनीतिक एकता का भी सदैव अभाव रहा है। भारतीय इतिहास में कभी कोई ऐसा युग न था जब सम्पूर्ण भारत पर किसी एक सम्राट् ने शासन किया हो।

(९) **समुद्र-तट का प्रभाव**—भारत के इतिहास पर उसके समुद्र-तट का भी वहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। कई शताब्दियों तक समुद्र-तट ने भारत के लिए सुदृढ़ दुर्ग का काम किया और यूरोप-वासियों के आने के पूर्व भारत पर सामुद्रिक मार्ग से कोई आक्रमण न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों ने कभी भी अपनी सामुद्रिक शक्ति को प्रबल बनाने का प्रयत्न न किया और न समुद्र में उन्होंने कोई विशेष रुचि ली। यद्यपि भारत का समुद्र-तट बड़ा ही लम्बा है परन्तु उसमें अच्छे बन्दरगाह नहीं हैं। इससे सामुद्रिक व्यापार में भारतीयों की विशेष रुचि उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु दक्षिण के द्रविड़ लोगों ने सामुद्रिक व्यापार तथा उपनिवेश-स्थापना में विशेष रुचि ली थी। ब्रह्मा, सुमात्रा, जावा, मलाया आदि के साथ इनका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और इन देशों में भारतीयों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया था। कहा जाता है कि ब्रह्मा को व्यापार के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की शिक्षा द्रविड़ों से ही मिली थी। इसी प्रकार पश्चिमी तट के लोग मिस्र, अरब अथवा भूमध्य-सागर के प्रदेशों के साथ व्यापार किया करते थे। जब यूरोपवासियों ने भारत में प्रवेश किया तब समुद्र-तट का महत्त्व बहुत बढ़ गया। इन लोगों ने प्रारम्भ में समुद्र-तट पर ही अपनी व्यापारिक कोठियाँ बनाई थीं और थोड़े ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया कि यूरोप की जिस जाति की सामुद्रिक शक्ति सबसे अधिक प्रबल होगी वही भारत में अपनी जड़ जमा सकेगी। चूँकि अँग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति सबसे अधिक प्रबल थी अतएव वही भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर सके। आज हमारी सरकार भी सामुद्रिक शक्ति का महत्त्व समझ रही है और सामुद्रिक शक्ति को प्रबल बनाने का अथक प्रयास कर रही है।

(१०) **विभिन्न प्रकार की जलवायु का प्रभाव**—भारत में शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण तीनों प्रकार की जलवायु पाई जाती है। जलवायु की इस विभिन्नता का भी हमारे देश के इतिहास पर प्रभाव पड़ा है। देश के विभिन्न भागों की जलवायु भिन्न होने के कारण विभिन्न भागों के लोगों के खान-पान, वेश-भूषा, रूप-रंग, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज और शारीरिक गठन में बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है। पंजाब की जलवायु बड़ी ही स्वास्थ्यवर्द्धक है। अतएव वहाँ के लोग बड़े ही स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट एवं युद्ध-प्रिय होते हैं। इसके विपरीत बंगाल की जलवायु बड़ी ही अस्वास्थ्यकर है। अतएव वहाँ के लोग दुर्बल तथा शान्ति-प्रिय होते हैं। पंजाब के लोगों का मुख्य भोजन गेहूँ है परन्तु बंगाल के लोगों का मुख्य भोजन चावल

तथा मछली है। काश्मीर के लोग बड़े गोरे होते हैं और गर्म कपड़े पहिनते हैं परन्तु दक्षिण भारत के लोग काले रंग के होते हैं और ठंडे वस्त्र धारण करते हैं। इस विभिन्नता का हमारी राष्ट्रीय एकता पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस विभिन्नता के कारण विच्छिन्नता की मनोवृत्तियाँ सदैव क्रियाशील रहती हैं और भारत को आज भी एक प्रबल तथा संगठित राष्ट्र बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ रही है। मानसूनी हवाओं का भो भारत के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। मानसूनी हवाओं ने उत्तरी भारत को अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश बना दिया है क्योंकि यह हवाएँ पानी लाकर बरसाती हैं। इस प्रकार उत्तरी भारत को सम्पन्न बनाने में इन हवाओं का बहुत बड़ा हाथ है।

(११) **पड़ोसी देशों का प्रभाव**—भारत के इतिहास पर उसके पड़ोस में स्थित देशों का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। भारत के उत्तर-पश्चिम में अनुपजाऊ देश हैं जहाँ के लोग बड़े ही बर्बर तथा लड़ाकू रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि इस ओर से भारत की सम्पत्ति को लूटने तथा यहाँ पर अपना राज्य स्थापित करने के लिए निरन्तर आक्रमण होते रहे हैं। भारत के उत्तर में तिब्बत और चीन देश स्थित हैं। यह देश समृद्धिशाली हैं और यहाँ के लोग शान्ति-प्रिय होते हैं। अतएव भारत के साथ इन देशों का अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है और विचारों का आदान-प्रदान होता आया है। भारत के उत्तर-पूर्व में बर्मा नामक देश है। यह देश अत्यन्त घने वनों तथा पर्वत-मालाओं द्वारा भारत से पृथक् हो गया है। अतएव सामुद्रिक मार्ग से भारत ने बर्मा के साथ अपना सम्पर्क स्थापित किया। बर्मा भी सम्पन्न तथा शान्ति-प्रिय देश है। अतएव उसके साथ भारत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। जब अँग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया तब उन्होंने बर्मा पर भी विजय प्राप्ति कर ली और उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। तब से वर्मा का भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। अब भारत की उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्व की सीमाओं पर पाकिस्तान एवं बँगला देश स्थापित हो गये हैं। यद्यपि इन राज्यों की जनता कई शताब्दियों तक भारतीयों के साथ रही है, परन्तु धार्मिक तथा सांस्कृतिक भिन्नता के कारण इनमें सद्भावना की बड़ी कमी है। चूँकि भारत तथा पाकिस्तान के बीच कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है अतएव दोनों राज्यों में सीमा-सम्बन्धी झगड़े भी चला करते हैं। बंगाल की खाड़ी तथा हिन्द-महासागर में बहुत-से द्वीप स्थित हैं। इन द्वीपों के साथ भारत का अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध चला आ रहा है। इनमें कितने ही द्वीप भारत के अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रिचर्ड हैकलुट का यह कथन, "भूगोल तथा कालक्रम सूर्य तथा चन्द्र हैं, ये इतिहास के दक्षिण तथा वाम नेत्र हैं,',[1] सर्वथा सत्य है।

---

[1] "Geography and chronology are the sun and the moon, the right eye and the left eye of all history."—Richard Hakluyt.

अध्याय २

भारत की मौलिक एकता

"India, beyond all doubt, possesses a deep underlying fu damental unity far more profound than that produced either geographical isoiation or by political suzerainty."—V. A. Smi

मौलिक एकता का अर्थ—मौलिक शब्द संस्कृत के मूल शब्द से बना मूल का अर्थ होता है जड़ । अतएव मौलिक शब्द का अर्थ हुआ जड़ की । इस विवे के अनुसार मौलिक एकता का शाब्दिक अर्थ हुआ जड़ की एकता । वृक्ष की जड़ पृ के भीतर होती है और साधारणतया दिखाई नहीं देती है । अतएव मौलिक ए का वास्तविक अर्थ हुआ वह एकता जो भीतर छिपी रहती है और स्पष्ट रू दिखाई नहीं देती । भारत की मौलिक एकता का तात्पर्य उस एकता से है जो उ बाहरी विभिन्नता के नीचे छिपी हुई है । जब हम भारत की भौगोलिक, राजनीति सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर दृष्टि डालते हैं तो उसमें सर्वत्र विभिन्नता दिखाई देती है । परन्तु जब हम इस बाह्य भिन्नता की गहरा जाकर विवेचनात्मक दृष्टि से देखते हैं तब हमें मौलिक एकता के दर्शन हो जाते इसी से इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ महोदय ने लिखा है, "भारत की भिन्नता एकता विद्यमान है, परन्तु मौलिक एकता उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी बा भिन्नता ।"[1] अब हम भारत की उस मौलिक एकता को खोजने का प्रयत्न करेंगे, उसकी बाह्य भिन्नता में छिपी हुई है ।

भारत की मौलिक एक्ता का दिग्दर्शन—भारत की मौलिक ए का दर्शन करने के लिए हमें उसमें भौगोलिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामा आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में छिपी हुई एकता की खोज करनी होगी । अत विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्नता पर प्रकाश डालते हुए उनके अन्तराल में छिपी हुई मौ एकता के उद्घाटन का प्रयत्न किया जायगा ।

(१) **भौगोलिक एकता**—जब हम भारत की भौगोलिक दशा पर एक दृ डालते हैं तो उसकी भूमि, जल, वनस्पति तथा खनिज पदार्थों में अनेक विभिन्न दिखाई देती हैं । देश की भूमि सर्वत्र एक-सी नहीं है । कहीं पर ऊँची-ऊँची प मालाएँ हैं तो कहीं पर समतल 'मैदान और कहीं पर शुष्क मरुस्थल हैं तो कहीं ऊँचा-नीचा पठार । कहीं की भूमि उपजाऊ है तो कहीं की अनुपजाऊ और कहीं बिलकुल बंजर । देश की जलवायु में बड़ी भिन्नता पाई जाती है । देश के उत्त

---

[1] "India offers unity in diversity. The underlying u being less obvious than the superficial diversity."—V. A. Smi

अत्यन्त ठंडक पड़ती है तो दक्षिण में अत्यन्त गर्मी और मध्य-भाग में न अधिक गर्मी और न अधिक ठंडक। देश के किसी भाग में अत्यधिक वर्षा होती है तो किसी भाग में कम और किसी में तो वर्षा की बिल्कुल शून्यता है। इस प्रकार देश की वनस्पति तथा उसके खनिज पदार्थों के वितरण में बड़ी विषमता पाई जाती है। देश के किसी भाग में गेहूँ की उपज अधिक है तो किसी भाग में धान की और किसी में ज्वार तथा बाजरे की। कहीं-कहीं पर लोहे तथा कोयले की खानों की अधिकता है तो कहीं पर शून्यता। परन्तु इन विभिन्नताओं के भीतर भारतकी मौलिक भौगोलिक एकता छिपी है क्योंकि सम्पूर्ण भारत एक भौगोलिक इकाई है। इसका प्रमाण यह है कि भारत की अपनी निश्चित प्राकृतिक सीमाएँ हैं। जिस देश के उत्तर, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर पूर्व में हिमालय पर्वत तथा उसकी शाखाएँ फैली हैं और जिसके दक्षिण, दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम में क्रमशः हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर स्थित हैं वही भारतवर्ष है। इस देश के भीतर न कोई पर्वत अथवा नदियाँ हैं जिन्हें पार नहीं किया जा सकता और न ऐसे वन हैं जिन्हें काट कर मार्ग नहीं बनाया जा सकता। अत्यन्त प्राचीन काल से यह एक देश समझा जाता था और इस सम्पूर्ण भू भाग को भारत, भारतवर्ष, भरत-खण्ड, जम्बू-द्वीप, हिन्द आदि नामों से पुकारा जाता था। हिमालय से कन्याकुमारी तक और सिन्ध तथा पंजाब से आसाम तक यह एक देश समझा जाता था। इस समय इस देश को जो हिन्दुस्तान, पाकिस्तान तथा बँगला देश में विभक्त कर दिया गया है वह इस देश का केवल राजनीतिक विभाजन है, भौगोलिक और सांस्कृतिक विभाजन नहीं। अतएव हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत सदैव एक भौगोलिक इकाई रहा है और इसमें मौलिक भौगोलिक एकता विद्यमान है।

(२) राजनीतिक एकता—भारत की राजनीतिक दशा पर दृष्टि डालने पर उसमें भी हमें विभिन्नता ही विभिन्नता दिखाई देती है। भारत के इतिहास में कोई ऐसा युग न था जब सम्पूर्ण भारत एक शासन-सूत्र में बँधा हो और उसमें राजनीतिक एकता स्थापित हो सकी हो। प्राचीन काल में जब-यातायात के साधनों की बड़ी कमी थी तब सम्पूर्ण देश को एक शासन-सूत्र में बाँधना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव था। फलतः देश के विभिन्न भागों में विभिन्न राज्य स्थापित थे। मध्य-युग में भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों के अनेक राज्य देश के विभिन्न भागों में विद्यमान थे। आधुनिक काल में भी अँग्रेजी तथा देशी नरेशों के अलग-अलग राज्य थे और उनकी शासन-व्यवस्था भी एक दूसरे से भिन्न थी। इस समय भी भारत तीन राजनीतिक इकाइयों में विभक्त है; एक को हिन्दुस्तान, दूसरे को पाकिस्तान और तीसरे को बँगला देश कहते हैं। इन तीनों की शासन-व्यवस्था में बड़ा अन्तर है परन्तु इस विभिन्नता के अन्तस्तल में मौलिक राजनीतिक एकता विद्यमान है। प्राचीन काल से ही भारत के महान् सम्राटों का आदर्श एक राज्य का रहा है। (इसी से वे चक्रवर्ती, अधिराज, महाराजाधिराज, एकराट् आदि की उपाधियाँ धारण किया करते थे। अपने इस आदर्श की पूर्ति के लिए ही वे राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञ किया करते थे।)

भारतीय इतिहास के सभी कालों में सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँ का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन-काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, हर्ष महत्त्वाकांक्षी सम्राटों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित का प्रयत्न किया था। मध्य-काल में अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, शाहजहाँ, औरं आदि वीर सम्राटों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न था। आधुनिक काल में ब्रिटिश सरकार ने भी सम्पूर्ण भारत पर अपना शासन स्था करने का प्रयत्न किया। जब विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिये राष्ट्रीय जा आरम्भ हुई तो वह सम्पूर्ण देश में एक साथ आरम्भ हुई। देश के सभी भागों के लोगों ने कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया। जिस स्वतन्त्रता प्राप्त हुई उस समय भी भारत को अखण्डित रखने का यथा-शक्ति प्र किया गया और सहस्रों व्यक्तियों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। देश के ख हो जाने पर अब शेष भारत को एक प्रबल राजनीतिक सूत्र में बाँधने तथा संगठित रखने का अत्यधिक प्रयत्न किया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है बाह्य राजनीतिक विभिन्नता के भीतर मौलिक राजनीतिक एकता छिपी है।

(३) **धार्मिक एकता**—जब हम धार्मिक स्थिति पर विचार करते हैं तब हमें अपने देश में विभिन्नता-ही-विभिन्नता दिखाई देती है। संसार के सभी प्रमुख के मानने वाले इस देश में निवास करते हैं। संसार के प्रमुख धर्म चार हैं, अ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा पारसी। इन चारों धर्मों के मानने वाले भारत विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म की अनेक शाखाएँ हैं जैसे सनातन शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन, आर्य-समाज, ब्राह्म-समाज, सिक्ख आदि। इन वि धर्मों के दार्शनिक विचारों, उपासना तथा प्रार्थना-विधि में बड़ा अन्तर है। प्रवृत्ति-मार्गी है तो कोई निवृत्ति-मार्गी। कोई ज्ञान-मार्गी है तो कोई भक्ति-मा और कोई कर्म-मार्गी। कोई पूर्व की ओर मुँह करके प्रार्थना करता है कोई पश्चिम की ओर। कोई वेदों में विश्वास करता है तो कोई कुरान में, बाइबिल में तो कोई अवेस्ता में। इस प्रकार यदि भारत को विभिन्न धर्मों संग्रहालय या अजायबघर कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। परन्तु बाह्य विभिन्नता के अन्तस्तल में मौलिक धार्मिक एकता छिपी है। सबसे हम हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं तथा उप-शाखाओं की मौलिक एकता विचार करेंगे। हिन्दू धर्म की जितनी शाखाएँ हैं वे सभी अपनी धारणाओं, विश्वासों तथा अपने आचार-विचारों के लिये वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, स्मृ आदि की ऋणी हैं। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि के सम्बन्ध में इन सब की एक-सी धारणाएँ हैं। सबके एक-से देव हैं, एक-से दार्शनिक ग्रन्थ, एक-से आचार सम्बन्धी सिद्धान्त, ए धार्मिक उत्सव, उपासना की विधियाँ, व्रत आदि हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश उपासक देश के कोने-कोने में पाये जाते हैं। सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों में स

वी-देवताओं के मन्दिर विद्यमान हैं। प्रतिदिन स्नान के समय सभी हिन्दू यह प्रार्थना रते हैं—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इस श्लोक का यह अर्थ है कि, "हे गंगा, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, न्धु तथा कावेरी, इस जल में प्रवेश करो।" यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि स श्लोक में देश के किसी एक भाग की नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत की प्रमुख नदियाँ ा जाती हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं के सात प्रमुख तीर्थ स्थान अर्थात् अयोध्या, मथुरा, रिद्वार, काशी, कांची, अवन्ती (उज्जैन) तथा द्वारिका,—देश के विभिन्न भागों में ाये जाते हैं। हिन्दुओं के चार धाम अर्थात् द्वारिका, रामेश्वरम्, बद्रीनाथ, तथा गन्नाथपुरी—देश के चारों कोनों में स्थित हैं। इसी प्रकार श्री शंकराचार्य जी के थापित किये हुए चार मठ देश के चारों कोनों में हैं। जब भारत से धर्म-प्रचारक देशों में गये थे तब वे सम्पूर्ण भारत का संदेश लेकर गये थे। इस प्रकार यह सिद्ध जाता है कि हिन्दू-धर्म की विभिन्न शाखाओं में पूर्ण मौलिक एकता विद्यमान है। ब हमें इस बात पर विचार करना है कि हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि धर्मों कहाँ तक मौलिक एकता विद्यमान है। यह सभी धर्म आस्तिक हैं और एक सर्व-क्तिमान् सर्व-व्यापी तथा सर्व-द्रष्टा की सत्ता में विश्वास करते हैं जो इस संसार का चालन करता है। यह सभी अवतार तथा पैगम्बरों में विश्वास करते हैं। र्थना तथा उपासना की उपयोगिता को यह सभी धर्म स्वीकार करते हैं। आचरण ी पवित्रत्रा, सत्कर्म, दान-पुण्य आदि में यह सभी धर्म विश्वास करते हैं। स्वर्ग था नरक की कल्पना इन सभी धर्मों में की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है इन धर्मों में जो भिन्नता है वह केवल बाह्याडम्बरों की है। जहाँ तक इनके लिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है इन सब में मौलिक एकता पाई जाती हैं। अतएव इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत में पूर्ण रूप से मौलिक धार्मिक एकता द्यमान है।

४ (१) **सामाजिक एकता**—भारतीयों के सामाजिक जीवन में बड़ी भिन्नता खाई देती है। इस विशाल देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि जातियाँ हती हैं जिनके अपने अलग-अलग आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज हैं। देश के भिन्न भागों की उपज तथा जलवायु में भिन्नता होने के कारण देश के विभिन्न गों के लोगों के खान-पान तथा उनकी वेश-भूषा में भी बड़ा अन्तर है। कहीं के ग प्रधानतः मांसाहारी हैं तो कहीं के शाकाहारी। कहीं लोगों का मुख्य भोजन है तो कहीं का चावल और कहीं का ज्वार-बाजरा। कहीं पर पैतृक कुटुम्ब हैं तो ीं पर मातृक। कहीं पर छूआछूत अधिक है तो कहीं पर कम। कहीं पर विधवा-वाह का प्रचलन है तो कहीं पर निषेध। इस प्रकार भारतीय समाज में भिन्नता-भिन्नता दिखाई देती है। परन्तु इस भिन्नता के मूल में मौलिक एकता भी छिपी सबसे पहले हम हिन्दू-समाज की मौलिक एकता पर विचार करेंगे। सभी

हिन्दुओं के सामाजिक जीवन का मूलाधार एक है। धर्म-शास्त्र में जिन सा
रीति-रिवाजों तथा विधानों का वर्णन किया गया है उन्हें सम्पूर्ण भारत मे
मानते हैं। आदि-काल से ही वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज का मूलाधार रही है।
त्रता तथा छुआछूत की भावना सभी हिन्दुओं में न्यूनाधिक मात्रा में पाई जा
सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह का निषेध सर्वत्र पाया जाता है। गो-ब्राह्मण
आदर सभी हिन्दू करते हैं। हिन्दुओं के त्योहार प्रायः सर्वत्र समान हैं।
हिन्दुओं में विवाह के नियम एक-से हैं। गोद लेने की प्रथा सभी हिन्दुओं में है
विवाह की प्रथा सभी जातियों में पाई जाती है। भोजन करने की विधि एक-
भारतीयों के कुछ अपने राष्ट्रीय वस्त्र हैं, जिनका प्रयोग सम्पूर्ण देश में होत
धोती, दुपट्टा, कमीज, पगड़ी, पाजामा आदि भारतीय वस्त्र हैं। हिन्दुओं तथा
मानों के भी सामाजिक जीवन में बड़ी एकता है। जाति-प्रथा के बीज दोनों
पाये जाते हैं। जिस प्रकार हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पाये
उसी प्रकार मुनलमानों में भी शेख, सैयद, पठान, शिया, सुन्नी, अशराफ, अ
आदि का वर्ग-भेद है। अशराफ तथा अतराफ में वही भेद है जो ब्राह्मण तथा शू
जिस प्रकार हिन्दू होली, दीवाली, दशहरा आदि त्योहार मनाते हैं उसी प्रकार
मान भी ईद, शबे-बरात आदि त्याहारों को मनाते हैं। पाजामा, कुर्ता, लुङ्गी,
अचकन आदि भारतीय वस्त्र हैं और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों इन्हें धारण कर
भारतीयों के सामाजिक विचारों में भी एकरूपता है। सभी जातियों के भारती
संसार को ही सब कुछ नहीं मानते वरन् परलोक को भी मानते हैं और उसके
रने का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष ही सब के जीवन का अन्तिम लक्ष्य होता है।
यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीयों के सामाजिक जीवन में जो भिन्नता दिखा
है वह केवल बाहरी है, भिन्नता के भीतर मौलिक एकता छिपी है।

(५) सांस्कृतिक एकता—जब हम भारतीयों की सभ्यता तथा संस्कृ
विचार करते हैं तो उसमें भी हमें भिन्नता-ही-भिन्नता दिखाई देती है। इस
निरे असभ्य से लेकर पूर्ण सभ्य तक सभी जातियाँ पाई जाती हैं। इस देश में
कालों में विभिन्न जातियों ने प्रवेश किया। कोल, द्रविड़ तथा वैदिक आर्य
में अत्यन्त प्राचीन काल से रह रहे थे। शक, कुषाण, हूण, मुसलमान आदि
आये। अन्त में पाश्चात्य देशों के लोग भी इस देश में आये। इन सभी लो
अपनी अलग-अलग सभ्यता तथा संस्कृति थी। इनमें से कुछ जातियाँ तो वैदिक
घुल-मिल गईं और अपने अस्तित्व को खो बैठी परन्तु कुछ अपने अस्तित्व को बना
और अपनी अलग-अलग सभ्यता तथा संस्कृति का विकास करती रहीं। इसका प
यह हुआ कि भारत में विभिन्न भाषाओं का अजायबघर बन गया और भि
प्रकार के साहित्य तथा विभिन्न प्रकार की कलाओं का इस देश में सृजन हुआ जो
अलग विशेषताएँ रखती हैं। इस प्रकार संस्कृत, पाली, प्राकृत, बँगला, पंजाबी,
राती, मराठी, राजस्थानी, उर्दू, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, अँग्रेजी आदि भाषा
हमारे देश में प्रचार हुआ और इन भाषाओं में साहित्य की रचना भी हुई

कार कला के क्षेत्र में भी हिन्दू-कला, बौद्ध-कला, मुस्लिम-कला आदि का प्रचार हुआ ी एक दूसरे से भिन्न थीं। इस प्रकार भारतीयों के सांस्कृतिक जीवन में भी बड़ी न्नता दिखाई देती है। परन्तु गहराई में जाने पर सांस्कृतिक मौलिक एकता भी ष्ट दिखाई देने लगती है। सबसे पहले हम भाषा पर विचार करेंगे। हम भारत ी सभी भाषाओं को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले वर्ग में आर्य-परिवार ी भाषाएँ आती हैं और दूसरे वर्ग में द्रविड़ भाषाएँ। हिन्दी, पाली, प्राकृत, बँगला ाजस्थानी, मराठी, गुजराती सभी आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं और संस्कृत से कली हैं। तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि द्रविड़-परिवार की भाषाएँ हैं। र्दू केवल हिन्दी का रूपान्तर ही है। इस प्रकार भारत की भाषाओं में मौलिक एकता दखाई देती है। लेखक सम्पूर्ण भारत के लिये लिखते आये हैं और उनकी रचनाओं सम्पूर्ण भारत की सामाजिक; राजनीतिक तथा धार्मिक मनोवृत्तियों की झलक खाई देती है। प्राचीन काल में केवल संस्कृत ही साहित्यिक भाषा समझी जाती और इसी में सब लोग रचनाएँ किया करते थे। सभी कालों में सम्पूर्ण भारत के ये राष्ट्र-भाषा की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन काल में देश की राष्ट्र-भाषा स्कृत थी। मध्य-काल में फारसी, आधुनिक काल में अँग्रेजी और स्वतन्त्र भारत में न्दी को राष्ट्र-भाषा का श्रेय प्राप्त हो रहा है। भारत की विभिन्न प्रकार की लाओं के भी सिद्धान्त एक-से रहे हैं। भारत की सभी कलाओं पर आध्यामिकता छाप है। सभी आचरण की शुद्धता तथा शान्ति-सौंदर्य की द्योतक हैं। हिन्दुओं ा मुसलमानों ने मिलकर एक ऐसी मिश्रित कला का सृजन किया जो इण्डो-मुस्लिम ला के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार संस्कृति के क्षेत्र में भी पूर्ण मौलिक एकता खाई देती है।

(६) **आर्थिक एकता**—भारतीयों के आर्थिक जीवन को देखने पर उसमें भी ी विभिन्नता दिखाई देती है। चूँकि देश के विभिन्न भागों में भूमि, जलवायु, निज तथा वनस्पति एक-सी नहीं है अतएव सम्पूर्ण देश की आर्थिक दशा भी एक- नहीं है। प्राचीन काल से ही उत्तर में नदियों का मैदान धन-धान्य पूर्ण रहा है र राजपूताना की मरुभूमि तथा दक्षिण का पठार सदैव अनुपजाऊ तथा दरिद्र रहा परन्तु इस विभिन्नता के होते हुए भी भारत में मौलिक आर्थिक एकता है। ूर्ण देश प्राचीन काल से ही कृषि-प्रधान रहा है और सदैव रहेगा। आज-कल ूर्ण देश की आर्थिक समस्याएँ एक-सी हैं। सम्पूर्ण देश को औद्योगिक तथा वसायिक बनाना है। सम्पूर्ण देश धन-संचय की ओर से उदासीन रहा है। ूर्ण देश भाग्यवादी बन गया है अतएव सम्पूर्ण देश का दृष्टिकोण बदल कर नई त उत्पन्न करनी है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि विभिन्नताओं के अन्त- ल में मौलिक एकता विद्यमान है। भारतीय इतिहास, उसके लक्ष्यों, विश्वासों संस्थाओं पर विचार करने से पता चलता है कि यहाँ के निवासी समस्त भारत-

वर्ष को ही अपना देश तथा आदर्श मानते रहे हैं। वे अपने देश की भौगोलिक
को कभी नहीं भूले। देश के धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों,
तथा संस्थाओं में इस एकता के भाव का बराबर परिचय मिलता है। वे भा
को अपना देश समझते हैं और उनकी अभिलाषाओं, सभ्यता तथा सहानुभू
विस्तार भारतवर्ष की समस्त सीमाओं तक है। अतएव हरबर्ट रिज़ले का यह
सर्वथा सत्य है कि "भारत में भौतिक, सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज तथा ध
जो विभिन्नता स्पष्ट दिखाई देती हैं उन सबके अन्तस्तल में एक निश्चित
एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय जीवन को एक
बाँध रक्खा है।"[1] पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने भी भारत की मौलिक एक
समर्थन करते हुए लिखा, "सभ्यता के उषा-काल से ही भारत के मस्तिष्क में
का किसी न किसी प्रकार का स्वप्न विद्यमान रहा है।"[2]

देश के विभिन्न नाम—यह विशाल देश जिसमें हम लोग निवास क
विभिन्न नामों से पुकारा गया। भारतीय आर्य सर्वप्रथम सिन्धु नदी के आ
निवास करते थे। अतएव इस प्रदेश को उन्होंने सिन्धु के नाम से पुकारा है।
पूर्व की ओर बढ़े और उस प्रदेश में बस गये जो हिमालय तथा विन्ध्य पर्वत के
में स्थित है तब उन्होंने उस सम्पूर्ण भू-भाग को आर्यावर्त के नाम से पुकारा।
पर्वत के दक्षिण के प्रदेश को उन्होंने दक्षिणापथ के नाम से पुकारा था। इस
देश को जम्बूद्वीप के नाम से पुकारा जाता था। आज-कल भी विवाह
अवसर पर मन्त्रों में इस देश को जम्बूद्वीप के ही नाम से पुकारा जाता है। का
में इस देश में भरत नाम के एक बड़े ही प्रतापी राजा हुए जो शकुन्तला
दुष्यन्त के पुत्र माने जाते हैं। राजा भरत का प्रताप तथा तेज दूर-दूर तक फैल
अतएव उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत अथवा भारतवर्ष पड़
फारस के निवासियों ने सिन्धु के स्थान पर हिन्दू कहना आरम्भ किया और यून
ने इसे इण्डोस के नाम से पुकारा है। इण्डोस का ही रूपान्तर इण्डिया है। जब मुस
इस देश में आये तब उन्होंने इसे हिन्दुस्तान कहना आरम्भ किया अर्थात्
जिसमें हिन्दू लोग निवास करते हों। इस प्रकार हमारे देश के
पड़ गये।

---

1. "Beneath the manifold diversity of physical and
type, language, custom and religion, which strikes the obser
India, there can still be discerned a certain underlying unifo
of life from the Himalayas to Cape Comorin."—Sir Herbert

2. "Some kind of a dream of unity has occupied the
of India since the dawn of civilization." —Jawahar Lal

अध्याय ३

प्राचीन भारत का इतिहास जानने के साधन

"One of the shortcomings of Indian culture, which defy rational explanation, is the aversion of Indians to writing history. They applied themselves to all conceivable branches of literature and excelled in many of them, but they never seriously took to the writing of history." —Dr. R. C. Majumdar.

प्राचीन भारत का इतिहास जानने में बड़ी कठिनाई पड़ती है । इसका कारण यह है कि इस काल का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें भारत का क्रमबद्ध इतिहास लिखा हो । इस काल में इस प्रकार के इतिहास न लिखने का कारण यह था कि उन दिनों लिखने पढ़ने का काम ब्राह्मण लोग किया करते थे । इन ब्राह्मणों की रुचि इतिहास के लिखने में उतनी न थी जितनी धर्म और दर्शन में । परन्तु विद्वानों ने विभिन्न स्रोतों से तथ्य एकत्रित कर प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण कर डाला है । यह साधन ६ हैं अर्थात् (१) अनैतिहासिक ग्रन्थ, (२) ऐतिहासिक ग्रन्थ, (३) विदेशी विवरण, (४) अभिलेख, (५) मुद्रा तथा (६) प्राचीन स्मारक । अब इनका अलग-अलग संक्षिप्त परिचय दिया जायगा ।

(१) अनैतिहासिक ग्रन्थ—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य आदि अनैतिहासिक ग्रन्थों से विद्वानों ने इतिहास के निर्माण के लिए तथ्य इकट्ठा किये हैं । यह सभी ग्रन्थ प्रधानतः धार्मिक हैं परन्तु इनमें ऐतिहासिक तथ्य भी बिखरे हुए मिलते हैं । बिम्बसार के पहले के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास जानने के यही हमारे प्रधान साधन हैं । यद्यपि इनमें राजनीतिक तथ्य कम हैं परन्तु धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों की इनमें बड़ी प्रचुरता है ।

(२) ऐतिहासिक ग्रन्थ—महाकाव्य, पुराण, अर्थशास्त्र, हर्षचरित, राजतरंगिणी तमिल-ग्रन्थ, दीपवंश, महावंश आदि ऐतिहासिक ग्रग्थों से भी तथ्य एकत्रित किये गये हैं । महाकाव्यों में रामायण तथा महाभारत आते हैं । इनसे धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्य मिल जाते हैं । पुराणों से प्राचीन काल के राज-वंशों की वंशावली का पता लग जाता है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्य-वंश के इतिहास का, बाणभट्ट के हर्षचरित से हर्ष के शासन-काल का, कल्हण की राजतरंगिणी से काश्मीर के इतिहास का, तमिल-ग्रन्थों के दक्षिण के इतिहास का और दीपवंश तथा महावंश से श्रीलंका के इतिहास का पता लग जाता है ।

(३) **विदेशी विवरण**—प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में विदेशी रणों से भी बड़ी सहायता मिल जाती है। विदेशी विवरण को हम दो भागों में सकते हैं अर्थात् विदेशी लेखकों के विवरण तथा विदेशी यात्रियों के विवरण। वि लेखकों में यूनानी लेखक एरियन, प्लूटार्क, स्ट्रैबो, प्लिनी, जस्टिन आदि, च लेखक सुमाचीन, तिब्बती लेखक तारानाथ आदि हैं। विदेशी यात्रियों में यूनानी र दूत मेगास्थनीज, चीनी यात्री फाह्यान तथा ह्वेनसांग तथा मुसलमान विद्वान अल्बे प्रधान हैं। यूनानी लेखकों से हमें सिकन्दर महान् के भारतीय आक्रमण का, यून राजदूत मेगास्थनीज से चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का, चीनी लेखकों से पार्थियन और कुषाण जाति के इतिहास का, फाह्यान के विवरण से चन्द्रगुप्त विक्र दित्य के शासन काल का, ह्वेनसांग के विवरण से हर्षवर्द्धन के शासन-काल का अल्बेरूनी के विवरण से महमूद गजनवी के आक्रमण के समय के भारत की दशा पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

विदेशी विवरणों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डा० रमाशंकर त्रिपाठी लिखा है, "इनसे भारतीय तिथि के अशान्त सागर में समसामयिकता स्थापित करने सहायता मिलती है।"[1]

(४) **अभिलेख**—प्राचीन भारत का इतिहास जानने के सबसे अधिक महत्त्व तथा विश्वसनीय साधन अभिलेख हैं। यह लेख प्रधानतः स्तम्भों, शिलाओं त गुफाओं पर मिलते हैं परन्तु कभी-कभी मूर्तियों, पात्रों तथा ताम्रपत्रों पर भी अ मिलते हैं। यह लेख देशी तथा विदेशी दोनों हैं। देशी अभिलेखों में अशोक अभिलेख, प्रयाग का स्तम्भ-लेख तथा हाथीगुम्फा के अभिलेख सबसे अधिक प्र हैं। विदेशी अभिलेखों में एशिया माइनर में स्थित बोगजकोई के अभिलेख अ प्रसिद्ध हैं। अशोक के अभिलेखों से उसके धर्म तथा उसकी शिक्षाओं का पूरा परि मिल जाता है। प्रयाग का स्तम्भ-लेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय का परिचय प्राप्त कर का एकमात्र साधन है। इसी प्रकार हाथीगुम्फा के अभिलेख खारवेल-नरेश के शास काल का इतिहास जानने के एकमात्र साधन हैं। बोगजकोई के अभिलेखों से भारतीय इतिहास पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ जाता है। अभिलेखों के महत्त्व प्रकाश डालते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "प्रारम्भिक हिन्दू इतिहास में घटना की तिथि का जो ठीक-ठीक ज्ञान अभी तक प्राप्त हो सका है वह प्रधानतः अभिले के साक्ष्य पर आधारित है।"[2]

---

[1] "They establish synchronisms in the troubled sea Indian dates."

—Dr. R. S. Tripat

[2] "Exact knowledge of the dates of events in early Hin history, so far as it has been attained, rests chiefly on the tes mony of inscriptions."

—V. A. Smit

फ्लीट महोदय ने अभिलेखों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का ज्ञान हमें केवल अभिलेखों के धैर्यपूर्ण अध्ययन से प्राप्त होता है।"[1]

(५) मुद्रा—प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में मुद्राओं से बड़ी सहायता मिली है। इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "सिकन्दर के आक्रमण के समय से मुद्राएँ प्रत्येक युग में इतिहासकारों के अन्वेषण के कार्य में अमूल्य सहायता पहुँचाती रही हैं।"[2] वास्तव में २०६ ई० पू० से ३०० ई० तक का भारतीय इतिहास जानने के प्रधान साधन मुद्राएँ ही हैं। इण्डो-पार्थियन तथा बैक्ट्रियन लोगों के इतिहास का पता हमें मुद्राओं से ही लगता है। मुद्राओं से हमें राजाओं के नाम, उनकी वेश-भूषा, उनके शासन-काल तथा उनके राजनीतिक एवं धार्मिक विचारों के जानने में बड़ी सहायता मिलती है। राज्य की सीमा निर्धारित करने में भी कभी-कभी मुद्राओं का सहारा लिया जाता है। परन्तु साम्राज्य-विस्तार का निश्चय करने में मुद्राओं का बड़ी सावधानी तथा सतर्कता के साथ प्रयोग करना चाहिए और अन्य साक्ष्यों से भी उसकी परिपुष्टि कर लेनी चाहिए। मुद्राओं से राज्य की आर्थिक दशा का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यदि मुद्राएँ शुद्ध सोने-चाँदी की होती हैं तो उनसे देश की सम्पन्नता प्रकट होती है परन्तु यदि वे मिश्रित धातुओं की होती हैं तो उनसे राज्य की विपन्नता का पता लगता है। मुद्राओं के चित्रों तथा अभिलेखों से राज्य की कला तथा साहित्य की अवस्था का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गुप्तकालीन मुद्राएँ बड़ी ही सुन्दर तथा कलात्मक हैं और उन पर बड़े ही शुद्ध तथा गीतमय संस्कृत लेख लिखे हैं जिनसे पता लगता है कि गुप्त-सम्राट् साहित्य तथा कला के प्रेमी थे।

(६) प्राचीन स्मारक—प्राचीन काल के मन्दिरों, मूर्तियों, स्तूपों, खण्डहरों आदि के अध्ययन से भी हमें प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बड़ी सहायता मिल जाती है। यद्यपि इनसे राजनीतिक दशा का विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता है परन्तु धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का पूरा ज्ञान हमें इनसे प्राप्त हो जाता है। प्राचीन स्मारकों का अध्ययन कर विभिन्न कालों की कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किस सामग्री का प्रयोग किया जाता था और किस शैली में इनका निर्माण होता था इन सब बातों की जानकारी हम प्राप्त कर सकते हैं। कलाकृतियों की प्राचीनता का अध्ययन कर कालक्रम को भी निर्धारित किया जा सकता है। मूर्तियों तथा मन्दिरों के अध्ययन से लोगों के धार्मिक विचारों तथा विश्वासों का

---

[1] "It is almost entirely from a patient examination of the inscriptions...that our knowledge of the ancient political history of India has been derived..." —Fleet

[2] "From the time of Alexander's invasion coins afford invaluable aid to the reasearch of the historian in every period. —V. A. Smith.

पता लग जाता है। गुप्त-काल की मूर्तियों का अध्ययन करने से हमें पता लग ज है कि उस काल में वैष्णव, शैव, बौद्ध आदि धर्मों का प्रचलन था और उनमें धा सहिष्णुता थी। मूर्तियों और चित्रों का अध्ययन करने से हमें सामाजिक दशा का पता लग जाता है क्योंकि इनसे हमें लोगों की वेश-भूषा, अन्नों, वनस्पतियों आदि पता लग जाता है। प्राचीन स्मारकों के अध्ययन से हमें विदेशों के साथ जो सम्ब थे उनका भी पता लग जाता है। दक्षिण-पूर्व एशिया के स्मारकों से हमें पता जाता है कि भारत का उनके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पुराने खण्डहरों खुदाइयों से हमें बड़ी मूल्यवान सामग्री मिल जाती है, जिससे इतिहास के निम में बड़ी सहायता मिलती है। अभी हाल में हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में जो खुदा हुई हैं उनसे भारत की एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का पता लगा है जिसे सिन्धु घा की सभ्यता के नाम से पुकारा गया है। प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में दे तथा विदेशी स्मारकों की जो उपयोगिता है उस पर प्रकाश डालते हुए स्मिथ महो ने लिखा है, "वे विद्यार्थी जो केवल साहित्यिक साक्ष्य तक अपने को सीमित रखते भारतीय धर्म तथा कला के इतिहास को पूर्ण रूप से नहीं समझ सकते हैं। स्मा चिह्न तथा कला की वस्तुओं का साक्ष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।"[1]

प्राचीन भारत का इतिहास जानने के उपर्युक्त जिन साधनों का उल्लेख कि गया है उनका अलग-अलग अध्ययन करने से अत्यन्त मूल्यवान तथ्य तो हमें मिल ही हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण किया गया है, उनका एक सा अध्ययन करने पर वे एक-दूसरे की प्रामाणिकता को भी सिद्ध करते हैं। अस्तु, हमें इ साधनों का बड़ी ही सावधानी तथा सतर्कता के साथ उपयोग करके अधिक-से अधि लाभान्वित होने का प्रयत्न करना चाहिये। इस सम्बन्ध में डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी चेतावनी बड़ी ही लाभप्रद है कि, इतिहासकार को एक खनिज-खोदक की भाँ स्वर्ण-रूपी तथ्य को प्राप्त करने के लिए मलकट रूपी राज्य-प्रशस्ति तथा काव्या लंकार को त्याग कर दृढ़ धैर्य तथा तर्क-पूर्ण विचार रूपी कुल्हाड़ी से कार्य करन चाहिए।"[2]

●

---

[1] "The history of Indian religions cannot be perfectl understood by students who confine their attention to literar evidence. The testimony of the monuments and works of art is equally important."

—V. A. Smith

[2] "The historian must work like a miner, with the pick and shovel of his perseverance and critical judgment, to get at the gold of facts without the dross of courtly exaggerations and poetic embelishments."

—Dr. R. S. Tripathi.

अध्याय ४

पाषाण-कालीन सभ्यता

"Man has been called a 'tool-using animal' and no doubt all progress of culture is due to the increased use of tools and implements in the conquest of nature to make life more happy and comfortable. The material history of man is an account of the progress from a 'tool-less state' to the present state of the completed machinery." —Dr. Ishwari Prasad.

पाषाण-काल का अर्थ—पाषाण का अर्थ होता है पत्थर और काल का अर्थ होता है समय। अतएव पाषाण-काल का शाब्दिक अर्थ हुआ पत्थर का समय। दूसरे शब्दों में पाषाण-काल हम उस समय को कह सकते हैं जब मनुष्य अपने औजार तथा आवश्यकता की अन्य चीजें पत्थर की ही बनाता था और धातुओं का प्रयोग करना वह नहीं जानता था। विद्वानों की धारणा है कि मानव-सभ्यता का जन्म पत्थर की ही कठोर भूमि पर हुआ था। जब मनुष्य ने प्रथम बार इस पृथ्वी पर अपनी आँखें खोलीं तब अपनी रक्षा के लिये उसे पत्थर ही मिला। उन दिनों मनुष्य निरा असभ्य था और जंगली जीवन व्यतीत करता था परन्तु धीरे-धीरे वह सभ्य जीवन की ओर आगे बढ़ने लगा। अतएव व्यापक अर्थ में पाषाण-काल मानव-सभ्यता के उस उषा-काल को कहते हैं जब वह अपनी आवश्यकता की सभी चीजें पत्थर की बनाता था और धातु का प्रयोग करना नहीं जानता था। विद्वानों की धारणा है कि पाषाण-काल का आरम्भ आज से छः लाख वर्ष पूर्व हुआ था। पाषाण-काल को दो भागों में विभक्त किया गया है अर्थात् पूर्व-पाषाण-काल तथा उत्तर-पाषाण-काल। अब इनका अलग-अलग वर्णन किया जायेगा।

पूर्व-पाषाण-काल—मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक काल को पूर्व-पाषाण-काल के नाम से पुकारा गया है। इस काल का आरम्भ अब से छः लाख वर्ष पहले हुआ था और लगभग दस हजार वर्ष पूर्व इसका अन्त हुआ था। अब इस युग के लोगों के जीवन पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

निवासी—विद्वानों की धारणा है कि इस युग के लोग हब्शी जाति के थे। इन लोगों का रंग काला और कद छोटा होता था। इनके बाल ऊनी होते थे और

इनकी नाक चिपटी होती थी । इनके वंशज अब भी अण्डमान द्वीप में पाये जाते है

औजार—इस युग के लोग अपने सभी औजार पत्थर के बनाते थे । यह पत्थ कठो ? चट्टानों से काट लिये जाते थे फिर आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार की ची बना ली जाती थीं । पत्थर के बने औजारों से वे पशुओं का शिकार करते थे । इसी उनके हथौड़े, रुखानी आदि होते थे जिनसे वे ठोंकते तथा छेद करते थे । यह औजा बड़े ही भद्दे आकार के होते थे । पत्थर के इन औजारों में लकड़ी तथा हड्डियों के बें लगे रहते थे, लकड़ी तथा हड्डियों के भी औजार होते थे परन्तु वे विनष्ट हो गये हैं ।

जीविका के साधन—इस युग के लोग अपनी जीविका के लिये पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर रहते थे । खेती-बारी करना बिल्कुल नहीं जानते थे । अपनी जीविका चलाने के लिए यह लोग जंगली पशुओं का शिकार किया करते थे और मछलियाँ पकड़ा करते थे । कन्द-मूल, फल खाकर भी यह भूख को शान्त कर लिया करते थे ।

निवास-स्थान—इस काल के लोग नदियों के किनारे जंगलों में रहा करते थे । नदियों से इन्हें पीने को पानी मिल जाता था और जंगलों से इन्हें खाने के लिये फल तथा पशुओं से मांस प्राप्त हो जाता था । ठंडक, धूप तथा वर्षा से अपनी रक्षा करने के लिए यह वृक्षों की सघन छाया तथा पर्वतों की कन्दराओं में भी निवास किया करते थे । कभी-कभी वृक्षों की डालियों तथा पत्तियों की झोपड़ियाँ भी बना लिया करते थे ।

वस्त्र—यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन है कि यह लोग वस्त्र पहनते थे अथवा नंगे घूमा करते थे । अधिक सम्भावना यही है कि यह लोग नंगे रहते थे । परन्तु कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह लोग वृक्षों की पत्तियाँ, छाल तथा पशुओं की खाल से अपने शरीर को ढँक कर रखते थे ।

संगठन—इस युग के लोग टोलियाँ बनाकर रहते थे । प्रत्येक टोली का एक प्रधान होता था और इसी प्रधान के नेतृत्व में यह टोलियाँ आहार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया करती थीं । यह लोग किसी एक स्थान पर हमेशा नहीं रहते थे वरन् जहाँ कहीं इन्हें शिकार, कन्द, मूल, फल आदि के पाने की आशा होती थी वहीं पर यह लोग चले जाया करते थे ।

शव-विसर्जन—अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि इस युग के लोग अपने मुर्दों को गाड़ दिया करते थे और मृतक शरीर को लाल रंग से रँग दिया करते थे । यह भी सम्भव है कि लोग अपने मुर्दों को फेंक दिया करते थे जिन्हें पशु-पक्षी खा जाया करते थे ।

उत्तर-पाषाण-काल—पूर्व-पाषाण-काल के बाद उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ होता है । पूर्व का अर्थ होता है पहले और उत्तर का अर्थ होता है बाद । चूँकि उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ पूर्व-पाषाण-काल के बाद हुआ अतएव इस युग को उत्तर-पाषाण-काल के नाम से पुकारा गया है । पूर्व-पाषाण-काल का अन्त अब से दस हजार वर्ष पहले माना जाता है । अतएव उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ

यहीं से होता है। इस युग के लोग पूर्व-पाषाण-काल के लोगों से कहीं अधिक सभ्य हो गये थे और उनके जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। अब इन परिवर्तनों का वर्णन कर देना आवश्यक है।

औजारों की उन्नति—इस युग में भी औजार पत्थर के ही बने होते थे, परन्तु यह पूर्व-पाषाण-काल के औजारों की अपेक्षा अधिक साफ तथा सुन्दर होते थे। अब वे भद्दे आकार के नहीं होते थे वरन् उनको रगड़ कर चिकना कर लिया जाता था। इससे वे बड़े सुडौल तथा चमकीले हो जाते थे। लकड़ी तथा हड्डियों का अब पहले से भी अधिक प्रयोग होने लगा। अब उनके औजारों में अनेकरूपता भी आ गई और धनुष, बाण, भाले, चाकू, कुल्हाड़ी के अतिरिक्त हल हँसिया, घिरनी, सीढ़ी, डोंगी, तकली आदि भी बनायी जाने लगी।

कृषि का आरम्भ—पूर्व-पाषाण-काल में मनुष्य पूर्ण रूप से प्रकृति-जीवी था, और शिकार करके तथा फल खाकर अपना पेट भर लेता था परन्तु उत्तर-पाषाण-काल में उसने कृषि करना आरम्भ कर दिया। खेती हल तथा बैलों से की जाती थी। पौधों को काटने के लिए हँसिया का प्रयोग किया जाता था। अनाज पीसने के लिए चक्कियाँ होती थीं। यह लोग गेहूँ, जौ, मक्का, बाजरा आदि की खेती किया करते थे।

पशु-पालन—उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि यदि पशुओं की हत्या करने के स्थान पर उनको पाला जाय तो उनसे अधिक लाभ होगा। अतएव इन लोगों ने पशु-पालन कार्य आरम्भ कर दिया और गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता, घोड़ा आदि जानवरों को पालना आरम्भ कर दिया।

मिट्टी के बर्तनों का निर्माण—पूर्व-पाषाण-काल के लोग अपनी आवश्यकता की सभी चीजें केवल पत्थर की ही बनाते थे। उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने मिट्टी के बर्तन बनाना आरम्भ कर दिया। कृषि तथा पशु-पालन का काम आरम्भ हो जाने के कारण अब इन लोगों के पास सामान अधिक हो गया। अतएव अपने सामान को सुरक्षित रखने के लिए इन लोगों ने मिट्टी के बर्तन बनाना आरम्भ कर दिया। अभी चाक का आविष्कार नहीं हुआ था, अतएव बर्तन हाथ से ही बनाये जाते थे।

वस्त्र-निर्माण—पूर्व-पाषाण-काल के लोग केवल पेड़ों की पत्तियाँ, उनकी छाल तथा पशुओं के चमड़े से अपने वस्त्र बनाते थे, परन्तु उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने पौधों के रेशों तथा ऊन के धागों को कातना आरम्भ किया और उन्हें बुन कर वस्त्र बनाने लगे, क्योंकि खुदाई में बहुत-सी तकलियाँ तथा करघे मिले हैं। यह लोग वस्त्रों को रँगना भी सीख गये थे।

गृह-निर्माण—पूर्व-पाषाण-काल का मनुष्य कन्दराओं तथा वृक्षों के नीचे ही निवास करता था, परन्तु उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने घर बनाना आरम्भ कर दिया। इनके घरों की दीवारें लट्ठों तथा नारियल के तनों की बनी होती थीं और उन पर मिट्टी का लेप लगा दिया जाता था। इनकी छतें लकड़ी, पत्ती, छाल आदि की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बनी होती थीं और [illegible] तथा मिट्टी की बनी होती थी।

कार्य-यिभाजन तथा वस्तु-विनिमय—उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने भि भिन्न प्रकार के कार्यों को करना आरम्भ कर दिया था। कोई खेती करता था कोई मिट्टी के बर्तन बनाता था और कोई लकड़ी के काम किया करता था। इ प्रकार सबका काम अलग-अलग बँट गया। इससे वस्तु-विनिमय आरम्भ हो गया एक ही गाँव के लोग अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लि चीजों की अदला-बदली कर लिया करते थे। बढ़ई तथा कुम्हार अपनी चीजें किसा को देकर उनसे अन्न प्राप्त कर लेते थे।

युद्ध का प्रारम्भ—उत्तर-पाषाण काल में विभिन्न बस्तियों में युद्ध भी आरम्भ हो गए। अतएव आत्म-रक्षा के लिए गाँव के चारों ओर खाई बना दी जाती थ जिससे शत्रु सहसा गाँव में घुस न सकें। यह लोग पत्थर के ही बने हथियारों का यु में प्रयोग करते थे और उन्हीं से अपनी रक्षा किया करते थे। यह लोग बड़े ही वी निर्भीक तथा साहसी हुआ करते थे।

धर्म—खुदाई में कुछ नारी-मूर्तियाँ मिली हैं जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि उत्तर-पाषाण-काल के लोग मातृदेवी के उपासक थे। अपनी देवी को प्रसन्न करने के लिए यह लोग सम्भवतः पशुओं की बलि भी दिया करते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से पृथ्वी माता प्रसन्न होती है और पशु तथा कृषि में वृद्धि होती है।

शव-यिसर्जन—पूर्व-पाषाण-काल के लोगों की भाँति उत्तर-पाषाण-काल के लोग भी अपने मुर्दों को जमीन में गाड़ दिया करते थे। परन्तु मुर्दों को गाड़ने के लिए कब्रिस्तान बन गये थे। कभी-कभी घर के भीतर ही अथवा उनके समीप ही मुर्दों को गाड़ दिया जाता था और जहाँ पर मुर्दों को गाड़ा जाता था वहाँ पर उनकी आवश्यकता की सभी चीजें रख दी जाती थीं। इस काल में मुर्दों के जलाने की भी प्रथा आरम्भ हो गई थी और राख को मिट्टी के बर्तन में रख कर आदरपूर्वक भूमि में गाड़ दिया जाता था।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के परिवर्तन बड़े ही क्रान्तिकारी थे। अब सभ्यता की दौड़ में मनुष्य बहुत आगे बढ़ गया था। कृषि तथा पशु-पालन का कार्य आरम्भ हो जाने के कारण अब उसमें सहकारिता बहुत बढ़ गई। अब वह एक स्थान पर गाँवों में स्थायी रूप से निवास करने लगा और वह उसकी मातृभूमि हो गई और उसके प्रति उसका विशेष प्रेम हो गया। अब न्नुष्य के पास भूमि, घर, पशु, अन्न तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ हो गईं। अतएव यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हो गया और धन-सम्पन्नता तथा दरिद्रता का भी जन्म हो गया। सम्पत्ति की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ भी की जाने लगीं। सारांश यह है कि उत्तर-पाषाण-काल पूर्व-पाषाण-काल की अपेक्षा सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया था।

।धातु-काल—पाषाण-काल के बाद धातु-काल का आ रम्भ हुआ। कुछ विद्वानों

का विचार है कि धातु-काल के लोग पाषाण-काल के लोगों से भिन्न थे और उत्तर पश्चिम के मार्गों से भारत से आये थे। अन्य विद्वानों के विचार में धातु-काल के लोग उत्तर-पाषाण-काल के लोग की ही सन्तान थे। इस मत के समर्थन में दो बातें कहीं जाती हैं। पहली बात यह है कि धातु-काल के प्रारम्भ में पाषाण तथा धातु का साथ-साथ प्रयोग होता था और दूसरी यह है कि इस सन्धि-काल की वस्तुओं के आकार तथा बनावट में बड़ी समानता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-पाषाण-काल की सभ्यता धीरे-धीरे उन्नति कर धातु-काल की सभ्यता में बदल गयी।

धातु-काल का अर्थ––धातु-काल उस युग को कहते हैं जब मनुष्य ने पत्थर के स्थान पर धातु का प्रयोग करना आरम्भ किया। सबसे पहले मनुष्य ने ताँबे का, उसके बाद काँसे का और अन्त में लोहे का प्रयोग करना आरम्भ किया। चूँकि इन धातुओं का प्रयोग निरन्तर आधुनिक काल तक होता चला आ रहा है अतएव उत्तर-पाषाण-काल से आज तक के काल को धातु-काल समझना चाहिये। उस लम्बे काल में मानव-सभ्यता का धीरे-धीरे विकास होता गया है और आज वह इतने आश्चर्य-जनक कार्य कर रहा है जो पुराने जमाने में असम्भव ही नहीं समझे जाते थे, वरन् उनके बारे में कोई सोचता भी न था। इस लम्बे धातु-काल को तीन भागों में बाँटा जाता है अर्थात् ताम्र-काल, कांस्य-काल तथा लौह-काल। परन्तु कांस्य-काल हमारे देश में नहीं आया क्योंकि ताँबे के बाद ही इस देश में लोहे का प्रयोग आरम्भ हो गया। हमारे देश में धातु के दो ही काल थे अर्थात् ताम्र-काल तथा लौह-काल। अब इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जायगा।

ताम्र-काल—ताम्र-काल उस काल को कहते हैं जब मनुष्य ने अपनी आवश्यकता की सभी चीजें ताँबे की बनाना आरम्भ किया। खोज करके यह पता लगाया गया है कि इन धातुओं में सबसे पहले ताँबे का प्रयोग आरम्भ हुआ। अतएव ताम्र-काल का आरम्भ उत्तर-पाषाण-काल के बाद ही होता है। ताँबे को प्रयोग में लाने के कई कारण थे। पत्थर को गलाया नहीं जा सकता परन्तु ताँबे को गलाया जा सकता है। अतएव ताँबे को गला कर उससे छोटी-बड़ी सभी तरह की चीजें बनाई जा सकती थीं। पत्थर की अपेक्षा ताँबे की बनी हुई चीजें अधिक सुन्दर, सुडौल, सुदृढ़ तथा चिकनी होती थीं। ताँबे में एक यह सुविधा भी थी कि उससे चद्दरें बनाई जा सकती थीं और उसके टुकड़े किये जा सकते थे। टूट जाने पर तांबे को जोड़ा भी जा सकता था। अब इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि ताम्र-काल के लोगों का जीवन किस प्रकार का था और सभ्यता के मार्ग में वे कितना आगे बढ़े थे।

यातायात के साधनों में वृद्धि—पाषाण-काल में बोझा ढोने का काम मनुष्य स्वयं करता था परन्तु ताम्र-काल में बोझा ढोने का काम पशुओं तथा गाड़ियों द्वारा किया जाने लगा। बोझा ढोने के लिए सबसे पहले बैलों का प्रयोग किया गया परन्तु बाद में गधों, घोड़ों तथा ऊँटों का प्रयोग होने लगा। पशुओं के साथ-साथ पहियेदार गाड़ियों का भी बहुत अधिक प्रयोग होने लगा। जल यात्रा के लिये नावों का भी निर्माण आरम्भ हो गया।

कृषि में उन्नति—कृषि का काम उत्तर-पाषाण-काल में ही आरम्भ हो था परन्तु अब वह बहुत बड़े परिमाण में की जाने लगी। पशुओं की संख्या में हो जाने के कारण अब उनके चारे तथा उनके रखने की उचित व्यवस्था करनी प पशुओं के लिये मोटे अन्न की खेती की जाने लगी।

कार्य-कुशलता में वृद्धि—धातु के काम में कुशलता की बड़ी आवश्यकता है। अतएव अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करने के लिये अब लोग पूरे समय अप कार्य में लगे रहते थे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के कार्यों में विशेषज्ञ होने ल अपने कार्य में बड़े कुशल होते थे। अब कार्य-विभाजन का सिद्धान्त बहुत आगे गया और लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के किये दूसरों पर निर्भर रहने ल इस प्रकार मनुष्य स्वावलम्बी से परावलम्बी हो गया।

भवन-निर्माण का आरम्भ—धूप में सुखाई तथा आग में पकी हुई ईंटें मकानों का निर्माण इसी काल में आरम्भ हुआ था। यह मकान बड़े सुविधाजनक थे और इनमें सुरक्षा की पूरी व्यवस्था रहती थी। यह मकान अब इतने बड़े हो कि उनमें मनुष्य, पशु तथा सामान के लिये अलग-अलग प्रबन्ध रहता था।

धार्मिक भावना का आरम्भ—कृषि करने के कारण प्रकृति की कृपा यह लोग अत्यधिक निर्भर रहने लगे। अतएव प्राकृतिक शक्तियों में इनका विश्वास हो गया और देवी-देवता के रूप में वे इन शक्तियों की पूजा करने ल पूजा के लिये मन्दिरों का भी निर्माण आरम्भ हो गया। धार्मिक भावना के उद साथ-साथ अन्धविश्वास भी इन लोगों में उत्पन्न हो गया और जादू-टोना में यह विश्वास करने लगे।

लौह-काल—हमारे देश में ताम्र-काल के बाद लौह-काल का आरम्भ हो है। लौह-काल का आरम्भ उत्तर तथा दक्षिण भारत में एक साथ नहीं हुआ। दक्षि भारत में उत्तर-पाषाण-काल के बाद ही इसका प्रयोग आरम्भ हो गया था, प उत्तर भारत में ताम्र-काल के बाद इसका प्रयोग हुआ। विद्वानों की धारणा कि उत्तर भारत में इसका प्रयोग ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व हुआ हो विद्वानों की धारणा है कि लौह-काल के लोग पामीर पठार की ओर से आये थे धीरे-धीरे महाराष्ट्र में फैल गये। कालान्तर में मध्य प्रदेश के वनों को पार कर लोग बंगाल की ओर चले गये। लौह-काल में मनुष्य के जीवन का वैज्ञानिक वि आरम्भ हो गया और उसके जीवन में बहुत बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन होने ल मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने तथा उसकी सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति अन्य किसी धातु से उतनी सहायता नहीं मिली जितनी लोहे से मिली है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानव सभ्यता का क्रमिक विकास हु है और वह जंगली अवस्था से पूर्ण सभ्य जीवन की ओर अग्रसर होता गया है। इ विकास में वह विभिन्न स्तरों से गुजरा है और जीवन को क्रमशः अधिक बनाने में सफल रहा है। इस विकास की गति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और अनन्त विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

अध्याय ५

कोल तथा द्रविड़ सभ्यता

> "There is a general belief that all the best elements in Hindu religion and culture are derived from the Aryans, and whatever is lowly, degrading, or Superstitious in it represents the primitive non-Aryan element mixed up with it. This view is certainly wrong, and we must admit that the Aryan religion, thoughts and beliefs have been profondly modified by those of the Proto-Australoids and Dravidians with whom they came into contact in India." Dr. R. C. Majumdar.

कोल कौन थे ?—कोल भारत की एक अत्यन्त पुरानी जाति है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह लोग भारत के मूल निवासी थे और कहीं बाहर से नहीं आये थे। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में यह लोग बाहर से उत्तर पूर्व के पर्वतीय मार्गों द्वारा भारत में आये थे। कोल लोग चाहे भारत के मूल निवासी रहे हों और चाहे वह बाहर से आये हों, परन्तु इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि सबसे पहले यही लोग भारत में निवास करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब उत्तर-पश्चिम की ओर से द्रविड़ लोग भारत में आये तब उन लोगों ने कोलों को उपजाऊ मैदानों से खदेड़ दिया और वे लोग पर्वतीय प्रदेशों तथा जंगलों में भाग गये। यही कारण है कि आज-कल भी कोल लोग ऐसे स्थानों पाये जाते हैं। कोलों के वंशज आजकल आसाम, बंगाल, मद्रास, मध्य प्रदेश तथा छोटा नागपुर (बिहार) के पर्वतीय तथा जंगली प्रदेश में पाये जाते हैं। कोलों की कई शाखाएँ हैं। इनमें से कुछ तो निरे असभ्य हैं, परन्तु कुछ सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ गये हैं। कोल लोग कद के छोटे होते हैं और इनकी नाक चिपटी होती है।

कोल सभ्यता—कोल लोगों की गणना भारत की असभ्य जातियों में होती है। यह लोग मुण्डा भाषा बोलते हैं और गाँवों में निवास करते हैं। यह बड़े ही सरल स्वभाव के तथा शांति-प्रिय होते हैं। अपरिचत लोगों से यह बहुत डरते हैं और उनसे दूर रहने का प्रयास करते हैं परन्तु परिचितों के साथ वह लोग प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। अब कोलों के जीवन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

(१) जीविका के साधन—चूंकि कोल भारत के आदि-निवासी थे अतएव प्रारम्भ में यह लोग जानवरों का शिकार कर तथा कन्द, मूल और फल खाकर अपनी जीविका चलाते थे। परन्तु कालान्तर में यह लोग कृषि भी करने लगे और पशुओं

को पालने लगे । यह लोग धान तथा गन्ने की खेती किया करते थे और हाथिय भैंसों को पालते थे ।

(२) **सहयोग का जीवन**—कोल लोग संगठन बना कर गाँवों में निवास थे । शिकार के लिए यह एक साथ जाया करते थे और भोजन भी यह लोग एक ही किया करते थे । यह लोग बड़े मेल-जोल के साथ रहते थे और एक दू सहायता करने के लिए सदैव तैयार रहते थे ।

(३) **सामाजिक जीवन**—कोल लोगों में जाति-प्रथा न थी और न उनमें वर्ग-भेद था । समाज में ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था और सभी समान जाते थे । कोल लोगों को अपने बच्चों की शिक्षा का बड़ा ध्यान रहता था । यह व्यावहारिक होती थी और गण के एक पदाधिकारी द्वारा दी जाती थी ।

(४) **दण्ड विधान**—कोलों के अपने अलग नियम होते थे और इन्हीं नि के अनुसार अपराधियों को दण्ड दिया जाता था । जो लोग बड़े-बड़े अपराध क वे गाँव के बाहर निकाल दिये जाते थे ।

(५) **धार्मिक विचार**—कोल लोग किसी सर्वशक्तिमान् दयालु भगव विश्वास नहीं करते थे । वे केवल भूत-प्रेत में विश्वास करते थे और भय के क उनकी पूजा किया करते थे । उनका यह विचार था कि यदि प्रेत लोग अप्रसन्न जायेंगे तो उन्हें कष्ट पहुँचायेंगे और अगर प्रसन्न रहेंगे तो उनका कल्याण क अतएव इन प्रेतों को प्रसन्न रखने के लिए वे उन्हें मोटी रोटी, शहद तथा दूध च करते थे । उन्हें प्रसन्न रखने के लिए यह छोटे-छोटे पशुओं तथा पक्षियों की बलि दिया करते थे । इन लोगों का विश्वास था कि यह भूत-प्रेत बड़े-बड़े वृक्षों में नि करते हैं । अतएव यह लोग वृक्षों की पूजा किया करते थे ।

शव-विसर्जन—कोल लोग मृतक शरीर को फेंक दिया करते थे जो वायु सूर्य के प्रकाश द्वारा विनष्ट हो जाया करता था । कभी-कभी वे शव को पशु-प को समर्पित कर देते थे जो उन्हें खा जाया करते थे । यदा-कदा वे शव को गाड़ देते थे ।

द्रविड़ कौन थे ?—कोलों के साथ-साथ भारतवर्ष में एक दूसरी निवास करती थी जो द्रविड़ कहलाती थी । यह लोग भारत के अत्यन्त प्राचीन नि माने जाते हैं । इनका कद छोटा, सिर बड़ा, नाक छोटी तथा चिपटी और रंग होता था । जिस समय आर्य लोग भारतवर्ष में आये उन दिनों द्रविड़ लोग भा विभिन्न भागों में निवास करते थे । आर्यों ने उन्हें अनार्य, दस्यु आदि नामों से पु है । आर्यों ने द्रविड़ों को उत्तरी भारत से मार भगाया । फलतः द्रविड़ लोग द भारत में भाग गये और वहीं पर स्थायी रूप से निवास करने लगे । यहीं पर सभ्यता तथा संस्कृति का धीरे-धीरे विकास होता रहा है ।

द्रविड़ों का आदि देश—द्रविड़ लोग भारत के मूल निवासी थे अथवा जातियों की भाँति यह लोग बाहर से भारत में आये थे, इस प्रश्न पर विद्वानों मतभेद है । कुछ विद्वानों के विचार में द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के मूल नि

। परन्तु अधिकांश विद्वान की यह धारणा है कि द्रविड़ लोग बाहर से भारत में ये थे । अब प्रश्न यह उठता है कि यह लोग किस मार्ग से इस देश में आये थे । छ विद्वानों का कहना है कि द्रविड़ लोग मंगोल जाति के थे और उत्तर-पूर्व के मार्ग इस देश में आये थे। कुछ विद्वानों के विचार में हिन्दमहासागर में लेमूरिया म का एक महाद्वीप था जो पानी में डूब गया है। इन विद्वानों के विचार में विड़ लोग इसी महाद्वीप के मूल-निवासी थे और वहीं से भारतवर्ष में आये थे। न्य लोगों के विचार में द्रविड़ लोग पश्चिम एशिया के आदि निवासी थे और लूचिस्तान होते हुए उत्तर-पश्चिम के मार्गों से भारत में आये थे। द्रविड़ों का मूल थान चाहे जहाँ हो इतना तो निर्विवाद है कि अन्त में यह लोग दक्षिण भारत स्थायी रूप से निवास करने लगे और वहीं पर इनकी सभ्यता तथा संस्कृति का कास हुआ ।

द्रविड़ सभ्यता—पहले विद्वानों की यह धारणा थी कि आर्य-सभ्यता ही ारत की सबसे पुरानी सभ्यता है परन्तु अब यह सिद्ध कर दिया गया है कि द्रविड़ भ्यता आर्य-सभ्यता से कहीं अधिक पुरानी है। आर्यों ने द्रविड़ों को दस्यु, दानव, क्षस आदि नामों से पुकारा है। इससे ऐसा लगता है कि द्रविड़ लोग बिल्कुल सभ्य थे परन्तु वास्तव में ऐसी बात न थी। द्रविड़ लोग सभ्यता की दौड़ में काफी ागे बढ़ गये थे जो निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगा :—

(१) **निवास-स्थान** --द्रविड़ लोग गाँवों तथा नगरों में निवास करते थे। ारतवर्ष में नगरों का निर्माण सबसे पहले द्रविड़ों ने ही किया था। शत्रुओं से इन गरों की रक्षा करने के लिए वे इनकी किलेबन्दी कर लिया करते थे अतएव नगरीय ीवन तथा नगरीय सभ्यता का आरम्भ द्रविड़ों ने ही किया था।

(२) **जीविका के साधन**—चूंकि द्रविड़ लोग गाँवों तथा नगरों दोनों में ावास करते थे अतएव कृषि तथा व्यापार इनकी जीविका के साधन थे। जो द्रविड़ ाँवों में रहते थे वे बड़े कुशल किसान होते थे और विभिन्न प्रकार के अन्नों की खेती ्या करते थे। अपने खेतों को सींचने के लिए यह लोग नदियों में बाँध बनाते थे। न पर वे पुल भी बनाते थे जिससे वे उन्हें आसानी से पार कर सकें। कृषि के तिरिक्त द्रविड़ लोग व्यापार भी करते थे। व्यापार में इन लोगों की बड़ी रुचि थी ीर शान्तिपूर्वक यह लोग विदेशों के साथ व्यापार करते थे। यह लोग बड़े चतुर ाविक होते थे और निकट के द्वीपों में इन लोगों ने अपने उपनिवेश स्थापित करने ा प्रयत्न किया था।

(३) **सामाजिक संगठन**—द्रविड़ों का समाज मातृक था और माता ही कुटुम्ब ी प्रधान हुआ करती थी। इन लोगों में चचेरे भाई-बहनों में निवाह हो सकता था। ह प्रथा इन लोगों में अब भी प्रचलित है। जाति-प्रथा का प्रचार इन लोगों में न ा। इनके समाज के केवल ब्राह्मण तथा शूद्र होते थे। क्षत्रिय तथा वैश्य इनके समाज न थे। अपने मुर्दों को यह लोग गाड़ते थे परन्तु जब यह आर्यों के सम्पर्क में आये व उन्हें जलाने भी लगे।

(४) **धार्मिक जीवन**—द्रविड़ों के धार्मिक विचार बड़े ही भद्दे थे। यह लोग पृथ्वी की पूजा किया करते थे। अपने देवी-देवताओं में सबसे अधिक प्रधानता इन लोगों ने माता-देवी को दी थी। शिव-लिंग की पूजा द्रविड़ों में प्रचलित थी। यह लोग पशुओं की भी पूजा किया करते थे। शिव को यह लोग पशुपति कहते थे। सम्भवतः यह लोग शेषनाग के भी उपासक थे। प्राचीन काल के द्रविड़ प्रेतों की भी पूजा किया करते थे और उन्हें बलि दिया करते थे। पान, फल तथा फूल से पूजा करने की विधि सम्भवतः द्रविड़ों से ही आरम्भ हुई। अपने देवी-देवताओं की पूजा के लिये लोग मन्दिर बनवाया करते थे।

(५) **कला-प्रेम**—द्रविड़ों की कला में बड़ी रुचि थी और वे बड़े कुशल कलाकार थे। ईंटों तथा पत्थरों के यह बड़े सुन्दर मकान बनाया करते थे। सुन्दर-सुन्दर आभूषणों के बनाने में तो यह लोग बड़े ही चतुर थे। कताई, बुनाई तथा रँगाई के काम में भी यह लोग बड़े कुशल थे यह लोग मिट्टी के बड़े सुन्दर बर्तन बनाते थे। नृत्य तथा संगीत-कला में भी इनकी बड़ी रुचि थी।

(६) **राजनीतिक जीवन**—द्रविड़ों की राजनीतिक व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी अर्थात् राज्य का प्रधान राजा होता था। इनका शासन बहुत ही संगठित होता था और बड़ी ही सुचारु रीति से संचालित होता था! सम्पूर्ण देश कई जिलों में विभक्त था ओर प्रत्येक जिले का एक राजा होता था। वह राजा ईंटों तथा पत्थरों के बने हुए सुन्दर भवनों में निवास करते थे। यही भवन किले का भी काम देते थे। युद्ध में यह लोग धनुष-बाण, बर्छा, भाला आदि का प्रयोग करते थे। अपनी रक्षा के लिए गाँवों तथा नगरों की किलेबन्दी भी यह लोग किया करते थे। सभी काम नियमानुसार होते थे और नियम भंग करने वालों को दण्ड मिलता था।

(७) **भाषा तथा लिपि**—द्रविड़ों की भाषा ब्राहुई से मिलती-जुलती थी। दक्षिण की तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाएँ उसी की शाखाएँ हैं। लेखन-कला का भी इन्हें ज्ञान था। यह लोग ताड़ के पत्तों पर लिखते थे और बहुत से पत्तों के संग्रह से पुस्तक बन जाती थी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रविड़ों की सभ्यता बड़ी ही उन्नत-दशा में थी और वे सभ्यता की दौड़ में काफी आगे बढ़े हुए थे। आगे चलकर आर्यों ने बहुत-सी बातें द्रविड़ों से सीखीं और उनकी सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए। अस्तु, स्मिथ महोदय ने द्रविड़ सभ्यता के अध्ययन पर बल देते हुए लिखा है, "भारतीय इतिहास का सांगोपांग ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक दक्षिण भारत की अनार्य संस्थाओं का सही-सही अध्ययन न किया जाय।"

●

---

1. Early Indian history as a whole cannot be viewed in true perspective until the non-Aryan institutions of south receive adequate treatment."
—V. A. Smith.

अध्याय ६

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

"The Indus People gave to the world its earliest cities, its first urban civilization, its first town-planning, its first architecture in stone and brick as protection against floods, its first example of sanitary engineering and drainage works. To them also belongs the credit for producing some of the earliest specimen of pottery and also of inventing what was the most important aid to civilization, the device of a cart to harness the labour force of the animals to the production of man's utility."

—Dr. R. K. Mookerji,

सिन्धु-घाटी की सभ्यता का तात्पर्य—सिन्धु हमारे देश की एक नदी का नाम है जो हिमालय पर्वत से निकलती और पंजाब तथा सिन्ध के प्रदेश से होती हुई अरब सागर में मिलती है। घाटी उस प्रदेश को कहते हैं जो किसी नदी के दोनों ओर स्थित रहता है और उस नदी के पानी से सींचा जाता है। अतएव सिन्धु-घाटी का तात्पर्य उस प्रदेश से है जो सिन्धु नदी के दोनों ओर स्थित है और सिन्धु नदी के जल से सींचा जाता है। किसी प्रदेश की सभ्यता का यह तात्पर्य होता है कि वहाँ के लोगों का सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक जीवन किस प्रकार का है। अतएव सिन्धु-घाटी की सभ्यता का यह तात्पर्य हुआ, कि सिन्धु नदी के दोनों किनारों के प्रदेश में निवास करने वालों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दशा कैसी थी, चूँकि इस बात का अभी ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है कि इस प्रदेश के निवासी कौन थे अतएव इसे किसी जाति-विशेष की सभ्यता न कह कर सिन्धु-घाटी की सभ्यता के नाम से पुकारा गया है। कुछ विद्वानों ने इसे हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की सभ्यता के नाम से पुकारा है। हड़प्पा पश्चिमी पंजाब के मान्टगोमरी जिले में और मोहनजोदड़ो सिन्ध के लरकाना जिले में स्थित हैं। १९२२ ई० में श्री राखालदास बनर्जी की अध्यक्षता में इन दोनों स्थानों में खुदाइयाँ हुई हैं। आगे इसी स्थान पर जान मार्शल के नेतृत्व में खुदाइयों में जो वस्तुएँ मिली हैं उनके अध्ययन से भारत की एक ऐसी सभ्यता का पता लगा है जो ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पहिले की है अर्थात् वैदिक कालीन सभ्यता से भी कहीं अधिक पुरानी। सिन्धु की घाटी के प्रदेश में तथा कुछ अन्य स्थानों में भी खुदाइयाँ हुई है जिनमें वही चीजें मिली हैं जो हड़प्पा तथा

मोहेनजोदड़ों में मिली थी। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु-घाटी के सम्पूर्ण प्रदेश की सभ्यता एक-सी थी। इसी से सिन्धु-घाटी की सभ्यता को हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की सभ्यता के नाम से भी पुकारा गया है। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसे सिन्धु-घाटी की सभ्यता के नाम से ही सम्बोधित किया है। उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता का तात्पर्य उन लोगों की सभ्यता से है जो सिन्धु नदी की घाटी में ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पहले निवास करते थे अर्थात् उन लोगों का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन किस प्रकार का था।

सामाजिक जीवन—हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, अमरी, चन्हूदड़ो, झूकरदड़ो स्थानों में खुदाइयों के फलस्वरूप प्राप्त वस्तुओं के अध्ययन से सिन्धु-घाटी के लोगों के सामाजिक जीवन पर निम्नलिखित प्रकाश पड़ता है :—

(१) **नगर योजना**—खुदाइयों से पता लगा है कि हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो दोनों ही विशाल नगर थे। इन नगरों का निर्माण एक निश्चित योजना के अनुसार किया गया था। नगरों की सड़कें उत्तर से दक्षिण को अथवा पूर्व से पश्चिम को एक दूसरे को सीधे समकोण पर काटती हुई जाती थीं। इस प्रकार नगर इन सड़कों द्वारा कई वर्गाकार अथवा आयताकार भागों में विभक्त हो जाता था। यह सड़कें बड़ी चौड़ी होती थीं। नगर की प्रमुख सड़कें तैंतीस फीट तक चौड़ी पाई गई हैं जिससे स्पष्ट है कि सड़कों पर एक साथ कई गाड़ियाँ आ-जा सकती थीं। बड़ी-बड़ी सड़कों को मिलाने वाली गलियाँ भी काफी चौड़ी होती थीं। जो गलियाँ कम-से-कम चौड़ी होती थीं उनकी भी चौड़ाई चार फीट की पाई गयी है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह सड़कें कच्ची हैं और इन्हें पक्की बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया।

(२) **भवन निर्माण**—सड़कों के दोनों किनारों पर मकान होते थे जो पक्की ईंटों के बने होते थे। यह ईंटें लकड़ी से पकाई जाती थीं। अधिकांश मकान दो मंजिलों के होते थे परन्तु दीवारों की मोटाई से पता लगता है कि दो से भी अधिक मंजिलों के मकान बनते थे। नीचे की मंजिल से ऊपर की मंजिल में जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं। अधिकांश सीढ़ियाँ संकीर्ण मिली हैं परन्तु कुछ काफी चौड़ी तथा सुविधाजनक सीढ़ियाँ भी मिली हैं। बड़े-बड़े मकानों के दरवाजे बड़े चौड़े होते थे। कुछ मकानों के दरवाजे तो इतने चौड़े मिले हैं कि उनमें रथ तथा बैलगाड़ियाँ भी आ जा सकती थीं। कमरों में दीवारों के साथ आलमारियाँ भी लगी होती थीं। हड्डियों तथा शंख की बनी हुई कुछ ऐसी चीजें मिली हैं जिनसे पता लगता है, कि कमरों में खूँटियाँ भी लगी होती थीं। दरवाजों तथा मकानों में खिड़कियों का पूरा प्रबन्ध रहता था जिससे हवा तथा प्रकाश की कमी न हो। इन दरवाजों तथा खिड़कियों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यह सभी भीतर की दीवारों में बने होते थे। जो दीवारें सार्वजनिक सड़कों की ओर होती थीं उनमें दरवाजे तथा खिड़कियाँ नहीं होती थीं। मकान के बीच में एक आँगन होता था जिसके एक कोने में रसोईघर बना होता था। रसोईघर के चूल्हे ईंटों के बने होते थे। प्रत्येक मकान में एक स्नानागार का होना

आवश्यक था। इन स्नानागारों में मिट्टी के बर्तन में पानी रक्खा रहता था। इन स्नानागारों का फर्श पक्की ईंटों का बना होता था और उसकी सफाई का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। बहुत से स्नानागारों के समीप शौचालय भी मिले हैं।

(३) **नालियों का प्रबन्ध**—नगर के मैले जल को बाहर ले जाने के लिए नालियों का' प्रबन्ध किया गया था। सब नालियाँ पक्की ईंटों की बनी होती थीं। ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी मिले चूने का **प्रयोग** किया जाता था कम चौड़ी नालियाँ ईंटों से और अधिक चौड़ी तालियाँ पत्थर के टुकड़ा से ढँकी जाती थीं। ऊपर की मंजिल का गन्दा पानी नींचे लाने के लिए मिट्टी के पाइपों का प्रयोग किया जाता था।

(४) **कुओं का प्रबन्ध**—आसानी से जल प्राप्त करने के लिए सिन्धु-घाटी के लोगों ने कुओं का प्रबन्ध किया था। खुदाई में ऐसे कुएँ मिले हैं जिनकी चौड़ाई दो फीट से सात फिट है। सार्वजनिक कुओं के अतिरिक्त, जो जनता के लिए बने होते थे, लोग अपने घरों में अपने व्यक्तिगत प्रयोग के लिए भी कुएँ बनवाते थे।

(५) **जलाशय तथा स्नानागार** मोहेनजोदड़ो की खुदाई में एक बहुत बड़ा जलाशय भी मिला है। यह जलाशय ३९ फीट लम्बा ३३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह पक्की ईंटों का बना हुआ है और इसकी दीवारें बड़ी मजबूत हैं। इस जलाशय के चारों ओर एक बारादरी बनी है जिसकी चौड़ाई १५ फीट है। जल-कुण्ड के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हुए हैं। इन स्नानागारों के ऊपर कमरे बने थे जिनमें पुजारी लोग रहा करते थे। जलाशय के निकट एक कुआँ भी मिला है। सम्भवतः इसी कुएँ के पानी से जलाशय को भरा जाता था। जलाशय को भरने तथा खाली करने के लिए नल बने होते थे। जलाशय के निकट ही एक भवन मिला है जो सम्भवतः हम्माम था और जिसमें जल के गर्म करने का प्रबन्ध था।

(६) **नगर की सुरक्षा का प्रबन्ध**—अपने नगरों को शत्रुओं से सुरक्षित रहने के लिए यह लोग नगर के चारों ओर खाई तथा दीवार का भी प्रबन्ध करते थे। यह चहारदीवारी सम्भवतः दुर्ग का भी काम देती थी।

(७) **समाज का संगठन**—**मोहेनजोदड़ो की** खुदाइयों से पता लगता है **कि** सिन्धु की घाटी के लोगों का समाज चार वर्गों में विभक्त था। पहला वर्ग विद्वानों का था जिसमें पुजारी, वैद्य, ज्योतिषी आते थे। दूसरे वर्ग में योद्धा लोग आते थे, जिनकी कर्त्तव्य समाज की रक्षा करना होता था। तीसरे वर्ग में व्यवसायी लोग आते थे। ये लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे करते थे। चौथे वर्ग में घरेलू नौकर तथा मजदूर आते थे!

(८) **भोजन**—खुदाई में गेहूँ, जौ, चावल, खजूर के बीज आदि **मिले** हैं जिनसे पता लगता है कि यही चीजें सिन्धु-घाटी के लोग खाते रहे होंगे। खुदाई में कुछ अधजली हड्डियाँ तथा छिलके भी मिले हैं जिनसे यह अनुमान लगाया गया है कि ये लोग मछली, मांस, अंडे आदि का प्रयोग किया करते थे। फल, दूध तथा तरकारी का भी यह लोग प्रयोग करते थे।

(९) **वेश-भूषा**—सिन्धुघाटी के निवासी छोटी दाढ़ी तथा मूँछे रखते थे। परन्तु

कुछ लोग मूँछें मुड़वा भी डालते। कुछ लोगों के बाल छोटे होते थे और कुछ लोगों के लम्बे। जिन लोगों के बाल लम्बे होते थे वे चोटी बाँधे रहते थे। यह लोग बालों में कंघी करते थे और पीछे की ओर फेरे रहते थे। सिन्धु घाटी के लोग ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। यह वस्त्र साधारण हुआ करते थे। खुदाई में एक पुरुष की मूर्ति मिली है जिसमें वह एक शाल ओढ़े है। शाल बाँए कन्धे के ऊपर से और दाहिनी काँख के नीचे जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि इनके दो मुख्य वस्त्र रहे होंगे। एक शरीर के नीचे के भाग को ढँकने के लिए और दूसरा ऊपर के भाग के लिए। हड़प्पा की खुदाइयों से पता लगता है कि स्त्रियाँ सिर पर एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहिनती थीं जो सिर के पीछे की ओर पंखे की तरह उठा रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों तथा पुरुषों के वस्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। सिन्धु की घाटी के लोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों का भी प्रयोग करते थे। हार, भुज-बन्द, कर-कंगन तथा अँगूठी स्त्री-पुरुष दोनों ही पहिनते थे, परन्तु करधनी, नथुनी, बाली तथा पायजेब केवल स्त्रियाँ ही पहिनती थीं। धनी लोगों के आभूषण सोने, चाँदी तथा जवाहरात के बने होते थे परन्तु गरीबों के आभूषण ताँबे, हड्डी तथा पकी हुई मिट्टी के बने होते थे। पीतल के दर्पण तथा हाथी के दाँत की कंघियाँ भी खुदाई में मिली हैं। ओठ के लिए लेपन-पदार्थ भी होता था।

(१०) आमोद-प्रमोद के साधन—शिकार इन लोगों के आमोद-प्रमोद का प्रधान साधन था। यह लोग धनुष-बाण से जंगली बकरों तथा हिरनों का शिकार किया करते थे। चिड़ियों के भी पालने तथा उड़ाने का इन लोगों का शौक था। बच्चे मिट्टी की चीजें बना कर आमोद-प्रमोद किया करते थे। यह लोग शतरंज तथा जुआ भी खेलते थे और मुर्गों तथा बैलों को लड़ाया करते थे। नाचने-गाने का भी इन लोगों को शौक था।

(११) खिलौने—हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की खुदाइयों में विभिन्न प्रकार के खिलौने मिले हैं। बच्चों को मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियों से खेलने का बड़ा शौक था। मनुष्य तथा पशुओं के आकार के विभिन्न प्रकार के खिलौने बच्चों के खेलने के लिए बनाये जाते थे। चिड़ियों के भी खिलौने होते थे और बच्चों के बजाने के लिए भोंपू भी बनाये जाते थे।

(१२) यातायात के साधन—सिन्धु घाटी के लोग सड़कें बनाते थे परन्तु यह सड़कें कच्ची होती थीं। खुदाइयों से पता लगता है कि बैलगाड़ी मुख्य सवारी होती थी। हड़प्पा में एक ताँबे का वाहन मिला है जो इक्के के आकार का है।

(१२) स्त्रियों की दशा—चूँकि यह लोग माता देवी की पूजा किया करते थे अतएव यह अनुमान लगाया गया है कि इनके समाज में स्त्रियाँ बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं और माता के रूप में स्त्री का ऊँचा स्थान था। शिशु-पालन तथा घर का प्रबन्ध करना स्त्री का प्रबन्ध कार्य होता था। इस युग में सम्भवतः पर्दे की प्रथा न थी और धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे।

(१४) **औषधि**—रोगों से मुक्ति पाने के लिए यह लोग विभिन्न प्रकार की औषधियों का भी प्रयोग करते थे । आँख, कान आदि के रोगों में वे लोग मछली की हड्डियों का प्रयोग किया करते थे । हिरन के सींग, मूँगा तथा नीम की पत्ती का भी औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता था ।

(५) **शव-विसर्जन** मोहेनजोदड़ो की खुदाई में सर जॉन मार्शल ने शव-विसर्जन की तीन विधियों का पता लगाया है । पहली विधि के अनुसार सम्पूर्ण मृतक शरीर को जमीन में गाड़ दिया जाता था । दूसरी विधि के अनुसार पशु-पक्षियों के खा लेने के उपरान्त जो हाड़-मांस बचता था वह जमीन में गाड़ दिया जाता था । तीसरी विधि यह थी कि मृत्यु के उपरान्त मृतक शरीर को जला दिया जाता था । प्रायः तीसरी ही विधि का अनुसरण किया जाता था ।

आर्थिक-जीवन—हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो जैसे विशाल तथा वैभवपूर्ण नगर जिस देश में विद्यमान थे वह निश्चय ही बड़ा सम्पन्न रहा होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों यह प्रदेश बड़ा ही उपजाऊ था और इसमें निम्नलिखित व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धे होते थे :—

(१) **कृषि**—इन लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि था । कृषि करके यह लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न पैदा करते थे जिनमें गेहूँ तथा जौ प्रधान थे । अन्न के अतिरिक्त यह लोग फल तथा कपास की भी खेती करते थे ।

(२) **शिकार**—सिन्धु-घाटी के लोग केवल शाकाहारी ही न थे वरन् वे मांसाहारी भी थे और मांस, मछली, अंडे आदि का प्रयोग किया करते थे । मांस प्राप्त करने के लिये ये पशुओं का शिकार किया करते थे । पशुओं के बाल, उनकी खाल तथा हड्डी से यह लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाया करते थे ।

(३) **पशु-पालन**—अपनी जीविका चलाने के लिए यह लोग विभिन्न प्रकार के पशुओं को भी पालते थे । खुदाई में प्राप्त मुहरों पर पशुओं के चित्र मिले हैं उनसे यह पता लग जाता है कि ये लोग गाय, बैल, भैंस; भेड़, बकरी, हाथी, सुअर, कुत्ते आदि जानवरों को पालते थे । वह बड़े आश्चर्य की बात है कि खुदाई में घोड़े तथा ऊँट की हड्डियाँ नहीं मिली हैं ।

(४) **शिल्प तथा व्यवसाय**—सिन्धु घाटी ~~के लोग~~ बड़े कुशल शिल्पी तथा व्यवसायी होते थे । मिट्टी के बर्तन बनाने में यह लोग बड़े निपुण होते थे । कुम्हार लोग चाक पर बड़े सुन्दर-सुन्दर बर्तन बनाते थे । इन बर्तनों पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की जाती थी । यह लोग पत्थर तथा धातु के भी बड़े अच्छे बर्तन बनाते थे । हाथी-दाँत की भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं ! यह लोग सूती कपड़े भी बनाते थे और उन्हें पश्चिमी देशों को भेजते थे । ऊनी तथा रेशमी कपड़े भी यह लोग बनाते थे और उन पर बड़ी अच्छी चित्रकारी करते थे । अच्छे-अच्छे आभूषण बनाने में सुनार लोग बड़े निपुण थे ।

(५) **व्यापार**—हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की खुदाइयों में बहुत-सी ऐसी चीजें मिली हैं जो सिन्धु-घाटी में नहीं होती थीं । अतएव यह अनुमान लगाया गया है कि

यह चीजें बाहर से मँगाई जाती थीं और इन लोगों का विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। सोना, चाँदी, ताँबा आदि सिन्धु-प्रदेश में नहीं मिलता था। इसे ये लोग अफगानिस्तान तथा ईरान से प्राप्त करते थे। यहाँ के निवासी सम्भवतः ताँबा राजपूताना से; सीपी, शंख आदि काठियावाड़ से और देवदार की लकड़ी हिमालय पर्वत से प्राप्त करते थे। अपने व्यापार को सुचारु रीति से चलाने से लिए यातायात के साधनों की भी इन लोगों ने समुचित व्यवस्था की होगी।

(६) **नाप तथा तौल**—खुदाई में बाट बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। कुछ बाट तो इतने बड़े हैं कि वे रस्सी से उड़ाये जाते रहे होंगे और कुछ इतने छोटे हैं कि उनका प्रयोग केवल जौहरी लोग करते रहे होंगे। अधिकांश बाट घनाकार हुआ करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बाई नापने के लिये फुट होता था क्योंकि मोहेनजोदड़ो की खुदाई में सीपी का बना हुआ एक फुट का टुकड़ा मिला है। हड़प्पा में काँसे की बनी एक शलाका मिली है जिस पर छोटे-छोटे भाग अंकित हैं। यह भी फुट ही प्रतीत होता है। तौलने के लिए तराजू का प्रयोग किया जाया था।

धार्मिक-जीवन—खुदाई में जो मुहरें, ताम्र-पत्र तथा पत्थर, मिट्टी एवं धातु की मूर्तियाँ मिली हैं उनसे सिन्धु-घाटी के निवासियों के धार्मिक जीवन की काफी जानकारी हो जाती है। इन साक्ष्यों से इन लोगों के धार्मिक जीवन पर निम्नलिखित प्रकाश पड़ता है :—

(१) **द्विदेववाद**—सिन्धु-घाटी के लोग दो परम शक्तियों में विश्वास करते थे। एक शक्ति परम-पुरुष की थी और दूसरी परम-नारी की। यही दोनों शक्तियाँ सृष्टि की रचना तथा उनका पालन करती थीं। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के पार्वती-परमेश्वर का दर्शन हमें सिन्धु घाटी में होता है।

(२) **शिव की उपासना**—हड़प्पा में एक ऐसी मुहर मिली है जिसमें एक ऐसे देवता की मूर्ति अंकित है जिसके तीन मुख हैं। यह मूर्ति एक सिंहासन पर स्थित है और योग-मुद्रा में दिखाई देती है। सर जॉन मार्शल के विचार में यह शिव की मूर्ति है। अतः सिन्धु-घाटी के लोग शिव के उपासक थे।

(३) **महादेवी की उपासना**—खुदाई में ऐसी मुहरें तथा मूर्तियाँ मिली हैं जिसमें खड़ी हुई नारी का चित्र अंकित है। सर जॉन मार्शल के विचार में यह महादेवी का चित्र है। जिसकी उपासना सिन्धु-घाटी के लोग किया करते थे। यही महादेवी आगे चल कर शक्ति हो गई जिसकी पूजा आज-कल भी हिन्दू लोग करते हैं।

(४) **प्रजनन-शक्ति की उपासना**—सिन्धु-घाटी के लोग प्रजनन-शक्ति की भी पूजा किया करते थे। खुदाई में पत्थर के ऐसे टुकड़े मिले हैं जो योनि तथा शिव-लिंग प्रतीत होते हैं। कालान्तर में हिन्दू-धर्म में भी योनि तथा लिंग की पूजा आरम्भ हो गई। विद्वानों की यह धारणा है सिन्धु-घाटी के लोग मूर्ति-पूजा में विश्वास रखते थे।

(५) **प्रकृति-पूजा**—सिन्धु-घाटी के लोग विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों की भी पूजा किया करते थे। ये लोग सूर्य तथा अग्नि की पूजा किया करते थे। जल-पूजा भी इन लोगों में प्रचलित थी। ये लोग कुछ वृक्षों को भी पवित्र मानते थे जिनकी

यह पूजा किया करते थे। पीपल तथा तुलसी की पूजा आज भी हिन्दुओं में प्रचलित है। खुदाई में पशु-मूर्तियाँ भी मिली हैं। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि यह लोग पशुओं की भी पूजा किया करते थे। गाय को आज-कल भी हिन्दू पवित्र मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज-कल के हिन्दू-धर्म का बीजारोपण सिन्धु-घाटी के प्रदेश में ईसा से लगभग चार सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। इसी से डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "आज-कल के लोक-प्रिय हिन्दु-धर्म में वहुत-से ऐसे तत्व विद्यमान हैं जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय संस्कृति की युगान्तर में अद्भुत निरन्तरता बनी रही है।"[१]

कला का विकास—सिन्धु-घाटी के लोगों ने विभिन्न प्रकार की कलाओं में भी बड़ी कुशलता प्राप्त कर ली थी। जिन कलाओं का इन लोगों ने विकास किया वे निम्नलिखित थीं। :—

(१) **लेखन-कला**—यद्यपि इस काल का कोई लिखित पत्र, पत्थर अथवा मिट्टी का बर्तन नहीं मिला है परन्तु लगभग ५५० मुहरें मिली हैं, जिन पर कुछ लिखा हुआ है। यद्यपि इस लिपि का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है परन्तु विद्वानों की धारणा है कि यह वही लिपि है जिसका प्रयोग मिस्र, सुमेर आदि पश्चिम एशिया के देशों में हुआ करता था।

(२) **नृत्य तथा संगीत-कला**—सिन्धु-घाटी के लोग नाचने-गाने में भी बड़े कुशल थे। खुदाई में एक नर्तकी की मूर्ति मिली है। नर्तकी का शरीर नग्न है परन्तु उस पर बहुत-से आभूषण बनाये गये हैं। इस मूर्ति के सिर के बालों को बड़ी उत्तमता से सँवारा गया है। खुदाई में जो छोटे-छोटे बाजे मिले हैं उनसे भी यही ज्ञात होता है कि यह लोग संगीत-कला में रुचि रखते थे। तबले तथा ढोल के भी चिह्न कुछ स्थानों में मिले हैं।

(३) **चित्रकारी**—सिन्धु-घाटी के लोग चित्र-कला में भी बड़े कुशल थे। मुहरों की सबसे अच्छी चित्रकारी साँड़ तथा भैंसों की है। साँड़ों के चित्र तो अत्यन्त सजीव तथा सुन्दर हैं।

(४) **मूर्ति-निर्माण-कला**—सिन्धु-घाटी के लोग मूर्तियों के बनाने में बड़े सिद्ध-हस्त थे। यह मूर्तियाँ मुलायम पत्थर तथा चट्टान को काट कर बनाई जाती थीं। इन मूर्तियों की प्रमुख विशेषताएँ यह हैं कि इनके गाल की हड्डियाँ स्पष्ट रहती हैं। इनकी गर्दन छोटी, मोटी तथा मजबूत होती है और आँखें पतली तथा तिरछी होती हैं।

(५) **पात्र-निर्माण-कला**—सिन्धु-घाटी के लोग मिट्टी के बर्तनों के बनाने की

---

1. "Popular Hinduism of to-day contains many of these elements, thus furnishing a remarkable proof of the extraordinary continuity of Indian culture through the ages."

— Dr. R. S. Tripathi

कला में बड़े निपुण थे। ये बर्तन चाक पर बनाये जाते थे और बड़े और सादे होते थे। मिट्टी के विभिन्न प्रकार के खिलौने भी बनाये जाते थे।

(६) **कताई तथा रँगाई कला**—खुदाई में टेकुए तथा टेकुओं की मेखलाएँ मिली हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि सिन्धु-घाटी के लोग सूत तथा ऊन के कातने की कला में प्रवीण थे। कपड़ों की रँगाई में यह बड़े कुशल होते थे।

✓(७) **मुहर-निर्माण-कला**—खुदाई में बहुत-सी मुहरें मिली हैं। ये मुहरें भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थरों, धातुओं, हाथी-दाँत तथा मिट्टी की बनी होती थीं। अधिकांश मुहरें वर्गाकार हैं जिन पर पशुओं के चित्र बने हैं और दूसरी ओर लेख लिखे हुए हैं।

(८) **ताम्र-पत्र-निर्माण-कला**—खुदाई में बहुत-से ताम्र-पत्र मिले हैं। ये ताम्र पत्र वर्गाकार तथा आयताकार हैं। इनमें एक ओर मनुष्य अथवा पशुओं के चित्र बने हैं और दूसरी ओर लेख लिखे हैं।

(९) **धातु-कला**—विभिन्न प्रकार की धातुओं से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के बनाने में ये लोग बड़े कुशल थे। मूल्यवान रत्नों को काट-छाँट कर यह लोग आभूषण बनाते थे। सोने, चाँदी, ताँबे आदि के भी आभूषण बनाये जाते थे। शंख तथा सीप से भी विभिन्न प्रकार की चीजें बनाई जाती थीं।

राजनीतिक जीवन—खुदाई में जो चीजें मिली हैं उनसे सिन्धु-घाटी के लोगों के राजनीतिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश पड़ा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु, पंजाब, पूर्वी-बिलोचिस्तान तथा काठियावाड़ तक विस्तृत सिन्धु-सभ्यता के क्षेत्र में एक संगठन, एक व्यवस्था तथा एक ही प्रकार का शासन था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस सम्पूर्ण क्षेत्र में एक ही प्रकार की नाप तथा तौल प्रचलित थी, एक ही प्रकार के भवनों का निर्माण होता था, एक ही प्रकार की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं तथा एक ही प्रकार की लिपि का प्रचार था। गमनागमन के साधनों में कमी होने के कारण इस विशाल साम्राज्य की सम्भवतः दो राजधानियाँ थीं, एक हड़प्पा में और दूसरी मोहनजोदड़ो में। इन्हीं दोनों केन्द्रों से उत्तर तथा दक्षिण का शासन चलता था। हड़प्पा उत्तरी साम्राज्य की और मोहनजोदड़ो दक्षिणी साम्राज्य की राजधानी थी।

निवासी—अब इस पर विचार कर लेना आवश्यक है कि ऊपर जिस सभ्यता का वर्णन किया गया है उसके निर्माता कौन थे। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। विद्वानों की धारणा है कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता वही आर्य थे जिन्होंने वैदिक सभ्यता का निर्माण किया था। परन्तु यह मत ठीक नहीं लगता क्योंकि सिन्धु-सभ्यता तथा वैदिक-सभ्यता में इतना बड़ा अन्तर है कि एक ही जाति के लोग इन दोनों के निर्माता नहीं हो सकते। कुछ विद्वानों के विचार में सिन्धु-सभ्यता के निर्माता सुमेरियन जाति के थे। एक विद्वान के विचार में सिन्धु-सभ्यता के निर्माता वही असुर थे जिनका वर्णन वेदों में मिलता है। प्रो० रामलखन बनर्जी के विचार में सिन्धु-सभ्यता के निर्माता द्रविड़ लोग थे। चूँकि दक्षिण भारत के द्रविड़ों के

मिट्टी और पत्थर के बर्तन तथा उनके आभूषण सिन्धु-घाटी के लोगों के बर्तन तथा आभूषणों से मिलते-जुलते हैं, अतएव यह मत अधिक ठीक प्रतीत होता है। परन्तु खुदाई में जो हड्डियाँ मिली हैं वह किसी एक जाति की नहीं वरन् विभिन्न जातियों की हैं। अतएव कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धु-घाटी के निर्माता मिश्रित जाति के थे। यही मत सबसे अधिक ठीक लगता है।

समय—सिन्धु-घाटी की सभ्यता कितनी पुरानी है, इसका ठीक-ठाक निश्चय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने इसे ईसा से ५००० वर्ष पूर्व, कुछ ने ४००० वर्ष पूर्व, कुछ ने ३००० वर्ष पूर्व और कुछ ने केवल २५०० वर्ष पूर्व की बतलाया है परन्तु प्रामाणिक तथ्यों के इस सभ्यता को ईसा से ३२०० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया गया है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने इसे विश्व की सबसे पुरानी सभ्यता बतलाते हुए लिखा है, "सिन्धु-घाटी की सभ्यता का न तो मेसोपोटामिया की सभ्यता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और न वह उसकी ऋणी है। अब यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि सिन्धु-सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है।"[1]

सिन्धु-सभ्यता का विनाश—विद्वानों की धारणा है कि ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व इस सभ्यता का विनाश हो गया। यद्यपि इस सभ्यता के विनाश के कारणों का निश्चित रूप से पता नहीं लगता है परन्तु विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि सिन्धु-नदी में बाढ़ आ जाने, अकाल पड़ जाने, भूकम्प आ जाने, जलवायु के परिवर्तन होने, विदेशी आक्रमण अथवा राजनीतिक एवं आर्थिक विघटन के कारण इस सभ्यता का विनाश हुआ होगा।

सिन्धु-सभ्यता की विशेषताएँ—सिन्धु-सभ्यता का ऊपर जो वर्णन किया गया है उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं :—

(१) **कांस्य सभ्यता**– यह सभ्यता प्रधानतया कांस्यकालीन सभ्यता थी तथा उस काल के तृतीय चरण की सभ्यता है। इसका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर इसमें कांस्य-काल की चरमोन्नति दिखाई देती है।

(२) **नगर तथा व्यापार-प्रधान सभ्यता**—वैदिक सभ्यता की भाँति यह सभ्यता ग्रामीण तथा कृषि-प्रधान सभ्यता न थी वरन् यह नगरीय तथा व्यापार-प्रधान थी जिसमें बड़े-बड़े नगरों की स्थापना की गयी थी और अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया था।

(३) **लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था**—खुदाई में विशाल सभा-भवनों तथा स्नानागारों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इससे यह प्रतीत होती है कि इस सभ्यता में

---

1. "The Indus valley civilization is not closely connected with nor borrowed from Mesopotamian civilization. Opinion is gaining ground that Indus civilization was the earliest civilization in the world." —R. K. Mookerji

राजाओं तथा उनके राज-प्रासादों का कोई अस्तित्व न था। सिन्धु-सभ्यता की प्राप्त सामग्रियाँ उनके सामूहिक जीवन की द्योतक हैं। इस प्रकार यह सभ्यता लोकतन्त्रात्मक भावना को प्रकट करती है। किन्तु लोकतन्त्रात्मक होने पर भी यह सभ्यता सशक्त केन्द्रीभूत शासन की द्योतक है तथा शासन-सत्ता दो प्रधान केन्द्रों में विभक्त थी। उत्तरी क्षेत्र का शासन हड़प्पा तथा दक्षिणी क्षेत्र का मोहेनजोदड़ो से संचालित होता था।

(४) **सामाजिक तथा आर्थिक साम्य-प्रधान सभ्यता**—लोकतन्त्रीय होने के कारण इस सभ्यता में समानता का आभास मिलता है। इसमें बहुत बड़ा सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य न था।

(५) **औद्योगिक सभ्यया** चूँकि यह सभ्यता कृषि-प्रधान न थी अतएव यहाँ के निवासियों का आर्थिक जीवन प्रमुखतया व्यापार तथा उद्योग-धन्धों पर आधारित था। व्यापार तथा उद्योग उन्नत दशा में था तथा सिन्धु-वासियों का आर्थिक जीवन औद्योगिक विशिष्टीकरण तथा स्थानीकरण पर आधारित था। यदि यह अनुमान सत्य है तो उनमें श्रम-विभाजन तथा संगठन की कल्पना की भी जा सकती है और एक प्रकार का व्यवसाय करने वाले लोग एक ही क्षेत्र में निवास करते थे।

(६) **शान्ति-प्रधान सभ्यता**—खुदाई में कवच, शिरस्त्राण, ढाल; तलवार आदि के स्थान पर अधिकतर भाला, कुल्हाड़ी, धनुष-बाण आदि मिले हैं जो उनकी सामरिक प्रवृत्ति के द्योतक न होकर उनके आखेटीय जीवन की ओर संकेत करते हैं। अतएव हम यह कह सकते है कि यह सभ्यता शान्ति-प्रधान सभ्यता थी और यहाँ के निवासी शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सम्भवतः वे केवल आखेट तथा आत्म-रक्षा के लिए ही किया करते थे।

(७) **द्विदेवतामूलक सभ्यता**—सिन्धु-घाटी के लोगों का धर्म द्विदेवतामूलक था क्योंकि परम-पुरुष के साथ-साथ वे परम-नारी के भी पूजक थे।

(८) **लेखन-कला का ज्ञान**—सिन्धु-घाटी के निवासियों को लेखन-कला का भी ज्ञान था। यद्यपि मुहरों पर मिली हुई लिपि का अभी तक निश्चय नहीं किया जा सका है किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके माध्यम द्वारा वे अपने विचारों का आदान-प्रदान किया करते थे।

(९) **अन्य सभ्यताओं से सम्बन्धित सभ्यता**—सिन्धु-घाटी की सभ्यता की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह एकाकी सभ्यता न थी वरन् तत्कालीन अन्य सभ्यताओं से इसका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था, क्योंकि यहाँ के लोग विदेशों के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये हुए थे।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु-सरिता की घाटी की गोद में एक ऐसी समुन्नत सभ्यता अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित तथा फलान्वित हुई थी जिसकी उत्कृष्टता का अवलोकन कर आज के सभ्यताभिमानी देश भी आश्चर्य-चकित हो जाते हैं।

अध्याय ७

आर्यों का परिचय

"The history of India is mainly that of the Aryans of India. Its source is Rigveda which is the earliest book not merely of Indians but of the entire Aryan race. It thus throws light not merely an Indo-Aryan history but on general Aryan origins, on Pre-historic Phases of Aryan religion, culture and language."

—Dr. R. K. Mookerji.

आर्य कौन थे—आर्य संस्कृत भाषा का शब्द है इसका शाब्दिक अर्थ होता है श्रेष्ठ अथवा अच्छे कुल में उत्पन्न । परन्तु व्यापक अर्थ में आर्य एक जाति का नाम है जिनके रूप रंग, आकृति तथा शरीर का गठन विशेष प्रकार का होता है । यह लोग लम्बे डील-डौल के, हृष्ट-पुष्ट, गोरे-रंग के लम्बी नाक वाले और वीर तथा साहसी होते थे । भारत, ईरान तथा यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी इन्हीं की सन्तान माने जाते हैं । सबसे पहले आर्य शब्द का प्रयोग वेदों के लिखने वालों ने किया था । इन आचार्यों ने अपने को आर्य और अपने विरोधियों को दस्यु अथवा दास कहना आरम्भ किया । अपने को आर्य कहने का कारण यह जान पड़ता हैं कि ये लोग अपने को अनार्यों से अधिक श्रेष्ठ तथा कुलीन समझते थे । आर्य लोग शीतोष्ण कटिबन्ध के निवासी थे और दूध, मांस तथा गेहूँ इनके खाद्य-पदार्थ थे । ठंडी जलवायु में रहने तथा पौष्टिक पदार्थों के खाने के कारण ये बड़े ही बलिष्ठ, वीर तथा साहसी होते थे । यह लोग अपने जीवन के आरम्भिक काल में बड़े पर्यटनशील थे और एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे ! यह लोग पशुओं को पालते थे और कृषि करना भी जानते थे । यह लोग बड़े युद्ध-प्रिय होते थे और अपने हथियारों को बड़ी चतुरता से चला सकते थे । प्रकृति से इन लोगों का बड़ा प्रेम था और हर प्रकार के विचारों तथा भावों को ग्रहण करने के लिए यह लोग उद्यत रहते थे ।

आर्यों का आदि-देश—आर्यों का मूल निवास स्थान कहाँ था, यह एक अत्यंत विवाद-ग्रस्त प्रश्न है । इसी से स्मिथ महोदय ने लिखा है, "आर्यों के मूल स्थान या निवास स्थान की विवेचना जान-बूझकर नहीं की गई है, क्योंकि इस विषय पर कोई

भी धारणा स्थापित नहीं हो सकी है।''[१] इनके आदि-देश के अन्वेषण करने में विद्वानों ने भाषा-विज्ञान, पुरातत्त्व तथा जातीय विशेषताओं का सहारा लिया है। चूंकि इन विद्वानों ने विभिन्न साधनों का सहारा लिया है और विभिन्न दृष्टिकोणों से इस समस्या पर विचार किया है अतएव यह लोग विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे हैं और आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, अर्थात् (१) यूरोपीय सिद्धान्त, (२) मध्य एशिया सिद्धान्त, (३) आर्कटिक प्रदेश का सिद्धान्त तथा (४) भारतीय सिद्धान्त।

(१) यूरोपीय सिद्धान्त—भाषा तथा संस्कृति की समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने योरोप को आर्यों का आदि-देश बतलाया है। आर्य लोग सबसे अधिक संख्या में भारतवर्ष, ईरान तथा यूरोप के विभिन्न देशों में पाये जाते हैं। इनकी भाषा में बड़ी समानता पायी जाती है। पितृ, पिदर, पेटर, तथा फादर और मातृ, मादर, मेटर तथा मदर शब्द एक ही अर्थ में संस्कृत, फारसी, लैटिन तथा अँग्रेजी भाषाओं में प्रयोग किये जाते हैं इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन भाषाओं के बोलने वाले कभी एक स्थान पर रहते रहे होंगे। अब यह जान लेना आवश्यक है कि यूरोप में कौन-सा स्थान आर्यों का आदि-देश हो सकता है। डा० पी० गाइल्स के विचार में आस्ट्रिया-हंगेरी का मैदान आर्यों का आदि-देश था। क्योंकि यह मैदान समशीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है और वह सभी पशु तथा वनस्पति अर्थात् गाय, बैल, घोड़ा, कुत्ता, गेहूँ ,जौ आदि इस मैकान में पाये जाते हैं, जिनसे प्राचीन आर्य परिचित थे। पेन्का ने जर्मन प्रदेश को और नेहरिंग ने दक्षिण रूस के घास के मैदान को आर्यों का आदि-प्रदेश बतलाता है। जिन विद्वानों ने यूरोप को आर्यों का आदि-देश बतलाया है उन्होंने अपने मत के समर्थन में कई तर्क भी उपस्थित किये हैं। उनका कहना है कि यूरोप का यह मैदान शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित हैं। जहाँ उन सभी पशुओं तथा वनस्पतियों का होना संभव है जिनका उल्लेख आर्य-साहित्य में किया गया है। यह मैदान उन स्थानों के निकट है जहाँ यूरोप के आर्यों की भिन्न-भिन्न शाखाएँ निवास कर रही हैं। चूंकि यूरोप में आर्यों की संख्या एशिया के आर्यों से अधिक है, अतएव यह सम्भव है कि आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर गये हों इस क्षेत्र में कोई ऐसे सघन वन, मरुभूमि अथवा पर्वतमालाएँ नहीं हैं जिन्हें पार नहीं किया जा सकता। अतएव पश्चिम की ओर से पूर्व को जाना अत्यन्त सरल है। यूरोपीय सिद्धान्त के समर्थकों का यह कहना है कि प्रव्रजन प्रायः पश्चिम से पूर्व को हुआ है, पूर्व से पश्चिम को नहीं।

(२) मध्य एशिया का सिद्धान्त—जर्मन विद्वान् मैक्समुलर ने मध्य-एशिया को आर्यों का आदि-देश बतलाया है मैक्समुलर महोदय का कहना है कि आर्य-जाति

---

1. "Discussion concerning the original seat or home of Aryans is omitted Purposely, because on hypothesis on the subject seems to be established" —V. A. Smith.

तथा उसकी सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान हमें वेदों तथा अवेस्ता से होता है जो क्रमशः भारतीय तथा ईरानी आर्यों के धर्म ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय तथा ईरानी आर्य बहुत दिनों तक एक साथ निवास करते थे। अतएव इनका आदि-देश भारत तथा ईरान के सन्निकट कहीं रहा होगा। वहीं से एक शाखा ईरान को, दूसरी भारतवर्ष को और तीसरी यूरोप को गई होगी। वेदों तथा अवेस्ता से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्य पशु पालते थे तथा कृषि करते थे। अतएव ये एक लम्बे मैदान में रहते रहे होंगे। ये लोग अपने वर्ष की गणना हिम से करते थे, जिससे यह स्पष्ट है कि वह प्रदेश शीत-प्रधान रहा होगा। कालान्तर में ये लोग अपने वर्ष की गणना शरद् से करने लगे जिसका यह तात्पर्य है कि ये लोग बाद में दक्षिण की ओर चले गये जहाँ कम सर्दी पड़ती थी और सुन्दर बसन्त ऋतु रहती थी। ये लोग घोड़े रखते थे जिन्हें वे सवारी के काम में लाते थे और रथों में जोतते थे। गेहूँ तथा जौ का भी उल्लेख आर्य-ग्रन्थों में मिलता है। इन तथ्यों के आधार पर मैक्समुलर महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मध्य एशिया ही आर्यों का आदि-देश था क्योंकि ये सभी चीजें वहाँ पर पाई जाती हैं। यहाँ पर एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि बाद में शक, कुषाण, हूण आदि जातियाँ यहीं से भारत गई थीं। मध्य एशिया से ईरान, यूरोप तथा भारतवर्ष तीनों जगह जाना सम्भव तथा सरल भी है। यह सम्भव है कि जन-संख्या की वृद्धि, भोजन तथा चारे के अभाव अथवा प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण ये लोग अपनी जन्म-भूमि को त्यागने के लिए विवश हो गये हों। मध्य एशिया में जल का न होना, भूमि का अनुपजाऊ होना तथा आर्यों का वहाँ से निर्मूल हो जाना आदि इस मत के स्वीकार करने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं क्योंकि आर्यों के आदि-देश में जल की कमी न थी और वह बड़ा ही उपजाऊ तथा सम्पन्न प्रदेश था।

(३) आर्कटिक प्रदेश का सिद्धान्त—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के विचार में उत्तरी ध्रुव-प्रदेश आर्यों का आदि-देश था। अपने मत के समर्थन में तिलक जी ने वेदों तथा अवेस्ता का सहारा लिया है। ऋग्वेद में छः महीने की रात तथा छः महीने के दिन का वर्णन है। वेदों में ऊषा की स्तुति की गई है जो बड़ी लम्बी होती थी। ये सब बातें केवल उत्तरी ध्रुव प्रदेश में पायी जाती हैं। अवेस्ता में यह भी लिखा है कि उनके देवता अहुरमज्द ने जिस देश का निर्माण किया था उसमें दस महीने सर्दी और केवल दो महीने गर्मी पड़ती थी। इससे यह पता लगता है कि यह प्रदेश कहीं उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के निकट ही रहा होगा। अवेस्ता में यह भी लिखा है कि उस प्रदेश में एक बहुत बड़ा तुषारपात हुआ जिससे उन लोगों को अपनी जन्म-भूमि त्याग देनी पड़ी। तिलक जी का कहना है जिस समय आर्य लोग उत्तरी-ध्रुव प्रदेश में रहते थे; उन दिनों वहाँ पर बर्फ न थी और वहाँ पर सुहावना बसन्त रहता था। कालान्तर में वहाँ पर बड़े जोरों की बर्फ गिरी और सम्भवतः इसी का उल्लेख अवेस्ता में किया गया है। इस तुषारपात

के कारण आर्यों ने अपनी जन्म-भूमि को त्याग दिया और उनकी एक शाखा ईरान को और दूसरी भारतवर्ष को चली गई। यहाँ से चले जाने पर भी वे लोग अपनी मातृ भूमि का विस्मरण न कर सके और इसी से उन्होंने इसका गुण गान अपने धर्म-ग्रन्थों में किया है। तिलक जी के मत के बहुत कम समर्थक हैं।

(४) **भारतीय सिद्धान्त**—कुछ विद्वानों के विचार में भारत आर्यों का आदि-देश था और वे कहीं बाहर से नहीं आये थे जैसा कि डा० राधा कुमुद मुखर्जी ने लिखा है, "अब आर्यों के आक्रमण और भारत के मूल निवासियों के साथ उनके संघर्ष की प्राक्कल्पना को धीरे-धीरे त्याग दिया जा रहा है।"[1] श्री अविनाश चन्द्र दास के विचार में सप्त-सिन्धु ही आर्यों का आदि देश था। कुछ अन्य विद्वानों के विचार में काश्मीर तथा गंगा का मैदान आर्यों का आदि-देश था। भारतीय सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि आर्य-ग्रन्थों में आर्यों के कहीं बाहर से आने की चर्चा नहीं है और न अनुश्रुतियों में ही कहीं बाहर से आने की ओर संकेत मिलता है। इसके विपरीत आर्य-ग्रन्थों में सर्वत्र सप्त-सिन्धु का ही गुण-गान किया गया है। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि वैदिक-साहित्य आर्यों का आदि-साहित्य है। यदि आर्य सप्त-सिन्धु में कहीं बाहर से आये तो इनका साहित्य अन्यत्र क्यों नहीं मिलता। ऋग्वेद की भौगोलिक स्थिति से भी यही प्रकट होता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना करने वालों का मूल निवास-स्थान पंजाब तथा उसके समीप का देश ही था। आर्य-साहित्य से हमें यह पता लगता है कि प्राचीन आर्य गेहूँ तथा जौ का बहुत प्रयोग करते थे और यही उनका खाद्यान्न था। यह ध्यान देने की बात है पंजाब में इन दोनों अन्नों का का ही बाहुल्य है। अतएव यही आर्यों का आदि-देश रहा होगा इस मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ऐतिहासिक युग में बाहर से भारत में विभिन्न जातियों के आने के प्रमाण मिलते हैं परन्तु एक भी जाति के भारत से बाहर जाने का प्रमाण नहीं मिलता। दूसरी कठिनाई यह है कि बाहर जाने के स्थान पर वे शेष भारत में ही क्यों न फैल गये। तीसरी कठिनाई यह है कि हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की सभ्यता आर्य-सभ्यता से भिन्न तथा अधिक प्राचीन है। जब सिन्धु-प्रदेश की प्राचीनतम सभ्यता अनार्य थी तब सप्त-सिन्धु कैसे आर्यों का आदि-देश हो सकता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आदि-देश के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं वे सभी संदिग्ध हैं, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त के समर्थन में अकाट्य तर्क उपस्थित नहीं किये जा सके हैं।

आर्यों का विस्तार——यद्यपि आर्यों के मूल निवास-स्थान का ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है परन्तु इतना तो निश्चित है कि अन्त में जनसंख्या में वृद्धि हो जाने तथा आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण उन्हें अपना आदि-देश त्याग देना

---

[1] "The hypothesis of an Aryan invasion and their clash with the aborigins of India is now gradually being abandoned."
—Dr. R. K. Mukerji.

पड़ा । यह भी निश्चित है कि अपनी जन्मभूमि को छोड़ कर वे किसी निर्जन तथा अनुपजाऊ प्रदेश में नहीं गये वरन् वे जहाँ गये वहाँ की भूमि उपजाऊ थी और वहाँ के मूल निवासियों के साथ इन्हें संघर्ष करना पड़ा । यही मूल निवासी अनार्य कहलाये क्योंकि वे डील-डौल, रूप-रंग, रहन-सहन आदि में आर्यों से भिन्न थे । चूँकि आर्यों ने इन अनार्यों को परास्त कर उन्हें अपना दास या सेवक बना लिया, अतएव आर्यों ने अनार्यों को दास अथवा दस्यु के नाम से भी पुकारा है । जब आर्यों ने अपने मूल स्थान को त्यागा तब वे तीन प्रमुख शाखाओं में विभक्त हो गये । उनकी एक शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और धीरे-धीरे वह यूनान में पहुँच गई । कालान्तर में यह लोग यूनानी आर्य कहलाने लगे और यहीं से वे लोग यूरोप से अन्य देशों में फैल गये । आर्यों की दूसरी शाखा पर्यटन करती हुई ईरान पहुँची जिसे फारस भी कहते हैं । ये लोग ईरानी आर्य कहलाये । तीसरी शाखा का प्रसार भारतवर्ष में हुआ । ईरानी तथा भारतीय आर्यों में बड़ी समानता है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि आर्यों की यह दोनों शाखाएँ कभी एक ही स्थान पर निवास करती रही होंगी । इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि जो भारतीय आर्यों के देवता हैं, ईरानी आर्यों के भी देवता थे । ईरानी आर्यों का धर्म-ग्रन्थ 'अवेस्ता' कहलाता है और इनके प्रधान देवता अहुरमज्द हैं । विद्वानों की धारणा है कि अहुर शब्द का रूपान्तर असुर है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार किया गया है । सम्भवत: देवासुर-संग्राम, जिसका वर्णन भारतीय आर्यों के साहित्य में मिलता है, ईरानी तथा भारतीय आर्यों का ही संघर्ष था । इस प्रकार भारतीय आर्य देव और ईरानी आर्य असुर कहलाये । अब भारतीय आर्यों के भारत के अन्य भागों में प्रसार का परिचय दे देना आवश्यक है ।

(१) **सप्त-सिन्धु में निवास**—भारतीय आर्य चाहे भारत के मूल-निवासी रहे हों और चाहे विदेशों से भारत में आये हों परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्रारम्भ में वे सप्त-सिन्धु नामक प्रदेश में निवास करते थे और यहीं से वे शेष भारत में फैले । सप्त-सिन्धु वही प्रदेश था जिसे आज-कल पंजाब के नाम से पुकारा जाता है। पंजाब का शुद्ध नाम है पंचाम्बु जिसका अर्थ है, पंच + अम्बु अर्थात् पाँच जलों अथवा नदियों का देश । सप्त-सिन्धु का भी अर्थ है, सात नदियों का देश । उन दिनों इस प्रदेश में सात नदियाँ पाई जाती थीं । उनमें से पाँच तो अब भी विद्यमान हैं और दो नदियों जिसका नाम सरस्वती तथा दृशद्वती था, विलुप्त हो गई हैं । प्राचीन आर्यों ने अपने ग्रन्थों में इसी सप्त-सिन्धु का गुणगान किया है । इसी जगह उन्होंने वेदों की रचना की थी और यहीं पर उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का सृजन हुआ था । यहीं से भारतीय आर्य शेष भारत में फैले थे ।

(२) **ब्रह्मावर्त में प्रवेश**—सप्त-सिन्धु से आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़े । सप्त-सिन्धु से प्रस्थान करने के इनके दो प्रधान कारण हो सकते हैं । प्रथम कारण यह हो सकता है कि इनकी जन-संख्या में वृद्धि हो गई, जिससे इन्हें नये स्थान को खोजने की आवश्यकता पड़ी और दूसरा कारण यह हो सकता है कि अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रसार करने के लिए ये लोग आगे बढ़े । सप्त-सिन्धु से प्रस्थान करने का जो भी

कारण रहा हो, इतना तो निश्चित है कि वे बड़ी मन्द-गति से आगे बढ़े क्योंकि अनार्यों के साथ उन्हें भीषण संघर्ष करना पड़ा। अनार्यों से अधिक बलिष्ठ, वीर साहसी तथा रण-कुशल होने के कारण इन लोगों ने उन पर विजय प्राप्त कर ली और कुरुक्षेत्र के सन्निकट के प्रदेश पर उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रदेश को उन्होंने 'ब्रह्मावर्त' के नाम से पुकारा है।

(३) **ब्रह्मर्षि-देश में प्रवेश**—अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर लेने से आर्यों का उत्साह बहुत बढ़ गया और उन्होंने अपनी युद्ध-यात्रा जारी रक्खी। अब उन्होंने आगे बढ़ते हुए पूर्वी राजस्थान, गंगा तथा यमुना के दोआब तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस सम्पूर्ण प्रदेश को उन्होंने ब्रह्मर्षि-देश के नाम से पुकारा है।

(४) **मध्य-देश में प्रवेश**—ब्रह्मर्षि-देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद ये लोग आगे बढ़े और हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वत के मध्य की भूमि पर इन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश का नाम आर्यों ने 'मध्य-देश' रक्खा'।

(५) **सुदूरपूर्व में प्रवेश**— बिहार तथा बङ्गाल के दक्षिण-पूर्व का भाग आर्यों के प्रभाव से बहुत दिनों तक मुक्त रहा, परन्तु अन्त में उन्होंने इस भू-भाग पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और सम्पूर्ण उत्तरी भारत को उन्होंने 'आर्यावर्त' के नाम से पुकारा है।

(६) **दक्षिणापथ में प्रवेश**—विन्ध्य-पर्वत तथा घने वनों के कारण दक्षिण भारत में बहुत दिनों तक आर्यों का प्रवेश न हो सका। इन गहन वनों तथा पर्वत-मालाओं को पार करने का साहस सर्वप्रथम ऋषियों तथा मुनियों ने किया। कहा जाता है कि सबसे पहले अगस्त्य ऋषि दक्षिण-भारत में गये थे। इस प्रकार आर्यों की दक्षिण-विजय केवल सांस्कृतिक विजय थी। वह राजनीतिक विजय न थी। धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में आर्य लोग पहुँच गये और उसके कोने-कोने में आर्य-सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हो गया। दक्षिण-भारत को आर्यों ने 'दक्षिणा-पथ' के नाम से पुकारा है।

दस राजाओं का युद्ध—प्राचीन आर्यों का कोई विशाल संगठित राज्य न था वरन् वे छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त थे जिनमें प्रायः संघर्ष हो जाया करता था। फलतः आर्यों को न केवल अनार्यों से युद्ध करना पड़ा वरन् उनमें आपस में भी युद्ध हो जाया करता था। ऋग्वेद में इस प्रकार के एक युद्ध का वर्णन है जिसे दस राजाओं का युद्ध कहा गया है। इस युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया गया है। सरस्वती नदी के किनारे भारत नाम का एक राज्य था, जिस पर सुदास नामक राजा शासन करता था। विश्वामित्र इस राजा के पुरोहित थे। अनबन हो जाने के कारण सुदास ने विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ को अपना पुरोहित बना लिया। इससे विश्वामित्र बड़े अप्रसन्न हुए और सुदास के विरुद्ध दस राजाओं को संगठित करके युद्ध छेड़ दिया। परन्तु युद्ध में सुदास को ही विजय प्राप्त हुई। इसी प्रकार के अन्य

युद्ध भी आर्यों में आपस में हुआ करते थे।

ऊपर आर्यों की राजनीतिक विजय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अब उनके संस्कृतिक जीवन का भी थोड़ा-सा परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये।

वैदिक-ग्रन्थ—वैदिक ग्रन्थ उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनकी रचना भारतीय आर्यों ने भारतवर्ष में ईसा से २५०० वर्ष से ५०० वर्ष पूर्व तक में की थी। इन ग्रन्थों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् (१) संहिता अथवा वेद, (२) ब्राह्मण तथा (३) सूत्र। प्रथम दो अर्थात् संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों को श्रुति भी कहा गया है। श्रुति का अर्थ है जो सुना गया हो। प्राचीन आर्यों का यह विश्वास था कि संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थ किसी मनुष्य की कृति न थे, परन्तु उनमें दिये गये उपदेशों को ऋषियों तथा मुनियों ने ब्रह्मा के मुख से सुना था। इसी से इन ग्रन्थों को श्रुति के नाम से पुकारा गया है। चूँकि इन ग्रन्थों में दिये गये उपदेश ब्रह्म-वाक्य हैं अतएव वे सर्वथा सत्य हैं और उन पर संदेह नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि यह ग्रन्थ प्रामाणिक समझे जाते थे और इनका विरोध करने का दुस्साहस किसी को नहीं होता था। संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो उपदेश दिये गये हैं वे बड़े ही लम्बे हैं। अतएव जन-साधारण के लिए उनको याद रखना अत्यन्त कठिन काम था इस कार्य को सरल बनाने के लिए आर्य-विद्वानों ने उपदेशों को संक्षेप में छोटे-छोटे वाक्यों में लिख दिया। इन्हीं रचनाओं को सूत्र कहते हैं। सूत्र का अर्थ होता है संक्षेप में कहना। चूँकि इन ग्रन्थों में बड़ी-बड़ी बातें संक्षेप में लिखी गई हैं अतएव इन्हें सूत्र कहा गया है। अब इन तीनों प्रकार के ग्रन्थों का अलग-अलग परिचय दे देना आवश्यक है।

(१) संहिता अथवा वेद—संहिता का अर्थ होता है संग्रह। चूँकि इन ग्रन्थों में मन्त्रों का संग्रह हैं, अतएव इन्हें संहिता के नाम से पुकारा गया है। संहिता को वेद भी कहते हैं। वेद संस्कृत के विद् शब्द से निकाला है जिसका अर्थ होता है जानना अथवा ज्ञान प्राप्त करना। वेद उन ग्रन्थों को कहते हैं जो ज्ञान की प्राप्ति के एकमात्र साधन समझे जाते थे। वेद-वाक्य ब्रह्म-वाक्य होने के कारण चिरन्तन सत्य थे और उनके अनुसार जीवन व्यतीत करने से इहलोक तथा परलोक दोनों ही बनता था अर्थात् इस संसार में सुख की प्राप्ति होती थी और मृत्यु हो जाने पर मोक्ष मिलता था। संहिता अर्थात् वेदों का भारतीयों के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। वेदों को संस्कृत-साहित्य की जननी कहा जा सकता है। यद्यपि सिन्धु-घाटी की सभ्यता भारत की प्राचीनतम सभ्यता थी परन्तु उस सभ्यता के वसुन्धरा में अन्तर्भूत हो जाने के उपरान्त भारतीय सभ्यता का पुनः शिलान्यास संहिता द्वारा ही किया गया था। संहिता को हम भारतीय समाज का प्राण कर सकते हैं जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता था। वेदों के उपरान्त जितने साहित्य लिखे गये उन सब का आधार संहिता ही है। वेदों की संख्या चार है अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। पहले इनमें से केवल प्रथम तीन वेदों की रचना की गई! अतएव उन्हें त्रयी भी कहा गया है जिसका अर्थ होता है तीन। सबसे अन्त में अथर्ववेद का निर्माण हुआ

था। अब चारों वेदों का अलग-अलग परिचय दे देना आवश्यक है।

ऋग्वेद—यह दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् ऋक् तथा वेद। ऋक् का अर्थ होता है स्तुति-मन्त्र। स्तुति-मन्त्र को ऋचा भी कहते हैं। जिस वेद में स्तुति-मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं का संग्रह किया गया है उसे ऋग्वेद कहते हैं। सूर्य, वायु, अग्नि आदि ऋग्वेद के प्रधान देवता है, अतएव यह ऋचाएँ इन्हीं देवताओं की स्तुति में लिखी गयी हैं। इन ऋचाओं का संग्रह किसी एक ऋषि ने नहीं किया है वरन् वे विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न समय में संकलित की गई हैं। ऋग्वेद दस मण्डलों अथवा भागों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल कई अनुवाकों में विभक्त है। अनुवाक का अर्थ होता है जो बाद में कहा गया है। चूँकि इनका स्थान मण्डल के बाद है, अतएव इन्हें अनुवाक कहा गया है। प्रत्येक अनुवाक कई सूक्तों में विभक्त है। सूत्र का अर्थ होता हैं अच्छी उक्ति अर्थात् जो अच्छी प्रकार कहा गया हो। ऋग्वेद में कुल १००८ सूक्त हैं प्रत्येक सूक्त कई ऋचाओं अर्थात् स्तुति-मन्त्रों में विभक्त हैं। ऋचाओं की कुल संख्या १०५८० है। ऋग्वेद आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसकी रचना सम्भवतः २५०० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक में हुई थी। यद्यपि ऋग्वेद स्तुति-मन्त्रों का संग्रह है जिनका प्रधानतः धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी इसका बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि इस काल का इतिहास जानने के लिए यही ग्रन्थ एकमात्र साधन है। कुछ मन्त्रों से आर्यों के पारस्परिक तथा अनार्यों के साथ किये गये युद्धों का पता लग जाता है। यह भारत ही नहीं, वरन् विश्व का सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ है! इसकी प्राचीनता के कारण ही भारत का मस्तक ऊँचा है। इसकी रचना सप्त-सिन्धु में हुई थी। ऋग्वेद के महत्त्व को बतलाते हुई मैक्समूलर महोदय ने लिखा है, विश्व के इतिहास में वेद उस रिक्त स्थान की पूर्ति करता है जिसे किसी भी भाषा का कोई भी साहित्यिक ग्रन्थ नहीं भर सकता। यह हमें अतीत के उस काल में पहुँचा देता है जिसका कहीं अन्यत उल्लेख नहीं मिलता और उस पीढ़ी के लोगों के वास्तविक शब्दों से परिचित करा देता है जिनका हम इसके अभाव में केवल धुँधला ही मूल्यांकन कर सकते थे।''[1]

यजुर्वेद—यह दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् यजुः तथा वेद। यज् शब्द का अर्थ होता है यजन करना और यजुः उन मन्त्रों को कहते थे जिसके द्वारा यजन अथवा पूजन किया जाता था अर्थात् यज्ञ किये जाते थे। अतएव यजुर्वेद उस वेद को कहते हैं जिसमें यज्ञों का विधान है। मूलतः यह कर्म-काण्ड-प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में बलि की प्रथा, उसकी महत्ता तथा विधियों का वर्णन है। यह ग्रन्थ दो भागों में

---

1. ...In the history of the world. the Vedas fill a gap which no literary work in any language can fill. It carries us back to the time of which we have no record anywhere and gives us the very words of generation of men of whom otherwise we could form only vague estimate. —Max. Muller.

विभक्त है। पहला भाग शुक्ल यजुर्वेद कहलाता है जो स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है और दूसरा भाग कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है जिसमें पूर्व साहित्य का संकलन है। यजुर्वेद की रचना कुरुक्षेत्र में हुई थी। इस वेद की ऐतिहासिक उपयोगिता भी है। इसमें आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की झाँकी मिल जाती है। इस वेद से यह पता चल जाता है कि अब आर्य लोग सप्त-सिन्धु से कुरुक्षेत्र में चले आये थे। इस ग्रन्थ से यह भी पता लगता है कि अब प्रकृति पूजा की उपेक्षा होने लगी थी और जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव हो गया था।

सामवेद—साम का अर्थ होता है शान्ति। परन्तु यहाँ पर साम का अर्थ है गीत। अतएव सामवेद का अर्थ हुआ वह वेद जिसके पद गेय हैं और जो संगीतमय है। सामवेद के केवल ९९ मन्त्र हैं शेष ऋग्वेद से लिए गये हैं। सामवेद के मन्त्र गेय होने के कारण मन को बड़ी शान्ति देते हैं। यज्ञादि के अवसरों पर इनके मन्त्रों का पाठ किया जाता है।

अथर्ववेद––अथ का अर्थ होता है मंगल अथवा कल्याण, अथर्व का अर्थ होता है अग्नि और अथर्वन् का अर्थ होता है पुजारी। अतएव अथर्ववेद उस वेद को कहते हैं जिसमें पुजारी मन्त्रों तथा अग्नि की सहायता से भूत-पिशाचों से रक्षा कर मनुष्य का मंगल अथवा कल्याण करते हैं। इस ग्रन्थ में बहुत-से प्रेतों तथा पिशाचों का उल्लेख है जिनसे बचने के लिए मन्त्र दिये गये हैं। यह मन्त्र जादू-टोना से मनुष्य की रक्षा करते हैं इस ग्रन्थ में कुछ मन्त्र ऋग्वेद के हैं और कुछ सामवेद के। यह ग्रन्थ आर्यों के पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। इसकी रचना अन्त में हुई थी और प्रथम तीन वेदों की रचना के बहुत दिनों बाद।

(२) ब्राह्मण––ब्राह्मण शब्द ब्रह्म शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है वेद। अतएव ब्राह्मण उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें वैदिक मन्त्रों की व्याख्या की गई है। इनमें यज्ञों के स्वरूप तथा उनकी विधियों का वर्णन किया गया है चूँकि यज्ञ करने तथा कराने का कार्य पुरोहित लोग किया करते थे जो ब्राह्मण होते थे, अतएव केवल ब्राह्मण-जाति से संबधित होने के कारण इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण रक्खा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना ब्रह्मर्षि-देश में हुई थी। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना याज्ञिकों के पथ-प्रदर्शन के लिए की गई थी परन्तु इनसे आर्यों के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर भी काफी प्रभाव पड़ जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना प्रधानतः गद्य में की गई है परन्तु कहीं-कहीं पद्य भी विरल रूप में मिलते हैं, ऐतरेय, कौषीतकी, तैत्तिरीय, शतपथ आदि मुख्य ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। आरण्यक तथा उपनिषद् भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत आते हैं। अतएव इनका भी परिचय दे देना आवश्यक है।

आरण्यक––यह अरण्य शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है जंगल। अतएव आरण्यक उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनकी-रचना जंगलों के अत्यन्त शान्तिमय वातावरण में हुई थी और जिनका अध्ययन तथा चिन्तन भी जंगलों में एकान्तवास

द्वारा शान्तिमय वातावरण में किया जाना चाहिये। ये ग्रन्थ वानप्रस्थाश्रमियों के लिए होते थे। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने पर लोग जंगलों में चले जाते थे और वहीं पर चिन्तन तथा मनन किया करते थे। अध्यात्म-चिन्तन आरण्यक ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें आत्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में बड़े ऊँचे विचार मिलते हैं।

उपनिषद्——यह तीन शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् उप + नि + षद्। उप का अर्थ होता है समीप, नि का अर्थ होता है नीचे और षद् का अर्थ होता है बैठना। अतएव उपनिषद् उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनका अध्ययन गुरु के समीप नीचे बैठकर श्रद्धापूर्वक किया जाना चाहिए। उपनिषद् ब्राह्मण-ग्रन्थ के अन्तिम भाग में आते हैं। ये ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ हैं। इनमें उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन मिलता है। उपनिषदों की टक्कर का संसार में कोई दूसरा दर्शन ग्रन्थ नहीं हैं। उपनिषदों से हमें यह पता चलता है कि इस युग में वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम दृढ़ रूप से स्थापित हो गये थे। इस काल में आर्य लोग पश्चिम से पूर्व तथा दक्षिण की ओर बहुत आगे बढ़ गये थे और अब उनकी सभ्यता तथा संस्कृति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था। उपनिषदों की संख्या दस है अर्थात् बृहदारण्यक, छांदोग्य, कठ आदि।

(३) सूत्र—इनका शाब्दिक अर्थ होता है तागा अथवा तागे में पिरोना। अतएव सूत्र उन ग्रन्थों को कहते हैं जो इस प्रकार लिखे जाते थे मानों कोई चीज तागे में पिरो दी गई और एक लड़ी सी बन गई है। अब वैदिक साहित्य का रूप अत्यन्त विशाल हो गया था जिसको कंठाग्र करना अथवा याद रखना बहुत कठिन हो गया था। अतएव एक ऐसी रचना-शैली का प्रारम्भ किया गया जिसमें वाक्य तो छोटे-छोटे हों। परन्तु उनमें बड़े-बड़े भावों तथा विचारों का समावेश हो इसी रचना को सूत्र के नाम से पुकारा गया है। महर्षि पाणिनि ने सूत्रों की तीन विशेषताएँ बतलायी है अर्थात् वे थोड़े से अक्षरों में लिखे जाते हैं, वे असंदिग्ध होते हैं और वे सारगर्भित होते हैं। इन सूत्रों में कल्प-सूत्र सबसे अधिक महत्त्व का है। सूत्रों की रचना करने वालों में पाणिनि आदि हैं। इन ग्रन्थों की रचना ७०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक में हुई थी। सूत्रों में आर्यों के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

अन्य ग्रन्थ——आर्यों ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, जिनका उनके जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। कई मुनियों ने दर्शन-शास्त्रों का निर्माण किया, जिनकी संख्या ६ है अर्थात् कपिल मुनि का सांख्य-दर्शन, पतञ्जलि का योग-दर्शन, कण्व का वैशेषिक दर्शन गौतम का न्याय-दर्शन, जैमिनि का पूर्व मीमांसा तथा बादरायण का उत्तर-मीमांसा-दर्शन। हिन्दू धर्म के अध्यात्मवाद का भवन इन्हीं दर्शन शास्त्रों के स्तम्भों पर खड़ा है। दो महाकाव्यों अर्थात् रामायण तथा महाभारत की रचना कर हमारे महर्षियों ने हिन्दू-समाज का बड़ा कल्याण किया है। महाभारत की रचना व्यास ने और रामायण की रचना वाल्मीकि ने की थी। महाभारत का एक अंश गीता कहलाता है जिसमें निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया है। इस ग्रन्थ

का और इससे भी अधिक रामायण का हिन्दू-समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। धर्मशास्त्रों तथा पुराणों का भी भारतीय समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। पुराणों की संख्या १८ है जिनमें विष्णु-पुराण, स्कन्ध-पुराण तथा भागवत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। महाकाव्यों तथा पुराणों दोनों ही में वैदिक आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि महाकाव्यों में इसे मनुष्य के मुख से और पुराणों में देवताओं के मुख से प्रतिपादित किया गया है। आर्यों ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है, परन्तु स्थानाभाव के कारण उनका वर्णन यहाँ पर नहीं किया जा सकता।

वैदिक साहित्य का महत्त्व—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनकी उपयोगिता तथा उनके महत्त्व पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) विश्व के इतिहास में सर्वोच्च स्थान—वैदिक ग्रन्थों का और विशेषकर ऋग्वेद का विश्व के इतिहास में सर्वोच्च स्थान है। वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनकी रचना भारत की ही पवित्र भूमि में हुई थी अतएव इन ग्रन्थों के कारण भारत का मस्तक ऊँचा है। ये ग्रन्थ इस बात को सिद्ध कर देते हैं कि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति विश्व में सबसे अधिक प्राचीन है और यहीं से विश्व को आलोक प्राप्त हुआ था।

(२) उत्कृष्ट जाति के इतिहास की झाँकी—वैदिक साहित्य में हमें आर्यों को एक उत्कृष्ट जाति की झाँकी प्राप्त हो जाती है। आर्यों का विश्व की विभिन्न जातियों में बड़ा ऊँचा स्थान है। यह जाति शारीरिक बल, मानसिक प्रतिभा तथा अध्यात्मिक चिन्तन में अन्य जातियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ रही है अतएव जिन ग्रन्थों में इन आर्यों के जीवन की झाँकी मिलती है वे निश्चय ही बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) प्रारम्भिक आर्यों का इतिहास जानने का एकमात्र साधन—आर्यों के मूल-स्थान तथा उनके प्रारम्भिक जीवन का परिचय प्राप्त करने का एकमात्र साधन वैदिक ग्रन्थ हैं। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध न होते तो भारतीय आर्यों का तो सम्पूर्ण प्रारम्भिक इतिहास अन्धकारमय होता और उसका कुछ भी ज्ञान हमें न प्राप्त हो सकता।

(४) हमारे पूर्वजों के जीवन का प्रतिबिम्ब—यदि हम वैदिक ग्रन्थों को अपने पूर्वजों के जीवन का प्रतिबिम्ब कहें तो कुछ अनुचित न होगा। वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने पर हमें पूर्वजों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन का पूरा परिचय मिल है जाता। यदि वैदिक ग्रन्थ न होते तो हम भी किसी बर्बर तथा असभ्य जाति की सन्तान कहे जा सकते थे परन्तु इन ग्रन्थों ने हमें अत्यन्त सभ्य तथा ससंस्कृत जाति की सन्तान होने का गौरव प्रदान किया है।

(५) हमारी सभ्यता का मूलाधार—वैदिक ग्रन्थ ही हमारी सभ्यता तथा संस्कृति के मूलाधार तथा प्रबल स्तम्भ हैं। जिन आदर्शों तथा सिद्धान्तों का इन ग्रन्थों में निरूपण किया गया है वही भारतीयों के जीवन के पथ-प्रदर्शक बन गये। इन ग्रन्थों

ने हमारे जीवन को ऐसे साँचे में ढाल दिया कि उसे अपना एक विशेष प्रकार का रूप प्राप्त हो गया । यद्यपि भारत पर अनेक बर्बर जातियों के आक्रमण हुए जिन्होंने इसको बदलने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें असफलता का ही आलिंगन करना पड़ा । अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी हमारे जीवन के आदर्श तथा सिद्धान्त वही हैं जिन्हें हमारे ऋषियों तथा मुनियों ने निर्धारित किया था ।

(६) हिन्दू धर्म का प्राण—यदि हम वैदिक ग्रन्थों को हिन्दू धर्म का प्राण कहें तो कुछ अनुचित न होगा । हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों का दर्शन हमें वैदिक ग्रन्थों में ही होता है । सम्पूर्ण वैदिक साहित्य वास्तव में धर्ममय है । इसका कारण यह है कि ऋषियों ने भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को अधिक महत्व दिया था । वे इस जगत् को नाशवान तथा निस्सार समझते थे । इसी से उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग पर धर्म की छाप डाल दी । हमारे ऋषियों ने हमारे समाज को धर्म की एक ऐसी लकुटी पकड़ा दी जिसके सहारे यह समाज आज तक सुरक्षित चला आ रहा है ।

(७) आध्यात्मिक विवेचन के कोष—हमारे वैदिक ग्रन्थ आध्यात्मिक विवेचन के विशाल कोष हैं । विश्व की किसी भी जाति के इतिहास में इतने विस्तृत तथा गहन रूप से आध्यात्मिक विवेचन नहीं हुआ है जितना हमारे वैदिक ग्रन्थों में हुआ है । इस विस्तृत तथा गहरे विवेचन का कारण यह था कि सबको विचार तथा विवेचन की स्वतंत्रता थी और उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनाई जाती थीं और उनके लिए साधन उपदेश किये जाते थे

(८) हिन्दू समाज के स्तम्भ—वैदिक ग्रन्थों को हम हिन्दू समाज का स्तम्भ कह सकते हैं । हमारे ऋषियों वे हमारे समाज को सुचारु रीति से संचालित करने के लिए दो व्यवस्थाएँ की थी । इनमें से एक थी वर्ण-व्यवस्था और दूसरी थी-वर्णाश्रम-धर्म । इन्ही दोनों स्तम्भों पर भारतीय समाज को खड़ा किया गया था और इन्हीं का अनुसरण कर चूड़ान्त विकास किया जाता था ।

(९) भारतीय भाषाओं की जननी—वैदिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं । संस्कृत से ही भारत की अधिकांश भाषाएँ निकली हैं । भारत की सभी भाषाओं पर संस्कृत का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा है । वास्तव में आर्य-परिवार की सभी भाषाएँ इसकी दुहिताएँ हैं ।

अध्याय ८

वैदिक काल की सभ्यता

"In the history of the world the Vedas fill a gap which no literary work in any language can fill. It carries us back to the time of which we have no record anywhere and gives us the very words of generation of men of whom otherwise we could form only vague estimate."
—Max Muller.

वैदिक काल का तात्पर्य—वैदिक काल उस काल को कहते हैं जिसमें वैदिक ग्रन्थों की रचना की गई थी। इन ग्रन्थों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और इनका क्रमागत विकास हुआ है। सबसे पहले ऋग्वेद तथा उसके बाद अन्य वेदों की रचना की गई। वेदों की रचना के बाद उनकी व्याख्या करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की गई। वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की संख्या इतनी अधिक हो गई और उनका स्वरूप इतना विशाल हो गया कि उनको कंठाग्र करना जन-साधारण के लिए कठिन हो गया। अतएव उन्हें संक्षिप्त स्वरूप देने के लिए सूत्रों की रचना की गई। इस सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना में सहस्रों वर्ष लग गये। विद्वानों की धारणा है कि वैदिक साहित्य की रचना ईसा से २५०० से २००० वर्ष पूर्व के मध्य में की गई थी। अतएव इस काल को वैदिक काल के नाम से पुकारा गया है।

वैदिक काल का विभाजन—वैदिक काल को दो भागों में विभक्त किया गया है अर्थात ऋग्वैदिक काल तथा उत्तर-वैदिक काल। वेदों में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। अतएव ऋग्वेद की सभ्यता सबसे अधिक पुरानी है। ऋग्वेद की रचना के काफी दिनों बाद अन्य वेदों की रचना की गई। चूँकि सभ्यता स्थिर नहीं रहती वरन् उसका क्रमिक विकास होता रहता है। अतएव उत्तर-वैदिक काल में ऋग्वैदिक सभ्यता का क्रमशः विकास होता गया और इसमें परिवर्तन होते गये हैं। ऋग्वैदिक काल में आर्य लोग सप्त-सिन्धु में निवास करते थे। अतएव ऋग्वेद की सभ्यता सप्त-सिन्धु की सभ्यता है। उत्तर-वैदिक काल में आर्य लोग सरस्वती तथा गंगा नदियों के मध्य की भूमि में पहुँच गये थे और वहाँ पर अपने राज्य स्थापित कर निवास करने लगे थे। इस प्रदेश का नाम कुरुक्षेत्र था। उत्तर-वैदिक काल के आर्यों की सभ्यता का यहीं विकास हुआ। अब ऋग्वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल की राजनीतिक, सामा-

जिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन किया जायगा ।

ऋग्वैदिक सभ्यता—ऋग्वैदिक सभ्यता का सृजन पंजाब-प्रदेश तथा सरस्वती नदी के सन्निकट हुआ था । पंजाब को इन दिनों सप्त-सैन्धव कहते थे । ऋग्वेद में सप्त-सैन्धव तथा सरस्वती का अनेक मंत्रों में गुण-गान किया गया है । यद्यपि अब सरस्वती नदी के चिन्ह वहाँ पर विद्यमान नहीं है, और उसे प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर अदृश्य रूप के प्रस्थापित कर दिया गया है, परन्तु उन दिनों वह सतलज तथा कुरुक्षेत्र के मध्य बहती थी । ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा निम्नांकित थी ।

राजनीतिक दशा—यद्यपि ऋग्वेद में प्रधानतः स्तुति-मन्त्रों का संग्रह है और वह एक धार्मिक ग्रन्थ है परन्तु कुछ मन्त्रों से तत्कालीन राजनीतिक दशा पर भी प्रकाश पड़ जाता है । विद्वानों ने बड़े परिश्रम से इन तथ्यों का संग्रह कर तत्कालीन राजनीतिक इतिहास का निर्माण किया है। इस काल की राजनीतिक दशा निम्नांकित थी:--

(१) राजनीतिक विभाजन—ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था का मूलाधार कुटुम्ब था जो पैतृक होता था । कुटुम्ब का प्रधान पिता अथवा अन्य कोई बड़ा-बूढ़ा होता था जो कुटुम्ब के अन्य सदस्यों पर पूरा नियन्त्रण रखता था । कई कुटुम्बों को मिला कर एक 'विस' बनता था । ग्राम का प्रधान 'ग्रामणी' कहलाता था । कई गाँवों को मिला कर ग्राम बनता था । विस का प्रधान विसपति कहलाता था । कई विसों को मिला कर 'जन' बनता था । जन का रक्षक गोप कहलाता था जो प्रायः राजा स्वयं हुआ करता था ।

(२) राजनीतिक संगठन—ऋग्वैदिक काल का राजनीतिक संगठन राजतन्त्रात्मक था क्योंकि ऋग्वेद में अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है । राज्य का प्रधान 'राजन' कहलाता था । राजा का पद आनुवंशिक था और उत्तराधिकार के नियम द्वारा वह उसे प्राप्त करता था अर्थात् राजा बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंहासन पर बैठता था । राजा का स्थान राज्य में सर्वोच्च समझा जाता था । वह सुन्दर वस्त्र धारण करता था और एक भव्य राज-भवन में निवास करता था जिसमें राज्य के बड़े-बड़े पदाधिकारी, पण्डित, गायक तथा नौकर-चाकर उपस्थित रहा करते थे । चूँकि उन दिनों गमनागमन के साधनों का बड़ा अभाव था अतएव राज्य बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे ।

(३) राजा के कर्त्तव्य—प्रजा की रक्षा करना, शत्रुओं से युद्ध करना, राज्य में शान्ति स्थापित करना और शान्ति के समय यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना राजा के मुख्य कर्त्तव्य होते थे । राजा अपनी प्रजा की न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखता था वरन् वह उसकी आध्यात्मिक उन्नति का भी ध्यान रखता था । राजा अपनी प्रजा के आचरण की देखभाल के लिए गुप्तचर रखता था जो प्रजा के आचरण के सम्बन्ध में राजा को सूचना दिया करते थे । आचरण-भ्रष्ट प्रजा को राजा दण्ड दिया करता था ।

(४) **राज्य के प्रमुख पदाधिकारी**—राजा की सहायता के लिए बहुत से पदाधिकारी होते थे जिनमें पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी प्रधान थे। पुरोहितों का स्थान इनमें सबसे ऊँचा था। इसका पद प्रायः वंशानुगत होता था। परन्तु कभी-कभी वह किसी अन्य कुटुम्ब से भी चुन लिया जाता था। पुरोहित को बहुत से कर्त्तव्य करने पड़ते थे। वह राजा का धर्मगुरु तथा परामर्शदाता होता था। अतएव राज्य में उसका बड़ा प्रभाव रहता था। वह रण-क्षेत्र में भी राजा के साथ जाया करता था और अपनी प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों द्वारा राजा की विजय का प्रयत्न किया करता था। राज्य का दूसरा प्रमुख अधिकारी सेनानी होता था। वह सेना का संचालन किया करता था। उसकी नियुक्ति सम्भवतः राजा स्वयं करता था। जिन युद्धों में राजा की उपस्थिति आवश्यक नहीं समझी जाती थी; उनमें सेनानी ही सेना का प्रधान होता था और रण-क्षेत्र में उपस्थित रहता था और सेना का संचालन करता था। ग्रामणी तीसरा प्रधान पदाधिकारी होता था। वह गाँव के प्रबन्ध के लिए उत्तरादायी होता था।

(५) **युद्ध-विधि**—युद्ध में सभी लोगों को भाग लेना पड़ता था। साधारण लोग पैदल युद्ध करते थे परन्तु राजा तथा क्षत्रिय लोग रथों पर युद्ध किया करते थे। युद्ध में आत्म-रक्षा के लिए कवच आदि का प्रयोग किया जाता था। आक्रमण करने का प्रधान शस्त्र धनुष-बाण था परन्तु आवश्यकतानुसार भालों, फरसों तथा तलवारों का भी प्रयोग किया जाता था। ध्वजा, पताका, दुन्दुभि आदि का भी प्रयोग किया जाता था। युद्ध प्रायः नदियों के तट पर हुआ करते थे।

(६) **समिति तथा सभा**—यद्यपि राजा राज्य का प्रधान होता था परन्तु वह स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश नहीं होता था वरन् उसे परामर्श देने के लिए सभा तथा समिति होती थी। सम्भवतः समिति सारी जाति की संस्था होती थी परन्तु सभा केवल वयोवृद्धों की संस्था थी जिसमें केवल उच्च-वंश के लोग भाग लेते थे।

(७) **न्याय व्यवस्था**—राजा अपने सहायकों की सहायता से दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का निर्णय किया करता था। न्याय के कार्य में उसे पुरोहित से बड़ी सहायता मिलती थी। जिन अपराधों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है वे चोरी, डकैती, सेंध लगाना आदि हैं। पशुओं की बड़ी चोरी हुआ करती थी। अपराधियों को उस व्यक्ति की इच्छानुसार दण्ड मिलता था जिसे क्षति पहुँचती थी। जल तथा अग्नि-परीक्षा का भी इस युग में प्रचार था।

सामाजिक दशा—ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन समाज का काफी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस काल के समाज का संगठन निम्नांकित था—

(१) **कौटुम्बिक जीवन**—इस काल के सामाजिक संगठन का मूलाधार कुटुम्ब होता था। कुटुम्ब पैतृक होता था और पिता ही उसका प्रधान समझा जाता था। पिता दया तथा सौजन्यता का स्वरूप माना जाता था और अपनी सन्तान के प्रति वह बड़ा प्रेम, दया तथा सहानुभूति रखता था। परन्तु अयोग्य सन्तान के साथ वह बड़ा दुर्व्यवहार करता था। कुटुम्ब में पिता को बहुत बड़े अधिकार प्राप्त थे। पुत्र तथा पुत्री के विवाह में पिता का बहुत बड़ा हाथ रहता था। विवाह के उपरान्त भी पुत्र

को अपनी पत्नी के साथ पिता के घर में रहना पड़ता था। वधू को अपने ससुर से भयभीत रहना पड़ता था। इस काल में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी। अतिथि-सत्कार पर बल दिया जाता था और इसकी गणना पाँच महायज्ञों में की जाती थी।

(२) **सन्तान की स्थिति**—विवाह का प्रधान लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना होता था। लोग अनेक पुत्र पाने की प्रायः कामना किया करते थे और इस कामना की पूर्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना किया करते थे। पुत्र उत्पन्न होने पर बड़ा उत्सव मनाया जाता था। कन्या की लोग अकांक्षा नहीं करते थे परन्तु उत्पन्न हो जाने पर उसके साथ सहानुभूति रखते थे और उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था करते थे। विश्ववारा, घोषा, अपाला आदि को इतनी उच्च-कोटि की शिक्षा दी गई थी कि वे वेद-मन्त्रों की भी रचना कर सकती थीं।

(३) **विवाह की व्यवस्था**—जन-साधारण में बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन न था परन्तु राज-वंशों में बहु-विवाह की प्रथा थी। भाई-बहन तथा पिता-पुत्री में विवाह वर्जित था। दस्युओं के साथ भी विवाह का निषेध था। यद्यपि विवाह पर पिता का नियंत्रण रहता था परन्तु वर-कन्या को भी काफी स्वतन्त्रता रहती थी। कुछ लोग दहेज देकर और कुछ लोग दहेज लेकर कन्यादान करते थे। दहेज वही लोग देते थे जिनकी कन्या में कुछ त्रुटि होती थी। इसी प्रकार धन देकर वही लोग विवाह करते थे जिनके पुत्र में कोई त्रुटि होती थी। विवाह एक पवित्र बन्धन समझा जाता था और एक बार इस बन्धन में बँध जाने पर फिर मृत्यु हो जाने पर ही वह बन्धन टूट सकता था। विधवा विवाह का ऋग्वेद में कहीं संकेत नहीं मिलता।

(४) **स्त्रियों की दशा**—इस युग में स्त्रियों को समाज में बड़ा ऊँचा स्थान प्राप्त था और उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियाँ गृहस्वामिनी समझी जाती थीं और वे सभी धार्मिक कार्यों में अपने पति के साथ भाग लेती थीं उन दिनों पर्दे की प्रथा न थी अतएव स्त्रियाँ सभी उत्सवों में भाग ले सकती थीं। नियमानुसार स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होती थीं और उन्हें अपने पुरुष-सम्बन्धियों के संरक्षण तथा नियंत्रण में रहना पड़ता था। विवाह के पूर्व कन्याओं को अपन पिता के संरक्षण तथा नियंत्रण में रहना पड़ता था। पिता के न रहने पर वह अपने भाई के संरक्षण में रहती थीं। विवाह हो जाने पर वह अपने पति के और विधवा हो जाने पर अपने पुत्र के संरक्षण में रहती थीं। इस प्रकार स्त्री को सदैव किसी-न-किसी के संरक्षण में रहना पड़ता था।

(५) **वेष-भूषा**—ऋग्वैदिक आर्य बड़े सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करते थे। यह लोग प्रायः तीन वस्त्र पहिनते थे। एक नीचे का वस्त्र था जिसे नीवि कहते थे। इनका दूसरा वस्त्र काम और तीसरा अधिवास कहलाता था। यह लोग रंग-बिरंगे ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्र पहिनते थे। कुछ वस्त्रों में सोने के भी काम किये रहते थे जिन्हें वे उत्सव के अवसर पर पहिनते थे। ये लोग लम्बे बाल रखते थे जिनमें वे तेल डालते थे और कंघी करते थे। स्त्रियाँ चोटी बाँधती थीं और पुरुष अपने बाल कुण्डल के आकार के रखते थे। यद्यपि दाढ़ी रखने की प्रथा थी परन्तु कुछ लोग

अपनी दाढ़ी मुँड़वा भी देते थे। ऋग्वैदिक आर्य आभूषणों का भी प्रयोग करते थे जो प्रायः सोने के बने होते थे। भुजबन्ध, कान की बाली, कंगन, नूपुर आदि का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे।

(६) **खाद्य-पदार्थ**--चावल, जौ, घी, दूध, मांस ऋग्वैदिक आर्यों का मुख्य भोजन था। अनाज को भून अथवा पीस कर वे उसे घी-दूध के साथ खाया करते थे। फल तथा तरकारी का ये लोग बहुत अधिक प्रयोग करते थे। पशुओं की बलि दी जाती थी जिनका मांस ये लोग खाया करते थे।

(७) **पेय-पदार्थ**—ऋग्वैदिक आर्य दो प्रकार के पेय पदार्थों का प्रयोग करते थे। एक को सोम कहते थे और दूसरे को सुरा। सोम एक वृक्ष के रस से बनाया जाता था जिसमें मादकता नहीं रहती थी। यज्ञ के अवसरों पर इसका प्रयोग किया जाता था। सुरा में मादकता होती थी और यह अन्न से बनाई जाती थी। सुरापान घृणित समझा जाता था और कहीं-कहीं तो सुरापान अपराध भी बतलाया गया है। ब्राह्मण लोग इसे घोर घृणा की दृष्टि से देखते थे।

(८) **मनोरंजन के साधन**—रथ-संचालन, जुआ खेलना, नाच-गाना, बाजे बजाना, पशु-पक्षियों का शिकार आदि ऋग्वैदिक आर्यों के आमोद-प्रमोद के प्रधान साधन थे।

(९) **शिक्षा**—इस काल में शिक्षा मौखिक होती थी। अतएव स्मरण-शक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व था। गुरु लोग वेद-मन्त्रों को पढ़ाते थे और विद्यार्थी उन्हें कण्ठाग्र करने का प्रयत्न करते थे। शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि को बढ़ाना तथा आचरण को शुद्ध बनाना होता था।

(१०) **औषधि**—स्वास्थ्य की सुरक्षा की भी व्यवस्था इस काल में थी। अश्विन औषधि-शास्त्र के देवता माने जाते थे और उनकी पूजा की जाती थी। औषधियाँ जड़ी-बूटियों की होती थीं। चिकित्सा करना एक प्रकार का व्यवसाय बन गया था।

(११) **वर्ण-व्यवस्था**—अब आर्य लोग अनार्यों के सम्पर्क में आये तब वर्ण अर्थात् रङ्ग के आधार पर दो जातियाँ बन गईं। जो लोग गौर-वर्ण के थे वे आर्य और जो काले रङ्ग के थे वे अनार्य कहलाये। आर्य लोग स्वयं अपने-अपने कार्यानुसार कई वर्णों में विभक्त हो गये थे। इस प्रकार पढ़ने यथा यज्ञ का कार्य करने वाले ब्राह्मण, युद्ध तथा शासन करने वाले क्षत्रिय अथवा राजन्; कृषि तथा व्यापार करने वाले वैश्य और सेवा का कार्य करने वाले शूद्र कहलाये। पुरुष सूक्त में लिखा है कि ब्राह्मण लोग आदि-पुरुष के मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसकी जघा से तथा शूद्र उसके चरणों से निकले हैं। इस प्रकार चार वर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। परन्तु यह व्यवस्था व्यवसाय पर आधारित थी और इसमें जटिलता न थी। अन्तर्जातीय विवाह तथा सहभोज का प्रचलन था और छुआछूत का भेदभाव न था।

(१२) **आश्रम-व्यवस्था**—आश्रम-व्यवस्था भी इस काल में स्थापित हो चुकी थी जिसके अनुसार जीवन के चार भाग किये गये थे अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-

प्रस्थ तथा संन्यास। इन आश्रमों का पालन केवल प्रथम तीन वर्गों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को ही करना पड़ता था।

(१३) **गृह की व्यवस्था**––ऋग्वैदिक आर्यों के मकान बाँस के बने होते थे। इनको बनाने में लकड़ी तथा सरपत का भी प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक घर में अग्निशाला का प्रबन्ध रहता था जिसमें सदैव अग्नि जलती रहती थी। प्रत्येक घर में एक बैठक और स्त्रियों के लिए अलग कमरा होता था।

(१४) **शव-विसर्जन**––इस काल में आर्य लोग मृतक शरीर को या तो जला देते थे या गाड़ देते थे परन्तु विधवाओं को जलाया नहीं जाता था वरन् उन्हें गाड़ दिया जाता था।

आर्थिक दशा––ऋग्वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना होगा :––

(१) **गाँवों की व्यवस्था**—ऋग्वैदिक आर्य गाँवों में रहते थे, नगरों का ऋग्वेद में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। गाँव पास-पास होते थे। सुरक्षा के लिए प्रत्येक घर झाड़ियों अथवा अन्य किसी चीज से घिरा रहता था घर बाँस तथा लकड़ी के बने होते थे।

(२) **कृषि**––कृषि ऋग्वैदिक आर्यों का प्रधान उद्यम था। सबके खेत अलग-अलग होते थे परन्तु चरागाह सबका एक होता था। खेती हल से की जाती थी। यह लोग प्रधानतः गेहूँ तथा जौ की खेती करते थे। फल तथा तरकारी भी यह लोग पैदा करते थे।

(३) **पशु-पालन**—ऋग्वैदिक आर्यों का दूसरा प्रमुख व्यवसाय पशु-पालन था। पशुओं में गाँव का सबसे अधिक महत्त्व था, क्योंकि वह सबसे अधिक उपयोगी होती थी। गाय को अघ्न्या कहा गया है अर्थात् जो मारी न जाय। बैलों को हल जोतने तथा गाड़ी खींचने के काम में लाया जाता था। घोड़ों का प्रयोग रथों में किया जाता था। इनके अन्य पशु भेड़, बकरे तथा कुत्ते थे। कुत्ते रात में रखवाली करते थे।

(४) **पशुओं का शिकार**—ऋग्वैदिक आर्य मांस खाते थे। अतएव पशुओं का शिकार भी उसकी जीविका का एक साधन था। सुअर, मृग तथा भैंसों का शिकार ये लोग धनुष-बाण द्वारा करते थे और पक्षियों को जाल में फँसा लेते थे। कभी-कभी शेरों को भी चारों ओर से घेर कर ये लोग मार डालते थे।

(५) **दस्तकारी के कार्य**—ऋग्वैदिक कार्य दस्तकारी के कार्य में भी बड़े कुशल थे और यह भी उनकी जीविका का एक साधन था। बढ़ई लोग बहुत अच्छे-अच्छे रथ तथा गाड़ियाँ बनाते थे। यह लोग लकड़ी के प्याले भी बनाते थे और उन पर बहुत अच्छी नक्काशी करते थे। लोहार लोग लोहे, ताँबे तथा पीतल के विभिन्न प्रकार के बर्तन, अन्य-शस्त्र तथा अन्य उपयोगी चीजें बनाया करते थे। सुनार लोग सोने-चाँदी के बहुत अच्छे आभूषण बनाते थे। चर्मकार लोग चमड़े की बड़ी अच्छी चीजें बनाया करते थे। सीना-पिरोना, चटाइयाँ बुनना, ऊनी तथा सूती कपड़े बनाना आदि

भी जीविका के साधन थे। कुम्हार लोग मिट्टी के बहुत अच्छे बर्तन बनाया करते थे।

(६) **व्यापार**—ऋग्वैदिक आर्यों की जीविका का एक साधन व्यापार भी था। ये लोग विदेशी तथा आन्तरिक दोनों प्रकार का व्यवसाय करते थे। प्रारम्भ में व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा होता था। बाद में गाय द्वारा मूल्य आँका जाने लगा और अन्त में सोने-चाँदी का प्रयोग होने लगा और निष्क नामक मुद्रा का व्यवहार होने लगा। कपड़े, चमड़े तथा चद्दरें व्यापार की मुख्य वस्तुएँ होती थीं। माल ले जाने के लिए गाड़ियों तथा रथों का प्रयोग किया जाता था। नदियों को पार करने के लिए नावों का प्रयोग किया जाता था।

(७) **ऋण की प्रथा**—ऋग्वैदिक काल में ब्याज पर ऋण देने की प्रथा थी। वैश्य साहूकार तथा महाजन इस कार्य को किया करते थे और यह उनकी जीविका का साधन होता था। ऋण चुकाना एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था और न चुकाने पर उसे अपने महाजन की एक निश्चित समय तक सेवा करनी पड़ती थी।

कला—ऋग्वैदिक काल के लोगों की विभिन्न कलाओं में रुचि थी। जिन कलाओं में इन लोगों ने कुशलता प्राप्त करने का प्रयत्न किया वे निम्नलिखित थीं—

(१) **काव्य-कला**—ऋग्वैदिक आर्य काव्य-कला में बड़े कुशल थे। ऋग्वेद पद्य में लिखा गया है। ऋग्वेद का अधिकांश काव्य धार्मिक गीति-काव्य है। इस काल की कविता में स्वाभाविकता तथा सौन्दर्य है। उषा की प्रशंसा में ऋषियों ने बड़ी भावुकता प्रकट की है।

(२) **लेखन कला**—यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य लेखन-कला से परिचित थे अथवा नहीं, परन्तु कुछ विद्वानों की धारणा है कि वे इस कला को जानते थे।

(३) **अन्य कलाएँ**—ऋग्वैदिक आर्य अन्य बहुत-सी कलाओं में प्रवीण थे। गृह-निर्माण-कला में वे ऐसे निपुण थे कि सहस्रस्तम्भ तथा सहस्रद्वार के मकान तक बना डालते थे। कताई, बुनाई, रँगाई, धातु-कला, संगीत, नृत्य, वादन आदि में इस काल के आर्य बड़े निपुण थे।

धार्मिक जीवन—ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन वास्तव में धर्ममय था। जीवन का कोई ऐसा अंग न था जिस पर धर्म की गहरी छाप न हो। इस काल का धर्म बड़ी उच्च-दशा में था जिसका स्वरूप निम्नांकित था :—

(१) **प्रकृति-उपासना**—ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति की पूजा किया करते थे। उनका विश्वास था कि सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ आदि में ईश्वर निवास करता है। अतएव वे इन सब की उपासना किया करते थे।

(२) **देवताओं का वर्गीकरण**—ऋग्वेद में ३३ देवताओं की प्रार्थना की गई है। इन देवताओं को तीन भागों में बाँटा गया है अर्थात् आकाश के, मध्य-स्थान के तथा पृथ्वी के। प्रत्येक वर्ग में ११ देवता है, जिनमें से एक सर्वप्रधान है। इस प्रकार आकाश के सर्वश्रेष्ठ देवता सूर्य, मध्य-स्थान के वायु अथवा इन्द्र और पृथ्वी के अग्नि हैं। अनेक देवताओं में विश्वास करते हुए भी ऋग्वैदिक आर्यों के धर्म का मूलाधार एकेश्वर

वाद ही था और उनका एक ही ईश्वर था जिसे वे प्रजापति कहते थे और जो सर्वव्यापी था।

देवताओं की विशेषताएँ—ऋग्वैदिक काल में देवताओं में कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनकी पहली विशेषता यह है कि सभी देवता दयावान तथा शुभ-चिन्तक दिखाये गये हैं। कोई भी देवता दुष्ट स्वभाव का प्रदर्शित नहीं किया गया है। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये विभिन्न स्वभाव के होते हैं और इनके कार्य भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनकी तीसरी विशेषता यह है कि ये सभी जन्म लेते हैं परन्तु फिर अमर हो जाते हैं। इनकी चौथी विशेषता यह है कि सभी वायु में भ्रमण करते हैं, जिनके रथों में घोड़े अथवा अन्य पशु जुते रहते हैं। इनकी पाँचवीं विशेषता यह है कि इन्हें मानव-स्वरूप में प्रदर्शित किया गया है और मनुष्य का खाद्य-पदार्थ, यथा दूध, अन्न, मांस आदि की जब बलि दी जाती है, तब वही इनका भोजन बन जाता है। इनकी यह भी एक विशेषता है कि पृथ्वी, उषा आदि देवियों का उतना महत्त्व नहीं है जितना इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का है। ईश्वर की एक परम सत्ता में इनका विश्वास था जो इस जगत् का निर्माण तथा पालन करने वाला है।

(४) धार्मिक कृत्य—यज्ञ तथा बलि का ऋग्वैदिक धर्म में बहुत बड़ा महत्व था। यज्ञ में दूध, अन्न, घी, मांस, सोमरस आदि देवताओं को चढ़ाया जाता था। धार्मिक कार्यों में प्रार्थना तथा स्तुति का बड़ा ऊँचा स्थान है। इस कार्य में आर्यों का विश्वास था कि यह प्रार्थना ईश्वर तक पहुँचती है और वह उससे प्रसन्न होता है। गायत्री मन्त्र का बहुत बड़ा महत्व था और इसका पाठ दिन में तीन बार अर्थात् प्रातःकाल, दोपहर में तथा सन्ध्या समय किया जाता था। पितरों की पूजा प्रचलित थी। सदाचार पर बहुत बल दिया जाता था।

उत्तर-वैदिक काल——उत्तर का अर्थ होता है बाद का। अतएव जो वेद ऋग्वेद के बाद में आते हैं उनके काल को उत्तर-वैदिक काल कहते हैं! ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई थी। यह ग्रन्थ ईसा के १५०० वर्ष पूर्व से २०० वर्ष तक लिखे गये थे। अतएव इसी काल को उत्तर-वैदिक काल के नाम से पुकारा जाता है। ऋग्वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में बहुत अन्तर पड़ जाता है। अतएव उत्तर-वैदिक काल में आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति में बहुत कुछ अन्तर आ गया था। अब उनके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन में जो अन्तर आ गया था उस पर विचार किया जायगा।

राजनीतिक दशा—उत्तर-वैदिक काल में आर्यों की राजनीतिक स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था, जो निम्नलिखित दिशाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है :—

(१) शासन-क्षेत्र में परिवर्तन—ऋग्वैदिक आर्यों की राज-सत्ता केवल सप्त-सिन्धु तक ही सीमित थी, परन्तु अब वे सप्त-सिन्धु से कुरुक्षेत्र में पहुँच गये थे और यही उनके शासन का केन्द्र बन गया था। परन्तु उनकी राज-सत्ता कुरुक्षेत्र तक ही सीमित न रही। वे धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते गये और विदेह अथवा उत्तरी विहार

उनका कार्य-केन्द्र बन गया। कालान्तर में वे अनार्यों के भी घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये और दक्षिण-भारत में भी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार उन्होंने आरम्भ कर दिया ।

(२) **राजा की शक्ति में वृद्धि**—ऋग्वैदिक काल में राज्य का आकार बहुत छोटा होता था परन्तु अब बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना की गई और राजा लोग पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली हो गये। अब वीर विजयी राजा सार्वभौम, एकराट् आदि उपाधियों से अपने को विभूषित करने लगे और राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि यज्ञ करने लगे जो उनकी सार्वभौम सत्ता के सूचक होते थे। अब राजा को देवता स्वरूप समझा जाने लगा था और उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक था। यद्यपि राजा का पद अब भी वंशानुगत था परन्तु निर्वाचन-प्रणाली भी आरम्भ हो गई थी। निर्वाचन राजवंश तक ही सीमित था।

(३) **सीमित राजतन्त्र**—यद्यपि इस काल में राजा ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा अधिक स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश हो गया था परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राजा मनमाना कार्य करता था और उस पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। राजा पर सबसे बड़ा नियन्त्रण पुरोहित का होता था। पुरोहित सोम को अपना राजा मानता था और वह राजा की सभी आज्ञाएँ मानने के लिए बाध्य न था। कभी-कभी पुरोहित राजा के विरुद्ध विद्रोह भी कर देता था। राजा को यह शपथ लेनी पड़ती थी कि पुरोहित के साथ वह कभी धोखा न करेगा। राज्य के नियमों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना राजा का परम धर्म होता था। राजा पर धर्म का भी बहुत बड़ा नियन्त्रण रहता था। अतः उसे धर्मानुकूल ही शासन करना पड़ता था।

(४) **पदाधिकारियों में वृद्धि**—उत्तर-वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा पदाधिकारियों की संख्या तथा उनके अधिकारों में बड़ी वृद्धि हो गई थी। ऋग्वैदिक काल में केवल तीन मुख्य पदाधिकारी थे, अर्थात् पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी। परन्तु अब स्थपति, निषाद-स्थपति, शतपति आदि नये पदाधिकारी भी उत्पन्न हो गये थे। स्थपति सम्भवतः राज्य के एक भाग का शासक होता था और उसे शासन के साथ-साथ न्याय के भी कार्य करने पड़ते थे। निषाद-स्थपति सम्भवतः उस पदाधिकारी को कहते थे जो उन आदि-निवासियों पर शासन करता था, जिन पर आर्यों ने विजय प्राप्त कर ली थी। शतपति नामक पदाधिकारी के अनुशासन में सम्भवतः सौ गाँव रहते थे। पुराने पदाधिकारियों के अधिकारों में वृद्धि हो गई थी। सिंहासन से उतर कर राजा पुरोहित को प्रणाम करता था और उसके साथ धोखा न करने की उसे शपथ लेनी पड़ती थी। अब राजा रण-क्षेत्र में कम जाया करता था, अतएव रण-क्षेत्र में सेनानी ही सेना का संचालन करता था। फलतः उसके प्रभाव में भी वृद्धि हो गयी थी। ग्रामणी के अधिकार तथा प्रभाव में तो इतनी वृद्धि हो गई थी कि उसे राजकृत अर्थात् राजा का बनाने वाला कहते थे।

(५) **सभा तथा समिति की शक्ति में कमी**—यद्यपि सभा तथा समिति का अस्तित्व उत्तर-वैदिक काल में भी बना रहा परन्तु अब उनके अधिकार तथा प्रभाव में

बड़ी कमी हो गई थी। यह ध्यान देने की बात है कि समिति बड़ी संस्था थी और सभा छोटी। अब राज्य-विस्तार बढ़ जाने के कारण समिति का जल्दी-जल्दी बुलाना सम्भव न था। अतएव राजा उसके परामर्श की उपेक्षा करने लगा और अपने निर्णय से अधिकांश कार्य करने लगा। सभा का भी महत्त्व घट गया और वह केवल न्याय के कार्यों में थोड़ा-बहुत भाग लेती थी।

(६) **न्याय-व्यवस्था में सुधार**—उत्तर-वैदिक कालीन न्याय-व्यवस्था ऋग्वैदिक काल को न्याय-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ तथा व्यापक हो गई थी। अब राजा पहले से अधिक न्याय के कार्यों में रुचि लेने लगा। परन्तु अपने न्याय के अधिकारों को वह प्रायः अपने पदाधिकारियों को दे दिया करता था। गाँवों के झगड़ों का निर्णय ग्राम्यवादिन करता था जो गाँव का न्यायाधीश होता था। ब्राह्मण की हत्या बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था। ब्राह्मण को प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। सोने की चोरी तथा सुरापान भी बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था। दीवानी के मुकदमों का निर्णय प्रायः पंचों द्वारा कर दिया जाता था।

सामाजिक दशा—यद्यपि उत्तर-वैदिक काल के आर्यों के गृह-निर्माण, वेश-भूषा, खान-पान, मनोरंजन आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, परन्तु सामाजिक जीवन के कई क्षेत्रों में बहुत बड़े परिवर्तन हुए। यह परिवर्तन निम्नांकित थे :—

(१) **नगरों का प्रादुर्भाव**—ऋग्वैदिक आर्य केवल गाँवों में ही निवास करते थे। उन्होंने नागरिक जीवन को नहीं अपनाया था। ऋग्वेद में कहीं पर भी नगर का उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु जब आर्य लोग गंगा-यमुना के उपजाऊ मैदानों में आ गये तब उन्होंने बड़े-बड़े नगरों को बसाया तथा उनमें निवास करना आरम्भ कर दिया। अब यही नगर राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के केन्द्र बन गये।

(२) **भोजन में परिवर्तन**—उत्तर-वैदिक काल के आर्यों ने अपने भोजन में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन कर दिया। अब मांस-भक्षण घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और ब्राह्मणों के लिए इसका निषेध हो गया। अथर्ववेद के एक सूक्त में मांस-भक्षण को सुरापान के साथ पाप बतलाया गया है इससे स्पष्ट है। कि अहिंसा का बीजारोपण इस काल में हो गया था। अब सोम के स्थान पर मासर, पूतिका, अर्जुनानी आदि अन्य पेय पदार्थों का प्रयोग होने लगा था।

(३) **मनोरंजन के साधनों में वृद्धि**—उत्तर-वैदिक काल में कुछ नये मनोरंजन के साधन निकल आये थे। इस युग में शैलूष अर्थात् नाटक करने वालों का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा पता लगता है कि नाटक का खेल भी मनोरंजन का एक प्रधान साधन बन गया था। वीणा गायिन तथा शत-तन्तु का भी उल्लेख मिलता है। वीणा-गायिन लोग वीणा बजाकर वीरों की गाथाएँ गाया करते थे। शत-तन्तु एक प्रकार का बाजा होता था जिसमें सौ तार लगे होते थे।

(४) **स्त्रियों की दशा में परिवर्तन**—उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की दशा पहले से अधिक बिगड़ गई थी। अब राजवंशों तथा सम्पन्न परिवारों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। अतएव इनके घरों की स्त्रियों का जीवन बड़ा कलहपूर्ण

हो गया था। अब कन्याओं को दुःख का कारण समझा जाता था और उनके जन्म से लोग दुःखी होते थे। परन्तु कन्याओं की शिक्षा पर अब भी ध्यान दिया जाता था क्योंकि गार्गी, मैत्रेयी आदि बड़ी ही विदुषी कन्याओं के नाम मिलते हैं जो वैदिक वाद-विवादों में भाग लिया करती थीं। यद्यपि यज्ञादि धार्मिक अवसरों पर स्त्रियों को भाग लेने का अधिकार था, परन्तु सार्वजनिक सभाओं आदि में अब वे नहीं आ-जा सकती थीं। अब बाल-विवाह की प्रथा आरम्भ हो गयी थी और स्त्रियों का आचरण तथा आदर्श भी गिर गया था।

वैवाहिक सम्बध में जटिलता—उत्तर-वैदिक काल में विवाह-सम्बन्धी नियम काफी कठोर हो गये थे। अब सगोत्री विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था और भिन्न गोत्र में विवाह करना अधिक अच्छा समझा जाता था अथर्ववेद से पता चलता है कि विधवा-विवाह प्रचलित था। बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन हो गया था क्योंकि मनु के दस पत्नियाँ थीं। उच्च-वर्ण की कन्या का विवाह निम्न-वर्ण में नहीं हो सकता था। कन्याओं का विक्रय यदा-कदा हुआ करता था और दहेज-प्रथा प्रचलित थी।

(६) **वर्ण-व्यवस्था में जटिलता**—ऋग्वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था ने अब जाति-प्रथा का रूप धारण कर लिया। अब व्यवसाय के स्थान पर जन्म उसका आधार हो गया। अब ऋग्वैदिक काल की चार जातियों के अतिरिक्त दो और जातियाँ बन गई थीं। इनमें से एक निषाद कहलाती थी और दूसरी व्रात्य। निषाद लोग अनार्य थे। सम्भवतः यह लोग भील जाति के थे। व्रात्य लोग सम्भवतः वह आर्य थे जो ब्राह्मण धर्म को नहीं मानते थे। विभिन्न व्यवसायों के अनुसार अब वैश्यों में बढ़ई, लोहार, मोची आदि को उपजातियाँ बन गई थीं! अब जाति-परिवर्तन अत्यन्त कठिन हो गया और अन्तर्जातीय विवाह को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

(७) **अस्पृश्यता का प्रादुर्भाव**—जाति-प्रथा के बन्धन धीरे-धीरे जटिल होते जा रहे थे और रक्त की पवित्रता पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। अब आर्य लोग अनार्यों के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये थे जिन्हें वे अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे अतएव छुआछूत की भावना उत्पन्न होने लगी। उच्च वर्ण वाले अब शूद्रों के साथ खान पान नहीं करते थे और उन्हें अस्पृश्य समझने लगे थे।

(८) **आश्रम-व्यवस्था की दृढ़ता**—उत्तर-वैदिक काल में आश्रम-व्यवस्था अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी थीं और उच्च वर्ण वालों को इनका निश्चित रूप से पालन करना पड़ता था।

(९) **वंशानुगत उद्योग-धन्धे**—अब व्यवसाय वंशानुगत हो गया था और एक परिवार के लोग एक ही व्यवसाय करने लगे थे। यही कारण था कि उपजातियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

(१०) **शिक्षा के महत्व में वृद्धि**—वैदिक यज्ञों में वृद्धि हो जाने के कारण शिक्षा के महत्त्व वृद्धि हो गई। यद्यपि शिक्षा का मुख्य विषय वेदों का अध्ययन ही था परन्तु वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ विज्ञान, गणित, भाषा, युद्ध-विद्या आदि की भी शिक्षा

दी जाने लगी थी। विद्यार्थी अपने गुरु के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करता था और ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करता था। शिक्षा समाप्त हो जाने पर वह अपने गुरु को दक्षिणा देकर घर आता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

आर्थिक दशा—उत्तर-वैदिक काल में आर्यों की आर्थिक दशा में क्रमशः परिवर्तन होता गया। अब वे गाँवों के अतिरिक्त नगरों में भी निवास करने लगे और उनका जीवन अधिक सम्पन्न हो गया। उनके धार्मिक जीवन में निम्नलिखित परिवर्तन दिखाई देता है :—

(१) **भूमिपतियों का प्रादुर्भाव**—ऋग्वैदिक काल में भूमिपतियों का कहीं नाम न था परन्तु अब बड़े-बड़े भूमिपतियों का प्रादुर्भाव हो रहा था। बहुत-से भूमिपति सम्पूर्ण गाँव के स्वामी होते थे और गाँव के लोगों पर उनका बड़ा प्रभाव रहता था।

(२) **व्यवसाय में परिवर्तन**—उत्तर वैदिक काल में आर्य लोग गंगा-यमुना की अत्यन्त उपजाऊ भूमि में पहुँच गये थे। अतएव अब उनकी कृषि में बड़ी उन्नति हो गयीं थी। अब वे बड़े-बड़े हलों का प्रयोग करने लगे थे। वे विभिन्न प्रकार की खाद का भी प्रयोग करने लगे थे। अब वे गेहूँ तथा जौ के अतिरिक्त अन्य अन्नों को भी पैदा करने लगे थे और चावल का अत्यधिक प्रयोग करते थे। उत्तरी मैदान में बस जाने के कारण वह लोग मानसून पर अत्यधिक निर्भर रहने लगे थे। फलतः इन्हें अधिक वृष्टि तथा अनावृष्टि दोनों का सामना करना पडता था। कृषि को रोगों से बचाने के लिए मन्त्र-तन्त्र का भी प्रयोग किया जाता था जिनका उल्लेख हमें अथर्ववेद में मिलता है। ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा अब उद्योग धन्धों में भी अधिक वृद्धि हो गई थी और कार्य-विभाजन का सिद्धान्त दृढ़ गया था। यजुर्वेद में उन सब व्यवसायों का उल्लेख है, जिन्हें इस काल के आर्य किया करते थे। इनमें शिकारी, मछुए, पशु पालक, हलवाहे, जौहरी, चटाई बनाने वाले, धोबी, रँगरेज, जुलाहे, कसाई, सुनार, बढ़ई आदि आते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल के व्यवसाय में कितनी उन्नति हो गई थी।

(३) **वाणिज्य तथा व्यापार में उन्नति**—उत्तर-वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा व्यापार तथा वाणिज्य में अधिक वृद्धि हो गयी थी। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अब वे एक विशाल मैदान के निवासी बन गये थे जो बड़ा ही उपजाऊ तथा धन-सम्पन्न था। इस काल में व्यापारियों का एक अलग वर्ग बन गया था, जिन्हें वणिक कहते थे। धनी व्यापारी श्रेष्ठिन् कहलाता था। आर्य लोगों का आन्तरिक व्यापार पहाड़ियों में रहने वाले किरातों के साथ होता था, जिन्हें ये कपड़े देकर औषधि के लिए जड़ी-बूटियाँ प्राप्त करते थे। अब ये लोग समुद्र से भी परिचित हो गये थे और बड़ी-बड़ी नावों द्वारा सामुद्रिक व्यापार भी करते थे। अब आर्य लोग निष्क, शतमान तथा कृष्णाल नाम मुद्राओं का प्रयोग करने लगे थे जिससे व्यापार में बड़ी सुविधा होने लगी।

(४) **धातु-ज्ञान में वृद्धि**—उत्तर-वैदिक काल में नई-नई धातुओं का भी आर्यों को ज्ञान हो गया था।। ऋग्वैदिक काल में इन्हें केवल स्वर्ण तथा अयस् का ज्ञान प्राप्त

था परन्तु इस काल में राँगा, सीसा तथा चाँदी का भी ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस काल में लाल-अयस् तथा कृष्ण-अयस् का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः लाल-अयस् का तात्पर्य ताँबे और कृष्ण-अयस् का लोहे से था।

कला—उत्तर-वैदिक काल में कला के क्षेत्र में भी हमें कई परिवर्तन दिखाई देते हैं। काव्य-कला का स्वरूप अत्यन्त व्यापक हो गया था। ऋग्वेद में केवल स्तुति-मन्त्रों का संग्रह है, परन्तु अब यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रों की रचना कर काव्य-क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया गया। यजुर्वेद में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है। सामवेद गीति-काव्य है और उसका संगीत-कला पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा तथा इसमें भूत-प्रेत से रक्षा का विधान है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उच्च कोटि की दार्शनिक विवेचना है। अथर्ववेद में मन्त्र-तन्त्र चला है। सूत्रों की रचना इसी काल में हुई थी इससे संक्षेप में लिखने की कला की बड़ी उन्नति हुई थी। खगोल विद्या भी बड़ी उन्नति कर गई थी और इस काल के आर्यों को नये-नये नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त हो गया था। ऐसा लगता है कि औषधि-विज्ञान इस काल में अवनत दशा में था और रोगों की संख्या में वृद्धि हो गई थी।

धार्मिक दशा—ऋग्वैदिक काल का धर्म बड़ा ही सरल तथा आडम्बरहीन था परन्तु उत्तर-वैदिक काल का धर्म बड़ा ही जटिल तथा आडम्बरमय हो गया। इस काल के धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

(१) **ब्राह्मणों की प्रधानता**—इस युग में ब्राह्मणों की प्रधानता तथा उनका महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई थी। इन ग्रन्थों के रचयिता ब्राह्मण थे और इनका सम्बन्ध भी ब्राह्मणों से ही था। वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के सच्चे ज्ञान का अधिकारी यही वर्ग अपने को समझता था ब्राह्मण ही यज्ञ करता और कराता था, अतएव उसके आदर-सम्मान में बड़ी वृद्धि हो गई थी। इस काल मे ब्राह्मण का स्थान इतना ऊँचा हो गया था कि वह भू-सुर, भू-देव आदि नामों से सम्बोधित किया जाने लगा था।

(२) **यज्ञ तथा बलि के महत्त्व में वृद्धि**—इस युग में यज्ञों तथा बलि के महत्त्व में इतनी अधिक वृद्धि हो गई थी कि यदि इसे यज्ञों का युग कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। यजुर्वेद, जिसकी रचना इस युग में हुई थी, यज्ञ-प्रधान ग्रन्थ है और यज्ञों के विधान की उसमें विस्तृत विवेचना की गई है। अब यज्ञों की संख्या में बड़ी वृद्धि हो गई और उनके करने में भी सरलता न रह गई थी। अब गृहस्थ स्वयं यज्ञ नहीं कर सकता था वरन् उसे याज्ञिकों की आवश्यकता पड़ती थी। ऋग्वेद काल में केवल फल तथा दूध की बलि से काम चल जाता था परंतु अब पशु तथा सोम की बलि का महत्त्व अधिक बढ़ गया। यज्ञ में अब समय भी अधिक लगता था। बहुत-से यज्ञ वर्ष भर चलते रहते थे और उनमें बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ता था। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ केवल राजा-महाराजा ही कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब सर्वसाधारण के लिए यह बहुत कठिन कार्य हो गया। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल के सरल तथा आडम्बरहीन धर्म में अब बड़ी जटिलता आ गई थी और उसमें तरह-तरह के आडम्बर

आ गए थे।

(३) याज्ञिक वर्ग की उत्पत्ति—यज्ञों की संख्या तथा महत्त्व में वृद्धि हो जाने तथा उनमें जटिलता आ जाने के कारण ब्राह्मणों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो यज्ञों का विशेषज्ञ होता था और यज्ञ कराने में कुशल होता था ! इस वर्ग का एकमात्र व्यवसाय अपने,यजमान के यहाँ यज्ञ कराना तथा उससे यज्ञ-शुल्क एवं दान प्राप्त करना हो गया। उत्तर-वैदिक काल की यह परम्परा आज तक चली आ रही है।

(४) उच्चकोटि का दार्शनिक विवेचन—ब्राह्मणों का दूसरा वर्ग बड़ा ही चिन्तनशील बन गया और वह दार्शनिक विवेचन में संलग्न हो गया। इस काल के दार्शनिक विवेचन के प्रधान ग्रन्थ आरण्यक तथा उपनिषद् हैं। याज्ञवल्क्य इस काल के बहुत बड़े दार्शनिक थे। इस काल में आतमा तथा परमातमा के सम्बन्ध की जैसी विशद विवेचना की गई है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अनुमोदन भी इसी युग में किया था और बतलाया गया था कि मनुष्य का आगामी जन्म उसके कर्मों पर निर्भर रहता है। अच्छा कार्य करने वाला अच्छी योनि में और बुरा कार्य करने वाला बुरी योनि में जन्म लेता है। युग में ज्ञान की प्रधानता पर बल दिया गया था। मोक्ष प्राप्त करने के लिए ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। षड्दर्शन अर्थात सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा की रचना इसी काल में हुई थी।

(५) देवताओं के महत्त्व में परिवर्तन—उत्तर-वैदिक काल की एक यह भी विशेबता थी कि ऋग्वैदिक काल के देवताओं का महत्व घटता जा रहा था और उसका स्थान अन्य नये-नये देवता ग्रहण करते जा रहे थे। इस युग में प्रजापति का महत्त्व देवताओं से अधिक हो गया था। कालान्तर में रुद्र का भी महत्त्व बढ़ गया और इन्हें महादेव कहा जाने लगा। इन्हें पशुपति के नाम से पुकारा जाने लगा। रुद्र के साथ-साथ शिव का भी महत्त्व बढ़ने लगा। विष्णु आगे चल कर वासुदेव कहलाने लगे। भागवत सिद्धान्त का भी बीजारोपण इस युग में हो गया था।

(६) आडम्बर तथा अन्ध-विश्वास में वृद्धि—ऋग्वैदिक काल का विशुद्ध धर्म अब धीरे-धीरे आडम्बरों तथा अन्ध-विश्वासों का जाल बनने लगा। अब देवताओं की शक्ति का स्थान यज्ञों ने लिया था। अब यह विश्वास हो गया था कि यज्ञों तथा मन्त्रों द्वारा न केवल देवताओं को वश में किया जा सकता है वरन् उन्हें समाप्त भी किया जा सकता है। अब भूत-प्रेत तथा मन्त्र-तन्त्र में लोगों का विश्वास बढ़ता जा रहा था। अथर्ववेद में इन भूत-प्रेतों का वर्णन है और यह भी बतलाया गया है कि किन मन्त्र-तन्त्रों द्वारा इनसे रक्षा की जा सकती है।

वैदिक तथा द्रविड़ सभ्यता में अन्तर—वैदिक तथा द्रविड़ सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें कई अन्तर दिखाई देते हैं। द्रविड़ लोग छोटे काले तथा चपटी नाक वाले होते थे परन्तु आर्य लोग लम्बे, गोरे तथा सुन्दर शरीर के होते थे। यद्यपि द्रविड़ लोग भी वीर-योद्धा होते थे परन्तु वे उतने वीर, बलिष्ठ तथा साहसी नहीं होते थे जितने आर्य लोग। आर्य के अस्त्र-शस्त्र भी द्रविड़ों से अच्छे होते थे।

आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति का सृजन उत्तरी भारत में हुआ था परन्तु द्रविड़ों की सभ्यता का विकास दक्षिण-भारत में हुआ था। यद्यपि द्रविड़ लोग भी सभ्य थे परन्तु उनकी सभ्यता उतनी उन्नत तथा प्रौढ़ न थी जितनी आर्यों की। द्रविड़ों का कुटुम्ब मातृक था अर्थात् माता कुटुम्ब की प्रधान होती थी, परन्तु आर्यों का कुटुम्ब पैतृक था जिसमें पिता अथवा कुटुम्ब का अन्य कोई वयोवृद्ध पुरुष प्रधान होता था। द्रविड़ों में लोग अपनी माता के भाई की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे परन्तु आर्यों में लोग अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। द्रविड़ों में चचेरे भाई-बहन में विवाह हो सकता था, परन्तु आर्यों में इस प्रकार के विवाहों का निषेध था। आर्यों के समाज का मूलाधार जाति-व्यवस्था थी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कार्य अलग-अलग निश्चित थे। परन्तु द्रविड़ों में इस प्रकार की जाति-व्यवस्था न थी। आर्यों की भाषा संस्कृत थी परन्तु द्रविड़ों की भाषा इससे भिन्न थी। द्रविड़ लोग भूत-प्रेत की पूजा किया करते थे परन्तु आर्य लोग सर्वशक्तिमान् दयालु ब्रह्म को मानते थे। द्रविड़ लोगों को सामुद्रिक जीवन प्रिय था और सामुद्रिक व्यापार में वे बड़े कुशल थे परन्तु आर्यों को स्थलीय जीवन अधिक प्रिय था इतना अन्तर होने पर भी शताब्दियों के सम्पर्क के कारण दोनों ने एक दूसरे की सभ्यता तथा संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है और अब उनमें अत्यधिक साम्य हो गया है।

वैदिक सभ्यता तथा सिंधु-घाटी की सभ्यता का अन्तर—वैदिक सभ्यता तथा सिन्धु-घाटी की सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें कई अन्तर दिखाई पड़ते हैं जिनमें से प्रधान निम्नांकित हैं :—

(१) **काल सम्बन्धी अन्तर**—सिन्धु-घाटी की सभ्यता वैदिक सभ्यता से अधिक प्राचीन है। पहले विद्वानों की यह धारणा थी कि वैदिक सभ्यता ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता है परन्तु अब यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सिन्धु-सभ्यता वैदिक सभ्यता से लगभग दो हजार वर्ष अधिक पुरानी है।

(२) **दोनों सभ्यताओं के स्वरूप में अन्तर**—वैदिक सभ्यता ग्रामीण तथा कृषिप्रधान थी, परन्तु सिन्धु-घाटी की सभ्यता नगरीय तथा व्यापार-प्रधान थी।

(३) **आवास सम्बन्धी अन्तर**—वैदिक आर्य गाँवों में बाँस के पर्ण कुटीर बना कर रहते थे। परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग नगरों में पक्की ईंटों के मकान बना कर रहते थे।

धातुओं के प्रयोग में अन्तर—सिन्धु घाटी के लोग प्रधानतः पाषाण का प्रयोग करते थे। धातुओं में वे सोने की अपेक्षा चाँदी का अधिक प्रयोग करते थे। लोहे से तो वे बिलकुल अपरिचित थे। परन्तु वैदिक काल के आर्य प्रारम्भ में सोने तथा ताँबे का और बाद में चाँदी लोहे तथा काँसे का भी प्रयोग करने लगे थे।

(५) **अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में अन्तर**—वैदिक काल के लोग युद्ध में आत्म रक्षा के लिए कवच, शिरस्त्राण आदि का प्रयोग करते थे, परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग इन आत्म-रक्षक वस्त्रों से अनभिज्ञ थे।

(६) **भोजन में अन्तर**—यद्यपि वैदिक आर्य प्रारम्भ में मांस-भक्षण करते थे, परन्तु कालान्तर में माँसभक्षण घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। इसके विपरीत मांस मछली सिन्धु घाटी के लोगों का प्रधान आहार था।

(७) **पशुओं के ज्ञान तथा महत्त्व में अन्तर**—वैदिक आर्य घोड़े पालते थे, जिन्हें वे अपने रथों में जोतते थे, परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग सम्भवत: इस पशु से अपरिचित ही थे। वैदिक काल के आर्य बाघ से सर्वथा अपरिचित थे। हाथी का वेदों में बहुत कम उल्लेख मिलता है परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग इन दोनों पशुओं से भली-भाँति परिचित थे। वैदिक काल के आर्य गाय को बड़ा पवित्र मानते थे और उसे पूजनीय समझते थे परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग गाय को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। गाय से अधिक महत्त्व वे साँड़ को देते थे।

(८) **धार्मिक धारणा में अन्तर**—यद्यपि वैदिक आर्यों ने अपने देवी-देवताओं में मानवी गुणों का आरोपण किया था, परन्तु वे मूर्ति-पूजक न थे। इसके विपरीत-सिन्धु-घाटी के लोगों में मूर्ति-पूजा की प्रतिष्ठा थी। सिन्धु-घाटी के लोग शिव तथा शक्ति की पूजा करते थे और देवी को देवता से अधिक ऊँचा स्थान प्रदान करते थे परन्तु ऋग्वेदिक काल में शिव को कोई स्थान प्राप्त न था और देवता का स्थान देवी के कहीं अधिक ऊँचा था। सिन्धु-घाटी के लोग लिंग-पूजक थे और यह पूजा उनमें बड़ी लोकप्रिय थी, परन्तु वैदिक आर्य लिंग-पूजा के विरोधी थे। वैदिक आर्य अग्नि पूजक थे और प्रत्येक घर में अग्निशाला का होना आवश्यक था, परन्तु सिन्धु-घाटी के लोग अग्नि को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे।

(९) **कला के ज्ञान में अन्तर**—सिन्धु-घाटी के लोग लेखन-कला से परिचित थे और अन्य कलाओं में भी वे बहुत अधिक उन्नति कर गये थे, परन्तु वैदिक आर्य सम्भवत: लेखन-कला से परिचित न थे और अन्य कलाओं में भी वे उतने प्रवीण न थे परन्तु काव्य-कला में वे बढ़कर थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता तथा वैदिक-सभ्यता में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों का अलग-अलग कालों में और विभिन्न लोगों द्वारा विकास किया गया था परन्तु दोनों ही भारत की उच्च-कोटि की सभ्यताएँ थीं और दोनों ही से भारत का गौरव तथा मस्तक ऊँचा उठता है।

अध्याय ६

वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम

"With reference to the future the practical conclusion is that talk about the abolition or even the automatic extinction of caste is futile. Caste within India cannot be either abolished or extinguished within a measurable time. The system grew up of itself in remote antiquity because it suited India, and will last for untold centuries because it still suits India, on the whole, in spite of its many inconveniences. Hindu society without caste is inconceivable. Reformers must be content to make the best of a system which cannot be destroyed. The absolutely indispensible compromises with modern conditions will arrange themselves from time to time, while the huge mass of the Indian agricultural population will continue to walk in the ancestral ways The deep waters of Hinduism are not easily stirrd. Ripples on the surface leave the depths unmoved." —V. A. Smith.

वर्ण-व्यवस्था का अर्थ—वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग होता है। वर्ण शब्द का प्रयोग वेश तथा वर्ग के अर्थ में भी होता है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा तथा स्थिति का भी द्योतक होता है। हिन्दू समाज-शास्त्र के अनुसार वर्ण शब्द का अर्थ एक प्रकार का सामाजिक संगठन होता है। प्राचीन भारतीय आर्यों ने अपने समाज को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए एक विशेष प्रकार की व्यवस्था की थी जो वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। यही वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में जाति-प्रथा में बदल गई और हिन्दू-समाज का मूलाधार बन गई और आज तक उसे प्रभावित करती चली आ रही है। अब इस वर्ण-व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता—सबसे पहले इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्था के संगठन का अधार क्या था। इस व्यवस्था के चार प्रधान आधार बतलाये गये है अर्थात् रंग, वस्त्र, व्यवसाय तथा धर्म। अब इनकी अलग-अलग व्यवस्था की जायगी :—

(१) **रंग का आधार**—वर्ण का अर्थ रंग होता है। अतएव प्रो० रैप्सन का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था का जन्म रंग-भेद के कारण हुआ। आर्य लोग गौर-वर्ण के

थे और अनार्य लोग कृष्ण-वर्ण के। अतएव रंग के आधार पर दो जातियाँ बन गयीं अर्थात् आर्य तथा अनार्य। इस प्रकार भारतीय समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया जिनकी स्थिति तथा प्रतिष्ठा में अन्तर था। आर्यों की स्थिति विजेता की थी और अनार्यों की विजित की। इसी से अनार्य लोग दस्यु अथवा दास कहलाते थे। आर्य अपने को श्रेष्ठ समझते थे और अनार्यों को नीच समझते थे और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे।

(२) **वस्त्र अथवा वेश-भूषा का आधार**—वर्ण का अर्थ वस्त्र अथवा वेश-भूषा भी होता है। अतएव कुछ विद्वानों की धारणा है कि सम्भवत: भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्रों को धारण करने के कारण भारतीय समाज कई वर्णों में विभक्त हो गया। इन वर्णों के वस्त्रों के रंग निश्चित थे। ब्राह्मणों का वस्त्र श्वेत-वर्ण का, क्षत्रियों का हरित-वर्ण का, वैश्यों का पीत-वर्ण का और शूद्रों का कृष्ण-वर्ण का होता था।

(३) **व्यवसाय का आधार**—वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार व्यवसाय माना गया है। इस प्रकार वर्ण का तात्पर्य व्यवसायानुसार चार वर्गों से है अर्थात् ब्राह्मण जो विद्याध्ययन तथा पूजा-पाठ का कार्य करते थे, क्षत्रिय जो युद्ध तथा शासन का कार्य करते थे, वैश्य जो व्यवसाय तथा कृषि का कार्य करते थे और शूद्र जो अन्य उच्च जातियों की सेवा किया करते थे। इस प्रकार विसेन्ट स्मिथ के विचार में वर्ण से वर्ग अथवा कोटि का बोध होता है। वह वर्ग न केवल व्यवसाय वरन् स्थिति तथा प्रतिष्ठा का भी सूचक होता था। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का और क्षत्रियों बाद वैश्यों का स्थान आता था। शूद्र सबसे निम्नकोटि के समझे जाते थे।

(४) **धर्म का आधार**—ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में लिखा है, "पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से राजन्य की, जंघा से वैश्य की और चरण से शूद्र की उत्पत्ति हुई।" यदि हम इसे एक प्रकार का रूपक मान लें तो कुछ अनुचित न होगा। इस सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक शरीर माना गया है। ब्राह्मण इस समाज रूपी-शरीर का मुख था और उसका कार्य पठन-पाठन तथा यजन-याजन था। यह कार्य बौद्धिक तथा आध्यात्मिक था। अतएव ब्राह्मण को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया जो शरीर में मुख का होता है। राजन्य उस समाजरूपी शरीर की बाहु या भुजा था और समाज की रक्षा करना इसका कर्त्तव्य था। इसे समाज में द्वितीय तथा ब्राह्मणों से नीचे स्थान दिया गया जो शरीर में भुजाओं का होता है। वैश्य समाज-रूपी शरीर की जंघा था जिसकी सबलता पर समाज का भरण-पोषण निर्भर था। इसे समाज में तृतीय स्थान दिया गया जो शरीर में जंघा का होता है। शूद्र उस समाज का चरण था जिसे इस विशाल समाज-रूपी शरीर का बोझ ढोना पड़ता था। शूद्र को समाज में सबसे नीचे स्थान प्रदान किया गया जो चरणों का शरीर में होता है। परन्तु शूद्र का समाज में कम महत्त्व नहीं है। बिना उसके हमारा समाज लँगड़ा होता और उसका सुचारु-रीति से संचालन नहीं हो सकता था। वह भगवान् के पवित्र चरणों से निकला है, अतएव वह स्वयं भी पवित्र है। इस दृष्टिकोण से देखने पर वर्ण-व्यवस्था का

का मूलाधार उपयोगिता तथा सामंजस्य था।

वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता—ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म अथवा व्यवसाय था, जन्म नहीं। समाज के कार्य को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए ही वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया था। सब एक-दूसरे के साथ खान-पान करते थे और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। आदमी अपने व्यवसाय को बदल भी सकता था। इस व्यवसाय से हिन्दू-समाज का बड़ा कल्याण हुआ। इसकी उपयोगिता निम्नांकित थी :—

(१) **अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समन्वय**—वर्ण-व्यवस्था ने समाज के सभी व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ अधिकार तथा कर्त्तव्य के सूत्र में बाँध दिया था। जो एक का अधिकार था वही दूसरे का कर्तव्य था और बिना अपने कर्त्तव्यों का पालन किये कोई अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए यदि ब्राह्मण बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का कार्य न करता तो उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होती अर्थात् न तो क्षत्रिय उसकी रक्षा करता और न वैश्य उसके भरण-पोषण का कार्य करता। इस प्रकार सभी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के किये विवश थे।

कार्य

(२) **योग्यतानुसार आर्यों का चयन**—वर्ण-व्यवस्था से एक बहुत बड़ा लाभ यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा, योग्यता तथा मनोवृत्ति के अनुसार अपना कार्य-क्षेत्र चुन लेता था और उसी में उसे अपनी अधिक से अधिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो जाता था।

(३) **कार्य-कुशलता में वृद्धि**—वर्ण-व्यवस्था से कार्य-कुशलता में भी वृद्धि होती थी। एक वर्ण वाले एक ही व्यवसाय करते थे जिससे वे उसमें बड़ी निपुणता प्राप्त कर लेते थे। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था कार्य-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी। यह विभाजन था धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक। धार्मिक कार्यों में ब्राह्मण अत्यन्त प्रवीण होता था। इसी प्रकार राजनीति में क्षत्रिय और अर्थ-सम्बन्धी कार्यों में वैश्य। सभी अपने-अपने क्षेत्र के पण्डित होते थे।

(४) **संघर्ष का अभाव**—वर्णव्यवस्था के स्थापित हो जाने से समाज में संघर्ष की बहुत कम सम्भावना रहती थी। सभी के कार्य निश्चित थे और सभी अपने निश्चित क्षेत्र में शान्तिपूर्वक कार्य करते थे। न कोई प्रतिद्वन्द्विता थी और न कोई होड़; वरन् प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार अपने व्यवसाय को करता हुआ समाज-कल्याण के कार्य में लगा रहता था।

(५) **स्वार्थ तथा परार्थ का समन्वय**—इस व्यवस्था में स्वार्थ अर्थात् अपने हित और परार्थ अर्थात् लोक-हित का सुन्दर समन्वय था। इसमें अपनी भलाई के साथ-साथ समाज की भी भलाई होती थी। व्यक्ति समाज की एक इकाई के रूप में कार्य करता था उसके कार्यों का प्रभाव न केवल अपने जीवन पर वरन् पूरे समाज पर पड़ता था। ब्राह्मण न केवल अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए वरन् पूरे समाज की रक्षा के लिए यज्ञ करता था। क्षत्रिय न केवल अपनी रक्षा के लिए वरन् पूरे

समाज की रक्षा के लिए युद्ध करता था। इसी प्रकार वैश्य न केवल अपने वरन् पूरे समाज के भरण-पोषण के लिए कार्य करता था। प्रत्येक व्यक्ति के कार्य में समाज का कल्याण प्रधान और अपना कल्याण गौण रहता था। अतएव वर्ण-व्यवस्था एकता की द्योतक है न कि भारतीय समाज की विच्छिन्नता की।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा—वर्ण-व्यवस्था ने हमारी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं की भी रक्षा की है। वर्ण-व्यवस्था ने हमारे समाज को एक निश्चित स्वरूप दिया और उस स्वरूप द्वारा हमारी सभ्यता तथा संस्कृति का सृजन किया। चूँकि वर्ण-व्यवस्था का यह ढाँचा जो वैदिक काल में बनाया गया था स्थायी बन गया और आज तक चला आ रहा है अतएव उस व्यवस्था द्वारा रचित सभ्यता तथा संस्कृति भी सुरक्षित बनी चली आ रही है।

जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव—कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था जाति-प्रथा में परिवर्तित हो गई। वर्ण का निश्चय व्यवसाय से होता था परन्तु जाति का निश्चय जन्म से होने लगा। एक वर्ण के लोग एक ही व्यवसाय को करते थे परन्तु एक ही जाति के लोग विभिन्न व्यवसायों को कर सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था में सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह पर कोई प्रतिबन्ध न था और छूआ-छूत की भावना न थी परन्तु जाति-प्रथा में सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध लग गया। जाति-प्रथा में रक्त की शुद्धता पर ध्यान दिया जाने लगा और अपनी ही जाति में विवाह करना उचित समझा जाने लगा। जाति-प्रथा में छुआ-छूत की भावना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और अस्पृश्यता का प्रकोप बढ़ने लगा। कालान्तर में प्रत्येक जाति ने एक पेशे को अपना लिया जो उसका वंशानुगत पेशा बन गया। प्रत्येक जाति ने अपना आदर्श, अपने आचरण के नियम तथा अपने रीति-रिवाज बना लिये जिनके अनुसार उस जाति के लोग अपना जीवन व्यतीत करने लगे। धीरे-धीरे जाति-प्रथा के बन्धन कड़े होते गये और इनमें संकीर्णता आती गई। कालान्तर में प्रत्येक जाति में अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गईं और भारतीय समाज जो प्राचीन काल में अत्यन्त संगठित था छिन्न-भिन्न हो गया।

जाति-प्रथा से लाभ—जिस जाति-प्रथा का ऊपर वर्णन किया गया है उसके लिम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) **सामाजिक स्थिति का निश्चय**—जिस जाति में जिस व्यक्ति का जन्म हो जाता है उससे उसकी सामाजिक स्थिति को तुरन्त निश्चय हो जाता है। उदाहरण के लिए जब किसी व्यक्ति का जन्म ब्राह्मण या शूद्र के वंश में हो गया तब जीवन भर के लिए वह ब्राह्मण या शूद्र बन गया। यदि उसका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ है तो वह जीवन भर के लिए पवित्र तथा ऊँचा हो गया है और यदि उसका जन्म शूद्र-वंश में हो गया तो वह जीवन भर के लिए अपवित्र तथा नीच बन गया। उसके कर्मों अथवा उसकी सम्पन्नता या विपन्नता का उसकी सामाजिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) **मानसिक शान्ति**—जाति-प्रथा जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति के स्थान तथा कार्य को निश्चित करके उसे मानसिक शान्ति प्रदान करती है। जन्म लेते ही मनुष्य

की स्थिति तथा उसके कार्य-क्षेत्र का निश्चय हो जाता है। इससे अपने जीवन के मार्ग को निश्चित करने में उसे कोई मानसिक कष्ट अथवा उलझन नहीं होती और उसका मन बिलकुल शान्त रहता है।

(३) व्यवसाय का निश्चय—जाति-प्रथा के कारण मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से ही अपने व्यवसाय का पता लग जाता है क्योंकि-प्रत्येक जाति का व्यवसाय प्रायः निश्चित रहता है। वह अपनी जाति के पेशे के पर्यावरण में रहता है और उस पेशे की सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेता है। लोहार, बढ़ई, कुम्हार, सोनार आदि के बच्चे बचपन से ही अपनी जाति के पेशे को थोड़ा-बहुत सीख लेते हैं और अपनी जाति के परम्परागत पेशे में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं।

(४) जीवन-साथी के चुनाव में सुविधा—जाति-प्रथा इस बात का निश्चय कर देती है कि किस समूह में किस व्यक्ति के साथ विवाह सम्भव है और उस समूह में किस व्यक्ति के साथ असम्भव है और किन-किन प्रतिबन्धों का पालन करना है। इससे अपने जीवन-साथी के चुनने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

(५) सामाजिक सुरक्षा—जाति-प्रथा अपने सदस्यों के लिए सुरक्षा प्रदान करती है। यदि जाति के सदस्यों पर कोई आपत्ति आ जाती है तो जाति अपने संगठन तथा अपनी पंचायत द्वारा उसकी सहायता करती है। अपनी जाति वालों के साथ लोगों को बड़ी सहानुभूति रहती है और वे एक-दूसरे की सहायता करने के लिए उद्यत रहते हैं।

(६) व्यवहारों पर नियन्त्रण—प्रत्येक जाति के अपने नियम तथा प्रतिबन्ध होते हैं और इनके द्वारा प्रत्येक जाति अपने सदस्यों के कार्यों तथा व्यवहारों पर नियन्त्रण रखती है। यदि कोई व्यक्ति अवांछनीय कार्य करता है तो वह बिरादरी के बाहर निकाल दिया जाता है।

(७) धार्मिक भावनाओं की रक्षा—जाति का अपने सदस्यों के धार्मिक जीवन पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक जाति की अपनी अलग-अलग धार्मिक विधियाँ होती हैं और प्रायः उसके अलग-अलग देवी-देवता भी होते हैं। उन विधियों के अनुसार ही उस जाति के लोगों को आचरण करना पड़ता है और उन देवी-देवताओं में उनका प्रबल विश्वास हो जाता है।

(८) रक्त की शुद्धता—जाति-प्रथा से रक्त की शुद्धता को बनाये रखने में बड़ी सहायता मिलती है। चूँकि प्रत्येक जाति के लोग अपनी ही बिरादरी में शादी करने के लिए विवश रहते हैं, क्योंकि गैर-बिरादरी में शादी करने पर वे जाति के बाहर कर दिये जायेंगे, अतएव रक्त की शुद्धता बनी रहती है और रक्त का मिश्रण नहीं होता।

(९) संस्कृति की रक्षा—प्रत्येक जाति की अपनी संस्कृति होती है। उसके अपने रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार तथा खान-पान होते हैं। यह संस्कृति आगामी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और उसकी निरन्तरता बनी रहती है और वह सुरक्षित रहती है।

(१०) **सामुदायिक भावना का जागरण**—जाति-प्रथा ने सामुदायिक भावना के जागरण में बड़ी सहायता दी है। जाति का प्रत्येक सदस्य अपनी जाति की उन्नति चाहता है और उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। प्रत्येक जाति के लोग अपनी जाति के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार के संगठन बना लेते हैं और सामूहिक रीति से अपनी जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं।

(११) **समाज के विकास तथा उसकी सुरक्षा में सहायक**—जाति-प्रथा हिन्दू समाज को उन्नत बनाने तथा उसे सुरक्षित रखने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। जाति-प्रथा ने समस्त हिन्दू जाति को एक सूत्र में बाँध रक्खा है और जब कभी विदेशी आक्रमणकारियों ने हिन्दू-जाति को विनष्ट करने का प्रयत्न किया तब हिन्दुओं ने अपनी जाति-प्रथा के बन्धनों को अत्यन्त कठोर बना कर अपने धर्म तथा अपनी संस्कृति की रक्षा की। हिन्दुओं ने विदेशियों को म्लेच्छ कहा और अपने रक्त की शुद्धता पर बल देकर उसे सुरक्षित रखने का यथा-शक्ति प्रयत्न किया।

(१२) **श्रम विभाजन की सुविधा**—जाति-प्रथा ने श्रम-विभाजन की भी सुविधा पैदा कर दी है। यद्यपि जाति-प्रथा व्यवसाय का द्योतक नहीं है परन्तु अनेक उपजातियों के निर्माण का आधार व्यवसाय ही रहा है; बढ़ई, लोहार, कुम्हार, मेहतर आदि। जाति-प्रथा ने यह विश्वास पैदा कर दिया है कि पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य निश्चित होता है। इस विश्वास के कारण ही मेहतर आदि नीच-से-नीच कार्य को सन्तोषपूर्वक करते हैं। इस विश्वास के कारण लोग अच्छे-अच्छे कर्मों के करने का प्रयत्न करते हैं जिससे अगले जन्म में वे किसी ऊँची जाति में जन्म लें।

(१३) **शिक्षा का कार्य**—जाति-प्रथा शताब्दियों से शिक्षा के कार्य में भी बड़ा योग दे रही है। जाति-प्रथा द्वारा अनेक व्यवसायों का निर्णय हो जाता है, अर्थात् जाति-प्रथा ने अनेक पेशों को परम्परागत बना दिया है। जहाँ पेशे वंशानुगत हैं वहाँ व्यावसायिक शिक्षा घर में ही मिल जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस जाति-प्रथा की इतनी तीव्र आलोचना की जाती है वह गुणों से रिक्त न थी। इसी से स्मिथ महोदय ने लिखा है, "वह संस्था जो सहस्त्रों वर्षों से बनी चली आ रही है और प्रबल विरोध होने पर भी इस प्रायद्वीप में कमोरिन अन्तरीप तक फैल गई, अवश्य ही गुण-सम्पन्न रही होगी। अन्यथा इसका अस्तित्व बना न रहता और भारत की सीमा के अन्दर सर्वत्र प्रचार न हुआ होता।"[1]

---

[1] "An institution which has lasted for thousands of years, and has forced its passage down through the peninsula all the way to Cape Comorin in the face of the strongest opposition, must have merits to justify its existence and universal prevalence within the limits of India."

—V. A. Smith.

जाति-प्रथा से हानियाँ—जाति-प्रथा ने धीरे-धीरे ऐसा जटिल रूप धारण कर लिया कि हिन्दू-समाज को इससे बड़ी हानियाँ हुईं। जाति-प्रथा के प्रमुख दोष निम्नांकित हैं:—

(१) **व्यवसाय के परिवर्तन में कठिनाई**—जाति-प्रथा से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के पेशे का निश्चय होता है। अतएव किसी अन्य पेशे को करने में उसे कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण चमड़े का व्यवसाय न करेगा चाहे उसे उस व्यवसाय से कितना ही अधिक लाभ क्यों न हो।

(२) **कार्य कुशलता में बाधा**—जाति-प्रथा में व्यवसाय का निश्चय योग्यता तथा क्षमता के आधार पर नहीं होता वरन् जन्म के आधार पर होता है। अतएव चाहे उस आदमी में अपने परम्परागत व्यवसाय को करने की क्षमता तथा रुचि हो अथवा नहीं, उसे विवश होकर उस कार्य को करना पड़ता है। इससे कार्य-कुशलता में बाधा पड़ती है।

(३) **ऊँची जाति के अत्याचार**—जाति-प्रथा समाज को ऊँची-नीची कोटियों में बाँध देती है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने को ऊँची जाति का और वैश्यों तथा शूद्रों को नीची जाति का समझते हैं। इससे वे अपनी उच्चता पर बड़ा गर्व करते हैं और निम्नजाति वालों के साथ भाँति-भाँति के अत्याचार करते हैं। शूद्रों के साथ प्रायः बड़े भयानक अत्याचार किये गये हैं।

(४) **निम्न जाति द्वारा धर्म परिवर्तन**—ऊँची जाति के लोगों के अत्याचारों के कारण निम्न-जाति के सहस्रों व्यक्तियों ने हिन्दू-धर्म को छोड़ दिया और वे ईसाई तथा मुसलमान बन गये, क्योंकि इन धर्मों में उन्हें समानता का स्थान मिल गया था।

(५) **अस्पृश्यता**—जाति-प्रथा के कारण ही हिन्दू-समाज में अस्पृश्यता उत्पन्न हो गई। शूद्र लोग हिन्दू-समाज में बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं और उन्हें छूना पाप समझा जाता है। अस्पृश्यता हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा कलङ्क है।

(३) **जातिवाद का प्रकोप**—जाति-प्रथा ने हिन्दू-समाज को अनेक वर्गों में विभक्त कर दिया है जो एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। जातिवाद हिन्दू-जाति के लिए अभिशाप-सा बन गया है।

(७) **राष्ट्रीयता में बाधक**—जाति-प्रथा ने जातिवाद को जन्म दिया है जिससे लोग अपनी जाति के ऊपर नहीं उठ पाते। वे प्रायः राष्ट्र के हित को भूल जाते हैं और अपनी जाति के हित को सर्वोपरि रखते हैं। जाति-प्रथा ने ऊँच-नीच के भाव पैदा कर हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

(८) **अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण**—जाति-प्रथा के कारण हमारे समाज में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हो गई हैं। बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह पर रोक आदि कुप्रथाएँ जाति-प्रथा के कारण ही हिन्दू-समाज में पैदा हो गई हैं।

जाति-प्रथा की वर्तमान स्थिति—आधुनिक काल में धीरे-धीरे जाति-प्रथा के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं। पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगिक उन्नति, स्त्रियों की शिक्षा,

यातायात के साधनों में वृद्धि, विज्ञान की उन्नति, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आन्दोलन से जाति-प्रथा के बन्धन के ढीले करने में बड़ी सहायता मिली है। सरकार ने भी जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करने में बड़ा योग दिया है । जाति-प्रथा के बन्धन ढीले होने का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व कम हो गया है, विवाह-सम्बन्धी नियम बदलते जा रहें हैं । भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटते जा रहे हैं और सहभोज धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है । व्यवसाय-सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी हटते जा रहे हैं और हरिजनों की दशा में धीरे-धीरे सुधार होता जा रहा है ।

आश्रम का अर्थ—आश्रम शब्द संस्कृत की श्रम् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है प्रयास अथवा परिश्रम करना । आश्रम जीवन का वह विभाजन है जिसमें मनुष्य प्रयास अथवा परिश्रम करता है ।

चार आश्रम—आश्रम चार हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास । जब बालक का यज्ञोपवीत हो जाता था वह गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन करने चला जाता था और वहाँ पर ब्रह्मचर्य तथा तप का जीवन व्यतीत करता था । इसी को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे । विद्याध्यन के पश्चात् ब्रह्मचारी अपने घर लौट आता था और अपना विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था । इसी को गृहस्थाश्रम कहते थे । व्यावहारिक दृष्टि से गृहस्थाश्रम का सबसे अधिक महत्त्व था क्योंकि अन्य तीन आश्रमों के लोगों का भरण-पोषण गृहस्थ ही करता था । गृहस्थाश्रम में सांसारिक सुखों का उपभोग किया जाता था, परन्तु कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों का पालन भी करना पड़ता था । गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम आरम्भ होता था । इस आश्रम में जंगल में जाकर तपस्या तथा चिन्तन करके वह सांसारिक बन्धनों से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करता था । अन्त में वृद्ध हो जाने पर वह अपनी कुटी छोड़कर संन्यासाश्रम में प्रवेश करता था और परिव्राजक बन जाता था । इस अवस्था में वह संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता था ।

आश्रम-व्यवस्था का आधार—आश्रम-व्यवस्था के अनुसार जीवन का बड़ा ही वैज्ञानिक विभाजन किया गया था और इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों ही का कल्याण था । हमारे चार ऋण इस व्यवस्था के आधार बतलाये गये हैं यह चार ऋण देवताओं के, ऋषियों के, पितरों तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति होते हैं । ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ज्ञानार्जन करके वह ऋषियों के ऋण से मुक्त होता था । गृहस्थाश्रम में रहकर और संतान पैदा करके वह पितरों के ऋण से मुक्त होता था । वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर और देवताओं की पूजा तथा यज्ञ कर वह देवताओं के ऋण से मुक्त होता था । संन्यासाश्रम में प्रवेश कर अपना सारा समय मानव के कल्याण करने में लगा कर मनुष्य लोगों के ऋण से मुक्त होता था । आश्रम का सम्बन्ध चारों पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से भी माना जाता है । ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध धर्म से गृहस्थ का सम्बन्ध अर्थ तथा काम से और वानप्रस्थ तथा संन्यास का सम्बन्ध मोक्ष से था ।

अध्याय १०

महाकाव्यों का काल

"The Ramayana and the Mahabharata thus embody a mass of floating legends and bardic lauds recounting the triumphs and reverses in war and love, of ancient heroes and heroines."

—Dr. R. S. Tripathi.

महाकाव्य का अर्थ—महाकाव्य दो शब्दों से मिल कर बना है अर्थात् महा तथा काव्य। महा का अर्थ होता है बहुत बड़ा और काव्य का अर्थ होता है छन्दोबद्ध रचना। अतएव महाकाव्य का शाब्दिक अर्थ हुआ बड़े आकार की छन्दोबद्ध रचना। परन्तु केवल बृहत् आकार से ही कोई रचना महाकाव्य नहीं कहलाती है। व्यापक अर्थ में महाकाव्य एक विशेष प्रकार की रचना है जिसकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। यह समस्त देश तथा समस्त जाति की स्थायी सम्पत्ति होती है। इसमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का समावेश होता है। इसमें युद्धों की प्रधानता होती है और इनमें एक ही प्रधान युद्ध होता है जिसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। इसका नायक क्षत्रिय तथा राज-वंश का होता है और वह कोई दिव्य पुरुष होता है। महाकाव्य का नाम नायक अथवा कथावस्तु के नाम पर होता है। जीवन के किसी एक पक्ष पर प्रकाश न डाल कर इसमें सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या रहती है। महाकाव्य का उद्देश्य आदर्श की स्थापना करना होता है।

हमारे महाकाव्य—महाकाव्य की जो विशेषताएँ ऊपर बतलाई गई हैं वे सभी रामायण तथा महाभारत में पाई जाती हैं। यह दोनों ही ग्रन्थ बड़े विशालकाय हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ समस्त भारत तथा समस्त हिन्दू जाति की स्थायी सम्पत्ति माने जाते हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में हमारे प्राचीन वैदिक आदर्शों का समावेश है। दोनों ही में युद्धों का वर्णन है। रामायण में राम तथा रावण के और महाभारत में कौरव तथा पाण्डवों के युद्धों का वर्णन है। इन दोनों ही युद्धों का हमारे देश पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। राम की विजय और रावण की पराजय से आर्य सभ्यता का दक्षिण भारत में प्रचार हुआ और महाभारत के युद्ध से धर्म तथा सत्य की भारतीय समाज में पुनर्स्थापना हुई। इन दोनों ग्रन्थों के नायक क्षत्रिय तथा राज-वंश के हैं और राम तथा युधिष्ठिर दोनों ही दिव्य-पुरुष हैं। रामायण का नाम उसके नायक और महाभारत का नाम उसकी कथा-वस्तु पर है। चूंकि इन दोनों ग्रन्थों में महाकाव्य के सभी गुण

विद्यमान हैं अतएव दोनों हमारे देश के ऐतिहासिक महाकाव्य माने जाते हैं और इन्हीं के काल को महाकाव्यों का काल कहा जाता है।

महाकाव्यों का काल—महाकाव्यों के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसका कारण यह है कि दोनों ग्रन्थ न तो किसी एक व्यक्ति की रचना हैं और न एक निश्चित समय में लिखे गये थे। रामायण के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि बाल-काण्ड तथा उत्तर-काण्ड बाद में जोड़े गये हैं क्योंकि इन दोनों काण्डों में राम ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं और शेष काण्डों में मनुष्य के रूप में। इसी प्रकार महाभारत की मूल कथा में समय-समय पर परिवर्तन होता गया है। खोज से यह पता लगा है कि रामायण की रचना महाभारत से पहिले हुई थी क्योंकि रामायण तथा उसके रचयिता का उल्लेख तथा राम की कथा का सार महाभारत में मिलता है परन्तु रामायण में महाभारत के किसी पात्र अथवा घटना का उल्लेख नहीं मिलता। विद्वानों की धारणा है कि रामायण की रचना वैदिक काल के उपरान्त तथा बौद्ध-काल के पहिले हुई थी। सम्भवतः इसकी रचना ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुई थी। महाभारत का जो वर्तमान स्वरूप हमें प्राप्त है, सम्भवतः वह चौथी सदी ई० पू० में लिखा गया था, परन्तु मूल महाभारत का रचना-काल १४०० ई० पू० से १००० ई० पू० माना जाता है। रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि तथा महाभारत की रचना महर्षि व्यास ने की थी। रामायण में अयोध्या के राजा श्री रामचन्द्र जी का पावन चरित्र अंकित किया गया है और महाभारत में कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है। अब इन दोनों ग्रन्थों की कथा का संक्षिप्त परिचय दे देना स्थान-संगत होगा।

रामायण की कथा—रामायण दो शब्दों से मिल कर बना है अर्थात् राम तथा अयण। राम एक महापुरुष थे और अयण का अर्थ है घर। रामायण उस ग्रन्थ का नाम है जिनमें महापुरुष श्री रामचन्द्र जी की जीवन-कथा का वर्णन है। रामचन्द्र जी अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र थे जो इक्ष्वाकु-वंशीय क्षत्रिय थे और अयोध्या में शासन करते थे। राजा दशरथ के तीन रानियाँ कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी थीं। कौशल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और कैकेयी के भरत नामक पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें राम सबसे बड़े थे। जब राजा दशरथ वृद्ध हो गये तब उन्होंने राम को अपना उत्तराधिकारी बनाने तथा उनका राज्याभिषेक करने का निश्चय किया। अपनी चेरी मंथरा के कहने से रानी कैकेयी ने इस शुभ कार्य में विघ्न पैदा कर दिया। एक बार राजा दशरथ ने रानी कैकेयी को दो वर देने का वचन दिया था। रानी कैकेयी ने एक वर से राम को चौदह वर्ष का वनवास और दूसरे से अपने पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की माँग की। राजा दशरथ को वचनबद्ध होने के कारण ये दोनों ही वर स्वीकार करने पड़े। रामचन्द्र ने अपने पिता की आज्ञा को स्वीकार कर लिया और अपने छोटे भाई लक्ष्मण तथा अपनी पत्नी सीता के साथ जंगल को चले गये। महाराज दशरथ की पुत्र-शोक में मृत्यु हो गई। रानी कैकेयी की भी इच्छा की पूर्ति न हुई क्योंकि भरत ने राज्य

लेना स्वीकार नहीं किया, परन्तु मन्त्रियों के बहुत समझाने-बुझाने पर रामचन्द्र जी के वनवास काल तक उनकी खड़ाऊँ को सिंहासन पर रख कर राज-काज को सँभालने के लिए तैयार हो गये। जंगल में सीता जी को लंका का राजा रावण चुरा ले गया जो राक्षस था। उसने सीता जी को लंका की अशोक-वाटिका में रखा। राम तथा लक्ष्मण इस दुर्घटना से बड़े दुःखी हुए और सीता जी की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। इसी समय सुग्रीव, हनुमान, जामवन्त आदि बन्दरों से राम की मैत्री हो गई और इन लोगों ने सीता जी की खोज आरम्भ की। हनुमान सीता जी को ढूँढ़ते हुए लंका पहुँचे। वहाँ पर वे अशोक-वाटिका में सीता जी से मिले और उन्हें आश्वासन देकर और लंका को जला कर रामचन्द्र जी के पास लौट आये। अन्त में राम तथा रावण में भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण परास्त हुआ और मारा गया। राम ने रावण के भाई विभीषण को लंका का राजा बना दिया और सीता जी को साथ लेकर चौदह वर्ष बाद अयोध्या लौट आये। वहाँ पर भरत ने उनका बड़ा स्वागत किया और उनका राज उन्हें सौंप दिया। राम अयोध्या के राजा हो गये और शासन करने लगे। चूँकि सीता जी कुछ दिनों तक लंका में थीं अतएव उनकी पवित्रता की जाँच करने के लिए अग्नि-परीक्षा हुई। उसमें वह सफल रहीं, परन्तु फिर भी जनता का संदेह दूर न हुआ। लोक-निन्दा के भय से राम ने सीता जी को निर्वासित कर दिया। सीता जी जंगल में जाकर वाल्मीकि मुनि के आश्रय में रहने लगीं। उस समय सीता जी गर्भवती थीं। वहीं पर मुनि के आश्रम में लव तथा कुश नामक उनके दो पुत्र हुए। जब रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ किया तब इन दोनों राजकुमारों ने घोड़े को बाँध लिया। फलतः राम से इन दोनों राजकुमारों का भीषण युद्ध हुआ। अन्त में राम ने उन्हें अपना पुत्र तथा उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। सीता जी पृथ्वी में समा गईं। इस प्रकार राम की कथा का अन्त होता है।

महाभारत की कथा—महाभारत दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् महा तथा भारत। हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल में भरत नाम की एक जाति थी। उस जाति के लोग भारत कहलाते थे। कौरव तथा पाण्डव इसी भारत वंश के थे। अतएव इन भारतवंशियों के बीच जो युद्ध हुआ वह भारत के नाम से पुकारा गया। चूँकि यह अपने समय का सबसे बड़ा युद्ध था अतएव इसे महाभारत का नाम दिया गया। इस प्रकार महाभारत उस ग्रन्थ का नाम है जिसमें कौरवों तथा पांडवों के युद्ध का वर्णन है। भारतवंशी राजा शान्तनु हस्तिनापुर में शासन करते थे। शान्तनु के तीन पुत्र थे अर्थात् भीष्म, चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य। भीष्म आजीवन ब्रह्मचारी रहे और चित्रांगद की एक युद्ध में मृत्यु हो गई। अतएव शान्तनु की मृत्यु के बाद विचित्रवीर्य हस्तिनापुर के राजा हुए। विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे। बड़े का नाम धृतराष्ट्र था और छोटे का पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्म के अन्धे थे। अतएव विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरान्त पाँडु ही सिंहासन पर बैठे। दुर्भाग्यवश पांडु की अकालमृत्यु हो गई। अतएव विवश होकर धृतराष्ट्र को शासन का कार्य अपने हाथ में ले लेना पड़ा।

पाण्डु के पाँच पुत्र थे, अर्थात् युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल तथा सहदेव; जो पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे जो कौरव कहलाते थे और जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था। धृतराष्ट्र ने राजकुमारों को शस्त्र-विद्या सिखाने के लिए द्रोणाचार्य नामक ब्राह्मण को रक्खा जो रण-विद्या में बड़े कुशल थे। शस्त्र विद्या में पाण्डव लोग कौरवों से कहीं अधिक कुशल हो गये, अतएव दुर्योधन उनसे ईर्ष्या करने लगा। युधिष्ठिर अपनी धर्मनिष्ठा तथा अपने सदाचार के कारण धृतराष्ट्र के बड़े प्रिय बन गये। अतएव धृतराष्ट्र ने उन्हीं को युवराज बना दिया। इससे दुर्योधन के क्रोध की सीमा न रही और उसने पाण्डवों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। अपनी रक्षा के लिए पाण्डव हस्तिनापुर छोड़कर चले गये और इधर-उधर घूमने लगे। घूमते-घूमते वे पांचाल देश के राजा द्रुपद के यहाँ पहुँचे जिन्होंने अपनी कन्या द्रौपदी का स्वयंवर किया था। अर्जुन धनुर्विद्या में बड़े निपुण थे। वे द्रौपदी को प्राप्त करने में सफल हुए परन्तु द्रौपदी सभी भाइयों की पत्नी बन गई। अर्जुन ने मथुरा तथा द्वारिका के राजा कृष्ण की बहिन सुभद्रा के साथ भी अपना विवाह किया। जब घूम-फिर कर पाण्डव लोग फिर हस्तिनापुर आये तो उन्होंने अपना आधा राज्य धृतराष्ट्र से माँगा। धृतराष्ट्र ने कौरव राज्य के दक्षिण का प्रदेश पाण्डवों को दे दिया और वहीं पर वे शासन करने लगे। इससे दुर्योधन की ईर्ष्या और बढ़ गई। दुर्योधन ने षड्यंत्र रचा और युधिष्ठर को जुआ खेलने के लिए बुलाया। युधिष्ठिर उसके जाल में फँस गये और जुए में अपना सब कुछ खो बैठे। वे द्रौपदी को भी जुए में हार गये। दुर्योधन ने सभा में द्रौपदी को नग्न करके अपमानित करने का प्रयत्न किया इससे पांडवों को बड़ा दुःख हुआ। इसी समय धृतराष्ट्र ने यह निर्णय किया कि पाण्डव बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करें। पाण्डवों ने वृद्ध राजा की आज्ञा को स्वीकार कर लिया और तेरह वर्ष तक इधर-उधर घूमते रहे। तेरह वर्ष के बाद वे वापस आये और दुर्योधन से अपना राज्य माँगा। परन्तु दुर्योधन सुई की नोक भर भी भूमि देने के लिए उद्यत न हुआ। कृष्ण ने समझौता कराने का प्रयत्न किया परन्तु वे भी असफल हुए। अन्त में युद्ध अनिवार्य हो गया और कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों तथा पाण्डवों की सेनाओं में महाभारत का भीषण संग्राम हुआ। इस युद्ध में पाण्डवों की विजय और कौरवों की पराजय हुई। युधिष्ठिर हस्तिनापुर के राजा हो गये और बहुत दिनों तक शासन करने के उपरान्त अपना राज्य अपने पौत्र परीक्षित को देकर अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ हिमालय की शरण में चले गये। वास्तव में महाभारत का युद्ध धर्म तथा अधर्म का युद्ध था और अन्त में धर्म को विजय मिली।

महाकाव्यों की ऐतिहासिकता—अब इस बात पर विचार कर लेना है कि रामायण तथा महाभारत में जिन कथाओं का वर्णन है वे वास्तव में ऐतिहासिक घटनाएँ है अथवा कवियों के मस्तिष्क की कोरी कल्पनाएँ हैं। इस विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते हैं और राम की कथा तथा कौरव-पाण्डव युद्ध को ऐतिहासिक घटना मानते हैं। इन विद्वानों के विचार में सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा दशरथ तथा राम का अयोध्या में शासन करना ऐतिहासिक सत्य

है और यदि राम के देव-स्वरूप को अलग कर दिया जाय तो राम का इक्ष्वाकु-वंशीय होना तथा अयोध्या में शासन करना भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इसी प्रकार महाभारत के विषय में इन विद्वानों का कहना है कि कुरु वंश एक ऐतिहासिक वंश है और अर्जुन, जनमेजय, परीक्षित आदि ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिनका उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त महाभारत के युद्ध में कौरवों तथा पाण्डवों के अतिरिक्त अन्य राजाओं ने भी भाग लिया था, जिनका ऐतिहासिक अस्तित्व है अतएव महाकाव्यों की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। परन्तु अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। उनके विचार में रामायण तथा महाभारत कोरे धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ हैं और इनमें प्राचीन हिन्दू-आदर्शों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ठीक भी यही प्रतीत होता है। महाकाव्यों की रचना लोक-भाषा संस्कृत में की गई है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थों का सम्बन्ध जन-साधारण से था जिनकी समझ में वैदिक संस्कृत नहीं आती थी और उन्हीं के कल्याण के लिए इनकी रचना की गई थी। वास्तव में कवियों ने प्राचीन आदर्शों तथा सिद्धान्तों को मानव मुख से इन ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है जिससे जन-साधारण को उन आदर्शों तथा सिद्धान्तों का बोध हो जाय और उनका अनुकरण कर अपना तथा समाज का कल्याण कर सकें। मानव-मुख से प्रतिपादित करने का ध्येय यही प्रतीत होता है कि जनता में विश्वास हो जाय कि यदि इन ग्रन्थों में वर्णित मनुष्य अपने को इतना दिव्य वना सकते थे तो हम भी अपने को ऐसा दिव्य बना सकते हैं। ऐतिहासिक पात्रों के चयन करने का यही कारण प्रतीत होता है। रामायण में कवि ने राम को एक आदर्श पुरुष और सीता को एक आदर्श नारी के रूप में कल्पित किया है और सभी प्राचीन आदर्शों को उनमें सन्निहित कर दिया है जिससे समाज के नर नारी उन्हीं को आदर्श मानकर उन्हीं के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करें। इसमें व्यक्ति तथा समाज दोनों ही का कल्याण निहित था। इसी प्रकार राम तथा रावण का युद्ध उत्तरी भारत के आर्यों तथा दक्षिण-भारत के अनार्यों अथवा द्रविड़ों के युद्ध का रूपक मात्र है। राम ने वानरों की सहायता से राक्षसों पर विजय प्राप्त की। इसका केवल यही तात्पर्य है कि उत्तर के पूर्ण सभ्य आर्यों ने अर्द्ध-सभ्य अनार्यों की सहायता से, जिनमें आर्य सभ्यता का प्रचार हो चुका था, निरे असभ्य अनार्यों को परास्त किया इसी प्रकार कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध केवल धर्म तथा अधर्म के युद्ध का रूपक मात्र है। युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक हैं और दुर्योधन अधर्म का प्रतिरूप है। इस धर्म तथा अधर्म के युद्ध में कृष्ण जी, जो ईश्वर स्वरूप हैं, धर्म का साथ देते हैं, अधर्म का नहीं। कवि ने इस प्रकार का रूपक बाँध कर इस बात को प्रदर्शित किया है कि भगवान् सदैव धर्म का साथ देते है, अधर्म का नहीं। अन्त में धर्म की ही विजय होती है परन्तु यह विजय बहुत बड़ी क्षति के उपरान्त प्राप्त हुई। यहाँ पर कवि ने यह आदर्श रक्खा है कि क्षति की चिन्ता न करके धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना चाहिए। जिसमें धर्म के पक्ष वालों को दैवी सहायता प्राप्त होगी और अन्त में धर्म की विजय निश्चित है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। महाभारत का प्रारम्भिक नाम जय-युद्ध है,

महाभारत इसका बाद का नाम है। चूँकि धर्म की विजय दिखाना कवि का प्रधान लक्ष्य था अतएव इसे जय-युद्ध कहा गया है। गीता में जो उपदेश दिये गये हैं वे सभी उपनिषदों तथा अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। गीता को दार्शनिक ग्रन्थ नहीं समझना चाहिए। यह केवल एक धार्मिक ग्रन्थ है। गीता में मोक्ष का बड़ा ही सीधा तथा सरल मार्ग बतलाया गया है जिस पर जन-साधारण भी चल सकते हैं। यह मार्ग भक्ति का है। यज्ञ का सहारा केवल धनवान् लोग ले सकते थे, क्योंकि यज्ञ में बड़ा धन व्यय करना पड़ता था। यज्ञ-मार्ग पर केवल बड़े-बड़े विद्वान् ही चल सकते थे परन्तु भक्ति के मार्ग पर साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी चल सकते थे। अतएव सत्य यही प्रतीत होता है कि महाकाव्यों की रचना करने वाले महर्षियों ने प्राचीन आदर्शों का जन-साधारण में प्रचार करने के लिए अपनी कल्पना शक्ति से इन ग्रन्थों की रचना की थी। इन पर ऐतिहासिक आवरण डालने का यह कारण था कि यह जन-साधारण के लिये लिखे गये थे। अतएव उनमें विश्वास उत्पन्न करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

महाकाव्यों का महत्व—महाकाव्यों का भारतीयों के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। मैकडोनल्ड महोदय ने रामायण की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "जब तक पर्वत-श्रेणियाँ विद्यमान रहेंगी और सरिताएँ पृथ्वी पर प्रवाहित होती रहेंगी तब तक रामायण मानव के अधरों पर विद्यमान रहेगी।'...यह दोनों ग्रन्थ अर्थात् रामायण तथा महाभारत लौकिक-संस्कृत में लिखे गये हैं। लौकिक-संस्कृत का तात्पर्य उस संस्कृत से है जो साधारण लोगों की भी समझ में आ जाय। वास्तव में इन्हीं दो ग्रन्थों से हमारे देश में लौकिक-संस्कृत में साहित्य-रचना आरम्भ हुई क्योंकि रामायण के रचयिता वाल्मीकि आदि कवि माने गये हैं। जिस साहित्य-शैली का इन ग्रन्थों में प्रारम्भ किया गया वही बाद में लिखे गये काव्य-ग्रन्थों के लिए आदर्श शैली बन गई और उसी का अनुसरण होने लगा। इन्हीं दो ग्रन्थों के आधार पर महाकाव्य की परिभाषा बनाई गई और उसकी विशेषताओं को निश्चित किया गया। इन ग्रन्थों में इतनी अधिक सामग्री विद्यमान है और ये इतने सम्पन्न हैं कि प्रायः सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के लिए इनसे सामग्री प्राप्त होती रही है। शैली तथा सामग्री दोनों ही के दृष्टिकोण से हमारे महाकाव्यों का बहुत बड़ा महत्त्व है। सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से भी इनका कुछ कम महत्त्व नहीं हैं। हमारे पुराने आदर्श इन्हीं ग्रन्थों द्वारा जन-साधारण तक पहुँचाये गये हैं। भारतीय जनता ने इन्हीं ग्रन्थों में सदैव अपने आदर्श पाये हैं। शायद ही संसार के किसी अन्य महाकाव्य ने जन-साधारण को इतना अधिक प्रभावित किया हो जितना रामायण तथा महाभारत ने। यह भारतीयों के धार्मिक ग्रन्थ बन गये हैं और बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

---

1. "As long as mountain ranges stand, and rivers flow upon the earth, so long will this Ramayan be told upon the lips of men."

—Macdonald.

इनकी लोक-प्रियता अद्वितीय है और इनका प्रभाव अनन्त है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इनका यह महत्त्व है कि तत्कालीन सांस्कृतिक दशा जानने के लिए इन ग्रन्थों से अपार सामग्री प्राप्त हो जाती है। अब तत्कालीन सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

महाकाव्यों के काल की सभ्यता तथा संस्कृति—रामायण तथा महाभारत के अध्ययन से हमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा धार्मिक दशा के जानने के लिए काफी सामग्री प्राप्त हो जाती हैं। यद्यपि ये दोनों धार्मिक ग्रन्थ हैं और इनमें अतिशयोक्ति की भरमार है, परन्तु सत्य के संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है जो निम्नांकित है :—

राजनीतिक दशा—वैदिक काल के आर्य-जनपद महाकाव्यों के काल में भी विद्यमान थे परन्तु इनके आकार अब बड़े हो गये थे। महाकाव्यों के काल में धीरे-धीरे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। इस काल के शक्तिशाली राजा अन्य राजाओं पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती सम्राट् बनने का प्रयत्न किया करते थे। अपनी विजय के उपलक्ष्य में यह सम्राट् राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप यद्यपि बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हो गयी थी परन्तु विजित राज्यों को समाप्त नहीं किया जाता था वरन् उसी राज-वंश के किसी व्यक्ति को लौटा दिया जाता था जो विजयी राजा का सामन्त बन जाता था। इस प्रकार इस युग में सामन्तीय प्रथा का आरम्भ हुआ। इस काल में दो प्रकार की शासन-व्यवस्था प्रचलित थी अधिकांश राज्यों में राजतंत्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु कहीं-कहीं गणतन्त्रात्मक व्यवस्था का भी प्रचलन था। जिन राज्यों में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी उनमें राजा के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्य का अधिकारी होता था। इसी नियम के अनुसार राजा दशरथ ने राम को युवराज बनाया था। परन्तु यदि युवराज में कोई दोष होता था तो वह सिंहासन पर नहीं बिठाया जाता था। जन्म से अन्धे होने के कारण धृतराष्ट्र सिंहासन पर नहीं बिठाये जा सके और उनके स्थान पर उनके छोटे भाई पाण्डु को सिंहासन पर बिठाया गया था। प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य होता था और जो राजा अपनी प्रजा को कष्ट पहुँचाता था वह पागल कुत्ते की भाँति मार डाला जा सकता था। राजा को सबके साथ निष्पक्ष न्याय करना पड़ता था। पुरोहित का अब भी आदर सम्मान होता था। परन्तु अब उसका प्रभाव उतना न था जितना वैदिक काल में था। वह केवल धार्मिक मामलों में राजा को परामर्श देता था। राजा को परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् तथा सभा भी होती थी। रामायण में परिषद् का उल्लेख मिलता है जिसके सदस्य राज्य के प्रमुख व्यक्ति थे जो राजा कहलाते थे। महाभारत में राजा की सभा का वर्णन मिलता है जिसमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र, तथा एक सूत होता था। यह सभी सदस्य प्रतिभावान् गुणवान तथा चरित्रवान् व्यक्ति होते थे। यद्यपि सभा सम्राट् को परामर्श देने के लिए होती थी परन्तु कभी-कभी सभा अन्याय को देखते हुए भी मौन रह जाती थी और

सम्राट् का विरोध करने का साहस नहीं करती थी। जिस समय दुर्योधन भरी सभा में द्रौपदी को अपमानित कर रहा था, उस समय सभी बड़े-बड़े धर्माचार्य वहाँ उपस्थित थे परन्तु किसी को दुर्योधन के इस दुष्कर्म का विरोध का साहस न हुआ। न्याय में राजा का बहुत बड़ा हाथ रहा था। न्याय करते समय उसे कुल, जाति तथा रीति-रिवाज का ध्यान रखना पड़ता था। अपराध करने वालों की अग्नि तथा जल-परीक्षा भी होती थी। सीता जी की पवित्रता जानने के लिए उनकी भी अग्नि-परीक्षा हुई थी। विदेशी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा के लिए राजा को एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी। यह सेना चतुरंगिणी होता थी जिसमें पैदल, घोड़े, रथ तथा हाथी होते थे। सेना अक्षौहिणी तथा वाहिनी आदि में विभक्त रहती थी। युद्ध में व्यूह-रचना बहुत बड़ा महत्त्व था। अभिमन्यु को चक्रव्यूह में फँसाया गया था। अर्जुन व्यूह-भेदन में बड़े कुशल थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए कूटनीति तथा छल-बल का बहुत प्रयोग होता था। राम ने बालि को वृक्ष की ओट से मारा था तथा रावण के भाई विभीषण को मिला कर लंका का नाश किया था। दुर्योधन ने लाक्षा-गृह बनवा कर पाण्डवों के विनाश का प्रयत्न किया था। निरस्त्र अभिमन्यु को चक्र-व्यूह में फँसाकर उस बालक की हत्या की गई थी। स्वयं भगवान कृष्ण ने आचार्या द्रोण का हृदयभंग कराने के लिए धर्मराज युधिष्ठर से मिथ्या-भाषण कराया थ कि अश्वत्थामा मर गया। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन राजनीति में कपट तथा कूटनीति का खूब प्रयोग होता था।

सामाजिक दशा—इस युग में यद्यपि सिद्धान्त के रूप में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं था परन्तु व्यावहारिक रूप में जाति-प्रथा के बन्धन जटिल होते जा रहे थे! अभी अन्तर्जातीय विवाह कभी-कभी हुआ करते थे। एक क्षत्रिय राजा ने ब्राह्मण-कन्या के साथ और अन्य क्षत्रिय राजा ने धीवर की कन्या के साथ अपना विवाह कर लिया था। लोग अपनी जाति के व्यवसाय को भी छोड़ने लगे थे। विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मण-वृत्ति को स्वीकार कर लिया था, इसी प्रकार द्रोणा-चार्य यद्यपि ब्राह्मण थे परन्तु उन्होंने क्षात्र-वृत्ति को स्वीकार कर लिया था और कौरवों तथा पाण्डवों को शस्त्र-विद्या सिखाते थे। राम ने निषाद से मैत्री की थी और शबरी के जूठे बेर खाये थे। ब्राह्मणों का राजनीति में अब बहुत कम प्रभाव रह गया था। क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझने लगे थे। वैश्यों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर लिया था और समाज में उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अनेक स्थान पर दास-दासियों का उल्लेख मिलता है इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दास-प्रथा का प्रचलन था। आश्रम-धर्म का इस युग में भी पालन होता था। महाकाव्यों के काल में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी। स्त्री को सभी आपत्तियों का कारण समझा जाता था। परन्तु स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक हाट-बाट जा सकती थीं और वाद-विवादों में भी भाग ले सकती थीं। सती की प्रथा का भी प्रचलन सम्भवतः आरम्भ हो गया था, क्योंकि पाण्डु की दो पत्नियों में से एक सती हो गई थी। राजवंशों में बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था क्योंकि राजा दशरथ के तीन और कृष्ण जी के अनेक रानियाँ

थीं। स्त्रियों का आदर्श बड़ा ऊँचा था। सीता, सावित्री, दमयन्ती, गान्धारी आदि आदर्श महिलाएँ थीं। इस युग में स्वयम्बर की भी प्रथा का प्रचलन था। सीता, दमयन्ती द्रौपदी आदि का विवाह स्वयम्बर द्वारा ही हुआ था। इस काल में नियोग की भी प्रथा थी। नियोग की प्रथा का यह तात्पर्य था कि यदि पति संतान के उत्पन्न करने में असमर्थ हो तो पत्नी किसी अन्य व्यक्ति से संसर्ग करके संतान उत्पन्न कर सकती थी। युधिष्ठिर आदि नियोग द्वारा ही पैदा किये गये थे। बाल-विवाह की प्रथा भी सम्भवतः प्रचलित हो रही थी क्योंकि अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हो गया था।

आर्थिक दशा—महाकाव्यों के काल में भी जीविका का प्रधान साधन कृषि ही था। किसान लोग विभिन्न प्रकार के अन्न, फल तथा तरकारियाँ पैदा किया करते थे। पशु-पालन जीविका का दूसरा प्रधान साधन था। कृष्ण गायें चराया करते थे। राजा युधिष्ठिर के पास असंख्य गायें थीं। घोड़ों तथा हाथियों का युद्धों में प्रयोग होता था। वाणिज्य तथा व्यवसाय भी इस काल में उन्नत दशा में था। व्यापारियों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं और राजनीति तथा समाज दोनों ही में उनका महत्व बढ़ गया था। इस काल में बड़े ही सुन्दर-सुन्दर ऊनी, सूती तथा रेशमी कपड़े बनते थे। धातुओं की भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनती थीं और उनका व्यवसाय होता था। राज्य की ओर से व्यापारियों तथा शिल्पियों को पूरी सहायता दी जाती थी। व्यापारी लोग दूर-दूर से अपना सामान ले आते थे और चुंगी देते थे। जो कर सरकार प्राप्त करती थी उसे वह जनता के कल्याण में खर्च कर देती थी। व्यवसाय तथा व्यापार में उन्नति हो जाने के कारण नगरों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी।

धार्मिक दशा—वैदिक काल की भाँति इस युग में भी यज्ञों का बड़ा प्रचार था और राजा लोग राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ किया करते थे। राजा दशरथ ने अपने पुत्र राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ उन राक्षसों को मारने के लिए भेजा था जो ऋषियों के यज्ञों में विघ्न उत्पन्न किया करते थे। यद्यपि वैदिक काल के देवताओं की पूजा अब भी होती थी परन्तु नये-नये देवी-देवताओं की भी पूजा आरम्भ हो गई थी। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा भी होने लगी थी। गणेश की पूजा आरम्भ हो गई थी। दुर्गा, पार्वती आदि नई-नई देवियों की भी उपासना आरम्भ हो गई थी। वीरों की भी पूजा का प्रचलन तथा अवतारवाद में विश्वास हो गया था। राम तथा कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। भागवत धर्म का भी प्रादुर्भाव इस काल में हो गया था। धीरे-धीरे कर्मवाद तथा भक्ति का भी प्रचार बढ़ता जा रहा था। गीता में निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया है। पुनर्जन्मवाद का इस युग में खूब प्रचार हो रहा था और भगवद् भक्ति को मोक्ष का साधन बतलाया जा रहा था। इन सब का तात्पर्य यह था कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और उसका आगामी जीवन इस जन्म के कर्मों द्वारा निश्चित होता है। परन्तु ईश्वर के प्रसाद में भी बड़ी शक्ति है और यह प्रसाद मनुष्य के कर्म के फल में परिवर्तन कर सकता है। इस प्रसाद को भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

ईरान में क्रान्ति
यूनान में क्रान्ति
चीन " "
भारत " "

अध्याय ११

धार्मिक क्रान्ति का युग

"The sixth century B. C. witnessed a great religious ferment in the world. It was during this age that there prevailed in society general, spiritual and moral unrest and consequently reformers all over the world raised their voice against the existing religious order and endeavoured to reconstruct it on a new basis."

—B. N. Luniya.

क्रान्ति का अर्थ—क्रान्ति शब्द संस्कृत की क्रम् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है गति अथवा चाल। क्रान्ति उस गति को कहते हैं जो समाज में बहुत बड़ी उथल-पुथल मचा देती है। मनुष्य अपने तथा समाज के विकास एवं कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण करता है। परन्तु कालान्तर में उनमें आडम्बर आ जाता है और उनमें अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। तब यह संस्थाएँ जन-साधारण के लिए अभिशाप बन जाती हैं और उनका उन्मूलन आवश्यक हो जाता है। परन्तु समाज में प्रायः ऐसे शक्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं जो इन संस्थाओं का दुरुपयोग कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करते हैं और उनके अस्तित्व को बनाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। यह वर्ग प्रायः रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी होते हैं। साधारण जनता कुछ काल तक इन भ्रष्ट तथा विकृत संस्थाओं के अत्याचारों को मूक होकर सहन करती है क्योंकि इन परम्परागत संस्थाओं के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा होती है और वह सहसा उनके विरुद्ध आन्दोलन करने का साहस नहीं करती। परन्तु प्रत्येक समाज में एक प्रबुद्ध वर्ग भी होता है जो बड़ा ही प्रगतिवादी, विवेकशील तथा स्वतन्त्र विचार का होता है। वह वर्ग सामाजिक दोषों की ओर से चैतन्यशील तथा जागरूक रहता है। वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक समस्याओं पर विचार करने लगता है। इस प्रकार उसके मस्तिष्क में विचारों की उथल-पुथल अथवा क्रान्ति आरम्भ हो जाती है। इसी को बौद्धिक क्रान्ति कहा जाता है। प्रबुद्ध वर्ग ध्वंसात्मक तथा रचनात्मक दोनों प्रकार के विचारों से ओत-प्रोत हो जाता है। उसके मस्तिष्क में दूषित संस्थाओं की कुव्यवस्थाओं, अत्याचारों तथा अन्धविश्वासों का चित्र विद्यमान रहता है जिनका वह विध्वंस करना चाहता है और साथ-ही-साथ उन स्वस्थ एवं कल्याणकारी काल्पनिक संस्थाओं का चित्र भी उसके मस्तिष्क में उपस्थित रहता है जिन्हें वह समाज के कल्याण

के लिए स्थापित करना चाहता है । प्रबुद्ध वर्ग अपनी मानसिक क्रान्ति को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए अपने विचारों को अपने प्रवचनों तथा लेखों द्वारा जनता के सामने उपस्थित करता है । वह दूषित संस्थाओं का अत्यन्त वीभत्स और अपनी काल्पनिक संस्थाओं का अत्यन्त मनोरम एवं कल्याणकारी चित्र जनता के सामने उपस्थित करता है और उसे आन्दोलन करने के लिए प्रोत्साहित करता है । जब जनता पुरानी भ्रष्ट व्यवस्थाओं को उन्मूलित करने के लिए आन्दोलन कर देती है तब उसे जन-क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है । जन-क्रान्ति द्वारा समाज में बहुत बड़े-बड़े राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं । यह परिवर्तन दो प्रकार से सम्पन्न किये जाते हैं । यह शान्तिपूर्वक भी सम्पन्न हो सकते हैं और इनके सम्पन्न करने में भीषण रक्तपात तथा हत्याकांड भी हो सकता है । छठी शताब्दी ई० पू० में हमारे देश में एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई जिसका हमारे देश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा । यह क्रान्ति बड़े ही शान्तिपूर्वक तथा अहिंसात्मक ढंग से सम्पन्न हुई थी ।

क्रान्ति की व्यापकता—छठी शताब्दी ई० पू० न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास में एक महान् क्रान्ति का युग माना जाता है । डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने इस काल के सम्बन्ध में लिखा है "छठी शताब्दी ई० पू० मानव-इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है । यह विभिन्न क्षेत्रों में जो एक-दूसरे से अत्यधिक अलग थे असाधारण मानसिक तथा आध्यात्मिक अशान्ति का युग था ।" जिस समय हमारे देश में यह क्रान्ति आरम्भ हुई उसी समय ईरान, चीन तथा यूनान में भी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सुधार के आन्दोलन चल रहे थे जिनका उन देशों के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा । हमारे देश में छठी शताब्दीं ई० पू० में जो क्रान्ति आरम्भ हुई उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था । इस क्रान्ति का प्रभाव राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । राजनीतिक क्षेत्र में यह मगध के साम्राज्यवाद का युग था । इस समय उत्तरी भारत में सोलह महा-जनपद विद्यमान थे जिनमें परस्पर संघर्ष चला करता था परन्तु थोड़े ही समय में इन छोटे-छोटे राज्यों को विनष्ट कर मगध-साम्राज्य का निर्माण किया गया और राजनीतिक एकता स्थापित करने का स्वप्न सिद्ध हो गया । सामाजिक क्षेत्र में भी यह एक क्रान्ति का युग था । इन दिनों जाति-प्रथा के बन्धन अत्यन्त जटिल हो गये थे और ऊँच-नीच तथा छुआ-छूत की भावना बड़ी प्रबल हो गई थी । ब्राह्मणों की समाज में प्रधानता थी और सर्वत्र उन्हीं का बोल-बाला था । छठी शताब्दी ई० पू० में इन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी आन्दोलन आरम्भ हुआ । जाति-प्रथा का घोर

---

1. "The sixth century B. C. is one of the cardinal epochs in human history. It was an age of extraordinary mental and spiritual unrest in several regions widely apart ."

—Dr. R. S. Tripathi

विरोध किया गया और ऊँच-नीच तथा छुआ-छूत की भावनाओं को दूर करने का भगीरथ प्रयास किया गया। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की प्रधानता का विरोध करना आरम्भ किया और अपने को सर्वोच्च श्रेणी में रखने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी वह एक क्रान्तिकारी युग था। इस काल में साहित्य तथा काल के क्षेत्र में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। उसके पूर्व केवल संस्कृत ही साहित्यिक भाषा समझी जाती थी और उसी में ग्रन्थों की रचना होती थी और धार्मिक उपदेश दिये जाते थे। यह ब्राह्मणों की भाषा थी और वही लोग इसे ठीक से समझ सकते थे। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० में प्राकृत तथा पाली में भी, जो जन-साधारण की भाषा थी, साहित्य-रचना होने लगी और धर्मोपदेश दिये जाने लगे। जैन-धर्म ने प्राकृत को और बौद्ध-धर्म ने पाली को माध्यम बना कर अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। फलतः प्राकृत तथा पाली भाषा में बहुत बड़े साहित्य की रचना हुई जो सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य था। कला में भी बड़े ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। वैदिक काल में केवल मंडपों, यज्ञशालाओं आदि का निर्माण किया जाता था परन्तु इस काल में विहारों, गुहा-मन्दिरों तथा स्तूपों और मूर्तियों का निर्माण बड़े जोरों के साथ आरम्भ हुआ जिससे वास्तु-कला तथा शिल्प-कला में बड़े ही क्रान्तिकारी परिवर्तन आरम्भ हो गये। परन्तु इस काल में सबसे बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन धार्मिक क्षेत्र में हुआ। वैदिक धर्म जिसे ब्राह्मण धर्म तथा सनातन धर्म भी कहते हैं, अत्यन्त जटिल हो गया था और साधारण जनता न उसे समझ सकती थी और न उसका ठीक-ठीक पालन कर सकती थी। केवल ब्राह्मण वर्ग ही उसे समझता था और वही उसका पालन कर सकता था। वैदिक काल में यज्ञ ही मोक्ष के साधन समझे जाते थे परन्तु यह इतने दुरूह हो गये थे और इनमें इतना अधिक धन व्यय करना पड़ता था और इतना अधिक समय लगता था कि साधारण जनता इन्हें कर नहीं सकती थी। अतएव एक अत्यन्त सरल धर्म की आवश्यकता थी जिसे सभी लोग समझ सकें और सभी पालन कर सकें। फलतः सरल मार्ग को ढूंढ़ने के लिए एक भयंकर धार्मिक क्रान्ति क्षत्रियों के नेतृत्व में आरम्भ हुई जो दो प्रधान धाराओं में प्रवाहित हो चली। एक धारा आस्तिक कहलाई जो वैष्णव तथा शैव-धर्म के रूप में प्रस्फुटित हुई है और दूसरी धारा नास्तिक कहलाई जो बौद्ध तथा जैन धर्म के रूप में प्रवाहित हुई। वैष्णव तथा शैव धर्म ने भक्ति तथा उपासना के अत्यन्त सरल मार्ग को और बौद्ध तथा जैन-धर्म ने उससे भी सरल सत्कर्म तथा सदाचरण मार्ग को ढूंढ़ निकाला जो सर्व-साधारण के लिए भी अनुगमनीय था।

क्रान्ति का महत्त्व—ऊपर जिस व्यापक क्रान्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है उसका भारतीयों के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। वास्तव में यह क्रान्ति इतिहास में एक नये युग का आरम्भ करती है और इसका महत्त्व निम्नांकित क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है:—

(१) **राजनीतिक क्षेत्र**—छठी शताब्दी ई० पू० के इतिहास को वैदिक काल का इतिहास कहा जाता है। इस काल का राजनीतिक इतिहास जानने के हमारे एकमात्र साधन धार्मिक ग्रन्थ हैं जिनमें यत्र-तत्र राजनीतिक तथ्य भी बिखरे हुए मिलते हैं। इन्हीं

तथ्यों का संग्रह करके तथा भाषा-शैली के सहारे इस युग के इतिहास का निर्माण किया गया। अतएव यह इतिहास न तो निर्भ्रान्त है और न शृङ्खलाबद्ध। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० के तथा उसके बाद का इतिहास जानने के हमें प्रचुर साधन प्राप्त हो जाते हैं इससे इस काल का राजनीतिक इतिहास असंदिग्ध तथा शृङ्खलाबद्ध हो गया है।

(२) **सामाजिक क्षेत्र**—छठी शताब्दी ई० पू० की क्रान्ति का सामाजिक क्षेत्र में भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस क्रान्ति ने ब्राह्मणों की सत्ता को कम कर दिया और क्षत्रियों के प्रभाव में वृद्धि कर दी। वास्तव में इस क्रान्ति के प्रधान नेता क्षत्रिय ही थे। अतएव उन्होंने अपने को समाज में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस क्रान्ति ने जाति-प्रथा को उन्मूलित कर समाज को समानता के आधार पर फिर से संगठित करने का प्रयत्न किया।

(३) **सांस्कृतिक क्षेत्र**—इस क्रान्ति का सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी बहुत बड़ा महत्त्व है। वैदिक साहित्य केवल संस्कृत भाषा में था जिसमें केवल ब्राह्मण ही लाभ उठा सकते थे परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० तथा उसके बाद का साहित्य लौकिक संस्कृत तथा जन-साधारण की पाली तथा प्राकृत भाषाओं में लिखा गया है। इससे सभी जिज्ञासु लाभ उठा सकते हैं। वैदिककालीन कला पूर्ण-रूप से धर्म-प्रभावित थी परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० की कला में भौतिकता का प्रादुर्भाव हो गया इसके अतिरिक्त इस क्रान्ति के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में भी हो गया है। बड़े-बड़े सुधारक तथा प्रचारक विदेशों में गये और वहाँ पर उन्होंने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया। इससे भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया और उनके साथ निरन्तर विचार-विनिमय चलता रहा!

(४) **धार्मिक क्षेत्र**—इस क्रान्ति का धार्मिक दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्त्व है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप हमारे देश में बड़े-बड़े विचारक, दार्शनिक तथा सुधारक हुए जिन्होंने नई-नई धार्मिक विचार-धाराओं को जन्म दिया और नये-नये धर्मों तथा सम्प्रदायों की स्थापना की जिनका भारतीयों के जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा। इसके पहले वेद प्रामाणिक ग्रन्थ तथा ज्ञान के एकमात्र साधन समझे जाते थे परन्तु अब वेदों की प्रामाणिकता का विरोध होने लगा और तर्क तथा विवेचन को ज्ञान का सच्चा साधन बतलाया गया। पहले यज्ञों तथा बलि को ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना जाता था और इसमें ब्राह्मणों की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी परन्तु अब बिना किसी की सहायता के केवल भक्ति तथा उपासना द्वारा अथवा अहिंसा, सत्कर्म तथा सदाचरण द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती थी। यह नये मार्ग बड़े ही सरल थे। अतएव यह बड़े लोकप्रिय बन गये। इस क्रान्ति ने भारतीय दर्शन की वृद्धि में भी बड़ा योग दिया। स्वतन्त्र चिन्तन तथा विवेचन ने आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसा विशाल साहित्य उत्पन्न कर दिया जो अतुलनीय तथा अवर्णनीय है।

✓क्रान्ति के कारण—जब समाज में विभिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं तब उन दोषों को दूर करने के लिए क्रान्तियाँ होती हैं। ऋग्वैदिक काल के आर्यों का धर्म और समाज बड़ा ही सरल तथा स्वस्थ था। इस काल के आर्य प्रकृति की

पूजा किया करते थे जो सबके लिए अत्यन्त सुगम था। उनके समाज का मूलाधार वर्ण-व्यवस्था थी जो व्यवसाय पर आधारित थी और जिसमें न कोई जटिलता थी और न ऊँच-नीच का भेद-भाव, परन्तु उत्तर-वैदिक काल में आर्यों के धर्म तथा समाज दोनों ही में अनेक दोष उत्पन्न हो गये जो छठी शताब्दी ई० पू० में असह्य हो गये और उनके विरुद्ध एक भयानक क्रान्ति आरम्भ हो गयी। यह सामाजिक तथा धार्मिक विकृतियाँ, जिनके कारण यह क्रान्ति आरम्भ हुई, निम्नांकित थीं—

(१) **साहित्य की जटिलता**—वैदिक संस्कृत बड़ी ही कठिन थी और इसी कठिन संस्कृत में धार्मिक ग्रन्थों की रचना हुई थी। क्लिष्टता के साथ यह साहित्य बड़ा ही विशाल हो गया। अतएव साधारण जनता न तो उसे पढ़ सकती थी और न समझ सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह वैदिक धर्म को समझने में असमर्थ हो गई और इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए उसे ब्राह्मणों की सहायता लेनी पड़ती थी जो वैदिक संस्कृत तथा धर्म को समझते थे। फलतः जनता को ऐसे धर्म की आवश्यकता हुई जो जन-साधारण की भाषा में हो जिससे वह उसे पढ़ तथा समझ सके। ब्राह्मणों के शुद्ध तथा सरल वैदिक धर्म में इतना आडम्बर तथा पाखण्ड आ गया था कि जनता को उसमें अरुचि हो गई।

(२) **यज्ञों की जटिलता**—उत्तर-वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की ऋचाओं अर्थात् मन्त्रों का स्थान यज्ञों ने ले लिया था। इन यज्ञों को करने में इतना अधिक समय तथा धन लगाना पड़ता था कि साधारण जनता उनके करने में बिल्कुल असमर्थ हो गई। अब इन यज्ञों को केवल राजा-महाराजा तथा धनी-मानी लोग करवा सकते थे। इतना ही नहीं, इन यज्ञों को करने की विधि भी बड़ी कठिन होती थी और उस विधि को केवल ब्राह्मण लोग ही जानते थे। अतएव बिना ब्राह्मणों की सहायता के इन यज्ञों को नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि जनता इन यज्ञों की ओर से उदासीन होने लगी और मोक्ष को प्राप्ति का कोई अन्य सरल मार्ग ढूँढ़ने लगी।

(३) **बलि का प्रकोप**—वैदिक काल में यज्ञों के अवसर पर बलि देने की प्रथा थी। ऋग्वैदिक काल में केवल फल तथा दूध की बलि से काम चल जाता था परन्तु उत्तर-वैदिक काल में पशुओं की बलि की प्रधानता हो गई। कभी-कभी मनुष्य की भी बलि दे दी जाती थी। इस प्रकार निरपराध प्राणियों की हत्या कर उसके मांस से हवन किया जाने लगा। धीरे-धीरे इन अमानुषिक कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और वैदिक धर्म से लोगों का विश्वास हटने लगा। अब जनता ऐसे धर्म को खोजने लगी जो अहिंसात्मक हो और जिसमें सभी प्राणियों के प्रति दया हो।

(४) **मन्त्र-तन्त्र का प्राबल्य**—धीरे-धीरे वैदिक धर्म में आडम्बर तथा अन्धविश्वास बढ़ता ही गया और भूत-प्रेत तथा मन्त्र-तन्त्र में लोगों का विश्वास हो गया अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के भूत-प्रेत तथा उनसे रक्षा के लिए मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मन्त्रों का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ गया कि मन्त्रों द्वारा देवताओं को भी वश में करने का दावा किया जाने लगा। इस प्रकार के अंधविश्वासों से वैदिक धर्म को बड़ी क्षति पहुँची और उस पर से लोगों का विश्वास हटता ही गया।

(५) **ब्राह्मणों की प्रधानता**—वैदिक धर्म में ब्राह्मणों की प्रधानता थी जो कालान्तर में सीमा का उल्लंघन कर गई और जन-साधारण के लिए असह्य हो गई। ब्राह्मणों को विद्याध्ययन करने का एकाधिकार था। वही धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या कर सकते थे और उन्हीं की सहायता से यज्ञ किये जा सकते थे। वास्तव में जन्म से मृत्यु तक की जितनी धार्मिक क्रियाएँ की जाती थीं वे सब ब्राह्मणों के ही माध्यम से की जा सकती थी। राजनीति में उनका बड़ा जोर था। राजा लोग उनके सामने नतमस्तक हो जाते थे और राजनीतिक मामलों में भी उनका परामर्श लिया करते थे। समाज में उनका स्थान सर्वोपरि था। वे सबसे श्रेष्ठ तथा कुलीन समझे जाते थे और उन्हें अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। कालान्तर में ब्राह्मणों के विरुद्ध एक भयंकर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई जिसका नेतृत्व क्षत्रियों ने ग्रहण किया।

(६) **जाति-प्रथा की जटिलता**—क्रान्ति के विस्फोट में जाति-प्रथा से भी बड़ा योग मिला। ऋग्वैदिक काल में व्यवसाय के आधार पर आर्यों ने वर्ण-व्ययस्था की स्थापना की थी जिससे समाज का संचालन सुचारु-रीति से हो सके। परन्तु उत्तर-वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में बदल गई जिसका निश्चय व्यवसाय से नहीं वरन् जन्म से होने लगा। धीरे-धीरे जाति-प्रथा जटिल होती गई और उसके बन्धन बड़े कड़े हो गए। उसमें ऊँच-नीच तथा छूत-छात की भावना बढ़ने लगी। ऊँची जाति वाले नीची जाति वालों के साथ नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे जिससे शूद्रों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई। जब भारतीय समाज में बड़े-बड़े चिन्तक तथा सुधारक उत्पन्न हुए तब शूद्रों की दयनीय दशा को देख कर उनका हृदय दया से पिघल उठा और उन्होंने इस सामाजिक कुव्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति कर दी।

(७) **नये मार्ग की खोज**—वैदिक काल के ब्राह्मण समाज को जिस मार्ग पर ले जाना चाहते थे वह हिंसा, बलि तथा यज्ञ का मार्ग था परन्तु जनता अब इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत न थी। अतएव नए मार्ग की खोज आरम्भ हो गई। यह कार्य उपनिषद् काल में ही आरम्भ हो गया था और तापस तथा ज्ञान-मार्ग को ढूंढ़ निकाला गया था। परन्तु यह दोनों ही मार्ग सर्व-साधारण के लिए कठिन थे। न तो साधारण जनता जंगलों में जाकर तपस्या कर सकती थी और न चिन्तन द्वारा ज्ञान की खोज कर सकती थी। अतएव उसके लिए इससे भी अधिक सरल मार्ग की आवश्यकता थी। फलतः छठी शताब्दी ई० पू० के दार्शनिकों तथा विचारकों ने दो अत्यन्त सरल मार्ग ढूंढ़ निकाले। इनमें से एक मार्ग था भक्ति तथा उपासना का और दूसरा मार्ग था सदाचार तथा सत्कर्म का। भक्ति-मार्ग पर चलने वाले लोग वैष्णव तथा शैव कहलाये और सदाचार तथा सत्कर्म के मार्ग पर चलने वाले लोग जैन तथा बौद्ध कहलाये। अब इनका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

जैन धर्म—जैन संस्कृत भाषा के 'जिन' शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है विजेता। परन्तु प्रत्येक विजेता को जिन नहीं कहते हैं। जिन केवल उस विजेत को कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर ली हो। इस व्याख्या के अनुसार जैन उन लोगों को कहते हैं जो किसी 'जिन'

अर्थात् जितेन्द्रिय के अनुयायी हों और जिस धर्म का ये लोग अनुसरण करते हों उसे जैन-धर्म कहते हैं। जैन महात्मा निर्ग्रन्थ भी कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ का अर्थ होता है बिना ग्रन्थों के अर्थात् बन्धन-मुक्त। दूसरे शब्दों में निर्ग्रन्थ उन महात्माओं को कहते हैं जिन्होंने समस्त सांसारिक बन्धनों को तोड़ दिया हो। जैन-धर्म के प्रधान प्रवर्तकों को तीर्थङ्कर कहते हैं। तीर्थङ्कर संस्कृत के दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् तीर्थ तथा कर। तीर्थ संस्कृत की 'तृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है पार लगाना और तीर्थ उन विधियों तथा नियमों को कहते हैं जो मनुष्य को संसार-सागर से पार लगा देते हैं। 'कर' का अर्थ होता है करने वाला अथवा बनाने वाला। अतएव तीर्थङ्कर उन महापुरुषों को कहते हैं जो ऐसी विधियों अर्थात् नियमों को बनाते हैं जिनके द्वारा मनुष्य संसार-सागर को पार कर सकता है। तीर्थ का अर्थ गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक भी होता है। अतएव तीर्थङ्कर उन महान गुरुओं अथवा पथ-प्रदर्शकों को भी कहते हैं जो इस भव-सागर से पार करने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। जैन लोग इस प्रकार के २४ तीर्थङ्करों में विश्वास करते हैं जिनमें से प्रमुख तीन का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जायगा।

जैन-तीर्थङ्कर—यद्यपि सामान्यतः महावीर स्वामी जैन धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु वास्तव में वे इस धर्म के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थङ्कर थे और उनके पहले तेईस अन्य तीर्थङ्कर हो चुके थे। इनके प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभवेद माने जाते हैं जो जम्बू द्वीप के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे। वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को अपना राज-पाट सौंप पर वे स्वयं तीर्थङ्कर हो गए थे। ऋषभदेव के बाद के इक्कीस तीर्थङ्करों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे जो महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। तीस वर्ष की अवस्था में उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। चौरासी दिनों की घोर तपस्या के उपरान्त उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया और अपने इस ज्ञान का प्रचार उन्होंने आरम्भ कर दिया। वे सत्तर वर्ष तक घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करते रहे। अन्त में सौ वर्ष की आयु में पार्श्वनाथ नामक पर्वत पर उनकी मृत्यु हो गई। पार्श्वनाथ के चार प्रमुख उपदेश थे—अर्थात् अहिंसा (जीवों की हत्या न करना), सत्य-भाषण, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह (सम्पत्ति-त्याग)। ये चार प्रतिज्ञाएँ कहलाती हैं जो प्रत्येक जैन-भिक्षु को लेनी पड़ती थीं। जैन-धर्म के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी थे जो जैन-धर्म के वास्तविक प्रवर्तक माने जाते हैं। अतएव इनके जीवन का विस्तृत परिचय दे देना आवश्यक है।

महावीर स्वामी का जीवन-परिचय—महावीर स्वामी का बचपन का नाम वर्द्धमान था। बाद में जब उन्होंने अपने अतुल पराक्रम का परिचय दिया तब वे महावीर कहलाये। इनका जन्म ईसा से लगभग ५९९ वर्ष पूर्व वैशाली के कुण्डग्राम में हुआ था जो उत्तरी बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में स्थित है। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था जो क्षत्रिय राजा थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था जो

वैशाली के राजा चेटक की बहिन थी। चेटक की कन्या छेलना का विवाह मगध के राजा बिम्बिसार के साथ हुआ था। इस प्रकार महावीर का सम्बन्ध कई शक्तिशाली राज-वंशों के साथ था। उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ हो गया था जिससे एक कन्या भी हुई थी। परन्तु गृहस्थाश्रम में उनका मन न लगा और उन्होंने संन्यास ले लेने का निश्चय कर लिया। फलतः तीस वर्ष की आयु में वे घर से बाहर तपस्या के लिए चले गये। जो वस्त्र वे घर से पहिन कर निकले थे उसी को वे तेरह महीने तक पहने रहे। उसके बाद जब वे फट कर गिर गये तब वे नंगे ही सत्य की खोज में इधर-उधर घूमते रहे। बारह वर्ष तब उन्होंने इतनी कठिन तपस्या की कि उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया। तापस-जीवन के तेरहवें वर्ष एक नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे उन्हें 'कैवल्य' (निर्मल) ज्ञान प्राप्त हो गया। इसी समय से वे अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धन-रहित), महावीर (परम प्रतापी) आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। इसके बाद तीस वर्ष तक वे कोशल, मगध तथा पूर्व के प्रदेश में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त में ७२ वर्ष की आयु में ५२७ ई० पू० में वर्तमान पटना जिले के पावापुरी नामक स्थान में इनका परलोक-वास हो गया।

जैन-धर्म के सिद्धान्त—यद्यपि महावीर स्वामी को जैन-धर्म का जन्म-दाता माना जाता है परन्तु वास्तव में ऐसी बात न थी। उन्हें जैन-धर्म का केवल सुधारक ही समझना चाहिए। क्योंकि उन्होंने उन सिद्धान्तों में सुधार तथा परिवर्तन किया जिनका प्रतिपादन उनके पहले जैन महातमा पार्श्वनाथ ने किया था। पार्श्वनाथ ने केवल चार सिद्धान्तों अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) यथा अपरिग्रह (सम्पत्ति न संग्रह करना) का प्रतिपादन किया था। महावीर ने इसमें पाँचवाँ सिद्धान्त अर्थात् ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। महावीर स्वामी को जैन-धर्म का प्रवर्तक मानने का कारण यह प्रतीत होता है कि जैन-तीर्थङ्करों में उनका व्यक्तित्व सर्वश्रेष्ठ था। उन्होंने बड़ी वीरता के साथ सांसारिक विघ्न-बाधाओं का सामना किया था, इसी से वे महावीर कहलाये। उन्होंने संसार-रूपी मोह तथा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी, इसी से वे जिन अर्थात् विजयी कहलाते हैं। चूंकि उन्होंने एक ऐसे मार्ग का पता लगाया जिस पर चल कर लोग इस भवसागर को पार कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं अतएव उनकी गणना जैन-तीर्थङ्करों में होती है। महावीर स्वामी की शिक्षाओं का सारांश जिसमें जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त निहित हैं, निम्नांकित है:—

(१) सृष्टि की नित्यता में विश्वास—जैनियों के विचार में यह सृष्टि अनादि तथा अनन्त है अर्थात् न इसके प्रारम्भ का पता है और न कभी इसका अन्त होता है। न कोई इसका बनाने वाला है और न कोई इसे बिगाड़ सकता है। इसमें संदेह नहीं कि इसका उत्थान तथा पतन होता रहता है परन्तु इसका कभी अंत नहीं होता और यह निरंतर चलती रहती है। जैनी इस बात को नहीं मानते कि ईश्वर इस सृष्टि की रचना करता है और इस पर नियंत्रण रखता है।

(२) **सृष्टि का जीव तथा अजीव के संयोग से निर्माण**—जैनियों का विश्वास है कि इस सृष्टि का निर्माण जीव तथा अजीव इन दो तत्वों के संयोग से होता है। इनके विचार में जीव तथा अजीव दोनों ही स्वतन्त्र तथा नित्य हैं। जीव चेतन तत्व है और अजीव जड़ तत्व है। यहाँ पर जीव का तात्पर्य आत्मा से है। जैनियों के विचार में जीव न केवल मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों में वरन् पेड़-पौधे, पत्थरों तथा जल में भी पाया जाता है।

(३) **जीव की भौतिक तथा आध्यत्मिक प्रवृत्तियों में विश्वास**—जैनियों के विचार में मनुष्य को दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होतीं हैं—एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। उसकी भौतिक प्रवृत्ति विनाशमयी होती है जो उसे बुरे-बुरे कर्मों में फँसाती जाती है और उसे विनाश की ओर ले जाती है परन्तु उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति अमर है जो उसे सत्कर्मों की ओर ले जाती है और अन्त में उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर देती है। अतएव इसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए और इसी के विकास का सदैव प्रयत्न करना चाहिए।

(४) **कर्म-बन्धन में विश्वास**—जीव अथवा आत्मा का उसके कर्मों के साथ अटूट सम्बन्ध है। जीव अपने विशुद्ध रूप में अत्यन्त निर्मल तथा आनन्दमय रहता है परन्तु कालान्तर में वह कर्मों के बन्धन में पड़ जाता है। न केवल इस जन्म के कर्मों का वरन् पूर्व-जन्म के कर्मों का भी प्रभाव जीवन अथवा आत्मा पर पड़ता है। सांसारिक विषय-वासनाओं से आकृष्ट होकर मनुष्य कर्म करता है। आत्मा उसी कर्म के बंधन में बँध जाती है। इन बन्धनों को मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है और कभी-कभी कई जन्म लग जाते हैं। जब आत्मा धार्मिक बंधनों को तोड़ देती है तब वह सुख-दुख से मुक्त हो जाती है और उसे मोक्ष मिल जाता है।

(५) **कर्मों को रोकने तथा हटाने की आवश्यकता**—जैनियों का कहना है कि राग, द्वेष, मोह आदि से प्रेरित होकर मनुष्य विभिन्न प्रकार के कर्मों को करता है। उन कर्मों का प्रवाह आत्मा की ओर होता रहता है। इस प्रवाह को जैनी लोग 'आस्रव' कहते हैं। कर्मों के इस प्रवाह से आत्मा उनसे ढँकती जाती है और उनके बन्धन में फँसती जाती है। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए दो कार्य आवश्यक हैं। पहला कार्य तो यह है कि नये कर्मों के प्रवाह को जीव की ओर जाने से रोकना चाहिये। कर्मो के इस प्रवाह के रोकने को जैनी लोग 'संवर' कहते हैं। इस प्रवाह को संयम तथा सदाचार द्वारा रोका जा सकता है। दूसरा कार्य यह है कि जो कर्म जीव में प्रवेश कर गये हैं और उसे आच्छादित किए हैं इन्हें हटाना चाहिए। इन कर्मों को हटाने को जैनी लोग 'निर्जरा' कहते हैं। यह कार्य कठिन तपस्या द्वारा किया जा सकता है। अब उन उपायों पर विचार किया जायगा जिनके द्वारा मनुष्य कर्म के बन्धनों से मुक्त हो सकता है।

(६) **सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र की आवश्यकता**—जैनियों के विचार में आत्मा को कर्म के बन्धन से मुक्त करने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र की आवश्यकता है। इसे जैन-धर्म में 'त्रिरत्न' कहा

गया है और जैनियों का कहना है कि अज्ञानता के कारण ही मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के वश में हो जाता है। अतएव अज्ञानता को दूर करना नितान्त आवश्यक है यह कार्य सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके किया जा सकता है। इसी से जैनी लोग ज्ञानार्जन पर बड़ा जोर देते हैं। सम्यक् ज्ञान के साथ-साथ सम्यक् दर्शन का भी होना आवश्यक है। जैन तीर्थङ्करों में विश्वास रखना ही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् दर्शन के साथ-साथ सम्यक् चरित्र का भी होना आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों, अपनी वाणी तथा अपने कर्मों पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए।

(७) **पंच-महाव्रत की आवश्यकता**—जीव को कर्मों के बन्धन से मुक्त करने के लिए जैन-तीर्थङ्कर पंच-महाव्रत पर भी बड़ा जोर देते हैं। यह पाँच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य हैं। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या कर देना आवश्यक है।

(क) **अहिंसा**—जैन-धर्म में अहिंसा पर बड़ा बल दिया गया है। जैनी लोग वैदिक कर्म-काण्ड अर्थात् यज्ञ तथा बलि के घोर विरोधी हैं। वे प्राणी पर दया दिखाने के समर्थक हैं। अहिंसा का केवल यही तात्पर्य नहीं है कि किसी की हत्या न की जाय वरन् अहिंसा का वास्तविक तात्पर्य यह है कि न हिंसा की कभी कल्पना करनी चाहिए, न उसके सम्बन्ध में बातचीत करनी चाहिए, न दूसरों को इसके लिए आज्ञा देनी चाहिए और न हिंसा करने के लिए किसी को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(ख) **सत्य**—सत्य का तात्पर्य केवल सत्य-भाषण से नहीं है वरन् वह सुन्दर तथा मधुर भी होना चाहिए। इस व्रत को पूरा करने के लिए के लिये क्रोध, भय तथा लोभ पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

(ग) **अस्तेय**—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। जैनियों के विचार में धन मनुष्य का बाहरी जीवन है। अतएव किसी का धन लेना उसका बाहरी जीवन लेना है। यदि धन के बिना जीवन सम्भव नहीं है तो किसी का धन लेना उसका जीवन लेना है और वह एक प्रकार की हिंसा है।

(घ) **अपरिग्रह**—इसका तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिए और न किसी चीज में आसक्त होना चाहिए। जब तक मनुष्य में धन-लोलुपता रहती है तब तक वह कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

(ङ) **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ होता है सभी प्रकार की विषय-वासनाओं को त्याग देना,। न तो कभी अपने मन को विषय-वासनाओं की ओर जाने देना चाहिए और न कभी उसके विषय में बातचीत करनी चाहिए।

(८) **व्रत तथा तपस्या का महत्त्व**—जो कर्म जीव में प्रवेश कर गये हैं उनको हटाने का एकमात्र उपाय तपस्या है। अतएव जैन-धर्म में व्रत, उपवास तथा तपस्या को बड़ा महत्त्व दिया गया है। जैनियों का विश्वास है कि तपस्या तथा संयम से आत्मा को मुक्ति मिलती है। आमरण अनशन को इस धर्म में बड़ा उत्तम माना गया है।

(६) तीर्थङ्करों की उपासना में विश्वास—जैनी लोग न तो ईश्वर में विश्वास करते हैं और न उनकी उपासना में। न वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं ओर न वैदिक देवी-देवताओं में उनका कोई विश्वास है। इनके स्थान पर वे तीर्थङ्करों तथा उनके उपदेशों में विश्वास करते हैं और इन उपदेशों को ही ज्ञान का साधन मानते हैं। वे अपने तीर्थङ्करों को सांसारिक बन्धनों से मुक्त, दुख-रहित, सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा परमात्मन् मानते हैं और उन्हीं की उपासना करते हैं।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—कालान्तर में जैन-धर्म में दो सम्प्रदाय हो गये जिनमें से एक को श्वेताम्बर और दूसरे को दिगम्बर कहते हैं। यह विभाजन सम्भवतः पहली शताब्दी में हुआ। श्वेताम्बर दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् श्वेत तथा अम्बर। श्वेत का अर्थ होता है सफेद और अम्बर का अर्थ होता है वस्त्र। इस प्रकार श्वेताम्बर उस सम्प्रदाय को कहते हैं जिसके सदस्य सफेद वस्त्र धारण करते हैं। ये लोग अपनी मूर्तियों को सफेद वस्त्र पहनाते हैं। ये लोग बड़े उदार तथा सुधारवादी होते हैं और जैन-धर्म के अत्यन्त कठोर नियमों को ढीला कर देने में संकोच नहीं करते। दिगम्बर भी दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् दिक् तथा अम्बर। दिक् का अर्थ होता है दिशा और अम्बर का अर्थ होता है वस्त्र। इस प्रकार दिगम्बर उस सम्प्रदाय को कहते हैं जिसके सदस्य दिशाओं को ही अपना वस्त्र मानते हैं, यानी नंगे रहते हैं। ये लोग मूर्तियों को भी नंगा रखते हैं। दिगम्बर लोग बड़े कट्टर होते हैं और जैन-धर्म के कठोर नियमों के पालन करने के पक्षपाती होते हैं। दिगम्बर लोग पूर्णरूप से सम्पत्ति-त्याग में विश्वास करते हैं। इनके विचार में एक आदर्श साधु भोजन नहीं ग्रहण करता। यह लोग स्त्रियों को मोक्ष का भागी नहीं समझते। स्त्री जब पुरुष की योनि में जन्म लेती है तभी मोक्ष प्राप्त कर सकती है। यह लोग श्वेताम्बरों के धर्म-ग्रन्थों को भी नहीं मानते।

जैन-धर्म का प्रचार—महावीर स्वामी ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् बड़े उत्साह के साथ अपने धर्म का प्रचार किया करते थे और वर्ष में आठ महीने घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार किया करते थे और वर्षा के चार महीने वे किसी नगर में व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे कोशल, मगध, विदेह, अवन्ती आदि राज्यों में जैन-धर्म का प्रचार हो गया। कालान्तर में मथुरा तथा मालवा में भी जैन-धर्म का प्रचार हो गया था। दक्षिण भारत में जैन-धर्म का प्रचार दिगम्बर सम्प्रदाय के महात्माओं द्वारा किया गया था। यद्यपि धीरे-धीरे जैन-धर्म का प्रचार सम्पूर्ण भारतवर्ष में हो गया परन्तु अपने नियमों की कठोरता, दर्शन की क्लिष्टता, प्रचारकों के अभाव तथा राजकीय आश्रय के अभाव एवं अन्य प्रबल धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण वह कभी भी अधिक लोकप्रिय धर्म न बन सका और इसके अनुयायियों की संख्या सीमित ही रही। आजकल अधिकांशतः वैश्य लोग ही इसके अनुयायी हैं।

जैन-धर्म की सांस्कृतिक देन—यद्यपि जैन-धर्म का प्रचार बड़ा ही सीमित रहा और यह कभी भी अधिक प्रभावशाली धर्म न बन सका परन्तु हमारे देश को इसकी सांस्कृतिक देन बहुत बड़ी है। इसकी सबसे बड़ी देन साहित्यिक है। जैन

विद्वानों ने विभिन्न कालों में लोक-भाषाओं में ग्रन्थों की रचना करके इन भाषाओं के परिवर्द्धन तथा परिमार्जन में बड़ा योग दिया। अधिकांश जैन-साहित्य प्राकृत भाषा में लिखा गया है जिससे प्राकृत भाषा के विकास में योग मिला है। राजपूत काल में अनेक जैन आचार्यों ने प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में कई ग्रन्थ लिखे। दक्षिण भारत में जैन आचार्यों ने कन्नड़ भाषा में ग्रन्थों की रचना करके उसे सम्पन्न बनाया। जैनी आचार्यों ने संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु उसकी प्रधान देन प्रादेशिक भाषाओं को ही है।

कला के क्षेत्र में भी जैनियों की देन अपूर्व है। जैनियों के भव्य मन्दिर आज भी देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। राजस्थान में आबू पर्वत पर बना हुआ जैनियों का मन्दिर भारतीय कला का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। हाथ से लिखे गये जैन-ग्रन्थों पर सुन्दर चित्र भी मिलते हैं। वे जैन-चित्रकारी के उत्तम प्रमाण हैं। मूर्ति-कला के विकास में भी जैनियों का कुछ कम योगदान नहीं है।

जैनियों की दार्शनिक देन भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व रखती है। सत्य की खोज के लिए जैनियों ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है वह एक अमूल्य देन है। स्याद्वाद का अर्थ होता है—सम्भवतः ऐसा है, क्योंकि हम सत्य के केवल एक स्वरूप को देख करके ही सम्पूर्ण सत्य के विषय में एक धारणा बना लेते हैं जब कि सत्य के अनेक स्वरूप होते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उन अंधे आदमियों की तरह सत्य की खोज नहीं कर पाते जो हाथी के दाँत, कान, पूंछ, अथवा पैर को पकड़ करके ही सम्पूर्ण हाथी के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

अब जैन-धर्म के समकक्ष दूसरे नास्तिक एवं क्रान्तिकारी धर्म के विषय में कुछ परिचय दे देना आवश्यक है जिससे वैदिक धर्म का विरोध किया और जो बौद्ध-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्ध-धर्म—बौद्ध संस्कृत के बुद्ध शब्द से बना है। बुद्ध उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे बोधि अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो गया हो। बुद्ध के अनुयायियों को बौद्ध कहते हैं और जिस धर्म का ये लोग अनुसरण करते हैं उसे बौद्ध-धर्म कहते हैं। बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध जी का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् सिद्ध तथा अर्थ। सिद्ध का अर्थ होता है पूरा और अर्थ का तात्पर्य होता है इच्छा अथवा कामना। इस प्रकार सिद्धार्थ का अर्थ हुआ इच्छा अथवा कामना की पूर्ति। बुद्ध के जन्म के पहले उनके पिता के कोई सन्तान न थी अतएव पुत्र की प्राप्ति की उनकी बड़ी प्रबल कामना थी। बुद्ध जी के जन्म से उनके पिता की मनोकामना की पूर्ति हो गई। सम्भवतः इसी से इन्होंने अपने पुत्र का नाम सिद्धार्थ रख दिया जिसके जन्म से उनके अर्थ (कामना) की सिद्धि हो गई। सिद्धार्थ को गौतम के नाम से भी पुकारा गया है। उनके गौतम नाम पड़ने का यह कारण प्रतीत होता है कि यह गौतम गोत्र के क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। उनके गौतम नाम पड़ने का दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि उनकी माता की मृत्यु के उपरान्त उनकी विमाता प्रजापति गौतमी ने उसका पालन-पोषण किया था। अतएव

गौतमी के नाम पर इनका नाम गौतम पड़ गया। संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त जब अपने संयम तथा चिन्तन द्वारा सिद्धार्थ ने बुद्धि अथवा ज्ञान प्राप्त कर लिया तब वे बुद्ध कहलाये। जिस ज्ञान का आलोक उन्हें मिला था उसे प्राप्त करने के लिए जो लोग उनके अनुयायी बने वे बौद्ध कहलाये और जिस धर्म का उन्होंने प्रचार किया वह बौद्ध-धर्म कहलाया। अब इस क्रान्तिकारी तथा अत्यन्त प्रभावशाली धर्म के जन्मदाता के जीवन का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

गौतम बुद्ध का जीवन-परिचय—सिद्धार्थ का जन्म ५६३ ई० पू० में हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था। वे सूर्यवंशीय शाक्य जाति के क्षत्रिय थे। वे कपिलवस्तु नामक एक छोटे-से गणराज्य के प्रधान थे जो वर्तमान बस्ती जिले की पूर्वी सीमा पर स्थित था। सिद्धार्थ की माता का नाम महामाया अथवा मायादेवी था जो गोरखपुर जिले में स्थित एक गणराज्य के प्रधान की कन्या थीं। जब मायादेवी मायके जा रही थीं तो मार्ग में ही लुम्बिनी नामक वन में, जो नेपाल की तराई में स्थित है, सिद्धार्थ का जन्म हो गया। प्रसव-पीड़ा से मायादेवी का परलोकवास हो गया अतएव सिद्धार्थ का पालन-पोषण उनकी विमाता प्रजापति देवी गौतमी ने किया।

सिद्धार्थ बाल्यकाल से ही बड़े गम्भीर तथा चिन्तनशील थे और प्रायः वे एकान्त में जाकर मनन तथा चिन्तन किया करते थे और इतने विचार-मग्न हो जाते थे कि उन्हें किसी बात की सुध-बुध नहीं रह जाती थी। सिद्धार्थ सर्वगुण-सम्पन्न थे। उनके जन्म पर ही ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि राजकुमार या तो एक महान् चक्रवर्ती सम्राट् होगा या वह एक महान् संन्यासी होगा। अपने पुत्र की चिन्तनशील प्रवृत्ति को देखकर राजा को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने सुख तथा भोग-विलास की सारी सामग्री एकत्रित कर अपने पुत्र की उस चिन्तनशील तथा त्यागकय प्रवृत्ति को बदलने का यथाशक्ति प्रयत्न आरम्भ कर दिया। अपने मन्त्रियों के परामर्श से उन्होंने केवल सोलह वर्ष की अवस्था में सिद्धार्थ का विवाह गोपा (यशोधरा) नामक एक अत्यन्त रूपवती राजकुमारी के साथ कर दिया। उससे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु पुत्र के जन्म से सिद्धार्थ को कोई प्रसन्नता न हुई, वरन् उनके मुख से यह शब्द निकल पड़े, "यह एक और राहु अर्थात् बन्धन उत्पन्न हुआ है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" इसी से नवजात शिशु का नाम राहुल पड़ा। विवाह तथा वैभव का सिद्धार्थ की चिन्तनशील तथा वैराग्यमयी प्रवृत्ति पर कोई प्रभाव न पड़ा। उनका कोमल तथा दयालु हृदय मानव-जीवन की पीड़ा-जनक समस्याओं पर विचार करता रहा। वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु उन्हें मनुष्य के सबसे भयंकर शत्रु प्रतीत हुए। अतएव इनसे मुक्ति पाने के मार्ग को ढूंढ़ने के लिए वे व्यग्र हो उठे। विवाह के बारह-तेरह वर्ष बाद तक गृहस्थाश्रम में रह कर ही वे चिन्तन करते रहे। अन्त में जब वे २९ वर्ष के हुए तो एक दिन रात्रि के समय उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और अपनी सोती हुई पत्नी तथा पुत्र और सारे राज्य-वैभव को त्याग कर अपने सारथी छंदक के साथ एक रथ में बैठकर सत्य का खोज के लिए उन्होंने प्रस्थान कर दिया। बौद्ध साहित्य में इसी घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' (महा + अभि + निष्क्रमण) के

नाम से पुकारा गया है। निष्क्रमण का अर्थ होता है निकल जाना अथवा चला जाना। चूँकि राज्य के सारे वैभव को ठुकरा कर चला जाना एक बहुत बड़ी घटना थी अतएव इसे महाभिनिष्क्रमण के नाम से पुकारा गया है। जब सिद्धार्थ अपने पिता के राज्य की सीमा के बाहर निकल गये तब उन्होंने अपने सारथी तथा घोड़े को लौटा दिया। इसके पश्चात् उन्होंने अपने राजसी वस्त्र तथा आभूषण एक भिखारी को दे दिये और स्वयं एक संन्यासी का रूप धारण करके सत्य की खोज में आगे बढ़े।

सर्व-प्रथम सिद्धार्थ मगध की राजधानी राजगृह गये जहाँ पर दो बड़े ही उच्चकोटि के ब्राह्मण आचार्यों के आश्रम थे। सिद्धार्थ इनके शिष्य बन गये। परन्तु उन्हें निराश होकर वहाँ से चला जाना पड़ा क्योंकि वह ब्राह्मण आचार्य उन्हें निवृत्ति का मार्ग न दिखा सके। जब सिद्धार्थ ने राजगृह छोड़ा तब उनके पाँच और साथी उनके साथ हो लिये। अब सिद्धार्थ ने गया के समीप उरुवेल नामक वन में पाँच साथियों के साथ प्रवेश किया और ६ वर्ष तक ऐसी कठिन तपस्या की कि उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया परन्तु उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति न हुई। तब वे इस नतीजे पर पहुँचे कि शरीर को कष्ट देने से कोई लाभ नहीं और स्वस्थ शरीर से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके पाँचों साथियों की श्रद्धा उनमें समाप्त हो गई और वे उनका साथ छोड़ कर काशी की ओर चले गये। अब सिद्धार्थ ने अकेले ही चिन्तन आरम्भ किया। ३५ वर्ष की अवस्था में वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि के समय जब वे एक बरगद के वृक्ष के नीचे समाधि लगा कर चिन्तन में लीन थे तब उन्हें सत्य के दर्शन हुए। बौद्ध-धर्म में इसी घटना को 'सम्बोधि' (उचित ज्ञान की प्राप्ति) के नाम से पुकारा गया है। सिद्धार्थ इसी समय से बुद्ध कहलाये क्योंकि उन्हें बोधि अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो गया था और उनके द्वारा प्रचारित धर्म बौद्ध-धर्म कहलाया। जिस वृक्ष के नीचे उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई थी वह बोधि-वृक्ष कहलाया और गया का नाम बोधिगया पड़ गया। सम्बोधि में सिद्धार्थ को 'प्रतीत्य समुत्पात' के सिद्धान्त का बोध हुआ और उन्होंने 'निर्वाण' प्राप्त कर लिया। 'प्रतीत्य का अर्थ होता है प्रतीति अथवा विश्वास और 'समुत्पात' का अर्थ होता है उत्पत्ति। अतएव 'प्रतीत्य समुत्पात' का शाब्दिक अर्थ हुआ उत्पत्ति में विश्वास। परन्तु व्यापक अर्थ में 'प्रतीत्य समुत्पात' का अर्थ है, 'संसार की सभी वस्तुएँ और वासनाएँ कार्य और कारण पर निर्भर हैं'। इसका तात्पर्य हुआ कि कार्य तथा कारण में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो कुछ भी इस संसार में होता है उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ होता है मुक्ति। परन्तु व्यापक अर्थ में 'निर्वाण' सांसारिक तृष्णाओं, दुखों और बन्धनों से छुटकारा पा लेने की अवस्था है जो चरम सत्य है'। इस प्रकार बुद्ध जी को सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने का मार्ग ज्ञात हो गया।

कहा जाता है कि पहले बुद्ध जी अपने धर्म का प्रचार करना नहीं चाहते थे परन्तु जब उन्होंने देखा कि संसार के लोग दुःख में डूबे हुए हैं और उससे छुटकारा

पाने के लिए छटपटा रहे हैं तब उनका कोमल उदार हृदय अपार करुणा से पिघल गया और उन्होंने अपने धर्म का प्रचार करने का निश्चय कर लिया।

बुद्ध जी ने अपना प्रथम उपदेश काशी के समीप सारनाथ नामक स्थान पर अपने उन पाँचों साथियों को दिया जो उनका साथ छोड़ कर चले गये थे। बौद्ध-साहित्य में उस प्रथम उपदेश को 'धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन' के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ होता है धर्म-रूपी चक्र का चलाना। बुद्ध जी ने अपने शिष्यों से कहा, "चारों दिशाओं में जाओ और अपने धर्म का प्रचार करो।" बुद्ध जी ने स्वयं भी अपने जीवन के शेष ४५ वर्ष अपने धर्म का प्रचार करने में व्यतीत किये। उन्होंने अपने उपदेश जन-साधारण को पाली भाषा में देने प्रारम्भ किये। उनके धर्म-प्रचार का प्रधान क्षेत्र आधुनिक बिहार, उत्तर-प्रदेश का कुछ भाग तथा नेपाल था। बुद्ध जी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण था कि राजा तथा रंक सभी ने उनके उपदेशों का स्वागत किया और उनके जीवन-काल में ही उनके अनुयायियों का एक अच्छा संघ बन गया। अपने धर्म का प्रचार करते हुए वे मल्लों की राजधानी पावा पहुँचे। यहाँ पर वे अतिसार (पेचिश) के रोग से पीड़ित हो गये। पावा से वे कुशीनगर चले गये और यहीं पर अस्सी वर्ष की आयु में ४८३ ई० पू० में उनका परलोकवास हो गया। बौद्ध-धर्म में इस घटना को 'महापरिनिर्वाण' (महान् मोक्ष की प्राप्ति) कहा गया है। बुद्ध जी का स्थान संसार के महान् धर्म-प्रवर्त्तकों में है। जिनके धर्म का न केवल सारे भारतवर्ष में वरन् एशिया के बहुत बड़े भाग में प्रचार हुआ। अब इस धर्म की प्रमुख विशेषताओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

बौद्ध-धर्म की विशेषताएँ—बुद्ध बड़े क्रान्तिकारी थे। वास्तव में छठी शताब्दी ई० पू० के क्रान्तिकारियों में उनका सबसे ऊँचा स्थान है। उन्होंने वैदिक धर्म के विरुद्ध उसी प्रकार का एक महान् आन्दोलन आरम्भ किया जिस प्रकार यूरोप में कैथोलिक धर्म के विरुद्ध मार्टिन लूथर ने किया था। वास्तव में बुद्ध किसी धर्म के संस्थापक न थे। वरन् वे एक बहुत बड़े धार्मिक तथा सुधारक थे। वे हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-समाज के दोषों को दिखा कर जनता को एक नये मार्ग पर ले जाना चाहते थे जो आदि में कल्याणकारी था, मध्य में कल्याणकारी था और अन्त में कल्याणकारी था। जिस धर्म का बुद्ध जी ने प्रचार किया उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

(१) **बुद्धिवादी धर्म**—बौद्ध-धर्म पूर्ण-रूप में बुद्धिवादी था। बुद्ध जी ने वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना। वे इस बात को मानने के लिये तैयार न थे कि वेदों में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा सत्य है। वेदों के स्थान पर उन्होंने तर्क का सहारा लिया और वे केवल उन्हीं बातों को मानने के लिए तैयार थे जो तर्कसङ्गत हों। अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों तथा परम्पराओं के लिये उनके धर्म में कोई स्थान न था।

(२) **सत्कर्म तथा सदाचार पर बल**—वेदों में यज्ञ तथा बलि को मोक्ष की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बुद्ध जी ने इन दोनों ही क्रियाओं का घोर विरोध

किया। यज्ञों के स्थान पर उन्होंने सत्कर्म तथा सदाचार का पाठ पढ़ाया। उनका कहना था कि मनुष्य अच्छे-अच्छे कार्य करके और अपने आचरण को शुद्ध रख कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। बलि के स्थान पर बुद्ध जी ने अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उनका कहना था कि सभी जीवों पर दया करना चाहिये।

(३) **लोकतन्त्रात्मक धर्म**—बुद्ध जी जाति-प्रथा के घोर विरोधी थे क्योंकि इसमें ऊंच-नीच का भेद-भाव था और केवल ब्राह्मण वर्ग का ही सर्वत्र बोल-बाला था। इसके विपरीत बुद्ध जी का धर्म बड़ा ही लोकतन्त्रात्मक था। वह सभी को समान समझता था और उसमें ऊँच-नीच का भेद-भाव न था। वह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न था वरन् उसका द्वार सबके लिए खुला था।

(४) **सीधा तथा सरल धर्म**—बौद्ध धर्म बड़ा ही सीधा तथा सरल था। उसमें किसी भी प्रकार की दार्शनिक विवेचना न थी। ईश्वर है अथवा नहीं, आत्मा है या नहीं, यह सृष्टि क्या है, इसकी रचना कैसे हुई है, इन सब दार्शनिक विवेचनाओं के जाल में बुद्ध जी नहीं पड़े। उनका कहना था कि यदि कोई इनके झमेले में फँस जायेगा तो वह जीवन भर उससे निकल न पायेगा और सारा जीवन विवेचना में ही नष्ट हो जायगा। अतएव बुद्ध जी ने बड़ी ही सीधी तथा सरल बात कही जो साधारण-से-साधारण व्यक्ति की समझ में आ जाय और उनके मन में किसी प्रकार का सन्देह न पैदा हो। उन्होंने बतलाया कि संसार दुःखमय है और इस दुःख का कोई-न-कोई कारण होता है। बुद्ध जी ने इन कारणों को समझाया और इनके दूर करने का उपाय भी बतलाया और दुःखों के दूर हो जाने पर जिस परम आनन्द की प्राप्ति होती है उसके विषय में भी बुद्ध जी ने बताया। इस परम आनन्द को बुद्ध जी ने 'निर्वाण' कहा है। निर्वाण जीवन की वह स्थिति है, जब मनुष्य संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है और सुख-दुःख सभी उसके लिए समान हो जाते हैं। बौद्ध-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति इसी जीवन में करा देता है न कि मृत्यु के उपरांत। अब बुद्ध जी की शिक्षाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

बुद्ध की शिक्षाएँ तथा बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त—बुद्ध की शिक्षाओं को हम केवल एक वाक्य में प्रकट कर सकते हैं। अर्थात् दुःख, दुख समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग। यही चार उपदेश बुद्ध ने सर्व-प्रथम अपने पाँच शिष्यों को सारनाथ में दिये थे। बौद्ध-धर्म में इन्हीं को 'चत्वारि-आर्य-सत्यानि' अर्थात् चार श्रेष्ठ सत्य के नाम से पुकारा गया है। अब इनकी विस्तृत विवेचना कर देना आवश्यक है।

(१) **दुःख**—बुद्ध ने इस संसार को दुःखमय माना है। उनके विचार में मनुष्य का सारा जीवन दुःखों से भरा हुआ है और उसके जीवन में दुःख की ही प्रधानता रहती है। जन्म, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु सभी दुःख हैं। जब मनुष्य को प्रिय वस्तु नहीं मिलती और अप्रिय वस्तु को उसे ग्रहण करना पड़ता है तब वह दुखी होता है।

इच्छाओं की पूर्ति न होने पर दुःख होता है। संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो इन दुःखों से मुक्त हो।

(२) **दुःख-समुदय**—समुदय का अर्थ होता है उदय अथवा निकलना। दुःख-समुदाय का यह तात्पर्य है कि दुःख का कोई-न-कोई कारण होना चाहिये क्योंकि अकारण कोई चीज नहीं होती। इस प्रकार बुद्ध ने न केवल दुःख रूपी रोग को बतलाया वरन् उसका कारण भी बतलाया। बुद्ध के विचार में अविद्या अर्थात् अज्ञानता दुःख का मूल कारण है। जब मनुष्य अपने स्वरूप के सम्बन्ध में गलत विचार बना लेता है तब उसी को अविद्या कहते हैं। जब मनुष्य अपने शरीर तथा मन को अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है और उसमें भौतिक अथवा सांसारिक सुखों की तृष्णा (इच्छा) उत्पन्न हो जाती है। जब वह अपनी तृष्णा अर्थात् इच्छाओं के वश में हो जाता है तब वह नाना प्रकार के स्वार्थ के कामों में फँस जाता है और अपने कर्मों के अनुसार उसे सुख-दुःख मिलते रहते हैं और वह दुःखमय संसार के बन्धन में फँसा रहता है। इस प्रकार बुद्ध ने अविद्या तथा तृष्णा को दुःख का मूल कारण बतलाया।

(३) **दुःख-निरोध**—निरोध का अर्थ होता है रोक अथवा छुटकारा। दुःख-निरोध का अर्थ है दुःख को रोकना अथवा दुःख से छुटकारा पाना। जब बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता तो यदि दुःख के कारण को हटा दिया जाय तो दुःख भी नहीं होगा। इसी बात को यों कह सकते हैं कि कारण के निरोध से दुःख का भी निरोध हो जायगा। जब दुःख का निरोध हो जायगा तब निर्वाण की प्राप्ति हो जायगी और सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल जायगा। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ होता है दीपक की भाँति बुझ जाना। जब मनुष्य को निर्वाण मिल जाता है तब उसका अहं-भाव समाप्त हो जाता है, उसकी सभी प्रकार की तृष्णाओं तथा इच्छाओं का अन्त हो जाता है, उसके सभी दुःख विनष्ट हो जाते हैं और उसे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है। निर्वाण की स्थिति आनन्दमय भी होती है और उससे परम शान्ति मिलती है।

(४) **दुःख-निरोध-मार्ग**—बुद्ध ने केवल इतना ही नहीं बतलाया कि दुःख को रोका जा सकता है और उससे छुटकारा पाया जा सकता है वरन् उन्होंने दुःख से छुटकारा पाने का उपाय भी बतलाया। इसी उपाय को दुःख-निरोध-मार्ग कहते हैं। बुद्ध ने दुःख से छुटकारा पाने के तीन मार्ग बतलाये थे अर्थात् शील (अहिंसा, मैत्री, करुणा आदि), समाधि (मन को एकाग्र करना) तथा प्रज्ञा (अलौकिक ज्ञान)। बुद्ध जी ने दुःख के तीन कारण बतलाये थे अर्थात् अविद्या, तृष्णा तथा कर्म। अतएव यदि इन तीनों का विनाश कर दिया जाय तो दुःख का भी विनाश हो जायगा। शील अर्थात् अहिंसा, दया आदि अच्छे-अच्छे आचारों से कर्म का नाश किया जा सकता है और अनैतिक तथा स्वार्थपूर्ण कार्यों से आदमी बच सकता है। समाधि द्वारा अर्थात् मन को एकाग्र करके तृष्णा को समाप्त किया जा सकता है। जब मन एकाग्र तथा ध्यानस्थ हो जाता है तब चित्त में प्रज्ञा अर्थात् अलौकिक ज्ञान उत्पन्न हो जाता

है जिससे अविद्या का नाश हो जाता है और चरम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बुद्ध जी ने अविद्या, तृष्णा तथा कर्म से छुटकारा पाने के लिए क्रमशः प्रज्ञा, समाधि तथा शील का मार्ग बतलाया। परन्तु कालान्तर में इन मार्गों में वृद्धि कर दी गई और दुःख से छुटकारा पाने के लिए आठ मार्ग बतलाये गये जो अष्टांग मार्ग कहलाते हैं। यह मार्ग निम्नांकित हैं:—

(१) **सम्यक् दृष्टि**—इसका तात्पर्य सत्य विश्वास तथा सत्य दृष्टिकोण से है। सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सत्य तथा असत्य, पाप तथा पुण्य और सदाचार तथा दुराचार में भेद कर देता है। इसके द्वारा वह दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग—इन चार आर्य सत्यों को भी पहचान लेता है।

(२) **सम्यक् संकल्प**—इसका तात्पर्य सत्य संकल्प अथवा सत्य विचार से है। जो संकल्प हिंसा तथा कामना से मुक्त होता है वही सम्यक् संकल्प कहलाता है।

(३) **सम्यक वाक्**—इसका तात्पर्य है सत्य वचन बोलना जिससे दूसरों को कष्ट न हो। जिस वाणी में सत्य, मधुरता तथा विनम्रता होती है उसे सम्यक् वाक् कहते हैं।

(४) **सम्यक् कर्मान्त**—इसका तात्पर्य है दान, दया, मनुष्य की सेवा, अहिंसा आदि सदाचार का पालन करना। संक्षेप में सत्कर्मों को ही कर्मान्त कहते हैं।

(५) **सम्यक् आजीव**—आजीव का अर्थ है जीविका और सम्यक् आजीव का यह तात्पर्य है कि जीविका का साधन अच्छा होना चाहिए। उसे सदाचार के नियमों के अनुकूल होना चाहिए।

(६) **सम्यक् व्यायाम**—यहाँ पर व्यायाम का अर्थ है प्रयत्न। अतएव सम्यक् व्यायाम उस प्रयत्न को कहते हैं जो विशुद्ध तथा विवेकपूर्ण हो! इसका यह तात्पर्य है कि नैतिक, मानसिक तथा आध्यत्मिक उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

(७) **सम्यक् स्मृति**—सम्यक् का अर्थ होता है भली भाँति और स्मृति का अर्थ होता है स्मरण या याद। अतएव सम्यक् स्मृति का शाब्दिक अर्थ हुआ भली-भाँति स्मरण रखना। परन्तु व्यापक अर्थ में सम्यक् स्मृति का यह अर्थ होता है कि मनुष्य को सदैव यह याद रखना चाहिए कि उसे अपने सभी कार्य विवेक तथा सावधानी के साथ करना चाहिए। उसे अपनी मानसिक एवम् शारीरिक क्रियाओं तथा दुर्बलताओं को भली-भाँति समझते रहना चाहिए जिससे उसे अपने सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की भ्रम-पूर्ण धारणा न पैदा हो।

(८) **सम्यक् समाधि**—चित्त की एकाग्रता को ही सम्यक् समाधि कहते हैं। मन को एकाग्र कर लेने से न केवल आध्यात्मिक उन्नति होती है वरन् इससे बौद्धिक तथा धार्मिक ज्ञान का भी विकास होता है।

बुद्ध जी की अन्य शिक्षाएँ—बुद्ध ने जिन चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया था उन्हीं की विस्तृत व्याख्या की गई है। अब उनकी अन्य शिक्षाओं का भी संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है। ये निम्नांकित हैं:—

(१) **मध्यम मार्ग को अपनाने की शिक्षा**—बुद्ध ने अपने अनुयायियों को मध्यम

मार्ग के अपनाने का उपदेश दिया था। इसी को बौद्ध-साहित्य में 'मध्यमा प्रतिपदा' के नाम से पुकारा गया है। बुद्ध ने स्वयं इसी मार्ग का अनुसरण किया था। संन्यास लेने के पूर्व उन्होंने कठिन तपस्या की थी परन्तु उससे उन्हें कोई लाभ न हुआ। अतएव अत्यधिक तपस्या के मार्ग को उन्होंने छोड़ दिया। विलासिता से भी दूर रहने का उन्होंने उपदेश दिया। इस प्रकार उन्होंने अत्यधिक तपस्या तथा अत्यधिक विलासिता दोनों ही का विरोध किया और बीच के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। यह मार्ग था सामान्य जीवन का जिसमें संघ में रहने वाले भिक्षुओं के लिए भी भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था की गई थी। बुद्ध का विश्वास था कि इस मार्ग पर चलने से निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी।

(२) सत्कर्म करने की शिक्षा—निर्वाण प्राप्त करने के लिए बुद्ध ने सत्कर्म करने की शिक्षा दी थी। उनका कहना था कि कर्म के कारण मनुष्य इस संसार में आता है। वह जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है और मनुष्य का आगामी जीवन भी इन्हीं कर्मों के अनुसार बनता-बिगड़ता है। अतएव मनुष्य के कर्म अच्छे होने चाहिए।

(३) सदाचार की शिक्षा—सत्कर्मों के करने के साथ-साथ बुद्ध ने सदाचार की भी शिक्षा दी थी। आदर्श नैतिक आचरण पर उन्होंने बड़ा बल दिया था। वह नैतिक आचरण दस हैं : (१) अहिंसा अर्थात् जीवों की हत्या न करना, (२) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (३) सत्य-भाषण, (४) अपरिग्रह अर्थात् धन का संग्रह न न करना, (५) ब्रह्मचर्य, (६) नाच-गाने का त्याग, (७) सुगन्धित पदार्थों का त्याग, (८) असमय में भोजन का त्याग, (९) कोमल शय्या (बिछौने) का त्याग तथा (१०) कामिनी-कांचन का त्याग। इन नैतिक आचारों का पालन करने में बुद्ध जी ने गृहस्थों तथा भिक्षुओं में विभेद किया है। गृहस्थ के लिए केवल प्रथम पाँच आचारों का पालन करना अनिवार्य था। बुद्ध जी ने सत्य, अहिंसा तथा दया पर सबसे अधिक बल दिया था। जीवों की हत्या न करना, सत्य बोलना, गुरुजनों का आदर [illegible] माता-पिता की सेवा करना यह सभी बौद्ध-धर्म के व्यावहारिक स्वरूप के प्रमाण हैं। इनका पालन करना सर्वसाधारण के लिए भी सरल है।

(४) उदारता तथा सहिष्णुता की शिक्षा—बुद्ध अपने धार्मिक विचारों में बड़े उदार थे। वे कहा करते थे कि यदि उनकी शिक्षाएँ ठीक लगें तभी उनको ग्रहण किया जाय अन्यथा उन्हें त्याग दिया जाय। इस प्रकार बुद्ध के धर्म में बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सहिष्णुता के बड़े ही ऊँचे आदर्श दिखाई देते हैं।

निष्कर्ष—बुद्ध जी के जिन उपदेशों का ऊपर वर्णन किया गया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक विचार-धारा का उन्होंने विरोध किया था और नई विचार-धारा को जन्म दिया था, जिसमें कर्म तथा सदाचार पर बल दिया गया था अतएव बुद्ध जी केवल वैदिक धर्म के सुधारवादी ही न थे वरन् वे नई विचार-धारा के प्रवर्त्तक भी थे। कुछ विद्वानों ने बुद्ध को निराशावादी कहा है क्योंकि उन्होंने संसार में दुख-ही-दुख देखा था। परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि बुद्ध ने इन दुखों

को दूर करने का अत्यन्त सरल मार्ग दिखलाया था और साधारण-से-साधारण व्यक्ति को भी इसी जीवन में निर्वाण दिलाने की आशा दिलाई थी। बुद्ध बड़े ही यथार्थवादी थे क्योंकि जो कुछ वास्तविक था उसी का ज्ञान उन्होंने कराया था। सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में उन्होंने यह बतलाया कि कार्य और कारण की शृंखला के कारण ही सृष्टि का निर्माण होता है। बुद्ध जी ने शरीर का विभिन्न योगों का परिणाम माना जिनके छिन्न-भिन्न हो जाने पर आत्मा नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। इस संसार के विषय में बुद्ध जी की यह धारणा थी कि संसार क्षण-भंगुर तथा निस्सार है। यह स्थिर नहीं है और परिवर्तनशील है। इसी से बुद्ध जी को क्षणिकवादी भी कहा गया है। पुनर्जन्म में बुद्ध का विश्वास था। उनके विचार में अहंकार का पुनर्जन्म होता है और अहंकार, सांसारिक वासनाओं तथा तृष्णा से होता है। जब अहंकार का विनाश हो जाता है तब निर्वाण मिल जाता है। यही बुद्ध की शिक्षा का सार था।

बौद्ध-संघ—बौद्ध-भिक्षुओं के संगठन को बौद्ध-संघ कहते हैं। संघ के भिक्षु बिहारों (मठों) में रहते थे और घूम-घूम कर अपने धर्म का उपदेश लोगों को देते थे। संघ के भिक्षुओं के अनुशासन के लिए कुछ नियम भी थे जिनका पालन प्रत्येक भिक्षु को करना पड़ता था। संघ में वही लोग प्रवेश करते थे जो शुद्ध आचरण के हों और जिनमें नैतिक बल हो। पहले बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रविष्ट होने की आज्ञा न दी परन्तु बाद में शिष्यों के आग्रह करने पर उन्हें भी आज्ञा मिल गयी। इन स्त्री सदस्यों को बड़े कड़े नियमों का पालन करना पड़ता था, परन्तु इनका प्रवेश संघ के लिए अच्छा न हुआ क्योंकि कालान्तर में इनके कारण संघ में भ्रष्टाचार फैल गया। संघ ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में बहुत सहायता पहुँचाई। कालान्तर में बुद्ध, धर्म तथा संघ को 'त्रिरत्न' के नाम से पुकारा जाने लगा और जब भिक्षु लोग अपनी दैनिक प्रार्थनाएँ करते थे तो उन्हें तीनों की वन्दना करनी पड़ती थी:—

'बुद्धं सरणं गच्छामि।'
'धम्मं सरणं गच्छामि।'
'संघं सरणं गच्छामि।'

बौद्ध-संगीतियाँ—संगीति का अर्थ है सम्मेलन अथवा धर्म-सभा। बौद्ध-धर्म के विकास में चार बौद्ध-संगीतियों का बहुत महत्त्व है। पहली बौद्ध-संगीति बुद्ध जी की मृत्यु के थोड़े ही दिन उपरान्त राजगृह के निकट हुई थी। इसमें बुद्ध जी के उपदेशों का संकलन किया गया था। दूसरी बौद्ध-संगीति बुद्ध जी की मृत्यु के सौ वर्ष उपरान्त वैशाली में हुई थी। इसमें बौद्धों में आपस में मतभेद हो गया। जिन लोगों ने परम्परागत नियमों को ही अपनाया वे 'स्थविर' कहलाये। बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति अशोक के शासन-काल में पाटलिपुत्र में हुई थी। इसमें बौद्ध-दर्शन का निर्माण किया गया था। बौद्ध-धर्म की चौथी संगीति कनिष्क के शासन-काल में कश्मीर में हुई थीं। इसमें कई बौद्ध-ग्रन्थों का संकलन किया गया। इस में बौद्ध-धर्म के अनुयायियों में दो वर्ग हो गये। जो प्रगतिवादी तथा सुधारवादी दल था,

उसने अपने को 'महायान' के नाम से और जो वर्ग प्राचीन बौद्ध-धर्म का अनुयायी बना रहा उसे 'हीनयान' के नाम से पुकारा । इस प्रकार बौद्ध-धर्म में हीनयान तथा महायान नाम के दो सम्प्रदाय हो गये । अब इनके अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है ।

हीनयान तथा महायान—'यान' का शाब्दिक अर्थ होता है सवारी । परन्तु यहाँ पर 'यान' का अर्थ है मार्ग । 'हीन' का अर्थ होता है निम्न अथवा निकृष्ट । अतएव हीनयान का शाब्दिक अर्थ हुआ निकृष्ट-मार्ग अथवा निम्न-मार्ग । इस शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने विपक्षियों के लिए किया था । 'महा' का अर्थ होता है बड़ा अथवा उत्कृष्ट । अतएव महायान का शाब्दिक अर्थ हुआ उत्कृष्ट मार्ग परन्तु हीनयान तथा महायान में बहुत बड़ा सैद्धान्तिक अन्तर है । हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म के प्राचीन स्वरूप को मानता है परन्तु महायान सम्प्रदाय उसके संशोधित तथा परिवर्तित स्वरूप को मानता है । हीनयान सम्प्रदाय वाले कट्टर-पन्थी होते हैं और बौद्ध-धर्म के कठोर नियमों के पालन करने पर बल देते हैं, परन्तु महायान सम्प्रदाय वाले सुधारवादी होते हैं और बौद्ध-धर्म के कठोर नियमों को सरल बनाने के पक्षपाती होते हैं जिससे बौद्ध-धर्म अधिक लोक-प्रिय तथा जन-साधारण का धर्म बन जाय । हीनयान सम्प्रदाय वाले केवल अपने ही उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु महायान सम्प्रदाय वाले अपने साथ-साथ अन्य लोगों के कल्याण के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं । हीनयान सम्प्रदाय वाले ईश्वर के अस्तित्व तथा पूजा-पाठ में विश्वास नहीं करते परन्तु महायान सम्प्रदाय वाले बुद्ध जी को परमात्मा मानते हैं और बुद्ध जी तथा बोधिसत्वों की पूजा करते हैं । बोधिसत्व उन लोगों को कहते हैं जो बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं । हीनयान सम्प्रदाय वाले बुद्ध जी को केवल एक महापुरुष ही मानते हैं । अतएव वे उनकी पूजा के पक्ष में नहीं है । परन्तु महायान सम्प्रदाय वाले उन्हें सर्व-शक्तिमान देवता के रूप में देखते हैं । अतएव वे उनकी पूजा करने के पक्ष में हैं । महायान सम्प्रदाय के अनुयायी मूर्ति-पूजक होते हैं और बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा करते हैं, परन्तु हीनयान सम्प्रदाय वाले मूर्ति-पूजक नहीं होते । महायान सम्प्रदाय में जीवन का अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति था, परन्तु हीनयान सम्प्रदाय में जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति था । अर्हत् उस भिक्षु को कहते हैं जिसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है । कालान्तर में महायान सम्प्रदाय में तन्त्र-मन्त्र का भी प्रचार होने लगा । हीनयान सम्प्रदाय के ग्रन्थ-पाली भाषा में लिखे गये हैं, परन्तु महायान सम्प्रदाथ वालों ने संस्कृत में ग्रन्थ-रचना की है ।

बौद्ध-धर्म की उन्नति के कारण—छठी शताब्दी ई० पू० में भारतवर्ष में जितने क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ हुए उनमें सबसे अधिक लोक-प्रिय बौद्ध-धर्म ही था और बड़ी तेजी से इसका प्रचार आरम्भ हुआ । थोड़े ही दिनों में इसका प्रचार सम्पूर्ण उत्तरी भारत में हो गया । धीरे-धीरे दक्षिण-भारत में भी इसका प्रचार हो गया और कालान्तर में न केवल सम्पूर्ण भारत में वरन् विदेशों में भी इसका प्रचार

हो गया और बर्मा, श्रीलंका, तिब्बत, चीन, जापान, मध्य-एशिया, इण्डोचीन, कम्बोज आदि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया। बौद्ध-धर्म के इस व्यापक प्रचार के निम्नलिखित कारण प्रतीत होते हैं।

(१) **वैदिक-धर्म की जटिलता**—जिस समय बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वैदिक-धर्म में जटिलता आ गई थी। यज्ञों का विधान इतना जटिल और खर्चीला हो गया था कि केवल राज-महाराजा ही इनको करवा सकते थे और यह साधारण जनता की शक्ति के बाहर थे। अतएव जनता एक सरल तथा सुबोध धर्म की खोज में थी।

(२) **तर्क का अवलम्बन**—बौद्ध-धर्म की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह बतलाया जाता है कि यह धर्म तर्क पर आधारित था। बुद्ध जी ने जीवन तथा संसार की अन्तिम समस्याओं पर विचार करते समय तर्क का आश्रय लिया था, अन्ध-विश्वास का नहीं।

(३) **बौद्ध-धर्म की व्यावहारिकता**—बौद्ध-धर्म अत्यन्त व्यावहारिक था। इससे इसकी तीव्र गति से उन्नति हुई। बुद्ध जी कोरे उपदेशक ही न थे वरन् उन्होंने अपने उपदेशों को व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित कर दिखाया। इसी से उनके धर्म की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता को स्वीकार करने के लिए सभी उद्यत हो गए।

(४) **बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व तथा उनका प्रयास**—बुद्ध जी का चरित्र इतना पवित्र था और उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण था कि राजा तथा रंक सभी उनके उपदेशों को बड़े चाव से सुनते थे और उनके अनुयायी बन जाते थे। विलियम्स महोदय का कहना है कि बुद्ध जी के "व्यक्तिगत चरित्र का प्रभाव उनके उपदेशों के अद्भुत आकर्षण से मिलकर अचूक हो जाता था।"[1] बुद्ध जी ज्ञान प्राप्त करने के ४५ वर्ष बाद तक घूम-घूम कर बड़ी संलग्नता के साथ अपने मत का प्रचार करते रहे। इससे उनके जीवन-काल में ही उनके धर्म का काफी प्रचार हो गया था।

(५) **जन-साधारण की भाषा का प्रयोग**—बुद्ध के धर्म के अत्यन्त लोकप्रिय बनने का यह कारण था कि उन्होंने अपने धर्म का प्रचार संस्कृत में नहीं किया जो विद्वानों की भाषा थी वरन् उन्होंने अपने उपदेश पाली भाषा में दिये जो जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा थी और जिसे सभी लोग समझ सकते थे।

(६) **प्रसार-शैली की रोचकता**—बुद्ध जी की प्रचार-शैली बड़ी ही रोचक तथा मन को मोहने वाली होती थी। जिस बात को वह कहना चाहते थे उसे वे दृष्टान्त तथा उदाहरण देकर समझाते थे। इससे लोग उनके उपदेश से प्रसन्न भी हो जाते थे और बड़ी आसानी से वह उनकी समझ में आ जाता था। उपदेश देते समय वे अपने विरोधियों की निन्दा कभी नहीं करते थे। इससे लोगों पर उनकी बात का

---

[1] "The influence of personal character combined with the extraordinary persuasiveness of his teaching was irresistible."
—Monier Williams.

बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था।

(७) **समानता के सिद्धान्त का आधार**—बुद्ध ने जाँति-पाँति तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव को स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में सभी लोग समान थे और उनके धर्म के द्वार सभी के लिए समान रूप से खुले थे। उन्होंने सभी को निर्वाण-प्राप्ति की आशा दिखाई। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी जाति वाले उनकी शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए और उनके धर्म का स्वागत किया।

(८) **मध्यम-मार्ग के वातावरण का प्रभाव**—बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का अनुसरण करके ज्ञान प्राप्त किया था और उन्होंने अन्य लोगों को भी इसी मार्ग पर चलने के लिए कहा। यह मार्ग न कठिन तपस्या का था जिस पर थोड़े ही लोग चल सकते थे और न अत्यन्त विलासिता का था। वरन् यह बीच का मार्ग था जो जन-साधारण के लिए अत्यन्त सरल तथा सुगम था। इससे साधारण जनता उनके इस सरल मार्ग पर दौड़ पड़ी।

(९) **अनुकूल वातावरण का प्रभाव**—जिस समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ था उस समय परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल अर्थात् पक्ष में थीं। यह वह समय था जब लोग यज्ञ, बलिदान, ऊँच-नीच के भेद-भाव आदि से तंग आ गये थे और सरल तथा लोकतन्त्रात्मक धर्म का स्वागत करने के लिए उद्यत थे। इसी से मैक्समूलर महोदय ने लिखा है, "जो कुछ बुद्ध जी ने अनुभव किया वही न्यूनाधिक मात्रा में सहस्त्रों व्यक्तियों द्वारा अनुभव किया गया था और वही उनकी सफलता का रहस्य था।"[१] बौद्ध-धर्म को किसी प्रबल विरोधी-धर्म का सामना नहीं करना पड़ा।

(१०) **बौद्ध विद्वानों तथा दार्शनिकों का प्रयास**—बुद्ध जी की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध विद्वानों तथा दार्शनिकों ने इस धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता पहुँचाई। इन लोगों ने देश के विभिन्न भागों में घूम-घूम कर और विदेशों में जाकर बड़ी संलग्नता के साथ अपने धर्म का प्रचार किया। इन विद्वानों ने कई बार बौद्ध-भिक्षुओं का सम्मेलन किया और बौद्ध-ग्रन्थों के निर्माण में बड़ा योग दिया।

(११) **संघ का प्रभाव**—बौद्ध धर्म के प्रचार में बौद्ध-संघों से भी बड़ी सहायता मिली। संघों के योगदान की प्रशंसा करते हुए विन्सेन्ट स्मिथ महोदय ने लिखा है, "भिक्षु और भिक्षुणियों का सुसंगठित संघ इस धर्म के हाथ का सर्वाधिक प्रभावशाली अस्त्र था।"[२] संघ के साधुओं का जीवन बड़ा ही सरल, पवित्र तथा त्याग का जीवन होता था जिससे जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी। बौद्ध-संघों के विहार देश के

---

1. "What was felt by Buddha had been felt more or less intensely by thousands and this was the secret of his success."

—Max Muller.

2. The well organised body of monks and nuns was the most effective instrument in the hands of this religion."

—V. A. Smith

विभिन्न भागों में बने रहते थे जिनमें बौद्ध-भिक्षु निवास करते थे और घूम-घूम कर जन-साधारण में अपने मत का प्रचार करते थे ।

(१२) **राज-वंशों, सम्राटों तथा धनिकों की सहायता**—बुद्ध क्षत्रिय राजकुमार थे । अतएव उत्तरी भारत के अनेक राजवंशों से उनका सम्बन्ध था । इन सभी राज-वंशों ने बुद्ध के धर्म को अपने राज्य में प्रोत्साहित किया । बिम्बिसार, अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि राजाओं ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर उसे राज-धर्म बनाया और उसके प्रचार के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न किया । अनेक धनी-मानी सेठ-महाजनों ने भी धन-सम्पत्ति से बौद्ध-धर्म की सहायता की ।

(१३) **प्रबल विरोध का अभाव**—सौभाग्य से जिस समय बुद्ध जी ने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया था उन दिनों इन्हें प्रबल विरोधियों का सामना न करना पड़ा । प्रतिद्वन्द्विता के अभाव में इसके प्रचार में बड़ी सुविधा हुई ।

(१४) **बौद्ध-धर्म की सरलता एवं प्रगतिशीलता**—बौद्ध-धर्म की उन्नति का एक यह भी कारण था कि वह बड़ा ही सरल तथा प्रगतिशील था । उस समय का शायद ही कोई धर्म इतना व्यावहारिक था जितना बौद्ध-धर्म । अहिंसा, सत्य-भाषण, गुरुजनों का आदर तथा माता-पिता की आज्ञा का पालन करना, यह सब बड़े ही व्यावहारिक नियम थे और जन-साधारण के लिए इनका पालन करना बिल्कुल कठिन न था । सत्कर्म तथा सदाचार पर ही बुद्ध जी ने सबसे अधिक जोर दिया था और इनका पालन करना सबके लिए सरल था ।

(१५) **उन्नत तथा विशाल साहित्य**—बौद्ध-धर्म के विद्वानों तथा आचार्यों ने बड़े ही विशाल तथा उच्चकोटि के साहित्य की रचना की जिससे बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली । अश्वघोष, नागार्जुन आदि बड़े ही विख्यात विद्वान थे, जिन्होंने बौद्ध-साहित्य को अत्यन्त विशाल तथा उन्नत बना दिया ।

बौद्ध-धर्म के पतन के कारण—यद्यपि बौद्ध-धर्म का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ था परन्तु कुछ ही शताब्दियों के उपरान्त उसका ह्रास भी आरम्भ हो गया । यह पतन सातवीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था और बारहवीं शताब्दी तक यह उन्मूलित-सा हो गया । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि विदेशों में आज भी बौद्ध-धर्म किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है परन्तु अपनी जन्म-भूमि में वह प्रायः समाप्त-सा हो गया है । भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म के पतन के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) **बौद्ध-धर्म की अनीश्वरवादिता**—बौद्ध-धर्म के पतन का एक कारण इसका अनीश्वरवादी होना था । बुद्ध जी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन थे । अतएव बौद्ध-धर्म एक नास्तिक धर्म समझा जाने लगा और साधारण जनता इसकी ओर से विमुख हो गई । ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करके कोई भी धर्म पनप नहीं सकता क्योंकि ईश्वर मनुष्य का बहुत बड़ा अवलम्ब होता है । अतएव बौद्ध-धर्म की नास्तिकता ने इसकी समाधि तैयार कर दी ।

(२) **आन्तरिक मतभेद**—बौद्ध-धर्म के पतन का सबसे बड़ा कारण उसका आन्तरिक मतभेद था । बुद्ध जी की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध-धर्म की एकता समाप्त हो

गई और वह कई शाखाओं में विभक्त हो गया जिनमें सैद्धान्तिक मतभेद था। इस भेद के कारण पारस्परिक ईर्ष्या बढ़ने लगी और लोगों का विश्वास बौद्ध-धर्म से उठने लगा।

(३) **मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन**—बुद्ध का धर्म बड़ा ही सरल तथा विशुद्ध था परन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त उसके मूल सिद्धान्तों में भी परिवर्तन कर दिया गया जिसके परिणाम अच्छे न हुए। महायान शाखा के बौद्धों ने मूर्ति-पूजा की प्रथा आरम्भ कर दी और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करने लगे। अनेक देवी-देवताओं में भी उनका विश्वास हो गया और अनुष्ठान तथा समारोह आदि भी होने लगे। इस प्रकार विशुद्ध-धर्म में अब अनेक आडम्बर तथा अन्ध-विश्वास आ गये और उनमें जनता का विश्वास तथा श्रद्धा न रह गई।

(४) **बौद्ध-संघ में भ्रष्टाचार**—जिस समय बौद्ध-संघों की स्थापना की गई थी उस दिनों विहारों में रहने वाले भिक्षुओं का जीवन बड़ा ही पवित्र तथा आदर्शमय होता था और बौद्ध-धर्म के प्रचार में इनसे बड़ी सहायता मिली थी परन्तु कालान्तर में संघों में भ्रष्टाचार उत्पन्न हो गया। देश के धनी-मानी लोग इन संघों को दान के रूप में धन-सम्पत्ति देने लगे। फलतः इन संघों के पास अपार सम्पत्ति हो गई और भिक्षु लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगे। अब बौद्ध-विहारों में नाच-गाने होने लगे और भिक्षुओं का सरल, त्यागमय तथा लोक-सेवा का जीवन समाप्त हो गया। इससे इन संघों के प्रति लोगों को घृणा हो गई।

(५) **चिन्तकों तथा दार्शनिकों का अभाव**—बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध-धर्म में कोई बड़ा चिन्तक तथा सुधारक उत्पन्न न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-धर्म में धीरे-धीरे जो दोष आते गये वे बढ़ते ही गये और उनके सुधार का कोई प्रयत्न न किया गया। परिणाम यह हुआ कि जब बुद्ध के उच्च एवं निर्मल व्यक्तित्व का प्रभाव समाप्त हो गया तब बौद्ध-धर्म निरन्तर पतनोन्मुख होता गया।

(६) **हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान**—बौद्ध-धर्म को हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान से बहुत बड़ा आघात लगा। जिस समय बौद्ध-धर्म का बड़ी तेजी से प्रचार हो रहा था उस समय ब्राह्मणों का ध्यान अपने धर्म के दोषों की ओर गया और उसमें उन्होंने सुधार करना आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप वैष्णव तथा शैव-धर्म का प्रचार बड़े जोरों के साथ आरम्भ हुआ। ब्राह्मण-धर्म ने उदारता की नीति का अनुसरण किया और बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर बौद्ध-धर्म को अपने में आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। ब्राह्मण-धर्म में शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट आदि इतने उच्च-कोटि के विद्वान् तथा दार्शनिक हुए कि उन्होंने हिन्दू-धर्म में नई जान पैदा कर दी और बौद्ध-धर्म का खण्डन कर उसे बड़ी हानि पहुँचाई। रामानुज आदि भक्तिमार्गी सन्तों ने भक्ति का सरल मार्ग दिखा कर हिन्दू-धर्म की बड़ी सेवा की और बौद्ध-धर्म के प्रभाव को कम किया।

(७) **राजाओं के आश्रय का अभाव**—बौद्ध-धर्म के उत्थान में राजाओं से बड़ी सहायता मिली थी, परन्तु कालान्तर में बौद्ध-धर्म इससे वंचित हो गया और

ब्राह्मण-धर्म को राजाओं का आश्रय प्राप्त हो गया। शुंग-वंश के राजा ब्राह्मण थे, अतएव उन लोगों ने ब्राह्मण-धर्म को आश्रय दिया और उसके उत्थान का प्रयत्न करने लगे। गुप्त-काल के शासकों ने भी ब्राह्मण-धर्म को अपनाया और उसे अपना आश्रय दिया। आगे चल कर राजपूत शासकों ने, जो बड़े ही रण-प्रिय थे, अहिंसा-धर्म का तिरस्कार किया और ब्राह्मण-धर्म का स्वागत किया। इससे ब्राह्मण-धर्म की उन्नति और बौद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा।

(८) **तन्त्र मन्त्र का प्रचार**—बौद्धों में एक शाखा ऐसी थी जो 'वज्रयान' कहलाती थी। वास्तव में यह महायान सम्प्रदाय की एक विकसित शाखा थी। इन लोगों ने विनय के नियमों को भंग कर दिया और अनैतिक कर्मों में लिप्त रहने के नियम बना डाले। फलतः मन्त्र-तन्त्र के विषय में ग्रन्थ लिखे गये और बौद्ध-भिक्षु सीधे-सादे संन्यासी न रह कर तन्त्र-विद्या के प्रवीण पण्डित हो गये और महिला तथा मदिरा से इनका प्रेम हो गया। अब बौद्ध-केन्द्रों में तन्त्र-मन्त्र तथा झाड़-फूंक की शिक्षा दी जाने लगी। इस प्रकार बुद्ध का सरल धर्म जब तन्त्र-मन्त्र का जाल बन गया तो उसका विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था।

(९) **तुर्कों के आक्रमण**—मुसलमानों के आक्रमण का बौद्ध-धर्म पर बड़ा घातक प्रहार पड़ा। मुसलमानों ने बौद्धों के मन्दिरों तथा विहारों को लूटा और उन्हें ध्वस्त किया, जिनका फिर से निर्माण न हो सका। उस संघर्ष और हिंसा के काल में अहिंसात्मक बौद्ध-धर्म के लिए कोई स्थान न था और शीघ्र ही उसका अन्त हो गया।

(१०) **राजपूतों का उत्कर्ष**—राजपूतों के उत्कर्ष से बौद्ध-धर्म को बहुत बड़ा आघात लगा। राजपूतों की हिंसा-वृत्ति तथा युद्ध प्रियता ने अहिंसा-धर्म स्वीकार नहीं किया। फलतः राजपूत बौद्ध-धर्म के स्थान पर हिन्दू-धर्म की ही ओर अधिक आकृष्ट हुए और उन्होंने उसी का आलिंगन किया।

बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म की तुलना—इन दोनों धर्मों का प्रादुर्भाव एक ही समय तथा एक ही प्रकार की परिस्थितियों में हुआ था। ये दोनों ही धर्म छठी शताब्दी ई० पू० में ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध चलाये गये थे, अतएव इन दोनों का लक्ष्य ही ब्राह्मण-धर्म में सुधार करना था। चूँकि ब्राह्मण-धर्म के प्रवर्तक तथा प्रचारक ब्राह्मण थे और उस धर्म पर ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था अतएव ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो जन-साधारण का धर्म कहा जा सके। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-धर्म बड़ा दुरूह तथा अव्यावहारिक था। अतएव ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो अत्यन्त सरल तथा व्यावहारिक हो। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार किया गया था। चूँकि इन दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही था अर्थात् ब्राह्मण-धर्म के दोषों को दूर करना, अतएव इनमें समानता का होना स्वाभाविक ही था।

समानता—जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म में निम्नलिखित समानताएँ पाई जाती हैं :—

(१) **प्रचारकों में साम्य**—इन दोनों ही धर्मों के प्रचारक क्षत्रिय राजकुमार

थे जिन्होंने लगभग तीस वर्ष की अवस्था में राज-पाट छोड़कर सत्य की खोज के लिए संन्यास ले लिया था। दोनों ही ने प्रारम्भ में घोर तपस्या की थी और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर दोनों ही ने अपने धर्म का प्रचार मगध में ही आरम्भ किया था। चूँकि इन दोनों ही धर्मों के प्रचारक क्षत्रिय राजकुमार थे, अतएव इन दोनों ही को क्षत्रिय राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ जिससे उनकी बड़ी उन्नति हुई परन्तु जब राजाश्रय समाप्त हो गया तब दोनों ही अधःपतन की ओर जाने लगे।

(२) **दोनों ही एक वृक्ष की दो शाखाएँ**—यदि हम वैदिक धर्म को एक वृक्ष **मान** लें तो जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म उसकी दो शाखाएँ हो जायेंगी। इन दोनों ही ने वैदिक-धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की थी और उसके दोषों को दूर कर उसे लोकप्रिय बनाना चाहते थे। दोनों ही ने वैदिक-धर्म के कर्म तथा पूर्व-जन्म के सिद्धान्त पर अपने धर्मों को आधारित किया था।

(३) **कर्म तथा सदाचार दोनों की शिक्षा का आधार**—इन दोनों ही धर्मों ने सत्कर्म तथा सदाचार की शिक्षा दी थी। इन दोनों धर्मों का विश्वास था कि मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही उसका आगामी जीवन निश्चित होता है और इन कर्मों के बन्धनों से मुक्त होने के लिए सदाचार नितान्त आवश्यक है। अतएव इन दोनों ने ही आचरण-सम्बन्धी नियम बनाये और उनके पालन पर बड़ा बल दिया।

(४) **दोनों ही का देवी-देवताओं में अविश्वास**—यह दोनों ही धर्म देवी-देवताओं में विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करके कोई अपने कर्मों का फल भोगने से बच नहीं सकता। पूजा-पाठ से आदमी सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता। सत्कर्म तथा सदाचार अर्थात् नैतिक आचरण ही इनसे मुक्ति पाने के एकमात्र साधन हैं।

(५) **दोनों ही वैदिक क्रिया विरोधी**—इन दोनों ही धर्मों ने वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना और तर्क तथा बुद्धि का सहारा लेकर सत्य की खोज आरम्भ की। वैदिक यज्ञों तथा बलिदानों को उन्होंने निरर्थक समझा और इनके स्थान पर उन्होंने नैतिक आचरण, पवित्र जीवन तथा सत्कर्म पर बल दिया। ब्राह्मणों की प्रधानता को भी इन दोनों धर्मों ने स्वीकार नहीं किया।

(६) **दोनों ही द्वारा सामाजिक समानता को समर्थन**—इन दोनों ही धर्मों ने जाति-गत भेद-भाव तथा ऊँच-नीच एवं छुआछूत के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया और मनुष्य मात्र की समानता को स्वीकार किया।

(७) **दोनों ही का जनसाधारण की भाषा में प्रचार**—इन दोनों धर्मों ने संस्कृत को त्याग दिया और प्राकृत तथा पाली में, जो जन-साधारण की भाषाएँ थीं, अपने धर्म का प्रचार किया। इन्हीं भाषाओं में इन दोनों धर्मों ने अपने ग्रन्थों की रचना की। इसी से यह दोनों धर्म बड़े ही लोकप्रिय बन गये।

(८) **दोनों ही में संघ की व्यवस्था**—इन दोनों धर्मों ने संघों का निर्माण

किया और उनमें सम्मलित होने वाले भिक्षुओं के लिये नियम बनाये । इन भिक्षुओं के रहने के लिए विहारों अर्थात् मठों का निर्माण किया गया । दोनों ने ही भिक्षुओं तथा गृहस्थों के लिये अलग-अलग नियम बनाये थे ।

(९) **दोनों ही के तीन रत्न तथा तीन धार्मिक ग्रन्थ**—इन दोनों धर्मों के तीन-तीन रत्न हैं । जैन-धर्म के तीन रत्न सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र हैं और बौद्ध-धर्म के तीन रत्न बुद्ध, धर्म तथा संघ हैं । इसी प्रकार इन दोनों ही के तीन-तीन ग्रन्थ हैं । जैनियों के तीन धार्मिक ग्रंथ अंग, उपांग तथा मूल हैं और बौद्धों के सुत्त-पिटक, विनय-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक हैं । यही तीनों ग्रन्थ त्रिपिटक के नाम से पुकारे जाते हैं ।

(१०) **दोनों ही दो प्रधान सम्प्रदायों के विभक्त**—यह दोनों ही धर्म दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त हैं । जैन लोग श्वेताम्बर तथा दिगम्बर में और बौद्ध लोग हीनयान तथा महायान में बँटे हैं ।

विषमता—जैन तथा बौद्ध-धर्मों में उपर्युक्त समानता होते हुए भी उनमें अनेक सैद्धान्तिक अन्तर थे जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं :—

(१) **आत्मा के सम्बन्ध में मतभेद**—बुद्ध आत्मा के अस्तित्व के विषय में मौन थे और इस सम्बन्ध में बातचीत करना निरर्थक समझते थे परन्तु जैनी लोग आत्मा के अस्तितत्र को मानते थे और उसके विकास पर बल देते थे जो उन्नति करके अन्त में परमात्मन् के पद को प्राप्त कर सकती थी ।

(२) **मोक्ष सम्बन्धी धारणा में मतभेद**—जैनियों के विचार में मोक्ष आत्मा की वह दशा है जब दुःखों से मुक्ति हो जाती है परन्तु बौद्धों के विचार में निर्वाण का तात्पर्य अपने व्यक्तित्व को पूर्ण-रूप से समाप्त कर देना है । जैनियों के विचार में मोक्ष की प्राप्ति इस जीवन के समाप्त हो जाने पर होती है परन्तु बौद्धों के विचार में निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में ही हो सकती है ।

(३) **मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध में मतभेद**—जैनी लोग तपस्या, व्रत, उपवास आदि को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानते हैं परन्तु बौद्ध लोग इनमें बिल्कुल विश्वास नहीं रखते । उनके विचार में शरीर को कष्ट देने से कोई लाभ नहीं है और स्वस्थ शरीर से ही मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है । इसी से बौद्ध लोग मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

(४) **अहिंसा के सम्बन्ध में मतभेद**—जैनियों की अहिंसा की धारणा बौद्धों से कहीं अधिक उच्चकोटि की है । जैनी लोग छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की भी हत्या करना पाप समझते हैं । हत्या करने की कौन कहे इन जीवों की हत्या की कल्पना को भी जैनी लोग पाप समझते हैं परन्तु कुछ परिस्थितियों में बौद्ध लोग मांस-भक्षण की आज्ञा देते हैं और चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों में जहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था, मांस-भक्षण होता था ।

(५) **प्रचार की व्यापकता, प्रगति तथा स्थायित्व में अन्तर**—जैन-धर्म का प्रचार मुख्यतः वैश्य जाति में ही हुआ था परन्तु बौद्ध-धर्म जन-साधारण का धर्म बन

गया और सभी जातियों में उसका प्रचार हुआ। जैन-धर्म केवल भारत की सीमा के अन्दर ही रह गया परन्तु बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत की सीमा से बाहर मध्य-एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, श्रीलंका आदि देशों में भी हुआ। बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तेजी के साथ परन्तु जैन-धर्म का प्रचार धीरे-धीरे स्थायी हो गया और इस धर्म के अनुयायी अब भी काफी संख्या में भारतवर्ष में पाये जाते हैं। बौद्धों की संख्या भारतवर्ष में नगण्य है।

(६) **राजकीय प्रश्रय की प्राप्ति में अन्तर**—जैन-धर्म की अपेक्षा बौद्ध-धर्म को महान् सम्राटों का अधिक आश्रय प्राप्त हुआ। अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि महान् सम्राटों ने बौद्ध-धर्म को अपना संरक्षण दिया और अशोक ने तो उसका प्रचार एशिया के अधिकांश भागों में करा दिया। जैन-धर्म को इस प्रकार का राजकीय संरक्षण तथा प्रोत्साहन न प्राप्त हो सका।

(७) **हिन्दू-धर्म से पृथकता स्थापित करने में अन्तर**—बौद्ध-धर्म जैन-धर्म से कहीं अधिक क्रांतिकारी था। बौद्ध-धर्म ने हिन्दू-धर्म से अपना सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ लिया परन्तु जैन-धर्म हिन्दू-धर्म से अब तक अपना सम्वन्ध बनाये है और उसके एक अंग के रूप में विद्यमान है।

(८) **भाषा में अन्तर**—महावीर स्वामी ने अपने धर्म का प्रचार प्राकृत भाषा में किया था, और अधिकांश जैन-ग्रन्थ प्राकृत में ही लिखे गये हैं, परन्तु बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार पाली भाषा में किया था और अधिकांश बौद्ध-ग्रन्थ पाली भाषा में ही लिखे गये हैं।

ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध-धर्मों की तुलनात्मक विवेचना—ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध-धर्मों की विवेचना पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। अब उनके पारस्परिक सम्वन्ध की विवेचना कर लेना आवश्यक है। इस पर हम सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

(१) **सैद्धांतिक दृष्टिकोण**—ब्राह्मण-धर्म भारत का सबसे अधिक प्राचीन धर्म है। इसी से उसे सनातन-धर्म कहते हैं। परन्तु बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म सुधारवादी धर्म हैं जो ब्राह्मण धर्म के दोषों के विरुद्ध बाद में चलाये गये थे।

ब्राह्मण-धर्म वेदों को प्रामाणिक धर्म मानता है और उन्हीं को सच्चे ज्ञान का साधन मानता है। वह वेदों को देव-वाणी समझता है और उनमें जो कुछ लिखा है उसे सर्वथा सत्य समझता है। परन्तु बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते। यह दोनों ही बुद्धिवादी धर्म हैं और तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं।

ब्राह्मण-धर्म ईश्वर, प्रकृति (तत्व) तथा आत्मा तीनों की सत्ता में विश्वास करता है और सृष्टि को ईश्वर की रचना मानता है जो प्रकृति तथा आत्मा को संयुक्त कर सृष्टि को बना देता है। जैन-धर्म ईश्वर को सृष्टि का रचयिता नहीं मानता। यह जीव तथा तत्व को स्वतन्त्र तथा शाश्वत मानता है और दोनों ही के संयोग से

सृष्टि निरन्तर चलती रहती है और उसका कभी विनाश नहीं होता। जैन-धर्म आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है और उसके विकास पर बल देता है। बुद्ध ईश्वर तथा आत्मा के विषय में मौन रहे और सृष्टि को उन्होंने मानव कर्मों का परिणाम बतलाया। सृष्टि कर्त्ता के रूप में ईश्वर में विश्वास करने के कारण ब्राह्मण धर्म वाले उनकी पूजा तथा उपासना करते हैं परन्तु बौद्ध-धर्म वाले बुद्ध जी की और जैन-धर्म वाले अपने तीर्थङ्करों की पूजा करते हैं।

कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष में इन तीनों धर्मों का विश्वास है। ये तीनों धर्म इस बात पर सहमत हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही बार-बार जन्म लेता है और जब वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह जन्म-मरण से मुक्त को जाता है, परन्तु मोक्ष के सम्बन्ध में तीनों धर्मों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। ब्राह्मण-धर्म तथा जैन-धर्म मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की प्राप्ति की आशा दिलाते हैं परन्तु बौद्ध-धर्म इस जीवन में ही निर्वाण प्राप्ति की आशा दिलाता है।

ब्राह्मण-धर्म भाव प्रधान तथा दार्शनिक है, जैन-धर्म में बहुत कम दार्शनिक विवेचन है और बौद्ध-धर्म में तो बिल्कुल ही नहीं है। ब्राह्मण-धर्म व्यावहारिक धर्म नहीं, परन्तु बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म व्यावहारिक तथा नैतिक हैं। उपनिषदों में ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध में जो उच्च-कोटि की विवेचना की गई है वह किसी दूसरी जगह नहीं मिलती। अपने आचरण के नियमों के लिए बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म उपनिषदों से ऋणी हैं।

(२) **व्यावहारिक दृष्टिकोण से**—ब्राह्मण-धर्म, यज्ञों, अनुष्ठानों, समारोहों, बलि, मन्त्रोच्चारण आदि में विश्वास करता था। यह सब क्रियाएँ बड़ी ही कठिन थीं और सर्व-साधारण की पहुँच के बाहर थीं। यज्ञ तथा बलिदान का बौद्ध तथा जैन-धर्मों ने घोर विरोध किया और यज्ञों के स्थान पर सत्कर्म तथा सदाचार पर और बलि के स्थान पर अहिंसा पर बल दिया। बौद्ध तथा जैन-धर्म ने प्राणि-मात्र पर दया दिखलाने का आदेश दिया और जीवों की हत्या को महापाप बतलाया।

ब्राह्मण-धर्म में साधुओं का कोई संगठन या संघ न था परन्तु बौद्ध तथा जैन-धर्मों ने अपने भिक्षुओं को संघों में संगठित कर लिया था और उनके रहने के लिए विहारों का निर्माण किया। बौद्ध-विहार कालान्तर में शिक्षा तथा धर्म प्रचार के बहुत बड़े केन्द्र बन गये। नालन्दा इसी प्रकार का बहुत बड़ा केन्द्र था।

ब्राह्मण-धर्म में धर्म-प्रचार की मनोवृत्ति न थी। प्राचीन आर्य भारतवर्ष में ही अपने धर्म का प्रचार करके सन्तुष्ट रहे। जैन-धर्म वाले भी भारत की सीमा के बाहर नहीं गये परन्तु बौद्ध-धर्म के अनुयायियों में अपने धर्म के प्रचार की उत्कट भावना थी। बौद्ध आचार्यों ने भारत के बाहर जाकर बड़े उत्साह तथा साहस के साथ अपने धर्म का प्रचार किया जिससे तिब्बत, चीन, जापान, कम्बोडिया, बर्मा श्रीलंका आदि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया।

ब्राह्मण-धर्म का संस्कृत भाषा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध था। सभी वैदिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं और संस्कृत भाषा ही धार्मिक तथा दार्शनिक

विचारों को व्यक्त करने के उपयुक्त समझी जाती थी। परन्तु जैन धर्म ने अपने धर्म के प्रचार तथा ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत का और बौद्ध-धर्म ने पाली का आश्रय लिया जो जन-साधारण की बोल-चाल की भाषाएँ थीं। कुछ बौद्ध तथा जैन-ग्रंथ संस्कृत में भी लिखे गये हैं।

ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध बौद्ध तथा जैन दोनों ही धर्मों ने क्रान्ति की थी परन्तु जहाँ बौद्ध-धर्म ने ब्राह्मण-धर्म से अपना सम्बन्ध बिल्कुल विच्छिन्न कर लिया वहाँ जैन-धर्म ब्राह्मण-धर्म से बिल्कुल अलग न हो सका और उसका एक सुधारवादी अंग बना रहा। जैन-धर्म हिन्दू-व्यवहारों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि में विश्वास रखता गया। सम्भवतः वह इसी से जीवित रह गया।

सामाजिक दृष्टिकोण—ब्राह्मण-धर्म की सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार जाति-प्रथा है जिसमें ब्राह्मणों की प्रधानता है और जिसमें ऊँच-नीच तथा छुआछूत का भेद-भाव है। इसके विपरीत बौद्ध तथा जैन-समाज बड़े ही लोकतन्त्रात्मक है। वे समानता के सिद्धान्त पर आधारित हैं और उनमें ऊँच-नीच अथवा छुआछूत का भेद-भाव नहीं है। इनके धर्म का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला है।

बौद्ध-धर्म की सांस्कृतिक देन—बौद्ध धर्म बड़ा ही क्रान्तिकारी धर्म था। अतएव भारतीयों के जीवन पर इसका बड़ा व्यापक तथा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव हमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों से स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

राजनीतिक प्रभाव—बौद्ध-धर्म को राज-धर्म बनने का महान गौरव प्राप्त है। अशोक, कनिष्क, आदि महान् सम्राटों ने इस धर्म को स्वीकार किया और इसे राज-धर्म बना दिया। इतना ही नहीं, बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार इन प्रतापी सम्राटों ने शासन भी किया। राजनीतिक क्षेत्र में बौद्ध-धर्म की सबसे बड़ी देन यह है कि अहिंसा का उपदेश देकर इसने भारतीय नरेशों तथा राजकुमारों के हृदय में रक्तपात तथा युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। बौद्ध-धर्म से प्रभावित होने के कारण ही अशोक ने युद्ध न करने का संकल्प किया था और अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी नीति को त्याग दिया था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि अशोक की अहिंसा की नीति के कारण ही भारत में सैनिक दुर्बलता आ गई थी और अन्त में मगध साम्राज्य का पतन हुआ था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस शान्ति तथा लोक-सेवा का उपदेश बौद्ध-धर्म ने दिया था उसी की पुकार आज भी विश्व के कोने-कोने में हो रही है और अहिंसा की नीति का अनुसरण करने में ही लोग विश्व का कल्याण समझ रहे हैं। बौद्ध-धर्म ने शासकों को समाज-सेवा तथा लोक-कल्याण का पाठ पढ़ाया था और भारतीय राजाओं को सार्वजनिक हित के कार्यों की ओर उन्मुख किया था। आज भी विश्व के राजनीतिज्ञों को अहिंसा, शान्ति तथा लोक-सेवा के सन्देश को, जिसे बौद्ध-धर्म ने दिया था, अपनाना है और इसी में मानवता का कल्याण है।

(२) **सामाजिक प्रभाव**––भारतीय समाज पर बौद्ध-धर्म का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। जाति-प्रथा का विरोध कर और मानव-समानता के सिद्धान्त का समर्थन कर बौद्ध-धर्म ने समाज में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना की और ऊँच-नीच तथा छुआछूत की भावना को दूर करने में बड़ा योग दिया। भारतीय समाज में समानता, उदारता तथा सहिष्णुता की भावना का प्रसार बौद्ध-धर्म ने ही किया था।

समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा करने में भी बौद्ध-धर्म ने बड़ी सहायता पहुँचाई है। बुद्धजी ने आचरण की पवित्रता पर बहुत अधिक जोर दिया था और सत्य-भाषण, दया, त्याग, आत्म-संयम, अहिंसा, गुरुजनों का आदर, माता-पिता की सेवा करना आदि उत्तम आदर्शों ने भारतीय समाज के नैतिक स्तर को अत्यन्त ऊँचा उठा दिया था। विश्व के किसी भी समाज को स्वस्थ तथा सौम्य बनाने के लिए इन आदर्शों की आवश्यकता है।

(३) **ब्राह्मण-धर्म पर प्रभाव**––बौद्ध धर्म के अहिंसा के उपदेश का प्रभाव ब्राह्मण-धर्म पर पड़े बिना न रहा। ब्राह्मणों ने भी प्राणि-मात्र पर दया दिखाने का उपदेश देना आरम्भ किया और यज्ञों तथा बलिदानों में बहुत कुछ कमी हो गई। कालान्तर में भागवत-धर्म ने, जो ब्राह्मण-धर्म का ही एक संशोधित स्वरूप है, 'अहिंसा परमो धर्म' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। भागवत-धर्म में भक्ति-मार्ग का प्रचार बौद्ध-धर्म के प्रचार के कारण हुआ था।

(४) **सरल एवं लोकप्रिय धर्म का प्रचार**—बुद्ध जी की एक बहुत बड़ी धार्मिक देन यह है कि उन्होंने संसार को ऐसा धर्म दिया जो अत्यन्त सरल तथा सीधा-सादा था। न इसमें कोई गम्भीर दर्शन था और न कोई अनुष्ठान वरन् यह ऐसा धर्म था जिसे साधारण-से-साधारण व्यक्ति समझ सकता था और उसका पालन कर सकता था। इस धर्म का ध्येय था दुख का निवारण कर मोक्ष दिलाना जो सत्कर्म तथा सदाचार से प्राप्त हो सकता था।

(५) **धार्मिक उदारता तथा सहिष्णुता का प्रादुर्भाव**—बुद्ध जी अपने विचारों तथा अपनी शिक्षाओं के प्रचार में बड़े उदार थे। उनका कहना था कि यदि मेरी बातें तथा शिक्षाएँ अच्छी तथा तर्क-संगत प्रतीत होती हैं तो उनको ग्रहण करो अन्यथा नहीं। बुद्ध जी ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया परन्तु उन्होंने किसी की निन्दा नहीं की। धार्मिक उदारता तथा सहिष्णुता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

(६) **बौद्धिक स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव**—ब्राह्मण-धर्म ने वेदों को ही सत्यज्ञान का एकमात्र साधन माना था और वेदों को देववाणी कहा था जिसका विरोध किसी प्रकार नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त केवल ब्राह्मण वर्ग ही इस धर्म की व्याख्या कर सकता था। परन्तु बुद्ध ने धर्म का विवेचन करने में इस प्रकार के बन्धनों को स्वीकार नहीं किया। वे पूर्ण-रूप से बुद्धिवादी थे और किसी भी प्रकार के अन्ध-विश्वास को स्वीकार करने के लिए उद्यत न थे। उन्होंने तर्क का सहारा लिया और प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसने का उपदेश दिया। भारतीय समाज

परम्पराओं, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के जिन बन्धनों में बँधा था उन्हें बुद्ध ने खोल दिया और स्वतन्त्रतापूर्वक विचार तथा मनन करने का पाठ पढ़ाया। यह बुद्ध जी की बहुत बड़ी देन है।

(७) **संघ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव**—भारतीय धार्मिक समाज को बौद्धों की एक बहुत बड़ी देन संघ व्यवस्था है। बौद्ध-धर्म के जन्म के पहले भारतवर्ष में संत-महात्माओं का कोई संघ नहीं होता था। वैदिक-काल के ऋषि, मुनि तथा आचार्य अपने आश्रमों में निवास करते थे और वहीं पर अकेले चिन्तन का कार्य किया करते थे और अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। सर्व प्रथम बुद्ध ने बौद्ध-भिक्षुओं का संघ बनाया और उन्हें बिहारों में रहने का उपदेश दिया। यहीं से बौद्ध-भिक्षु घूम-घूम कर अपने धर्म की शिक्षा दिया करते थे और बड़े ही संयम तथा अनुशासन एवं आत्म-नियन्त्रण का जीवन व्यतीत कर जनता के सामने नैतिक आचरण का आदर्श उपस्थित करते थे। इस प्रकार बौद्ध-संघों ने धर्म-प्रचार करने की भावना को प्रोत्साहित किया और समाज के नैतिक आचरण को ऊँचा उठाने में बड़ा योग दिया। यही बौद्ध-विहार शिक्षा के बहुत बड़े केन्द्र बन गये और नालन्दा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय, जहाँ विदेशों से भी विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए आते थे, बौद्ध-संघ के ही केन्द्र थे। आजकल जो संन्यासियों, महन्तों तथा धर्मोपदेशकों के मठ तथा अखाड़े हैं वे बौद्ध-संघों का ही अनुसरण कर बनाये गये हैं।

(८) **मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव**—विद्वानों की धारणा है कि भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म ने किया। बौद्ध लोग बुद्ध तथा अपने बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बना कर उनकी पूजा करते थे। विहार, चैत्य आदि का निर्माण भी इन्हीं लोगों ने प्रारम्भ किया था। वैदिक-धर्म में मूर्ति-पूजा का प्रचलन न था। वैदिक आर्य केवल वेदियाँ तथा यज्ञशालाएँ ही रखते थे। कालान्तर में बौद्ध-धर्म से प्रभावित होकर ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी भी अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनवा कर उनकी पूजा करने लगे और मन्दिरों का निर्माण होने लगा। इस प्रकार मूर्ति-पूजा का व्यापक प्रचार बौद्ध-धर्म के कारण ही हुआ।

(९) **शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का विकास**—शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का विकास भी बौद्ध-आचार्यों द्वारा ही किया गया था। शून्यवाद के प्रथम आचार्य नागार्जुन और विज्ञानवाद के जन्मदाता मैत्रेय माने जाते हैं। शून्यवाद का यह तात्पर्य है कि परम तत्त्व को बुद्धि-बल अथवा विचार-शक्ति द्वारा नहीं जाना जा सकता वरन् उसका ज्ञान शून्य दृष्टि से किया जा सकता है। विज्ञानवाद के अनुसार चित्त अथवा विज्ञान के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कोई चीज सत्य नहीं है। शेष सब माया अथवा धोखा है। इस प्रकार मायावाद का प्रचार भी बौद्धों द्वारा ही किया गया। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का प्रभाव शंकराचार्य के वेदांत दर्शन पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

(१०) **लोक-साहित्य का विकास**—बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार पाली भाषा में किया जो जन-साधारण की बोलचाल की भाषा थी। बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त

भी बौद्ध आचार्यों तथा धर्मोपदेशकों ने पाली भाषा के ही माध्यम से अपने उपदेश दिये और धार्मिक ग्रन्थों की रचनाएँ की। इसका परिणाम यह हुआ कि पाली भाषा में अत्यन्त विशाल बौद्ध-साहित्य तैयार हो गया। चूँकि बौद्ध-विहार शिक्षा तथा ग्रन्थ-रचना के केन्द्र बन गये अतएव पाली भाषा के विकास में बड़ा योग मिला। ब्राह्मण भी वैदिक संस्कृत की दुरूहता का अनुभव करने लगे और उन्होंने भी लौकिक संस्कृत का प्रादुर्भाव किया।

(११) **कला का विकास**—कला के क्षेत्र में बौद्ध-धर्म की देन अद्वितीय है। बौद्ध लोग बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनाते थे और उनकी पूजा करते थे। ये मूर्तियाँ बड़ी ही सुन्दर तथा सजीव हैं। इस प्रकार मूर्ति-निर्माण-कला अथवा वास्तु-कला के विकास में बौद्ध-धर्म ने बड़ा योग दिया। बौद्ध-भिक्षुओं के निवास के लिए देश के विभिन्न भागों में विहार बनवाये गये। बुद्ध के उपदेशों को अंकित करने के लिए स्तम्भ बनवाये गये। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की स्मृति में पत्थर के बड़े भव्य स्तूपों का निर्माण किया गया। इस प्रकार स्थापत्य-कला के विकास में बौद्ध-धर्म से बड़ा योग मिला। धर्म-परायण बौद्धों ने बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन की कहानी को पाषाण-कला द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। साँची तथा सारनाथ के स्तूप, अजंता की गुफाएँ तथा उनकी चित्रकारी बौद्ध-कला की उत्कृष्टता के ज्वलंत प्रमाण हैं।

(१२) **विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार**—विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को प्रचारित करने का श्रेय बौद्ध-धर्म को ही प्राप्त है। धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति बौद्ध-धर्म में उच्च-कोटि की थी। बौद्ध आचार्यों तथा भिक्षुओं ने अदम्य उत्साह के साथ मध्य-एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया, बर्मा, श्रीलंका आदि देशों में अपने धर्म का प्रचार किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के साथ इनका बड़ा घनिष्ठ तथा स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो गया और इनके साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हो गया। वह सभी देश जिनके साथ भारत का मैत्रीपूर्ण, घनिष्ठ तथा स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो गया भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रहे।

वैष्णव तथा शैव सम्प्रदाय—ये दोनों ही सम्प्रदाय छठी शताब्दी ई० पू० की आस्तिक प्रतिक्रिया के फल हैं। वास्तव में ये दोनों ही सम्प्रदाय ब्राह्मण-धर्म के संशोधित तथा परिष्कृत स्वरूप हैं। ये दोनों ही सम्प्रदाय ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। इन दोनों ही के मूल-मन्त्र भक्ति तथा प्रसाद हैं। वैष्णव लोग विष्णु के और शैव लोग शिव के उपासक होते हैं और उन्हें ईश्वर का अवतार मानते हैं और उनकी भक्ति करके उनका प्रसाद पाकर मोक्ष की प्राप्ति की कामना करते हैं। बौद्ध तथा जैन-धर्म की भाँति ये यज्ञ तथा बलिदान के विरोधी हैं और अपने उपास्य देव का प्रसाद प्राप्त करने के लिए उसकी भक्ति पर बल देते हैं।

अध्याय १२

बौद्धकालीन भारत

"The period from 650 B. C. saw the rise of the two great religions, Jainism and Buddhism, the texts of which throw light not merely on religious but also on political history of the times along with Sanskrit works." —Dr. R. K. Mookerji.

बौद्ध-काल का अर्थ—बौद्ध-काल का तात्पर्य उस युग से है जब महात्मा गौतम बुद्ध तथा उनके धर्म की प्रधानता थी। यह काल छठी शताब्दी ई० पू० का काल था जो एक बहुत बड़ी क्रान्ति का युग था। चूंकि महात्मा गौतम बुद्ध ही इस क्रान्ति के प्रधान प्रवर्तक तथा संचालक थे अतएव उन्हीं के नाम पर इस युग का नाम बौद्ध-काल रख दिया गया है। बुद्ध जी ने यह क्रान्ति करके भारतीय इतिहास में एक नये युग का निर्माण किया जिसे हम लोकतन्त्र तथा बुद्धिवाद का युग कह सकते हैं। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में उन्होंने लोकतन्त्र के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और परम्पराओं तथा अन्ध विश्वासों के स्थान पर बुद्धिवाद का सहारा लिया। धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने एक ऐसे सरल तथा सुबोध धर्म की स्थापना की जिसे हम जन-साधारण का धर्म कह सकते हैं और जिसका द्वार सबके लिए खुला था। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने समानता तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो आज भी लोकतन्त्रीय समाज के दो प्रधान स्तम्भ माने जाते हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने जन-साधारण की भाषा पाली को अपनाकर अपनी लोकतन्त्रीय प्रवृत्ति का परिचय दिया। इस प्रकार बुद्ध जी ने जिस नये युग की स्थापना की उसको उन्हीं के नाम से पुकारना तथ्य-संगत है और विन्सेन्ट स्मिथ का यह कथन कि भारतवर्ष में कभी कोई ऐसा युग न था जिसे बौद्ध-काल कहा जाय निराधार तथा निर्मूल है। छठी शताब्दी ई० पू० के भारतीय समाज पर बुद्ध जी के सिद्धान्तों तथा आदर्शों की स्पष्ट छाप है, अतएव इस काल को बौद्ध-काल कहना तथ्य-संगत तथा तर्क-संगत दोनों है। अब इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन कर देना आवश्यक है।

1.6 [illegible]

राजनीतिक दशा—इस समय उत्तरी-भारत में कोई सार्वभौम सत्ता न थी, अर्थात् कोई ऐसा विशाल साम्राज्य न था जो सम्पूर्ण उत्तरी-भारत को एक राज-सूत्र

में बाँध सकता और एक केन्द्र से सम्पूर्ण उत्तरी भारत का शासन चला सकता। इसके विपरीत काश्मीर से बंगाल तक १६ छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे जो महाजनपद के नाम से पुकारे जाते थे। इन राज्यों के नाम काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज थे। बुद्ध जी के काल में इन राज्यों में परस्पर संघर्ष चल रहा था और धीरे-धीरे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हो रहा था। बड़े तथा शक्तिशाली राज्य छोटे तथा निर्बल राज्यों को अपने में मिला लेने का प्रयत्न कर रहे थे और बड़े-बड़े राज्यों में सार्वभौम सत्ता को प्राप्त करने के लिए होड़ चल रही थी। सभी शक्तिशाली राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे।

इस काल में राजतन्त्रात्मक तथा गणतन्त्रात्मक दोनों प्रकार की शासन-व्यवस्था का प्रचलन था। मगध, कोशल, वत्स तथा अवन्ति में राजतन्त्रात्मक और शेष राज्यों में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा लोग शासन करते थे जिनका पद परम्परागत होता था। राजा निरंकुश नहीं होता था वरन् वह मन्त्रि-परिषद् की सहायता से शासन करता था। निर्दयी तथा अयोग्य राजाओं को पद-च्युत कर दिया जाता था। बुद्धकाल में गणतान्त्रिक जातियां

गण-राज्यों की शासन-व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक थी। इनमें राज्य की शक्ति गण अथवा समूह के हाथ में रहती थी। गण पंचायती राज्य थे। इनका शासन जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहता था। जो व्यक्ति शासन चलाने के लिए निर्वाचित कर लिये जाते थे वे राजा कहलाते थे। इन लोगों की एक परिषद् होती थी। इस परिषद् का एक प्रधान होता था। वह भी राजा ही कहलाता था। वह एक निश्चित काल के लिए निर्वाचित कर लिया जाता था। परिषद् को परामर्श देने के लिए दूसरी सभा होती थी जो 'अष्ट-कुलक' कहलाती थी। इसमें गण के आठ प्रमुख कुलों के प्रतिनिधि होते थे। कई गण-राज्य मिलकर कभी-कभी संघ भी बना लिया करते थे। सम्भवतः बड़े राज्यों से भयभीत होकर आत्म-रक्षा के लिए इस प्रकार के संघ बनाये गये थे। गण-राज्यों का शासन परिषद् के प्रधान के हाथ में रहता था जो गण-मुख्य कहलाता था। वह परिषद् के निश्चय के अनुसार अपने पदाधिकारियों की सहायता से शासन को चलाता था। २। गणतंत्रीय राज्य

यद्यपि इस काल में राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्र दोनों ही प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं परन्तु धीरे-धीरे झुकाव राजतन्त्र की ओर बढ़ता जा रहा था। जिन राज्यों में राजतन्त्रीय व्यवस्था थी उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी और प्रजातन्त्र राज्य निर्बल होते जा रहे थे। जब इन राज्यों में संघर्ष आरम्भ हुआ तो पहले राजतन्त्रात्मक राज्यों ने गणतन्त्रात्मक राज्यों को समाप्त कर दिया और जब राजतन्त्रात्मक राज्यों में सार्वभौम सत्ता के लिए संघर्ष आरम्भ हुआ तब मगध-राज्य ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। अब उन चार बड़े-बड़े राज्यों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है जिनके संघर्ष के फलस्वरूप विशाल मगध-साम्राज्य की स्थापना हुई थी।

कोशल

इनमें पहला राज्य कोशल का था जिसे वर्तमान अवध कहते हैं। इस राज्य के बीच में सरयू नदी बहती थी, अतएव इसकी दो राजधानियाँ थीं। सरयू के उत्तरी भाग की राजधानी श्रावस्ती और दक्षिण भाग की कुशावती थीं। जिन दिनों बुद्ध अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे उन दिनों कोशल में प्रसेनजित् शासन कर रहा था। वह बड़ा ही वीर तथा शक्तिशाली शासक था। कोशल तथा मगध राज्य में सार्वभौम सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहा। अन्त में विजयलक्ष्मी मगध को ही प्राप्त हुई और कोशल का राज्य मगध साम्राज्य में मिल गया।

वत्स

दूसरा प्रधान राज्य वत्स का था। यह कोशल राज्य की दक्षिणी सीमा पर स्थित था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। बुद्ध जी के समय में उदयन इस राज्य का शासक था। प्रारम्भ में उदयन बौद्ध-धर्म का विरोधी था, परन्तु जब बुद्ध जी कौशाम्बी गये तब वह उनके व्यक्तित्व तथा उपदेश से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह उनका भक्त बन गया और उसने बौद्ध-धर्म को राज-धर्म बना लिया। उदयन बड़ा ही रण-प्रिय शासक था और अवन्ति के राजा के साथ उसका जीवन पर्यन्त सङ्घर्ष चलता रहा परन्तु मगध के राजा के साथ उसने सदैव मैत्री रक्खी। अन्त में उदयन की मृत्यु के उपरान्त अवन्ति के राजा ने वत्स पर विजय प्राप्त कर ली और उसे अपने में सम्मिलित कर लिया।

अवन्ति

तीसरा शक्तिशाली राज्य अवन्ति का था। यह राज्य वत्स राज्य के दक्षिण पश्चिम में स्थित था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। बुद्ध जी के समय में प्रद्योत नामक राजा अवन्ति में शासन कर रहा था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी, रण-कुशल तथा नीति-निपुण राजा था। उसका वत्स के राजा उदयन के साथ निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहा। कहा जाता है कि एक बार उदयन को उसने बन्दी बना लिया था। प्रद्योत के उत्तराधिकारी शक्तिशाली न थे, अतएव मगध साम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को वे रोक न सके और उनका राज्य मगध राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

मगध

चौथा प्रधान तथा शक्तिशाली राज्य मगध का था। यह राज्य आधुनिक बिहार के गया तथा पटना जिलों को मिलाकर बना था। राजगृह इसकी राजधानी थी। बुद्ध जी के समय बिम्बिसार मगध में शासन कर रहा था। वह बड़ा ही वीर, साहसी तथा महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसके शासन-काल में मगध के गौरव तथा साम्राज्य में वृद्धि होने लगी। उसने पड़ोसी राज्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया जिससे मगध की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो गई। बिम्बिसार ने अंग राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। उसने बौद्ध तथा जैन दोनों धर्मों को प्रोत्साहन दिया था और दोनों ही उसे अपना अनुयायी मानते थे। बिम्बिसार के अन्तिम दिन बड़े-दुख में बीते। उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसे बन्दीगृह में डाल दिया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

बिम्बिसार के बाद अजातशत्रु मगध के सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता से भी अधिक महत्त्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी था। उसने वज्जि तथा मल्ल के संघ-राज्यों

पर आक्रमण कर उन्हें परास्त किया और अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। अपने पिता की भाँति अजातशत्रु की भी नीति बड़ी उदार थी। पहले वह जैन-धर्म का अनुयायी था परन्तु बाद में वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी तथा बुद्ध जी का परम भक्त बन गया। अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने षड्यन्त्र रच कर अपने पिता की जीवन-लीला समाप्त कर दी।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी बड़े निर्बल थे और उनके शासन काल में भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया कि जनता ने क्रान्ति करके काशी के शासक शिशुनाग को आमन्त्रित कर उसे मगध के सिंहासन पर बिठा दिया। इस प्रकार शिशुनाग-वंश का शासन आरम्भ हो गया परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद इस वंश का अन्त हो गया और मगध में नन्द-वंश का शासन आरम्भ हो गया। नन्द-वंश को समाप्त कर मौर्य-वंश ने मगध ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया जिसका वर्णन आगे किया ~~जायगा~~।

सामाजिक दशा—यद्यपि बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म ने जाति-प्रथा को अस्वीकार किया था परन्तु जाति-प्रथा अब भी पूर्ववत् बनी रही परन्तु उसकी कठोरता में उन प्रदेशों में अवश्य कमी हो गई जहाँ बौद्ध तथा जैन-धर्म का प्रचार हो रहा था। इन प्रदेशों में ब्राह्मणों का महत्त्व कम होता जा रहा था और क्षत्रियों की प्रधानता बढ़ती जा रही थी। चार वर्णों के अतिरिक्त चाण्डाल, निषाद आदि की भी जातियाँ बन गई थीं जो अत्यन्त नीच समझी जाती थीं और जिन्हें नगर के किनारे पर रहना पड़ता था।

बौद्ध तथा जैन-धर्मों के प्रचार के फलस्वरूप ब्राह्मणों की आश्रम-व्यवस्था भी ढीली पड़ रही थी। अब आश्रमों के स्थान पर आचरण की शुद्धता, सेवा आदि पर बल दिया जा रहा था। ब्राह्मणों के प्रभाव के कम हो जाने के कारण आश्रम-व्यवस्था का विरोध हो जाना स्वाभाविक ही था।

इस काल में कई प्रकार के विवाहों का प्रचलन था जिनमें ब्राह्म, गान्धर्व तथा स्वयम्वर प्रधान थे। जब वर-कन्या के माता-पिता अथवा संरक्षक विवाह करते थे तब उसे ब्राह्म-विवाह, यदि वर कन्या स्वयं अपना विवाह कर लेते थे तो उसे गान्धर्व-विवाह और जब किसी प्रतिज्ञा के पूरी होने जाने पर कन्या वर को स्वीकार कर लेती थी तब उसे स्वयम्वर-विवाह कहते थे। कुछ जातियों में सगोत्रीय विवाह का प्रचलन था परन्तु अन्य जातियों में सगोत्रीय विवाह मना था। बहु-विवाह तथा विधवा-विवाह का भी प्रचलन था।

स्त्रियों की दशा इस युग में अधिक सन्तोषजनक न थी। बौद्ध-धर्म में भी, जो समानता के सिद्धान्त का समर्थक था, प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की आज्ञा न थी; परन्तु कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा का ध्यान रक्खा जाता था और उन्हें संगीत तथा घर के अन्य कार्यों में प्रवीण बनाने का प्रयत्न किया जाता था। यद्यपि पर्दे की जटिल प्रथा न थी परन्तु उनके शील तथा लज्जा का ध्यान रक्खा जाता था और पुरुषों से थोड़ा-बहुत उन्हें पर्दा अवश्य करना पड़ता था। कुछ स्त्रियाँ गणिका अथवा वेश्या का कार्य किया करती थीं।

अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते थे क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थों में बहुत कम नगरों का उल्लेख मिलता है। गाँव छोटे-छोटे तथा एक दूसरे के समीप स्थित होते थे। गाँव का प्रधान ग्राम-भोजक कहलाता था। उसकी सहायता के लिए गाँव सभा भी होती थी। गाँव के लोगों का जीवन सरल होता था। नगरों में मकान पक्की ईंटों के बने होते थे और नगर-निवासी बड़े आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत किया करते थे।

आर्थिक दशा—भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण अधिकांश लोगों का व्यवसाय कृषि ही था। किसान भूमि का स्वामी समझा जाता था और उसे अपनी उपज के छठे भाग से बारहवें भाग तक राज्य को लगान के रूप में देना पड़ता था। गाँव के चारों ओर खेत होते थे और खेतों के समीप ही चरागाह रहते थे। इन चरागाहों में गाँव के सभी लोगों को पशु चराने का अधिकार होता था जंगलों तथा चरागाहों के कारण पशु-पालन की बड़ी सुविधा होती थी।

कृषि तथा पशु-पालन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे भी इस युग में लोग किया करते थे। बढ़ई लोग लकड़ी की गाड़ियाँ, रथ, नाव आदि बनाया करते थे। कुम्हार लोग मिट्टी की और चर्मकार लोग चमड़े की अच्छी-अच्छी वस्तुएँ बनाया करते थे। सुनार लोग सोने, चाँदी तथा रत्नों के बड़े सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाया करते थे। हाथी-दाँत का काम भी उन्नत दशा में था। जुलाहे बहुत अच्छे-अच्छे कपड़े बुनते थे। कुछ लोग बहेलिये, मछुए, सँपेरे, नाच-गाने आदि के भी काम करते थे परन्तु ये कार्य समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। विभिन्न व्यवसाय के लोगों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर लिया था। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान होता था जो ज्येष्ठक कहलाता था। ज्येष्ठक का समाज में बड़ा आदर-सम्मान था। इन श्रेणियों के अपने नियम हुआ करते थे।

जातक ग्रन्थों से हमें पता लगता है कि इस काल में आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार भी उन्नत दशा में था। व्यापार जल तथा स्थल दोनों मार्गों से हुआ करता था। भारत से रेशमी वस्त्र, मलमल, कम्बल, सुगंधित पदार्थ, औषधियाँ, मोती, रत्न तथा हाथी-दाँत के सामान विदेशों को भेजे जाते थे। पूर्व से व्यापार करने के लिए ताम्रलिप्ति और पश्चिम से व्यापार करने के लिए भड़ौच के बन्दरगाह को काम में लाया जाता था। आन्तरिक व्यापार के लिए अनेक मार्ग बने हुए थे।

इस युग में मुद्रा का प्रचलन था और क्रय-विक्रय मुद्रा के माध्यम से हुआ करता था। यद्यपि निष्क, शतमान आदि मुद्राओं का पहले से ही प्रचलन था परन्तु इस काल की प्रधान मुद्रा 'कार्षापण' कहलाती थी जो ताँबे की बनी होती थी। बौद्ध-कालीन मुद्राएँ ढाली नहीं जाती थीं वरन् वे पीट कर बनाई जाती थीं। इन मुद्राओं पर 'जनपद', 'श्रेणी' अथवा कोई धार्मिक चिह्न अंकित रहता था।

धार्मिक दशा—धार्मिक दृष्टिकोण से यह युग एक महान् क्रांति का युग था। यह क्रान्ति ब्राह्मण धर्म के दोषों के विरुद्ध की गई थी। ब्राह्मण-धर्म अत्यन्त दुरूह हो गया था और जनसाधारण की समझ के बाहर था। उसमें यज्ञों तथा बलि की व्यवस्था थी और ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था।

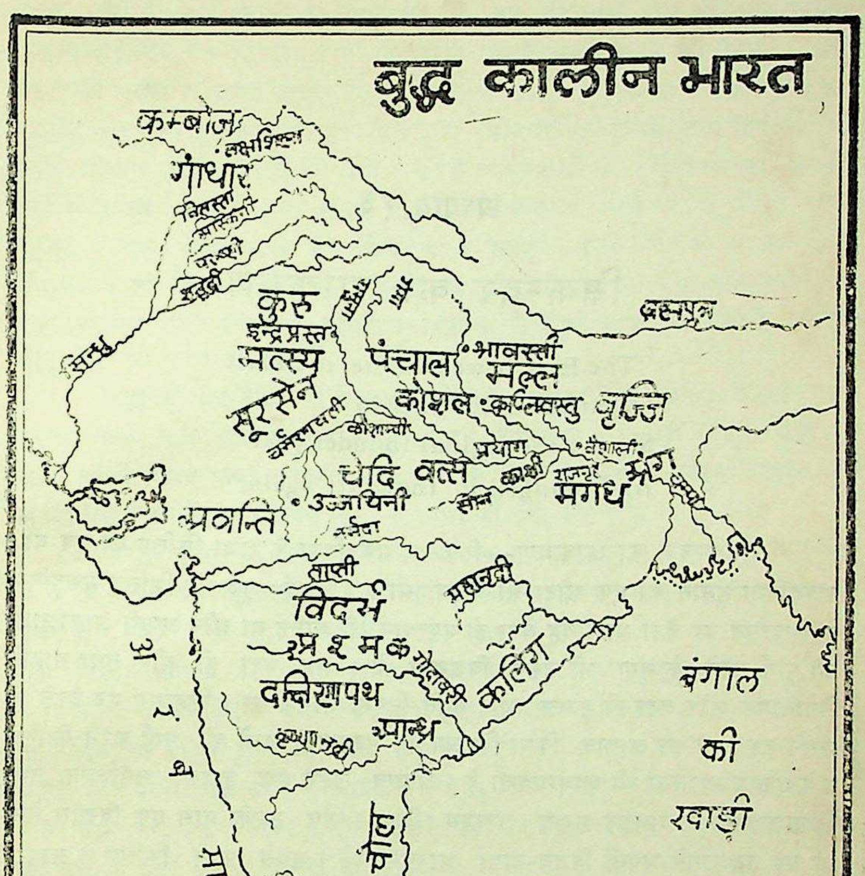
बुद्ध कालीन भारत
कम्बोज
तक्षशिला
गंधार
वितस्ता
असिक्नी
परुष्णी
शुतुद्री
सिन्धु
कुरु
इन्द्रप्रस्थ
मत्स्य
सूरसेन
यमुना
गंगा
पंचाल
श्रावस्ती
मल्ल
कोशल
कपिलवस्तु
वृज्जि
ब्रह्मपुत्र
चर्मनवती
कौशाम्बी
प्रयाग
काशी
राजगृह
वैशाली
अंग
चेदि
वत्स
मगध
उज्जयिनी
सोन
अवन्ति
नर्मदा
ताप्ती
विदर्भ
महानदी
अश्मक
गोदावरी
कलिंग
दक्षिणापथ
आन्ध्र
कृष्णा नदी
चोल
कावेरी
केरल
पाण्डया
ताम्रपर्णी
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर

ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध जो आन्दोलन चलाया गया दो वह रूपों में प्रस्फुटित हुआ। एक आस्तिक था और दूसरा नास्तिक। भागवत तथा शैव-धर्म आस्तिक थे और जैन तथा बौद्ध-धर्म नास्तिक थे। आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही ने सरल मार्ग को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया। आस्तिक धर्म ने भक्ति तथा उपासना द्वारा अपने उपास्य-देव के प्रसाद की प्राप्ति का मार्ग ढूंढ़ा और नास्तिक धर्म ने सत्कर्म तथा सदाचार का मार्ग ढूंढ़ा। ब्राह्मण-धर्म की हिंसा का दोनों ही ने विरोध किया और अहिंसा तथा सदाचार पर बल दिया। इन धर्मों का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

अध्याय १३

सिकन्दर का आक्रमण

"The East bowed before the blast
In patient deep disdain
She let the legions thunder past
And plunged in thoughts again."

सिकन्दर का आक्रमण––सिकन्दर मक़दूनिया के राजा फिलिप का पुत्र था। मकदूनिया यूनान का एक छोटा-सा राज्य था। ३५६ ई० पू० में फिलिप मकदूनिया के सिंहासन पर बैठा था। वह बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करने के गुण भी उसमें विद्यमान थे। वह बड़ा ही वीर तथा साहसी सेनानायक और बड़ा ही कुशल तथा नीति-निपुण शासक था। सिंहासन पर बैठते ही उसने इस बात का अनुभव किया कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए उसे एक प्रबल सेना की आवश्यकता है। अतएव उसने एक कुशल, सुसज्जित तथा विशाल सेना का संगठन करना आरम्भ किया। जब उसके पास एक विशाल सेना हो गई तब उसने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की। सबसे पहले फिलिप ने सम्पूर्ण मकदूनिया पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने अपने पड़ोसी निर्बल राज्यों पर विजय प्राप्त करनी आरम्भ की और थोड़े ही दिनों में उसने मकदूनिया के छोटे से राज्य को एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। अब वह सम्पूर्ण यूनान पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। दुर्भाग्यवश उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका। ३३६ ई० पू० में उसका वध कर दिया गया और वह अपनी अपूर्ण आकांक्षाओं के साथ परलोकवासी हो गया।

फिलिप की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र सिकन्दर ३३६ ई० पू० में मकदूनिया के सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था केवल बीस साल की थी परन्तु उसमें अपने पिता के साम्राज्य को सँभालने की पूर्ण क्षमता थी। उसके पिता ने उसे सैनिकोचित सभी प्रकार की शिक्षाएँ दी थीं और युद्ध-कला में उसे अत्यन्त प्रवीण बना दिया था। फिलिप ने अपने पुत्र के न केवल शारीरिक विकास का वरन् उसके बौद्धिक विकास का भी प्रयत्न किया था। उसने उस काल के सुविख्यात दार्शनिक अरस्तू को सिकन्दर का शिक्षक तथा संरक्षक नियुक्त कर दिया था। अपने गुरु के

महान् व्यक्तित्व तथा सुरक्षा के प्रभाव से सिकन्दर को अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति से विशेष प्रेम हो गया और विदेशों में उसके प्रचार करने का उसने संकल्प कर लिया था। सिकन्दर अपने पिता की भाँति बड़ा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह बड़ा ही वीर तथा कुशल सेनानायक सिद्ध हुआ और सैनिक-संगठन तथा संचालन की अपूर्व प्रतिभा उसमें दिखाई देने लगी। अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करने का उसकी नसों में अदम्य उत्साह तथा साहस था। अपने पिता के जीवन-काल में ही उसने पर्याप्त सैनिक अनुभव प्राप्त कर लिया था। अतएव अपने पिता के साम्राज्य को सँभालने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई न हुई। सौभाग्य से उसे अपने पिता की एक अत्यन्त सुसज्जित तथा सुशिक्षित विशाल सेना भी प्राप्त थी जिससे उसका कार्य और भी सरल हो गया।

सिंहासन पर बैठते ही सिकन्दर को कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा परन्तु उसने बड़ी सफलतापूर्वक उनका दमन कर दिया। विद्रोहों से मुक्ति पाते ही उसने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ कर दी और थोड़े ही दिनों में सम्पूर्ण यूनान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर अपने पिता के स्वप्न को पूरा कर दिया।

सम्पूर्ण यूनान पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने के उपरान्त सिकन्दर में विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा प्रज्ज्वलित हो उठी और वह सम्पूर्ण संसार का शासक बनने का स्वप्न देखने लगा। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए ३३४ ई० पू० में एक विशाल सेना के साथ उसने प्रस्थान कर दिया। अपनी अद्भुत सैनिक प्रतिभा तथा अपनी कुशल सेना के बल से सम्पूर्ण एशिया माइनर, भूमध्यसागर के प्रदेशों तथा फोनिशिया को रौंदता हुआ वह नील नदी की घाटी में आ डटा और मिस्र पर विजय प्राप्त कर उसने उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। अपनी विजय स्मृति में और अपने नाम को अमर बनाने के लिए उसने वहाँ पर सिकन्दरिया नामक नगर बसाया जो अब भी इसी नाम से पुकारा जाता है।

मिस्र पर अपनी विजय पताका फहराने के उपरान्त सिकन्दर ने फिर एशिया की ओर प्रस्थान कर दिया और ईरान के जर्जरित साम्राज्य पर टूट पड़ा। इन दिनों ईरान में दारा द्वितीय शासन कर रहा था! उसमें न सिकन्दर की सी सैनिक योग्यता थी और न उसके सैनिकों में वैसी दृढ़ स्वामिभक्ति थी जैसी सिकन्दर के सैनिकों में थी। अतएव भयभीत हो कर उसने सिकन्दर के सामने घुटने टेक दिये और उसके पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। सिकन्दर ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और अपनी विशाल सेना के साथ आगे बढ़ता ही गया। सीरिया तथा बेबीलोन होता हुआ वह दजला नदी के मैदान में आ डटा। विवश होकर दारा को युद्ध करना पड़ा। यहीं पर दारा की विशाल सेना के साथ सिकन्दर की मुठभेड़ हुई। यद्यपि दारा की सेना सिकन्दर की सेना से कहीं अधिक बड़ी थी परन्तु रण-कौशल के अभाव के कारण वह परास्त हो गई और मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई। दारा स्वयं भी रण-क्षेत्र से पलायन कर गया। परन्तु सिकन्दर ने उसे दम न लेने दिया। वह अपनी विजयी सेना के साथ उसका पीछा करता हुआ उत्तर की ओर बढ़ा। अपनी पराजय

से दुःखी तथा लज्जित होकर ईरानियों ने दारा की हत्या कर दी। दारा के वध की सूचना पाते ही सिकन्दर ने उसका पीछा करना बन्द कर दिया और कैस्पियन सागर के किनारे-किनारे वह आगे बढ़ा। खुरासान, पार्थिया तथा हिन्दूकुश को रौंदता हुआ वह भारत की सीमा पर आ डटा और इस विशाल तथा सम्पन्न देश पर विजय प्राप्त करने की योजनाएँ बनाने लगा।

✓सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की दशा—जिस समय सिकन्दर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर विद्यमान था उस समय उत्तरी-पूर्वी भारत में मगध साम्राज्य का उत्थान हो रहा था। मगध के शक्तिशाली सम्राट् अपने पड़ोसी राज्यों को परास्त कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित करते जा रहे थे और इस प्रकार मगध-साम्राज्य का विस्तार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। मगध की साम्राज्यवादी नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत के उत्तरी-पूर्वी भाग में छोटे-छोटे राज्यों का विनाश हो गया और एक प्रबल साम्राज्य की स्थापना हो गई जो विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना करने की क्षमता रखता था।

भारत के पश्चिमोत्तर भाग की दशा इसके बिल्कुल विपरीत थी। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह प्रदेश बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया था। इस प्रदेश में न कोई सार्वभौम सत्ता थी और न कोई केन्द्रीय शासन था। यहाँ पर कोई भी ऐसा प्रबल राज्य न था जो अन्य राजाओं पर अपना प्रभाव डाल सके और विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए एक संयुक्त मोर्चा तैयार कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि इस भू-भाग में गान्धार तथा कम्बोज दो शक्तिशाली राज्य थे परन्तु उनमें भी अन्य राज्यों को संगठित करने की क्षमता न थी! वास्तव में इस प्रदेश के किसी भी राज्य में विशाल साम्राज्य को स्थापित करने की न तो क्षमता थी और न मनोवृत्ति ही। परिणाम यह हुआ कि यह प्रदेश छोटे-छोटे राज्यों का एक संग्रहालय बन गया। ये राज्य एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र थे और एक-दूसरे के विनाश तथा उन्मूलन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। यद्यपि ये राज्य छोटे थे परन्तु बड़े सम्पन्न तथा वैभवशाली थे और इन्हें लूटने के लिए विदेशी आक्रमणकारी लालायित हो सकते थे। यद्यपि ये छोटे-छोटे राज्य शक्तिवान् थे परन्तु पारस्परिक कलह तथा ईर्ष्या-द्वेष के कारण उनकी व्यक्तिगत शक्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। पश्चिमोत्तर प्रदेश की इस राजनीतिक दुर्बलता तथा आर्थिक सम्पन्नता से सर्वप्रथम ईरान का सम्राट् कुरुष आकृष्ट हुआ था और उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी छोर पर अपना अधिकार जमा लिया था। लगभग ५१७ ई० पू० में कुरूष के वंशज दारा प्रथम ने सिन्धु-घाटी के प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के समय ईरानियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया था और उसे इस प्रदेश के हिन्दू राजाओं के साथ ही लोहा लेना पड़ा था।

✓सिकन्दर का भारतीय आक्रमण—ईरान के साम्राज्य को रौंदने के उपरान्त सिकन्दर हिन्दूकुश के समीप आ डटा। उसकी विश्व-विजय की आकांक्षा, भारत की धन-सम्पन्नता तथा राजनीतिक विच्छिन्नता ने उसे भारत पर आक्रमण करने

के लिए प्रोत्साहित किया। ३२७ ई० पूर्व में उसने हिन्दूकुश को पार किया और काबुल में आ पहुँचा। यहाँ पर उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया। एक भाग का संचालन उसने दो अनुभवी तथा विश्वासपात्र सेनापतियों को सौंप दिया और दूसरे का संचालन स्वयं अपने हाथ में ले लिया। उसके दोनों सेनापतियों की सेना खैबर दर्रे की ओर बढ़ीं जो भारत का प्रवेश द्वार था। भारतीयों ने इस दर्रे की सुरक्षा की कोई व्यवस्था न की थी। अतएव यूनानी सेना ने निर्विरोध अत्यन्त सरलता के साथ इस दर्रे को पार कर लिया और पेशावर के मैदान में आ गई। इस समय इस प्रदेश में अष्टक नाम की जाति शासन कर रही थी। यूनानी सेना ने उसे परास्त कर दिया और सिन्धु नदी की ओर वह आगे बढ़ी।

सिकन्दर की सेना का दूसरा भाग, जिसका संचालन वह स्वयं कर रहा था, स्वात तथा बैजोर नदी की घाटियों में प्रविष्ट हुआ। इस प्रदेश में कई लड़ाकू जातियाँ निवास करती थीं। सिकन्दर उन्हें परास्त कर आगे बढ़ा। जब वह काबुल नदी के उत्तरी मार्ग से बढ़ रहा था तब उसे अश्मक नामक पहाड़ी जाति का सामना करना पड़ा। अश्मकों को सिकन्दर ने परास्त किया और बड़ी निर्दयतापूर्वक उनका वध कराया। दो-एक और छोटे-छोटे राज्यों को परास्त कर सिकन्दर सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। उसकी प्रथम सेना भी सिन्धु नदी की ओर बढ़ रही थी। ओहिन्द नामक स्थान पर उसकी दोनों सेनाएँ एक दूसरे से आ मिलीं। अब सिकन्दर की सम्मिलित सेना ने सिन्धु नदी को पार कर लिया और किसी भी देशी नरेश ने उसका विरोध न किया।

सिकन्दर के मार्ग में दो बड़े ही शक्तिशाली राजा शासन कर रहे थे। एक का नाम था आम्भी और दूसरे का पुरु अथवा पोरस। यदि वह दोनों मिलकर सिकन्दर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लेते और डटकर उसका सामना करते तो सम्भवत: सिकन्दर आगे न बढ़ पाता। परन्तु ऐसा न हो सका। इन दोनों राजाओं में भयंकर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी और शत्रु के विरुद्ध सहयोग तथा गठ-बन्धन करने के स्थान पर यह दोनों एक-दूसरे को विनष्ट करने का उपाय सोच रहे थे। आम्भी ने सिकन्दर की सहायता से पुरु को नीचा दिखाने तथा उसके राज्य को विनष्ट करने का निश्चय कर लिया।

आम्भी का राज्य सिन्धु नदी के पूर्व में स्थित था और तक्षशिला उसकी राजधानी थी। आम्भी ने अपनी मैत्री का संदेश सिकन्दर के पास भेज दिया था और वह उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। सिकन्दर की सेना आगे बढ़ते चली आ रही थी और ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने अपनी सेना के साथ तक्षशिला में प्रवेश किया। आम्भी ने बड़े समारोह के साथ सिकन्दर का स्वागत किया और उसका बड़ा आदर-सम्मान किया। उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। सिकन्दर ने उसे अपना सामन्त बनाकर उसे तक्षशिला का ही शासक बना दिया। आम्भी ने पुरु तथा अन्य राजाओं के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता करने का वचन दिया।

तक्षशिला से सिकन्दर ने पुरु के राज्य पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान

कर दिया । अपनी सेना के साथ आम्भी भी उसके साथ था और उसका पथ-प्रदर्शन कर रहा था । पुरु का राज्य झेलम तथा चिनाब नदियों के बीच स्थित था । सिकन्दर अपनी सेना के साथ झेलम नदी के पश्चिमी तट पर आ डटा । पुरु पहले से ही अपनी सेना के साथ यूनानियों का सामना करने के लिए नदी के पूर्वी तट पर विद्यमान था । कई महीने तक दोनों दलों की सेनाएँ नदी के दोनों किनारों पर पड़ाव डाले पड़ी रहीं परन्तु किसी को भी नदी के पार करने का साहस न हुआ । अन्त में वर्षा ऋतु आ गई । एक दिन रात्रि के समय जब आकाश में घने बादल छाये थे और भयंकर आँधी चल रही थी तब सिकन्दर ने अपनी सेना के साथ उत्तर की ओर प्रस्थान कर दिया । नदी के किनारे-किनारे बीस मील की यात्रा कर उसने रात्रि के भीषण अन्धकार में नदी को पार कर लिया । जब पुरु को इसकी सूचना मिली तब वह भी शत्रु का सामना करने के लिए सजग हो गया । उसकी सेना में हाथी, रथ तथा पैदल सैनिक विद्यमान थे जो बल्लम तथा धनुष-बाण से सुसज्जित थे । उस दिन बड़े जोर की वर्षा हुई थी, अतएव लड़ाई का मैदान जल तथा कीचड़ से भर गया था । ऐसी ही परिस्थिति में पुरु तथा सिकन्दर की सेनाओं में संघर्ष आरम्भ हुआ । युद्ध के प्रारम्भ में तो भारतीयों ने ऐसी वीरता तथा साहस के साथ शत्रुओं का सामना किया कि सिकन्दर को विजय की आशा बिल्कुल न रही । परन्तु प्रकृति ने सिकन्दर का पूरा साथ दिया । रणक्षेत्र पंकमय (कीचड़ से युक्त) होने के कारण रथों के पहिये कीचड़ में धँस गये और उनका सुचारु-रीति से संचालन करना असंभव हो गया । चूँकि पैदल सैनिकों को पृथ्वी पर टेक कर अपने धनुष-बाण चलाने पड़ते थे अतएव वे भी उनका ठीक से प्रयोग न कर सके । पुरु की सेना भी इतनी विशाल थी कि उसका सुचारु-रीति से संचालन न हो सका । इधर वीर सिकन्दर के नेतृत्व में उसके अश्वारोही पुरु की हस्ति-सेना पर भीषण बाण-वर्षा कर रहे थे । हाथी घायल होकर बिगड़ गये और अपने ही सैनिकों को रौंदने लगे । इससे सेना में भगदड़ मच गयी । परन्तु वीर पुरु रणक्षेत्र में ही डटा रहा और अपने विशाल हाथी पर बैठ कर युद्ध करता रहा । जब उसने देशद्रोही तथा नीच आम्भी को देखा तब वह उस पर टूट पड़ा परन्तु आम्भी बच गया । पुरु घायल हो गया । अब सिकन्दर की सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया और उसे बन्दी बना लिया । जब वह सिकन्दर के पास लाया गया तो सिकन्दर ने उससे पूछा, "तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ?" पुरु में उच्चकोटि का स्वाभिमान तथा आत्म-सम्मान था । उसने बड़ी वीरता के साथ शत्रु का सामना किया था । अतएव पराजय हो जाने पर भी उसका मस्तक शत्रु के सामने उन्नत था । उसने गर्व के साथ उत्तर दिया, "जैसा कि एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है ।" सिकन्दर बहुत बड़ा कूटनीतिज्ञ था । वह पुरु की मैत्री के महत्त्व को समझता था और जानता था कि शेष भारत की विजय करने के लिए उसके साथ मैत्रीपूर्ण समझौता कर लेना आवश्यक है । वह पुरु के उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ । उसने पुरु का राज्य उसे लौटा दिया और उसे अपना मित्र बना लिया । पुरु ने सिकन्दर के साथ कभी विश्वघात नहीं किया और जब तक वह भारतवर्ष में अपनी विजय-

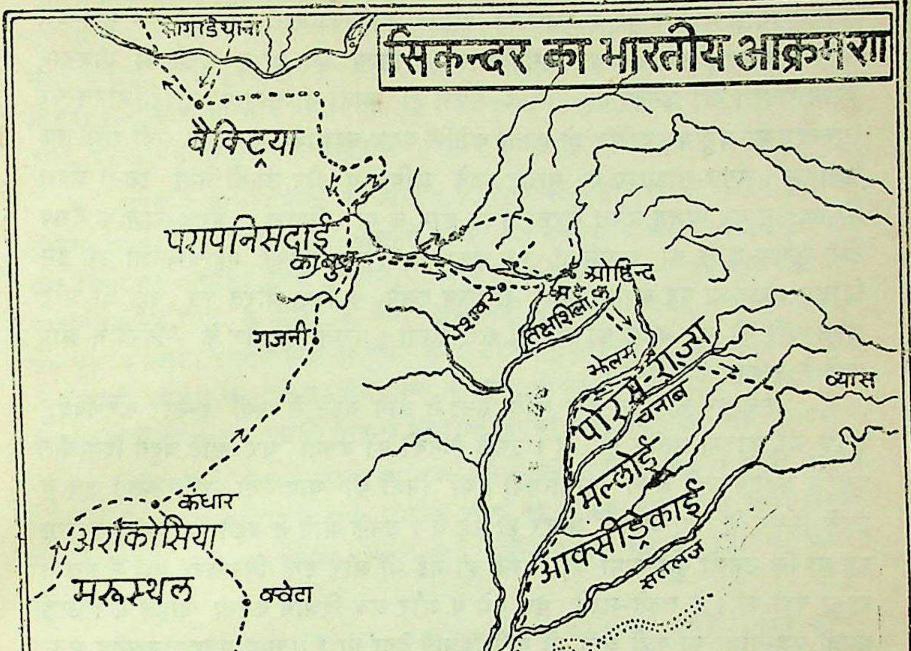
सिकन्दर का भारतीय आक्रमण
सोगडियाना
बैक्ट्रिया
परापनिसदाई
काबुल
पेशावर
अटक
तक्षशिला
ओहिन्द
गजनी
झेलम
पोरस राज्य
चनाब
व्यास
मल्लोई
आक्सीड्रिकाई
सतलज
कंधार
अराकोसिया
मरुस्थल
क्वेटा
कलात
सिन्धु नदी
मरुस्थल
गेडरोशिया
पाटाला
लासबेला
अ र ब
सा ग र
सिकन्दर का
भारत में प्रवेश-----

यात्रा करता रहा तब तक पुरु उसका घनिष्ठ मित्र बना रहा ।

आम्भी तथा पुरु से मैत्री हो जाने से सिकन्दर का पृष्ठभाग सुरक्षित हो गया । अब वह शेष भारत की विजय करने के लिए आगे बढ़ा । उसके मार्ग में जो राज्य पड़ते थे वे एक के बाद एक धराशायी होते गये और सिकन्दर का उत्साह बढ़ता ही गया । ३२६ ई० पू० में अगस्त के महीने में उसने रावी नदी को पार कर लिया और उसके पूर्व में जितने राज्य थे उन सब पर अपना अधिकार जमा लिया । अन्त में वह

पंजाब की अन्तिम नदी व्यास के पश्चिम तट पर आ डटा।

व्यास नदी के पूर्व में मगध का विशाल साम्राज्य फैला था जहाँ पर नन्द-वंश का शासन था। अब सिकन्दर इस विशाल साम्राज्य को प्राप्त करने की योजनाएँ बनाने लगा। यदि उसकी यह योजना सफल हो जाती तो सम्पूर्ण उत्तरी-भारत पर सिकन्दर का प्रभुत्व स्थापित हो जाता क्योंकि मगध-साम्राज्य भारत के पूर्वी छोर तक फैला था। मगध-साम्राज्य के साधन इतने अधिक थे और उसकी सेना इतनी प्रबल थी कि उस पर विजय प्राप्त करना सरल काम न था। सिकन्दर मगध-राज के वैभव तथा सैनिक-शक्ति की कहानियाँ सुन चुका था, परन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षा उसे इस विशाल साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रेरित कर रही थी और उसने नदी को पार करने का निश्चय कर लिया। परन्तु सिकन्दर के सैनिकों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया।

सिकन्दर की वीर तथा अजेय सेना ने आगे बढ़ने से क्यों इन्कार कर दिया, इसके कई कारण प्रतीत होते हैं। उसके सैनिकों को अपना घर छोड़े बहुत दिन बीत चुके थे अतएव उन्हें अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों की याद सता रही थी। अब वे उनसे मिलने के लिए अत्यन्त आतुर हो रहे थे। उनके आगे न बढ़ने का दूसरा कारण यह था कि उनकी युद्ध-यात्रा बड़ी लम्बी हो गई थी और उन्हें निरन्तर युद्ध में संलग्न रहना पड़ा था। वे लड़ते-लड़ते थक गये थे और अब विश्राम करना चाहते थे। उन्हें अपनी युद्ध-यात्रा का कहीं अन्त भी नहीं दिखाई देता था। अतएव उनका उत्साह भङ्ग होता जा रहा था। उनकी युद्ध-यात्रा में उनके असंख्य मित्र वीर गति प्राप्त कर चुके थे। अतएव अनन्त युद्ध से उनका ऊब जाना स्वाभाविक ही था। भारत की जलवायु भी उनके अनुकूल न थी। अतएव वे रोगों के शिकार बनते जा रहे थे और उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। सिकन्दर के सैनिकों का उत्साह भङ्ग होने का अन्तिम कारण यह प्रतीत होता है कि मगध-साम्राज्य की सैनिक शक्ति तथा वैभव को सुनकर उनका साहस भङ्ग हो गया था। भारत में सिकन्दर की सेना को पग-पग पर युद्ध करना पड़ा था और पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे-छोटे राज्यों ने भी सिकन्दर की सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। अतएव मगध के विशाल साम्राज्य से लोहा लेने का साहस सम्भवतः उन्हें नहीं हुआ। सिकन्दर को अपने पृष्ठभाग के विजित प्रदेशों से विद्रोह की सूचनाएँ भी प्राप्त हो रही थीं और उसके कई गवर्नर मार डाले गये थे। जब उसके अनेक प्रलोभन तथा प्रोत्साहन देने पर भी उसके सैनिक आगे बढ़ने के लिए उद्यत न हुए तब सिकन्दर ने स्वदेश लौट जाने का निश्चय कर लिया और व्यास नदी से वह घर की ओर लौट पड़ा।

सिकन्दर का भारत से प्रस्थान—व्यास नदी के किनारे से जब सिकन्दर लौटा तब वह मार्ग में राजा पुरु से मिला और उससे शासन-सम्बन्धी परामर्श किया। यहीं पर उसने नावों का प्रबन्ध किया और झेलम नदी के मार्ग से अपने देश के लिए प्रस्थान कर दिया परन्तु सिकन्दर की यह गृह-यात्रा अकण्टक न सिद्ध हुई। उसे मार्ग में अनेक छोटे-छोटे राजाओं से भीषण संग्राम करना पड़ा। परन्तु सफलता सदैव उसके साथ

रही। अन्त में वह सिन्धु नदी के निचले प्रदेश में पटल नामक नगर में पहुँचा। यहाँ पर उसने अपनी सेना को तीन भागों में विभक्त कर दिया। एक को उसने सामुद्रिक मार्ग से भेज दिया। दूसरी को उसने बोलन के दर्रे से जाने का आदेश दिया और तीसरी सेना के साथ उसने स्वयं मकरान की मरुभूमि से जाने का निश्चय किया। ३२५ ई० पू० में सितम्बर के महीने में सिकन्दर ने भारत से प्रस्थान कर दिया।

भारत से प्रस्थान करने के उपरान्त सिकन्दर मार्ग की भयंकर कठिनाइयों का सामना करता हुआ आगे बढ़ा। लगभग बारह वर्ष तक उसने अथक प्रयास के साथ युद्ध किया था। इसका उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। जब वह बेबीलोन पहुँचा तब वह ज्वर से पीड़ित हो गया और वहीं पर ३२ वर्ष की अल्पायु में ३२३ ई० पू० में उसका परलोकवास हो गया और उसकी विश्व-विजय की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। परन्तु जो विजय उसने प्राप्त की उसी से उसकी गणना विश्व के महान् विजेताओं में होती है। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

सिकदर के कार्यों का मूल्यांकन—सिकन्दर बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। यद्यपि वह मकदूनिया के एक छोटे-से राज्य का शासक था परन्तु उसने विश्व-विजयी सम्राट बनने का संकल्प किया था। यही उसकी महत्त्वाकांक्षा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सिकन्दर की महत्त्वाकांक्षाएँ काल्पनिक ही न थीं वरन् उसमें उनको कार्यान्वित करने की अपूर्व क्षमता भी थी। उसकी गणना विश्व के महान् सेनानायकों में होती है। उसने आजीवन युद्ध किया परन्तु कभी उसे पराजय का सामना नहीं करना पड़ा। जय-लक्ष्मी ने सदैव उसका साथ दिया।

यद्यपि सिकन्दर एक महान् विजेता था परन्तु रचनात्मक प्रतिभा का उसमें सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। यद्यपि मिस्र से पंजाब तक के विशाल भू-भाग पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था परन्तु इस प्रदेश में उसने ऐसा कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया जो उसके जीवन के बाद भी स्थायी रहता।

यद्यपि सिकन्दर बड़ा ही उदार तथा क्षमाशील व्यक्ति था और प्रायः वह अपने पराजित शत्रुओं के साथ दया तथा उदारता का व्यवहार करता था परन्तु कभी-कभी क्रोधावेश में आ जाने पर वह शत्रुओं तथा मित्रों दोनों की निर्दयतापूर्वक हत्या करने में लेश-मात्र संकोच न करता था। भारत में भी उसने अनेक बार अपने कोप का प्रदर्शन किया था।

सिकन्दर बर्बर विजेता न था वरन् उसका सभ्यता तथा संस्कृति से भी प्रेम था। वह एक ऐसे देश का निवासी था जहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति बड़ी ही उच्च-कोटि की थी। अतएव वह उससे प्रभावित था। अपने गुरु अरस्तू का भी उस पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। अपनी विजय-यात्रा में सिकन्दर का एक लक्ष्य विश्व में यूनान की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार करना भी था परन्तु चूँकि उसकी विजय क्षणिक सिद्ध हुई, अतएव वह अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति की छाप डालने में

सफल न हुआ। परन्तु इतना होने पर भी उसकी गणना विश्व के महान् विजेताओं में होती है और उसे 'महान्' की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव—सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के प्रभाव के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सिकन्दर का आक्रमण एक तूफान की तरह आया था और थोड़े समय के लिए इसे झकझोर कर पानी के बुलबुले की भाँति समाप्त हो गया और भारत पर उसका कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी प्रभाव न पड़ा। स्मिथ महोदय ने इस सम्बन्ध ने लिखा है, "यूनानी प्रभाव कभी अन्तस्तल तक प्रविष्ट न हुआ। भारतीय राज-संस्था और समाज का संगठन जो जाति-व्यवस्था पर आधारित था, तत्त्वतः अपरिवर्तित ही रहा और सैन्य-शास्त्र में भी भारतवासी सिकन्दर की तीक्ष्ण करवाल द्वारा दिखाई हुई शिक्षा का आलिंगन करने के लिए उत्सुक न थे। भारतीय नरेश पुरानी लकीर के फकीर बने रहे। वे अपने हाथियों तथा रथों पर विश्वास करते रहे जो निम्न स्तर की विशाल पैदल सेना से नियोजित रहते थे। उन्होंने सिकन्दर के अश्वारोहियों की सेना की द्रुतगतिक रण-नीति पर स्वामित्व स्थापित न किया।"[1] परन्तु अन्य विद्वानों के विचार में यह एक महान् तथा महत्त्वपूर्ण घटना थी और उसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, स्थायी तथा अस्थायी सभी प्रकार का प्रभाव पड़ा। अब इन दोनों मतों का अलग-अलग विवेचन कर लेना आवश्यक है।

जिन विद्वानों की धारणा है कि सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा वे अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं :—

(१) **क्षणिक घटना**—सिकन्दर के आक्रमण की तुलना उल्का से की जाती है। जिस प्रकार उल्का-पिण्ड क्षण भर के लिए आकाश में दिखाई देता है और शीघ्र ही विलीन हो जाता है उसी प्रकार सिकन्दर भी अत्यन्त अल्पकाल के लिए भारत आया। उसके प्रस्थान करने के उपरान्त उसकी विजय के चिह्न भी समाप्त हो गये।

(२) **सीमित क्षेत्र में आक्रमण**—सिकन्दर के आक्रमण का क्षेत्र भारत में अत्यन्त सीमित था। उसने केवल गान्धार तथा सिन्धु प्रदेश पर आक्रमण किया था। शेष भारत बहुत दिनों तक सम्भवतः उसके आक्रमण से अज्ञात तथा उदासीन रहा।

---

1. "The Greek influence never penetrated deeply. Indian polity and the structure of society resting on the caste basis remained substantially unehanged and even in military scince Indians showed no disposition to learn the lesson taught by the sharp sword of Alexander. The kings of Hind perferred to go in the old way, trusting to their elephants and chariots, supported by enormous hordes of inferior infantry. They never mastered the shock tactics of Alexander's cavalry. —V. A. Smith.

इसी से किसी भारतीय ने अपने ग्रन्थ में इस आक्रमण का उल्लेख नहीं किया। भारत के जिन छोटे-छोटे प्रदेशों पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी वे भी उसके प्रस्थान करने के उपरांत स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने यूनानियों को मार भगाया।

(३) **केवल सामरिक विजय**—सिकन्दर ने भारत पर केवल सामरिक विजय प्राप्त की थी। उसकी सेनाएँ अपनी विजय-पताका फहराती हुई आगे बढ़ती जा रही थीं। सिकन्दर ने विजित प्रदेशों में युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिसका भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर कोई प्रभाव पड़ता।

(४) **भारतीय युद्ध-कला अपरिवर्तित**—यद्यपि सिकन्दर ने भारत पर सैनिक विजय प्राप्त कर ली थी परन्तु उसकी युद्ध-कला में कोई ऐसी विशेषता न थी जिससे भारतवासी प्रभावित होते। सिकन्दर ने भारत के छोटे-छोटे राज्यों पर भी भीषण संग्राम के उपरान्त बड़ी कठिनता से और भारतीय नरेशों की सहायता से विजय प्राप्त की थी। अतएव भारतवासी उसकी विजय से भी आकृष्ट न हुए और पूर्ववत् हस्ति-सेना का प्रयोग करते रहे।

(५) **भारतीयों की रूढ़िवादिता तथा अपनी संस्कृति की उत्कृष्टता**—भारतवासी बड़े रूढ़िवादी होते हैं और उनकी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति अत्यन्त प्राचीन काल से इतनी उच्च-कोटि की रही है कि विदेशी आक्रमणकारियों को उन्होंने सदैव म्लेच्छ समझा है और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा है। सिकन्दर तथा उनके सैनिकों ने भारतीयों के साथ बड़ी बर्बरता का व्यवहार किया था। अतएव भारतीयों ने उन्हें म्लेच्छ ही कहा और उनसे दूर रहे।

जिन विद्वानों की यह धारणा है कि सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, स्थायी तथा अस्थायी प्रभाव पड़ा वे सिकन्दर के आक्रमण के निम्नलिखित प्रभाव बतलाते हैं :—

(१) **राजनीतिक प्रभाव**—सिकन्दर के आक्रमण से पश्चिमोत्तर प्रदेश की राजनीतिक तथा सैनिक दुर्बलता का पता लग गया। अब भारतीयों ने इस बात का अनुभव किया कि जब तक पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर एक विशाल केन्द्रीय राज्य की स्थापना न कर दी जायगी तब तक विदेशी आक्रमणों से पश्चिमोत्तर प्रदेश की सुरक्षा न हो सकेगी। अतएव सिकन्दर के आक्रमण से भारतीयों के मन में राजनीतिक एकता की भावना जागृत हुई।

राजनीतिक दुर्बलता के साथ-साथ भारतीयों को अपनी सैनिक दुर्बलता का भी पता लग गया। यद्यपि भारतीयों की सेनाएँ संख्या में अधिक होती थीं परन्तु वे यूनानियों की सुसज्जित, सुशिक्षित तथा रण-कुशल सेनाओं के सामने ठहर न पाती थीं। अतएव भारतीयों ने यूनानियों से सेना की सुशिक्षा, सुसंगठन तथा युद्ध कौशल के महत्त्व को सीखा।

सिकन्दर के आक्रमण ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्यों को छिन्न-भिन्न कर उन्हें अत्यन्त शक्तिहीन तथा जर्जरित बना दिया था। इससे मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को इन राज्यों को ध्वस्त कर अपने साम्राज्य को स्थापित करने में बड़ी सरलता हुई।

सिकन्दर के आक्रमण का एक और राजनीतिक प्रभाव पड़ा। पश्चिमोत्तर प्रदेश में सिकन्दर ने क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी थी परन्तु यह प्रभाव अत्यंत अस्थायी सिद्ध हुआ क्योंकि सिकन्दर के भारत से चले जाने और उसकी अकाल-मृत्यु हो जाने के कारण यह व्यवस्था नष्ट हो गई।

(२) **ऐतिहासिक प्रभाव**—सिकन्दर के आक्रमण से प्राचीन भारत के इतिहास के क्रमागत निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व की किसी भी तिथि का निश्चय नहीं है। इससे उसके पूर्व के क्रमागत इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। सिकन्दर के आक्रमण की तिथि का निश्चित रूप से पता है जो ३२० ई० पू० में हुआ था। अतएव यहीं से भारत के तिथि-क्रम के अनुसार इतिहास का प्रारम्भ होता है।

यूनानियों ने एक और प्रकार से भारत के इतिहास के निर्माण में सहायता पहुँचाई। सिकन्दर के साथ तथा उसके चले जाने के बाद भी बहुत-से यूनानी विद्वान् भारतवर्ष आये और भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा को अपनी आँखों देखकर अपने ग्रन्थों में उसका वर्णन किया। इन यूनानी ग्रन्थों से प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बड़ा योग मिला है।

(३) **वाणिज्य-व्यापार पर प्रभाव**—सिकन्दर ने आक्रमण का भारत के वाणिज्य-व्यापार पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। सिकन्दर ने एक जल-मार्ग और तीन स्थल-मार्गों का पता लगाया। इन मार्गों द्वारा भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया। चूंकि भारत से यूनान तक यूनानी साम्राज्य फैला था अतएव सुरक्षा की पूरी व्यवस्था थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का पश्चिम के देशों के साथ प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया और उनके साथ स्थायी रूप से व्यापार होने लगा।

भारत का यूनान के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से यूनानी मुद्राओं का प्रचलन भारत में आरम्भ हो गया और भारतीयों ने उनका अनुकरण कर अपनी नई-नई मुद्राओं का प्रचलन आरम्भ किया। भारतीय 'दीनार' नामक मुद्रा यूनानी मुद्रा 'द्रम' का ही रूपांतर है।

(४) **सांस्कृतिक प्रभाव**—यद्यपि सिकन्दर बहुत थोड़े समय तक भारत में रहा और उसके जो भी अनुयायी भारत में रह गये थे वे उसकी मृत्यु के उपरांत यहाँ से खदेड़ दिये गये थे परन्तु यूनानियों का भारतीयों के साथ स्थायी तथा घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। जो यूनानी भारत से खदेड़े गये वे यूनान लौट कर नहीं गये वरन् वे भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के बाहर बैक्ट्रिया में बस गये और भारतीयों का इनके साथ निरन्तर विचार-विनिमय होता रहा। अतएव इन दोनों सभ्य तथा प्रबुद्ध जातियों ने एक-दूसरे की संस्कृति को प्रभावित किया।

यूनानियों के सम्पर्क में आने से भारतीयों ने बहुत से यूनानी शब्दों को अपना लिया और अपनी भाषा में उनका प्रयोग करने लगे। कलम, फलक, सुरङ्ग आदि यूनानी भाषा के शब्द हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत गद्य-काव्य; नाटक,

शिल्प आदि की रचना यूनानियों के सम्पर्क में आने से हुई थी । चूँकि भारतीय तथा यूनानी चिकित्सा-पद्धति में समानता है, अतएव यह अनुमान लगाया गया है कि भारतीय औषधि-विज्ञान पर भी यूनानियों का प्रभाव पड़ा है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भारतीयों के धार्मिक जीवन पर भी यूनानियों का प्रभाव पड़ा है। प्लूटार्क का कहना है कि जिस प्रदेश पर यूनानियों का अधिकार था उसमें भारतवासी लोग यूनानी देवी-देवताओं की पूजा करने लगे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय ज्योतिष पर भी यूनानियों का प्रभाव पड़ा था, क्योंकि गर्ग संहिता में लिखा है कि चूँकि ज्योतिष का प्रादुर्भाव यूनानियों द्वारा हुआ है अतएव वे देवतुल्य पूजनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन से यूनानी लोग भी प्रभावित हुए थे। यूनानी दार्शनिक पैथागोरस के पुनर्जन्मवाद, आत्मा आदि के सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शन की स्पष्ट छाप है। भारतीय कला पर भी यूनानियों के प्रभाव की छाप दिखाई देती है। यूनानियों ने एक नई शैली को जन्म दिया था जो 'गान्धार शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें वस्तु तो भारतीय है परन्तु उसकी बनावट, सजावट तथा विधि यूनानी है। भवनों के निर्माण पर भी कुछ दिनों तक यूनानियों का प्रभाव चलता रहा।

◆

अध्याय १४

मौय-साम्राज्य

"The rise of the Maurya dynsty ushers in a new era in the political and cultural history of India. The advent of the Mauryas marks the Passage from darkness to light for the historian."

—B. N. Luniya.

मौर्य कौन थे ?—ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार 'मौर्य' शब्द व्यक्ति-वाचक संज्ञा 'मुरा' से बना है जो नन्द-राज की नाइन जाति की शूद्रा पत्नी थी। चूंकि मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त इसी मुरा के पेट से उत्पन्न हुआ था अतएव वह तथा उसके वंशज मौर्य कहलाये। इस व्याख्या के अनुसार मौर्य लोग शूद्र तथा निम्न कुल के ठहरते हैं। परन्तु इस मत को स्वीकार करने में दो बहुत बड़ी कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो व्याकरण सम्बन्धी है। व्याकरण के नियमानुसार मुरा शब्द से, जो स्त्रीलिंग है, मौरेय शब्द बनेगा न कि मौर्य, अर्थात् मुरा की सन्तान मौरेय कहलायेगी, मौर्य नहीं। अतएव मौर्यों को मुरा नामक शूद्रा का वंशज बतलाना संस्कृत व्याकरण के नियम के विपरीत पड़ता है। मौर्यों को शूद्र-वंशीय स्वीकार करने में दूसरी कठिनाई यह है कि यदि मौर्य साम्राज्य का संस्थापक अर्थात् चन्द्रगुप्त शूद्र-वंश का होता तो कौटिल्य, जो एक कट्टर ब्राह्मण था, उसकी सहायता न करता, और उसे राजा न स्वीकार करता।

'मौर्य' शब्द वास्तव में संस्कृत के पुल्लिग शब्द 'मुर' से बना है जो महर्षि पाणिनि के कथनानुसार एक गोत्र का नाम था। अतएव इस व्याख्या के अनुसार वह लोग, जो 'मुर' गोत्र के थे अर्थात् जिनका 'मुर' गोत्र में जन्म हुआ था 'मौर्य' हैं, थे कौन ?

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के अनुसार 'मौर्य' शब्द प्राकृत भाषा के 'मोरिय' शब्द का संस्कृत रूपान्तर है। 'मोरिय' एक क्षत्रिय-वर्ग का नाम था जो नेपाल की तराई में 'पिप्पलिवन' नामक राज्य में शासन करता था। चूंकि इस प्रदेश में मयूर अर्थात् मोर पक्षियों का बाहुल्य था, अतएव वहाँ के निवासी तथा उनके वंशज 'मोरिय' कहलाये। कुछ बौद्ध-ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य मयूर-पालकों के

एक सरदार की कन्या का पुत्र था जो क्षत्रिय-वंश का था। सम्भवतः ये क्षत्रिय अपने शत्रुओं द्वारा अपनी जन्मभूमि से भगा दिये गये थे और छिप कर मयूर पालकों के रूप में पाटलिपुत्र के निकट अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। जब इस क्षत्रिय-वंश के एक व्यक्ति ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया तो अपने मयूर पालक पूर्वजों की स्मृति में अपने नाम के आगे मौर्य शब्द जोड़ दिया।

साँची के पूर्वी फाटकों पर जो चित्रकारी की गई है उस पर मोर पक्षी के चित्र बने हुए हैं। इससे मार्शल महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सम्भवतः मोर पक्षी मौर्य वंश का राज्य-चिह्न था और इस राज-चिह्न के कारण ही इस वंश का नाम मौर्य-वंश पड़ा। चूंकि राज वंशों के चिह्न प्रायः पशु-पक्षी हुआ करते थे अतएव मार्शल महोदय का यह अनुमान निराधार नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार मौर्य लोग शूद्र तथा अकुलीन थे परन्तु बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के अनुसार वे कुलीन तथा विशुद्ध सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। इस मतभेद का कारण यह प्रतीत होता है कि चूंकि मौर्य शासक वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानते थे और ब्राह्मण विरोधी थे अतएव ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र वंश तथा अकुलीन बतलाया है और चूंकि वे जैन तथा बौद्ध-धर्मों के आश्रयदाता थे क्योंकि चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म को तथा अशोक ने बौद्ध-धर्म को अपना आश्रय प्रदान किया था, अतएव बौद्ध तथा जैनियों ने उन्हें शुद्ध रक्त का कुलीन क्षत्रिय बतलाया है। अब इतिहासकार इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय राजकुमार था और 'मोरिय' क्षत्रियों का वंशज होने के कारण जो सम्भवतः दुर्दिन आ जाने के कारण मयूर पालक बन गये थे, यह मौर्य कहलाया। जिस राज-वंश की उसने स्थापना की वह मौर्य-वंश कहलाया। जिस साम्राज्य का उसने निर्माण किया वह मौर्य-साम्राज्य और जिस काल में उसने तथा उसके वंशजों ने शासन शासन किया वह मौर्य-काल कहलाया।

मौर्य-काल का महत्त्व—भारत के इतिहास में मौर्य-काल अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। वास्तव में मौर्य-साम्राज्य की स्थापना से भारतीय इतिहास में एक युग का अन्त और दूसरे युग का आरम्भ होता है। जिस युग का अन्त होता है उसे हम अनैतिहासिक युग और जिस नये युग का आरम्भ होता है उसे हम ऐतिहासिक युग कह सकते हैं। स्मिथ महोदय ने इस युग की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "मौर्य राज-वंश का प्रादुर्भाव इतिहासकार के लिए अन्धकार से प्रकाश के मार्ग का निर्देश करता है। तिथि-क्रम सहसा निश्चित, करीब-करीब सुनिश्चित हो जाता है; एक विशाल साम्राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो भारत के विच्छिन्न असंख्य टुकड़ों को संयुक्त कर देता है; राजा लोग, जिन्हें वास्तव में सम्राट् कहा जा सकता है, महान् व्यक्तित्व के तथा लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति थे जिनके गुणों के दर्शन यद्यपि समय

के कुहासे में मन्द रूप में किये जा सकते हैं।''[1] इस नये युग की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **शृंखलाबद्ध इतिहास का आरम्भ**—मौर्य-काल के पहले का इतिहास प्रायः अन्धकारमय तथा विश्रृङ्खलित है अर्थात् उसका कोई क्रम नहीं है। इसके दो प्रधान कारण प्रतीत होते हैं। पहला तो यह कि इस काल की तिथियों का ठीक-ठीक निश्चय नहीं है और दूसरा यह कि इस काल के इतिहास को जानने के साधन बहुत कम हैं। प्रधानतः धार्मिक ग्रन्थों की सहायता से ही इस काल के इतिहास का निर्माण किया गया है। परन्तु मौर्य-काल के आरम्भ से हम अन्धकार से प्रकाश में आ जाते हैं और भारत का क्रम-बद्ध इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। इसके दो प्रधान कारण हैं। पहला तो यह है कि मौर्य-काल की तिथियाँ निश्चित हैं और दूसरा यह कि मौर्य-काल के इतिहास को जानने के साधन बड़े ही ठोस तथा व्यापक हैं। इस काल का इतिहास जानने के लिए हमें धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य साधन भी अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थ, विदेशी विवरण, अभिलेख आदि प्राप्त हो जाते हैं।

(मौर्य-काल के पूर्व हमें कोई विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसके द्वारा प्राचीन भारत के क्रम-बद्ध, प्रामाणिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया जाय। परन्तु मौर्य काल में और उसके बाद अनेक ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये जिनके आधार पर भारत का क्रम-बद्ध प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जा सकता है। इन ऐतिहासिक ग्रन्थों में सर्व-प्रथम स्थान महर्षि कौटिल्य के ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' को मिलना चाहिए। कौटिल्य को चाणक्य तथा विष्णुगुप्त के नाम से भी पुकारा गया है। यद्यपि कौटिल्य के इस ग्रन्थ का नाम 'अर्थशास्त्र' है परन्तु इसमें अर्थ अर्थात् धन-सम्बन्धी कोई बात नहीं लिखी गई है। वास्तव में यह एक विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ है और इससे मौर्यकालीन इतिहास का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मौर्यकालीन इतिहास जानने का दूसरा साधन 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक है जिसकी रचना विशाखदत्त ने की थी। यह एक ऐतिहासिक नाटक है और मौर्य-काल के प्रारम्भिक इतिहास को जानने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। पुराणों से भी, जो ऐतिहासिक ग्रन्थ माने जाते हैं, मौर्य-युग के इतिहास का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कालिदास के ऐतिहासिक नाटक, काश्मीरी लेखक कल्हण की 'राजतरंगिणी' तथा महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य से भी मौर्यकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

---

[1] 'The advent of the Mauryan dynasty marks the passage from darkness to light for the historians, chronology suddenly becomes definite almost precise; a huge empire springs into existence, unifying the innumerable fragments of distracted India; the kings, who may be described with justice as emperors, are men of renown, outstanding personalities whose qualities can be discerned, albeit dimly through the mists of times." — V. A. Smith.

विदेशी-विवरण भी मौर्यकालीन इतिहास जानने के प्रामाणिक तथा विश्वसनीय साधन हैं, क्योंकि विदेशी लेखकों ने जो कुछ लिखा है वह स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष भाव से लिखा है और उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो स्वयं भारतवर्ष आये थे और जो कुछ अपनी आँखों से देखा अथवा भारतीयों से सुना उसी को लिख दिया। विदेशी लेखकों में सबसे बड़ा स्थान मेगस्थनीज को देना चाहिये जो यूनानी राजदूत था और चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र में कई वर्ष तक रहा। कालान्तर में जब भारत का चीन, तिब्बत आदि देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया तब इन देशों के यात्री भारत आये और उन्होंने यहाँ के विषय में लिखा। चीनी यात्रियों में फाह्यान तथा ह्वेनसांग और तिब्बत के लेखकों में तारानाथ का नाम अग्रगण्य है।

अभिलेख भी मौर्य-कालीन इतिहास जानने के अत्यन्त विश्वसनीय तथा प्रामाणिक साधन हैं। सम्राट् अशोक ने स्तम्भों, शिलाओं तथा गुफाओं की दीवारों पर अनेक लेख लिखवाये हैं जो आज भी उसकी कीर्ति का गान कर रहे हैं।

मौर्य-कालीन इतिहास जानने के हमारे अंतिम साधन बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थ हैं चूँकि मौर्य-कालीन शासक चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन-धर्म को और अशोक ने बौद्धधर्म को अपना आश्रय प्रदान किया था अतएव इन दोनों धर्मों के आचार्यों ने जब ग्रन्थ रचना की तब मौर्य कालीन इतिहास पर प्रकाश डाल कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

उपर्युक्त प्रचुर साधनों की सहायता से जिज्ञासु इतिहासकारों ने मौर्य काल का अत्यन्त प्रामाणिक तथा विश्वसनीय इतिहास तैयार किया है। इस प्रकार ऐतिहासिक साधनों तथा इतिहास-निर्माण की दृष्टि से मौर्य-काल का बहुत बड़ा महत्त्व है।

(२) **साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ**—मौर्य-काल का दूसरा महत्त्व यह है कि इस काल के प्रारम्भ से ही भारत में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है और यह प्रवृत्ति आगामी शताब्दियों में भी चलती है। भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में यहीं से एक नये युग का आरम्भ होता है जिसे हम साम्राज्यवाद तथा राजनीतिक एकता का युग कह सकते हैं। मौर्य-काल के पूर्व भारतवर्ष में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था और सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। यद्यपि साम्राज्यवाद तथा राजनीतिक एकता का स्वप्न देखना भारतीय राजाओं ने मौर्य-काल के पहले ही आरम्भ कर दिया था, परन्तु इस स्वप्न को सर्व-प्रथम मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने ही चरितार्थ किया। उसने पंजाब तथा सिन्धु से विदेशी यूनानियों को और उत्तरी-भारत के अन्य छोटे-छोटे देशी राज्यों को समाप्त कर सम्पूर्ण उत्तरी-भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा और इस प्रकार प्रथम बार हमारे देश में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई। राजनीतिक एकता का यह आदर्श भारत के भावी महत्त्वाकांक्षी सम्राटों को सदैव प्रेरित करता रहा और इसका क्रम निरन्तर आज तक चलता आ रहा है, आज-भी हमारी राष्ट्रीय सरकार राजनीतिक तथा भावात्मक एकता पर बल दे रही है, और विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोक रही है।

(३) **शासन की एकरूपता का प्रादुर्भाव**—राजनीतिक एकता तथा शासन की एकपरूता में अटूट सम्बन्ध है। वास्तव में राजनीतिक एकता प्रशासकीय एकता की

जननी है। जब मौर्य-सम्राटों ने सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में राजनीतिक एकता स्थापित कर दी तब इस विशाल भू-भाग में अपने-आप ही एक प्रकार के सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की स्थापना हो गई क्योंकि उस राजनीतिक एकता को बनाये रखने के लिए बड़े ही प्रबल तथा सुसंगठित शासन की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस शासन-व्यवस्था का शिलान्यास किया वही भावी शासकों के लिए आदर्श व्यवस्था बन गई और उसी में न्यूनाधिक परिवर्तन करके आगामी प्रशासकीय प्रतिभा-सम्पन्न शासकों ने अपनी शासन-व्यवस्था का निर्माण किया। मौर्य-कालीन शासन-व्यवस्था शान्ति बनाये रखने तथा सम्पन्नता प्रदान करने में इतनी सफल रही कि इसे हम शान्ति तथा सम्पन्नता का युग कह सकते हैं।

(४) **सांस्कृतिक एकता की स्थापना**—राजनीतिक एकता सांस्कृतिक एकता की भी जननी मानी जाती है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने विदेशियों को अपने देश से निष्कासित कर एक विशुद्ध भारतीय संस्कृति के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। उसने सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में अपना एकछत्र, सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सांस्कृतिक विकास के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया। सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म को राज-धर्म बनाकर, उसके प्रचार की समुचित व्यवस्था कर तथा सम्पूर्ण भारत में उसका प्रचार कर और लोक-साहित्य को प्रोत्साहन देकर और पत्थरों पर अपने अभिलेख लिखवा कर तथा अपने सम्पूर्ण राज्य में एक ही प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था कर एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया जिसमें एकरूपता थी।

(५) **विदेशों के साथ घनिष्ठ संबंध की स्थापना**—जिस सभ्यता तथा संस्कृति का सृजन अशोक ने किया उसे उसने न केवल भारत के कोने-कोने में फैलाया वरन् उसका उसने विदेशों में भी प्रचार कराया और इस प्रकार अशोक विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार का अग्रदूत बन गया। इस सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है की यह सब कार्य बड़े प्रेम तथा सद्भावना से किया गया था जिसके अभाव का अनुभव आज भी संसार कर रहा है और जिसकी पूर्ति अशोक जैसे उदार तथा सहृदय राजनीतिज्ञ ही कर सकते हैं।

ऊपर मौर्य-काल के गौरव का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अब उस व्यक्ति के जीवन का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है जो इस गौरव का जन्मदाता था। यह व्यक्ति चन्द्रगुप्त मौर्य था। इस व्यक्ति के भारतीय राजनीति के मंच पर आने की ओर संकेत करते हुए डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी ने लिखा है, "सिकन्दर के चले जाने के उपरान्त भारत के राजनीतिक गगन-मण्डल में एक नया तारा निकला जिसने शीघ्र ही अपने परम प्रकाश से शेष सभी को तिमिर-तिरोहित कर दिया।"[1]

स्मिथ महोदय ने भी चन्द्रगुप्त मौर्य के भारतीय राजनीति के मंच पर आने के

---

1. "After the departure of Alexander there arose on the political firmament of India a new star that soon eclipsed the rest by its brilliance." —Dr. R. S. Tripathi

महत्त्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य ही प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसे हम सचमुच भारत का सम्राट् कह सकते हैं और एक इतिहासकार के लिए मौर्य राज-वंश का प्रादुर्भाव अन्धकार से प्रकाश के मार्ग की ओर निर्देश करता है।"[1]

जस्टिन ने भी इस ओर संकेत करते हुए लिखा है, "सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त चन्द्रगुप्त भारत की स्वतन्त्रता का निर्माता था।"[2]

चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारम्भिक जीवन—चन्द्रगुप्त का जन्म ३४५ ई० पू० में मोरिय वंश के क्षत्रिय कुल में हुआ था जो सूर्यवंशी शाक्यों की एक शाखा थी और जो नेपाल की तराई में पिप्पलिवन के प्रजातन्त्र राज्य में शासन करते थे। चन्द्रगुप्त का पिता इन्हीं मोरियों का प्रधान था। दुर्भाग्यवश एक शक्तिशाली राजा ने उसकी हत्या करवा दी और उसके राज्य को छीन लिया। चन्द्रगुप्त की माता उन दिनों गर्भवती थी। इस आपत्ति-काल में वह अपने सम्बन्धियों के साथ भाग गई और अज्ञात रूप से पाटलिपुत्र में निवास करने लगी। यहाँ पर अपनी जीविका चलाने तथा अपने राज-वंश को गुप्त रखने के लिए यह लोग मयूर-पालकों का कार्य करने लगे। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन मयूर-पालकों के मध्य व्यतीत हुआ था।

जब चन्द्रगुप्त बड़ा हुआ तब उसने मगध के राजा के यहाँ नौकरी कर ली और उसकी सेना में भर्ती हो गया। चन्द्रगुप्त बड़ा ही योग्य तथा प्रतिभावान् व्यक्ति था। अपनी योग्यता के बल से वह मगध की सेना का सेनापति बन गया। परन्तु कुछ कारणों से मगध का राजा उससे अप्रसन्न हो गया और उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दे दी। इन दिनों मगध में नन्द-वंश शासन कर रहा था। अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए चन्द्रगुप्त मगध राज्य से भाग गया और उसने नन्द-वंश को विनष्ट करने का संकल्प कर लिया।

यद्यपि चन्द्रगुप्त ने नन्द-वंश को उन्मूलित करने का संकल्प कर लिया था परन्तु अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके पास साधन न थे। अतएव साधन की खोज में वह पंजाब की ओर चला गया और इधर-उधर भटकता हुआ तक्षशिला पहुँचा, जहाँ विष्णुगुप्त नामक ब्राह्मण से उसकी भेंट हो गई। विष्णुगुप्त को चाणक्य भी कहते हैं क्योंकि उसके पितामह (बाबा) का नाम चणक था। उसे कौटिल्य भी कहते हैं क्योंकि उसके पिता का नाम कुटल था। चाणक्य बहुत बड़ा विद्वान् तथा राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित था। वह भारत के पश्चिमोत्तर भाग की राजनीतिक दुर्बलता से परि-

---

[1] Chandragupta Maurya is the first strictly historical person who can be properly described as the emperor of India and the advent of Maurya dynasty marks the passage from darkness to light for historians. —V. A. Smith.

[2] "Chandragupta was the author of India's liberty after Alexander's death." —Justin.

चित था और उसे यह आशंका लगी रहती थी कि यह प्रदेश कभी भी विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार बन सकता है। अतएव वह इस भू-भाग के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर यहाँ एक प्रबल केन्द्रीय शासन स्थापित करना चाहता था, जिससे विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा हो सके। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह मगध-नरेश की सहायता प्राप्त करने के लिए पाटलिपुत्र गया परन्तु सहायता प्राप्त करने के स्थान पर वह धार्मिक अनुष्ठान में नन्द-राज द्वारा अपमानित किया गया। चाणक्य बड़ा ही क्रोधी तथा उग्र-प्रकृति का व्यक्ति था। उसने नन्द-वंश को विनष्ट करने का संकल्प कर लिया। परन्तु नन्द-वंश के विशाल साम्राज्य को उन्मूलित करने के साधन उसके पास भी न थे। अतएव वह इस साधन की खोज में संलग्न था। इसी समय चन्द्रगुप्त से उसकी भेंट हो गई।

चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनों के उद्देश्य एक ही थे। यह दोनों व्यक्ति नन्द-वंश का विनाश करना चाहते थे। परन्तु दोनों ही के पास साधन का अभाव था। संयोगवश इन दोनों ने एक-दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति कर दी। चाणक्य को एक वीर, साहसी तथा महत्त्वाकांक्षी नवयुवक की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति चन्द्रगुप्त ने कर दी और चन्द्रगुप्त को एक विद्वान, अनुभवी कूटनीतिज्ञ की तथा सेना एकत्रित करने के लिए धन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति चाणक्य ने कर दी। फलतः इन दोनों में मैत्री तथा गठ-बन्धन हो गया।

अब अपने उद्देश्य की पूर्ति की तैयारी करने के लिए दोनों मित्र विन्ध्याचल के वनों की ओर चले गये। चाणक्य ने अपना सारा धन चन्द्रगुप्त को दे दिया। इस धन की सहायता के उसने भाड़े की एक सेना तैयार की और इस सेना की सहायता से मगध पर आक्रमण कर दिया परन्तु नन्दों की शक्तिशाली सेना ने उन्हें परास्त कर दिया और वे मगध से भाग खड़े हुए।

अब इन दोनों मित्रों ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए फिर पंजाब की ओर प्रस्थान कर दिया। अब इन लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि मगध राज्य के केन्द्र पर प्रहार कर उन्होंने बहुत बड़ी भूल की थी। वास्तव में उन्हें इस राज्य के एक किनारे पर, उसके सुदूरस्थ प्रदेश पर आक्रमण करना चाहिये था, जहाँ केन्द्रीय सरकार का प्रभाव कम और उसके विरुद्ध असन्तोष अधिक रहता है। इन दिनों यूनानी विजेता सिकन्दर महान् पंजाब में ही था और वहाँ के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर रहा था। चन्द्रगुप्त ने नन्दों के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता लेने का विचार किया। अतएव वह सिकन्दर से मिला और कुछ दिनों तक उसके शिविर में रहा। परन्तु चन्द्रगुप्त के स्वतन्त्र विचारों के कारण सिकन्दर उससे अप्रसन्न हो गया और उसका वध कर देने की आज्ञा दे दी। चन्द्रगुप्त अपने प्राण बचाकर भाग खड़ा हुआ। अब उसने मगध-राज्य के विनाश के साथ-साथ यूनानियों को भी अपने देश से मार भगाने का निश्चय कर लिया और अपने मित्र चाणक्य की सहायता से अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजनाएँ बनाने लगा।

चन्द्रगुप्त की विजयें—सिकन्दर के भारत से चले जाने के उपरान्त भार-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तीयों ने यूनानियों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर दिया । चन्द्रगुप्त के लिए यह स्वर्ण अवसर था और इससे उसने पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया । उसने क्रांतिकारियों का नेतृत्व ग्रहण किया और यूनानियों को पंजाब से भगाना आरम्भ किया । यूनानी सरदार यूडेमान अन्य यूनानियों के साथ भारत छोड़ कर भाग गया और जो यूनानी सैनिक भारत में रह गये थे वे तलवार के घाट उतार दिये गये । इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण पंजाब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया ।

पंजाब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने मगध-राज्य पर आक्रमण करने के लिए पूर्व की ओर प्रस्थान कर दिया । वह अपनी विशाल सेना के साथ मगध-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर टूट पड़ा । मगध-नरेश के चन्द्रगुप्त की सेना की प्रगति को रोकने के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए । चन्द्रगुप्त की सेना आगे बढ़ती गई और मगध-राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र के सन्निकट पहुँच गई और उसका घेरा डाल दिया । अन्त में नन्द-राजा धननन्द की पराजय हुई और अपने परिवार के साथ वह युद्ध में मारा गया । अब चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठ गया और चाणक्य ने ३२२ ई० पू० में उसका राज्यभिषेक कर दिया ।

उत्तर-भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने दक्षिण-भारत पर भी अपनी विजय-पताका फहराने का निश्चय किया । सर्वप्रथम उसने सौराष्ट्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । उसके बाद लगभग ३०३ ई० पू० में उसने मालवा पर अधिकार स्थापित कर लिया और पुष्यगुप्त वैश्य को वहाँ का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त कर दिया जिसने सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था । इस प्रकार काठियावाड़ तथा मालवा पर चन्द्रगुप्त का प्रभुत्व स्थापित हो गया । इतिहासकारों की धारणा है कि सम्भवतः मैसूर की सीमा तक चन्द्रगुप्त का साम्राज्य फैला था ।

चन्द्रगुप्त काअन्तिम संघर्ष सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस निकेटर के साथ हुआ । सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त सिल्यूकस उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग का अधिकारी बना था । उसने ३०५ ई० पू० में भारत पर आक्रमण कर दिया ; चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर प्रदेश की सुरक्षा की व्यवस्था पहले से ही कर ली थी । उसकी सेना ने सिंधु नदी के उस पार ही सिल्यूकस की सेना का सामना किया । युद्ध में सिल्यूकस की पराजय हो गई और विवश होकर उसे चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि करनी पड़ी । सिल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया और वर्त्तमान अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान के सम्पूर्ण प्रदेश को चन्द्रगुप्त को दे दिया । उसने मेगस्थनीज नामक एक राजदूत भी चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में भेजा । चन्द्रगुप्त ने भी ५०० हाथी सिल्यूकस को भेंट किये । चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस के संघर्ष के सम्बन्ध में डॉ० रायचौधरी ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास' में लिखा है, "यह देखा जायगा कि प्राचीन लेखकों से हमें सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त के वास्तविक संघर्ष का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है । वे केवल परिणामों को बतलाते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आक्रमणकारी अधिक आगे न

बढ़ सका और एक सन्धि कर ली जो वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा सुदृढ़ बना दी गई।''[1]

उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त का साम्राज्य पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत से पूर्व में बंगाल तक और उत्तर में हिमालय पर्वत से दक्षिण में कृष्णा नदी तक फैल गया। परन्तु काश्मीर, कलिंग तथा दक्षिण का कुछ भाग उसके साम्राज्य के अन्दर न थे। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने अपने बाहु-बल तथा अपने मन्त्री चाणक्य के बुद्धि-बल से भारत की राजनीतिक एकता सम्पन्न की।

चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त न केवल एक महान् विजेता वरन् एक कुशल शासक भी था। जिस शासन-व्यवस्था का उसने निर्माण किया वह इतनी उत्तम सिद्ध हुई कि भावी शासकों के लिए वह आदर्श बन गई और थोड़े बहुत आवश्यक परिवर्तनों के साथ निरन्तर चलती रही। चन्द्रगुप्त का शासन तीन भागों में विभक्त था अर्थात् केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय शासन तथा स्थानीय शासन।

केन्द्रीय शासन—यह उस शासन को कहते हैं जो राज्य के केन्द्र अर्थात् राजधानी से संचालित होता है और जिसका संचालन सीधे सम्राट् तथा उसके परामर्शदाताओं और मन्त्रियों द्वारा होता है। अतएव केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सम्राट्, उसके मन्त्री तथा परामर्शदाता, गुप्तचर-विभाग, सेना का प्रबन्ध, न्यायालय आदि आते हैं। अब इनका अलग-अलग विवेचन किया जायगा।

(१) सम्राट्—केन्द्रीय शासन का प्रधान स्वयं सम्राट् होता था और उसी की आज्ञाओं तथा आदेशों के अनुसार सम्पूर्ण देश का शासन चलता था। वह स्वयं कानूनों का निर्माण करता था, वही नियमों का पालन करवाने की व्यवस्था करता था और वही नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड भी देता था। इस प्रकार सम्राट् स्वयं व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का प्रधान होता था और वही सम्पूर्ण देश के शासन का केन्द्र-बिन्दु बन गया था। स्मिथ महोदय ने लिखा है, 'चन्द्रगुप्त के शासन से सम्बन्धित विदित तथ्य इस बात को सिद्ध कर देते है कि वह कठोर निरंकुश शासक था।''[2] सम्राट न केवल प्रसासकीय विभाग का सर्वेसर्वा था वरन् वह सैनिक-विभाग का भी प्रधान था और वह स्वयं सेना के संगठन की व्यवस्था करता था और युद्ध के समय वह स्वयं सेनापति के कार्यों को करता था।

---

[1] "It will be seen that the classical writers do not give us any detailed records of the actual conflict between Seleukos and Chandragupta. They merely speak of the results. There can be no doubt that the invader could not make much headway, and concluded an alliance which was cemented by a marriage contract." —H. Ray Chaudhri.

[2] "The known fact of the Chandragupta's administration proves that he was a stern despot." --V. A. Smith.

इससे स्पष्ट है कि राज्य की सारी शक्ति सम्राट् के हाथ में थी और उसी की इच्छानुसार सम्पूर्ण राज्य का शासन संचालित होता था। अतएव यदि यह कहें कि चन्द्रगुप्त का शासन एकतंत्रीय, स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था तो कुछ अनुचित न होगा। परन्तु स्वेच्छाचारी शासन का यह तात्पर्य नहीं है कि सम्राट् मनमाना शासन करता था और लोकमत की चिन्ता नहीं करता था। स्वेच्छाचारी शासन का केवल यह तात्पर्य है कि सिद्धांततः राजा की शक्ति तथा उसके अधिकारों पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण न था परन्तु क्रियात्मक रूप में उसे परम्परागत नियमों, अपने परामर्शदाताओं के परामर्शों तथा नैतिक नियमों को आदर की दृष्टि से देखना पड़ता था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से हमें ज्ञात होता है कि सम्राट् अपनी प्रजा का ऋणी समझा जाता था। वह और अच्छा शासन करके ही इस ऋण से मुक्त हो सकता था। अतएव स्वेच्छाचारी होते हुए भी प्रजा के हित में शासन करना राजा का परम धर्म था। अपनी प्रजा का अधिक-से-अधिक कल्याण करने के लिए और अपने शासन को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए सम्राट् मन्त्रियों तथा अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था।

(२) **मन्त्रि-परिषद्**—सम्राट् को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों में परामर्श तथा सहायता देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई थी, क्योंकि चंद्रगुप्त के प्रधान परामर्शदाता कौटिल्य का यह विश्वास था कि शासन की गाड़ी एक पहिए से नहीं चल सकती। सम्राट् उसका एक पहिया है, अतएव उसके दूसरे पहिये अर्थात् मन्त्रि-परिषद् का होना अनिवार्य है, तभी शासन सुचारु रीति से संचालित होगा और प्रजा का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकेगा। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों को सम्राट् स्वयं नियुक्त करता था और यह सभी वेतनभोगी होते थे। केवल वही लोग इस पद पर नियुक्त किये जाते थे जो बुद्धिमान, निर्लोभी तथा सच्चरित्र हों। मन्त्रि-परिषद् अपना निर्णय बहुमत से देती थी परन्तु सम्राट् सदैव अपनी परिषद् के निर्णय को मानने के लिए बाध्य न था। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रि-परिषद् राज्य के केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों में अपना परामर्श देने के लिए बुलाई जाती थी। राज्य के दैनिक कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध न था।

अपने दैनिक शासन को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए सम्राट् को परामर्श देने तथा उसकी सहायता करने के लिए एक दूसरी सभा होती थी जिसके सदस्य मन्त्रिन् कहलाते थे। मन्त्रिन् का पद मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों से अधिक ऊँचा तथा महत्त्वपूर्ण होता था। मंत्रियों की नियुक्ति भी सम्राट् स्वयं करता था और इस पद पर केवल ऐसे ही लोग नियुक्त किये जाते थे जिनके किसी भी प्रकार के प्रलोभन में पड़ने की सम्भावना नहीं रहती थी और जिनकी पहले से ही परीक्षा की जा चुकी हो और उसमें वे सफल हो चुके हों। कौटिल्य ने इन मन्त्रियों की संख्या केवल तीन-चार बतलाई है। ये मंत्री देश-रक्षा, विदेशी मामलों, आकस्मिक आपत्तियों के लिए व्यवस्था करने, शासन को सुचारु रीति से संचालित करने आदि मामलों में सम्राट्

को परामर्श दिया करते थे। परन्तु अपने मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए सम्राट् बाध्य न था।

(३) **विभागीय व्यवस्था**—मंत्रि-परिषद् तथा मन्त्री लोग सम्राट् को केवल परामर्श देते थे, वे दैनिक शासन को संचालित नहीं करते थे। राज्य के दैनिक शासन को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए चन्द्रगुप्त ने विभागीय व्यवस्था का निर्माण किया था। विभागीय व्यवस्था का तात्पर्य है कि सम्पूर्ण शासन का कार्य विभिन्न विभागों में विभक्त कर दिया गया था और प्रत्येक विभाग को शासन के एक-दो विषय सौंप दिये जाते थे। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था जो 'अमात्य' कहलाता था। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में इस प्रकार के कुल अठारह विभाग थे। अतएव उसने अठारह अमात्यों को नियुक्त कर रक्खा था। इन अमात्यों के अधीन अनेक पदाधिकारी तथा कर्मचारी होते थे जो दैनिक शासन को सुचारु-रीति से संचालित किया करते थे। अमात्यों तथा उनके नीचे काम करने वाले सभी कर्मचारियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं किया करता था और वे सभी सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे। यहाँ पर ध्यान देने की एक बात यह है कि जिस विभागीय व्यवस्था का सूत्रपात चन्द्रगुप्त मौर्य ने आज से लगभग चौबीस शताब्दी पूर्व किया था उसका अनुकरण आज सारे संसार में हो रहा है।

(४) **पुलिस का प्रबन्ध**—दैनिक शासन को सुचारु-रीति से संचालित करने के लिए आतिरिक शान्ति अथवा सुव्यवस्था नितांत आवश्यक है। इस आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए पुलिस का प्रबन्ध करना अति आवश्यक है। पुलिस दो प्रकार के कार्य करती है। उसका प्रथम कार्य तो यह है कि वह देखे कि लोग राज्य के नियमों को भंग नहीं करते वरन् उनका अक्षरशः पालन करते हैं और उसका दूसरा कार्य यह है कि जो लोग राज्य के नियमानुसार कार्य न करें अथवा उनके विपरीत कार्य करें, उन पर अभियोग लगाये और उन्हें दण्ड दिलवाये जिससे भविष्य में वे ऐसे काम न करें और अन्य लोग भी भयभीत होकर राज्य के नियमों का पालन करें। चन्द्रगुप्त तथा उसके प्रधान-मन्त्री चाणक्य ने पुलिस की इस उपयोगिता का अनुभव किया और एक अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित पुलिस-विभाग का प्रबन्ध किया गया। पुलिस के सिपाही 'रक्षिन्' कहलाते थे, क्योंकि समाज का सारा का सारा भार उन्हीं के ऊपर रहता था।

(५) **गुप्तचरों का प्रबन्ध**—यद्यपि प्रकट-पुलिस अपराधों का पता लगाने का यथाशक्ति प्रयत्न करती है परन्तु कुछ अपराध ऐसी गुप्त-रीति से किये जाते हैं कि प्रकट-पुलिस उनका पता लगाने में प्रायः असमर्थ रहती है अतएव इन गुप्त-रीति से किये गये अपराधों का पता लगाने में गुप्त-रीति से ही सफलता प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त ने गुप्तचरों की उपयोगिता का अनुभव किया और एक अत्यन्त सुन्दर गुप्तचर-विभाग का उसने संगठन किया। गुप्तचर उस व्यक्ति को कहते हैं जो गुप्त-रूप से विचरण करके सब बातों का पता लगाये। चन्द्रगुप्त मौर्य का गुप्तचर-विभाग दो भागों में विभक्त था। एक को 'संस्थान' कहते थे और दूसरे को 'संचारण'। संस्थान-विभाग

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का संस्थान नाम पड़ने का कारण यह था कि इस विभाग के गुप्तचर एक स्थान पर रहते थे और वहीं से विचरण किया करते थे और संचारण-विभाग का संचारण नाम पड़ने का कारण यह था कि इस विभाग के गुप्तचर सदैव भ्रमण किया करते थे। वे किसी निश्चित स्थान पर नहीं रहते थे। ऐसा लगता है कि स्थानीय बातों की सूचना प्राप्त करने के लिए सम्राट् ने संस्थान-विभाग का और दूर-दूर की बातों का पता लगाने के लिए उसने संचारण-विभाग का संगठन किया था। चन्द्रगुप्त के गुप्तचर-विभाग की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें स्त्रियाँ भी काम किया करती थीं। स्त्रियों को गुप्तचर बनाने का कारण यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः अपराधों तथा षड़यन्त्रों का पता लगाने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक कुशल तथा सफल सिद्ध होती थीं। किस समय में और किस स्थान पर कौन-सी बात हो रही, है इसकी सूचना सम्राट् को अपने गुप्तचरों द्वारा प्राप्त हो जाया करती थी। अपने राज्य के बड़े-बड़े कर्मचारियों के कार्यों की भी सूचना उसे अपने गुप्तचरों से मिल जाती थी। इस प्रकार षड्यन्त्रों तथा कुचक्रों को पता लगाने में सम्राट को कोई कठिनाई नहीं होती थी।

(६) न्याय का प्रबन्ध—पुलिस तथा गुप्तचरों द्वारा अपराध का पता लग जाने पर यदि अपराधियों को दण्ड देने की कोई व्यवस्था न की गई तो पुलिस तथा गुप्तचर-विभाग का संगठन निरर्थक हो जाता है। अतएव प्रत्येक राज्य को न्याय का प्रबन्ध करना पड़ता है। न केवल अपराधियों को दण्ड देने के लिए वरन् नागरिकों के पारस्परिक झगड़ों का फैसला करने के लिए भी न्याय की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है। चन्द्रगुप्त ने एक निष्पक्ष, न्याय-प्रिय तथा विवेकशील न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव किया और अपने विद्वान्, अनुभवी तथा नीति-निपुण प्रधान-मन्त्री चाणक्य की सहायता से एक ऐसी न्याय-व्यवस्था का निर्माण किया जिसका अनुकरण आज भी सभ्य संसार द्वारा किया जा रहा है। चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था में सम्राट् स्वयं सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था। राजा के नीचे अन्य न्यायाधीश होते थे। नगरों तथा जनपदों के लिए अलग-अलग न्यायाधीश होते थे। नगरों के न्यायाधीश 'व्यावहारिक महामात्र' और जनपदों के न्यायाधीश 'राजुक' कहलाते थे। जो न्यायाधीश चार गाँवों के लिए होते थे वे 'संग्रहण', जो चार सौ गाँव के लिए होते थे वे 'द्रोणमुख' और जो आठ सौ गाँवों के लिए थे वे 'स्थानीय' कहलाते थे। न्यायाधीशों को 'धर्मस्थ' कहते थे। प्रत्येक न्यायालय में तीन धर्मस्थ तथा तीन अमात्य न्यायाधीशों का आसन ग्रहण करते थे। न्यायालय दो भागों में विभक्त थे जो न्यायालय दीवानी अर्थात् धन-सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय करते थे वे 'धर्मस्थीय' कहलाते थे और जो न्यायालय फौजदारी अर्थात् मार-पीट के मुकदमों का निर्णय करते थे वे 'कण्टक शोधन' कहलाते थे। छोटी अदालतों के निर्णय की अपीलें बड़ी अदालतों में होती थीं और सम्राट् का निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। जुर्माने के साथ-साथ अंग-भंग तथा मृत्यु का भी दंड दिया जाता था। कठोर दण्ड-विधान का परिणाम यह हुआ कि अपराधों में बड़ी कमी हो गई और लोग प्रायः अपने घरों में बिना ताला लगाये ही बाहर चले

जाते थे। राजा की वर्ष-गाँठ, राज्याभिषेक, राजकुमार के जन्म तथा नये प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के शुभ-अवसर पर कैदियों को मुक्त करने की भी व्यवस्था थी।

(७) **लोक-मंगलकारी कार्य**—यह पहले बताया जा चुका है कि चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री कौटिल्य के विचार में राजा अपनी प्रजा का ऋणी समझा जाता था और लोक-मंगलकारी कार्य करके ही वह अपनी प्रजा के ऋण के मुक्त हो पाता था। फलतः उसने अनेक लोक-मंगलकारी कार्य किये। उसका पहला लोक-मंगलकारी कार्य यह था कि उसने यातायात अर्थात् गमनागमन के साधनों की समुचित व्यवस्था की। उसने सड़कों का निर्माण कर बड़े-बड़े नगरों को एक दूसरे से मिला दिया। इन सड़कों के किनारे उसने छायादार वृक्ष लगवाये और कुएँ तथा धर्मशालाएँ बनवाईं। नदियों को पार करने के लिए उसने पुल बनवाये। चन्द्रगुप्त ने दूसरा लोक-मंगलकारी कार्य यह किया कि उसने कृषि-क्षेत्रों की सिचाई के लिए बड़ी सुन्दर व्यवस्था की। राज्य की ओर से बहुत-से तालाब तथा कुएँ खुदवाये गये। उसके पुष्य-गुप्त नामक प्रान्तीय शासक ने सौराष्ट्र में सिचाई के लिए सुदर्शन नामक एक बहुत बड़ी झील का निर्माण करवाया था। सम्राट् का तीसरा लोक-मंगलकारी कार्य स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की समुचित व्यवस्था करना था। उसने अनेक 'भैषज्य-गृह' अर्थात् ओषधालय खुलवाये और उनमें औषधि तथा योग्य वैद्य और चिकित्सक रक्खे। नगरों की स्वच्छता तथा भोजन-सामग्री की शुद्धता के लिए उसने निरीक्षक रक्खे थे। उसका चौथा लोक-मंगलकारी कार्य शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। शिक्षा का कार्य प्रधान-मन्त्री अथवा पुरोहित की अध्यक्षता में होता था। शिक्षालयों को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। इन सब लोकहित के कार्यों के अतिरिक्त दीन-दुखियों, असहायों तथा अकाल-पीड़ितों की सहायता की भी समुचित व्यवस्था की गई थी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि उसके काल में जनता सुख तथा सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करती थी।

(८) **सेना का प्रबन्ध**—चन्द्रगुप्त ने आंतरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था के साथ-साथ अपने साम्राज्य के विस्तार तथा उसकी सुरक्षा के लिए एक विशाल सेना का संगठन भी किया था। चन्द्रगुप्त बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था और सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध देने की उसकी इच्छा थी। अपने इस उद्देष्य की पूर्ति तथा बाह्य आक्रमणों से अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए एक विशाल, सुसज्जित तथा सुशिक्षित सेना की आवश्यकता थी। अतएव उसने एक चतुरंगिणी अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना का संगठन किया और उसकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। सम्राट् स्वयं सेना का प्रधान सेनापति होता था और युद्ध के समय रण-स्थल में उपस्थित रहता था और उसका संचालन करता था। चन्द्रगुप्त ने जल-सेना का भी संगठन किया था। सम्पूर्ण सेना के प्रबन्ध के लिए ३० सदस्यों की एक समिति होती थी। सेना का प्रबन्ध ६ भागों में विभक्त था और प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध पाँच सदस्यों के हाथ में रहता था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। पहला विभाग जल-सेना का प्रबन्ध करता था। दूसरा विभाग सेना को हर प्रकार की सामग्री तथा रसद

भेजने का प्रबन्ध करता था । तीसरा विभाग पैदल-सेना, चौथा अश्वारोहियों, पाँचवाँ हाथियों की सेना और छठा रथ-सेना का प्रबन्ध करता था । सेना के साथ एक चिकित्सा-विभाग भी होता था जो घायल तथा रुग्ण सैनिकों की चिकित्सा करता था । चन्द्रगुप्त की सेना स्थायी थी और राज्य की ओर से उसे वेतन तथा अस्त्र-शस्त्र मिलता था । अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए सरकारी कार्यालय भी थे । स्मिथ महोदय ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सैनिक संगठन की सुयोग्यता की प्रशंसा करते हुए लिखा है, ''चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल स्थायी सेना की व्यवस्था की थी जिसे सीधे राज-कोष से वेतन दिया जाता था और जो अकबर की सेना से भी अधिक सुयोग्य थी ।''[1]

(९) **आय-व्यय का साधन**— शासन को सुचारु रीति से संचालित करने तथा सेना के प्रबन्ध के लिए बहुत धन की आवश्यकता पड़ती है । अतएव राज्य को कर लगाने पड़ते हैं । भूमि-कर राज्य की आय का प्रधान साधन था । किसानों से उपज का चौथा भाग सरकार ले लेती थी । परन्तु कभी-कभी केवल आठवाँ भाग लिया जाता था । किसानों से पशु भी सम्राट् को भेंट के रूप में मिलते थे । नगरों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के विक्रय-मूल्य का दसवाँ भाग राज्य को मिलता था । जुर्माने से भी राज्य को कुछ धन मिल जाता था । आय का बहुत बड़ा भाग सेना तथा शासन पर व्यय किया जाता था । शिल्पकारों, विद्वानों, दार्शनिकों, अनाथों, वृद्धों, रोगियों, अपाहिजों तथा आपत्तिग्रस्त लोगों को भी राज्य से सहायता मिलती थी । अकाल-पीड़ितों की भी सहायता की जाती थी और सिंचाई, नगर की किलेबन्दी, भवन-निर्माण तथा विभिन्न प्रकार के लोक-मंगलकारी कार्यों पर बहुत-सा धन व्यय किया जाता था ।

प्रान्तीय शासन— चन्द्रगुप्त का साम्राज्य बड़ा ही विशाल था । अतएव उस युग में जब यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था तब एक केन्द्र से सम्पूर्ण राज्य का शासन चलाना सम्भव न था । अतएव शासन की सुविधा के लिए सम्राट् ने अपने साम्राज्य को कई प्रान्तों में विभक्त कर दिया था और प्रत्येक प्रान्त के शासन के लिए एक प्रान्तपति नियुक्त कर दिया था । इन प्रान्तपतियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था और यह सीधे सम्राट् के प्रति अपने सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी होते थे । इस पद पर सम्राट् ऐसे ही लोगों को नियुक्त करता था जिनमें उसका पूर्ण विश्वास रहता था । जो प्रान्त अत्यन्त महत्त्व के थे उन पर या तो सम्राट् स्वयं नियन्त्रण रखता था या राजकुल के राजकुमारों को वहाँ नियुक्त करता था । यह शासक 'कुमार-महामात्य' कहलाते थे । अन्य प्रान्तों के महामात्य 'राष्ट्रीय' कहलाते थे । प्रान्त में शान्ति रखना और वहाँ के शासन को सुचारु-रीति से चलाना प्रान्तपति का प्रधान कार्य होता था । युद्ध के समय सम्राट् को सैनिक सहायता पहुँचाना भी उसका कर्त्तव्य होता था । सम्राट् अपने प्रान्तपतियों पर अपना कड़ा नियंत्रण रखता था और अपने

---

1. "Chandragupta Maurya maintained a large standing army directly paid by the crown more efficient than Akbar's militia."

— V. A. Smith.

गुप्तचरों से उनकी गति-विधि की पूरी सूचना प्राप्त किया करता था। इस सम्बन्ध में स्मिथ महोदय ने लिखा है, "मौर्य केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण सुदूरस्थ प्रान्तों तथा अधीनस्थ पदाधिकारियों पर अकबर द्वारा प्रयुक्त नियन्त्रण से भी अधिक कठोर प्रतीत होता है।"[1]

स्थानीय शासन—स्थानीय शासन का तात्पर्य गाँवों तथा नगरों के शासन से है। चन्द्रगुप्त ने इस बात का अनुभव किया था कि यदि गाँवों तथा नगरों का शासन स्थानीय अर्थात् वहीं के लोगों को सौंप दिया जाय तो अति उत्तम होगा। अतएव उसने गाँवों तथा नगरों की संस्थाओं का संगठन कर उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। इस प्रकार आधुनिक ग्राम-पंचायतों तथा नगरपालिकाओं का बीजारोपण चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में हो चुका था। अब गाँवों तथा नगरों के शासन के लिए जो व्यवस्था की गई थी उसका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

गाँव का शासन—गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई होता था। गाँव के प्रबन्ध के लिए एक 'ग्रामिक' होता था। वह राजकीय कर्मचारी नहीं होता था वरन् वह ग्रामवासियों द्वारा चुना जाता था और उसके प्रतिनिधि के रूप में अवैतनिक कार्य करता था। चूँकि 'ग्रामिक' वेतन नहीं लेता था अतएव ऐसा लगता है कि गाँव का प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न व्यक्ति इस पद के लिए चुन लिया जाता था। 'ग्रामिक' अपने सभी कार्य गाँव के अनुभवी वयोवृद्धों के परामर्श तथा सहायता से किया करता था। प्रत्येक गाँव में राजा का एक कर्मचारी भी होता था जो 'ग्राम-भृतक' अथवा 'ग्राम-भोजक' कहलाता था। 'ग्रामिक' के ऊपर 'गोप' होता था, जिसके अनुशासन में पाँच से दस गाँव तक होते थे। 'गोप' के ऊपर 'स्थानिक' होता था। उसके अनुशासन में आठ-सौ गाँव होते थे। 'स्थानिक' के ऊपर 'समाहर्ता' होता था जो सम्पूर्ण जनपद (जिले) का प्रबन्ध करता था।

नगर का प्रबन्ध—नगरों की समस्याएँ गाँवों से भिन्न होती हैं। अतएव नगरों के प्रबन्ध के लिए आधुनिक नगरपालिकाओं का-सा संगठन किया गया था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने नगर के प्रबन्ध का अत्यन्त विस्तृत विवरण दिया है। नगर का प्रधान 'नगराध्यक्ष' कहलाता था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में उसे 'पौर-व्यावहारिक' नाम से पुकारा है जो राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता था। वह आधुनिक काल के नगर-प्रमुख की भाँति होता था। मेगस्थनीज के कथनानुसार नगर के प्रबन्ध के लिए ६ समितियाँ होती थीं और प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि आज-कल भी नगरपालिकाओं का कार्य समितियों द्वारा होता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा

---

1. "The control of the Mauryan central government even over distant provinces and subordinate officials appears to have been more stringent than that exercised by Akbar."

—V. A. Smith.

कि आधुनिक नगरपालिकाओं का बीजारोपण चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में हुआ था। अब उन समितियों के कार्यों की व्याख्या कर देना आवश्यक है जो नगर के लिए बनाई गई थीं।

पहली समिति शिल्प-कला की थी। यह समिति शिल्प तथा उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध करती थी। कारीगरों की मजदूरी निश्चित करना, उनसे अच्छा काम लेना, उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना, कच्चे माल का निरीक्षण करना आदि इस समिति के प्रधान कार्य थे। यदि कारीगरों का कोई अंग-भंग कर देता था तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

दूसरी समिति विदेशियों की देखभाल करती थी। विदेशियों को हर प्रकार की सुविधा देना उसका प्रधान कार्य था। यह समिति विदेशियों के ठहरने, बीमार हो जाने पर उनकी चिकित्सा करवाने और मर जाने पर उनकी दाह-क्रिया का प्रबन्ध करती थी। मर जाने पर विदेशियों की सम्पत्ति उनके उत्तराधिकारियों को दे दी जाती थी।

तीसरी समिति जन-संख्या का हिसाब रखती थी। वह जन-गणना करवाती थी और जन्म-मरण का हिसाब रखती थी। आज-कल भी नगरपालिकाओं को यह कार्य करना पड़ता है। जन-गणना कर लेने से करों के वसूल करने में बड़ी सुविधा होती थी।

चौथी समिति वाणिज्य व्यवसाय का प्रबन्ध करती थी। नाप-तौल की देख-भाल करना, बिक्री की वस्तुओं का भाव निश्चित करना और बाटों की समुचित व्यवस्था करना इस समिति का प्रधान कार्य होता था। व्यापारियों को व्यापार करने के लिए सरकारी आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था और उसके लिए कर देना पड़ता था। जा लोग एक से अधिक वस्तुओं का व्यापार करते थे उन्हें दूना कर देना पड़ता था।

पाँचवीं समिति कारखानों में बनी हुई वस्तुओं की देखभाल करती थी। बेचने वाले नई तथा पुरानी वस्तुओं को मिला नहीं सकते थे। मिलावट करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था।

छठी तथा अन्तिम समिति कर वसूल करने का काम करती थी। विक्रय की हुई वस्तुओं के मूल्य का दसवाँ भाग कर के रूप में राज्य को मिलता था। यह कर अथवा चुंगी बड़ी कड़ाई के साथ वसूल की जाती थी और जो लोग इसके देने में बेईमानी करते थे उन्हें प्राण-दण्ड दिया जाता था।

ऊपर चन्द्रगुप्त मौर्य के केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन का जो विवरण दिया गया है उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका शासन बड़ा ही सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित था और आगामी शासकों के लिए वह पथ-प्रदर्शक और उनके शासन की आधार-शिला बन गया। यद्यपि चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का विस्तृत वर्णन दे दिया गया है परन्तु मेगस्थनीज के भारतीय विवरण के बिना यह अधूरा ही रह जाता है। अतएव मेगस्थनीज के भारतीय विवरण का संक्षिप्त उल्लेख कर देना स्थान-संगत होगा। मौर्य-शासन के सम्बन्ध में स्मिथ महोदय ने लिखा है, "मौर्य-शासन बड़ा ही

सुसंगठित तथा पूर्णतया सुयोग्य 'एकतन्त्र' था जिसमें अकबर से भी अधिक विस्तृत साम्राज्य पर नियंत्रण रखने की क्षमता थी। बहुत-सी बातों में इसने आधुनिक काल की संस्थाओं का पूर्वाभास दिया था।''[1]

मेगस्थनीज का विवरण—सिल्यूकस ने मेगस्थनीज को अपना राजदूत बना कर चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में भेजा था। वह बहुत दिनों तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा जिससे उसे मौर्य राज-संस्था तथा भारतीय समाज को अपनी आँखों से देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने जो कुछ देखा और अन्य लोगों से सुना उसे उसने अपनी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में लिख दिया। यद्यपि यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है परन्तु उसकी लिखी हुई बातें अन्य यूनानी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में लिखी हैं। इन सबका संग्रह कर लिया गया है जिसके अध्ययन करने पर मेगस्थनीज के भारतीय विवरण का बोध हो जाता है। कुछ इतिहासकारों ने मेगस्थनीज को नितान्त भूठा तथा ढोंगी बतलाया है और उसके विवरण को बिल्कुल अविश्वसनीय बतलाया है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो कुछ उसने अपनी आँखों देखा उसमें सत्य का बहुत बड़ा अंश विद्यमान है परन्तु जो कुछ उसने उसने दूसरों से सुनी-सुनाई बात लिख दी वह असत्य से खाली नहीं है। एक बात और ध्यान देने की यह है कि यूनानी होने के कारण वह भारतीय प्रथाओं को ठीक-ठीक समझ न सका, अतएव उनके विषय में उसने भ्रमात्मक बातें लिख दीं। उसने एक और भूल यह की है कि उसने भारतीय परम्पराओं को यूनानी परम्पराओं से मिला दिया है। दक्षिण भारत को उसने देखा न था और उसके विषय में दूसरों से सुनकर लिखा है। अतएव उसमें असत्य की मात्रा अधिक है। जो कुछ उसने भारतीय जनश्रुतियों के आधार पर लिखा है वह भी विश्वसनीय नहीं है। परन्तु इन दोनों के होते हुए भी भारतीय इतिहास के निर्माण में मेगस्थनीज के विवरण से बड़ी सहायता मिलती है। उसने भारत की भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशा पर काफी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

भौगोलिक दशा—भारत की सीमा का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है कि इसके उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र और पश्चिम में सिन्धु, गङ्गा, सोन आदि नदियाँ विद्यमान हैं। दक्षिण-भारत की नदियों का उल्लेख उसने बिल्कुल नहीं किया। चूँकि अफगानिस्तान चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का अंग था अतएव उसने अफगानिस्तान की काबुल, स्वात, गोमल आदि नदियों का उल्लेख किया है। जलवायु के विषय में उसने लिखा है कि गर्मी की ऋतु में बड़ी गर्मी पड़ती है। वर्षा गर्मी तथा जाड़ा दोनों ही ऋतुओं में होती है, परन्तु गर्मी के दिनों में अधिक वर्षा होती है।

---

1. "The Maurya government was highly organised and thorughly efficient autocracy capable of controlling an empire more extensive than Akber.. It anticipated in many respects the institutions of modern times." —V. A. Smith.

सामाजिक दशा—मेगस्थनीज ने सामाजिक दशा का वर्णन करते हुए एक बहुत बड़ी भूल यह की है कि उसने चार जातियों के स्थान पर सात जातियों का उल्लेख किया है। पहले वर्ग में उसने ब्राह्मणों तथा दार्शनिकों को रक्खा है। यद्यपि इनकी संख्या कम थी परन्तु समाज में यह लोग बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। यह लोग राजा तथा प्रजा के लिए यज्ञ किया करते थे। अपनी इस सेवा के कारण यह लोग राज्य-करों से मुक्त रहते थे। दूसरा वर्ग कृषकों का था। समाज में इनकी संख्या सबसे अधिक थी। यह लोग खेती करते थे। अपने खेतों की उपज का चौथाई भाग राज्य को कर के रूप में देते थे। लड़ाई के समय में भी इनकी खेती को कोई हानि नहीं पहुँचने पाती थी। तीसरा वर्ग ग्वालों तथा शिकारियों का था। ग्वालों का मुख्य व्यवसाय पशु-पालन तथा दूध बेचना और शिकारियों का जङ्गली पशुओं का शिकार करना था। ग्वाले लोग पशुओं को बेचते और किराये पर भी देते थे। शिकारी लोग जङ्गली पशुओं का शिकार करके खेतों की रक्षा करते थे। इस सेवा के बदले में शिकारियों को राज्य की ओर से धन मिलता था। यह शिकारी किसी एक स्थान पर नहीं रहते थे वरन् वे एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते थे। चौथे वर्ग में व्यापारी तथा श्रमजीवो आते थे। व्यापारी लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों में लगे रहते थे। इन लोगों को अपनी आय का कुछ भाग राज्य को कर के रूप में देना पड़ता था। विदेशों से व्यापार करने के लिए व्यापारियों को राज्य की ओर से सहज उधार मिलते थे। श्रमजीवी लोग अन्य वर्गों की सेवा का कार्य करते थे। पाँचवाँ वर्ग योद्धा लोगों का था। इस वर्ग का सारा खर्च राजा स्वयं चलाता था। यह लोग सदैव युद्ध करने के लिए उद्यत रहते थे और शान्ति के समय में ये लोग आनन्द का जीवन व्यतीत करते थे। छठा वर्ग निरीक्षकों का था। इस वर्ग का कर्त्तव्य राज्य के कार्यों का निरीक्षण करना और उसकी सूचना सम्राट् को देना होता था। इन निरीक्षकों में से जो सबसे अधिक योग्य तथा विश्वसनीय होते थे वे राजधानी तथा राज-शिविर के निरीक्षण के लिए रक्खे जाते थे। ये निरीक्षक गुप्तचरों का भी काम करते थे। सातवाँ वर्ग मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं का था। इस वर्ग वालों की संख्या सबसे कम थी परन्तु यह वर्ग समाज में सबसे अधिक शिक्षित तथा बुद्धिमान होता था। राज्य के ऊँचे-ऊँचे पद इन्हीं लोगों को दिये जाते थे। मेगस्थनीज का कहना है कि यह सातों जातियाँ अपने निश्चित कार्य को ही कर सकती थीं। अन्य कार्यों को करने की इन्हें आज्ञा न थी। इनमें अन्तर्जातीय विवाह भी नहीं हो सकता था। मेगस्थनीज लिखता है कि भारतवासियों को अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने का बड़ा शौक था। इनके वस्त्र बहुमूल्य होते थे और उन पर सोने का काम किया रहता था। विवाह का उद्देश्य भोग, जीवन-संगी बनाना तथा पुत्र उत्पन्न करना था। इस काल में बहु-विवाह की भी प्रथा थी परन्तु यह सम्भवतः राजवंशों तक सीमित थी। एक विवाह-प्रथा में वर के पिता को एक जोड़ी बैल कन्या के पिता को देना पड़ता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतवासो लेखन-कला को नहीं जानते थे। यह बिल्कुल असत्य प्रतीत होता

है। मेगस्थनीज ने ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा श्रमणों का भी उल्लेख किया है। ये लोग अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत करते थे और सांसारिक जीवन त्याग कर बस्ती से दूर निवास करते थे। ये लोग शाकाहारी होते थे और कुशासन अथवा मृगचर्म पर सोते थे। यह लोग प्रायः घूम कर जनता को उपदेश दिया करते थे।

राजनीतिक दशा—मेगस्थनीज कहता है कि राजा दिन भर अपनी राज-सभा में रहता था और न्याय किया करता था। उसे अपनी जान का सदैव भय लगा रहता था। अतएव वह एक कमरे में दो रात से अधिक नहीं रहता था। जब कभी सम्राट् शिकार के लिए जाता था तो उसका मार्ग रस्सियों से अलग कर दिया जाता था और यदि कोई इन रस्सियों को लाँघने का प्रयत्न करता था तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज ने सम्राट् के राज-भवन का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि सम्राट् के भवन पाटलिपुत्र में बने थे। इनके चारों ओर सुन्दर उद्यान तथा सरोवर थे। राजभवन के आँगन में पालतू मोर रक्खे जाते थे। उद्यानों में बड़े ही सुन्दर-सुन्दर शुक अर्थात् तोते बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते थे जो राज-भवन के ऊपर मँडराया करते थे। सरोवरों में बड़ी सुन्दर मछलियाँ रहती थीं। मछलियों को पकड़ने की किसी को आज्ञा न थी परन्तु राजकुमार लोग आमोद-प्रमोद के लिए उन्हें पकड़ सकते थे। सम्राट् प्रायः राज-प्रासाद के भीतर ही रहता था और उसकी रक्षा के लिए नारी संरक्षिकाएँ होती थीं। केवल चार अवसरों पर सम्राट् अपने राज-भवन के बाहर निकलता था अर्थात् युद्ध के समय, न्यायाधीश का पद ग्रहण करने के लिए, बलि देने के लिए तथा आखेट के लिए। मेगस्थनीज ने राज-दरबार का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके कथनानुसार चन्द्रगुप्त का दरबार बड़े ठाट-बाट का था। सोने-चाँदी के सुन्दर बर्तन, जड़ाऊ मेज तथा कुर्सियाँ और कीमखाब के बारीक वस्त्र देखने वालों की आँख को चकाचौंध कर देते थे। सम्राट् मोती की मालाओं से अलंकृत पालकी और सुनहले फूलों से विभूषित हाथी पर बैठ कर राज-भवन के बाहर जाता था। सम्राट् को शिकार का बड़ा शौक था। उसके आखेट के लिए बड़े-बड़े वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा को पहलवानों के दंगल, घुड़दौड़, पशुओं के युद्ध आदि देखने का बड़ा शौक था और उन्हीं से वह अपना मनोविनोद किया करता था।

मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र का भी बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है कि पाटलिपुत्र भारत का सबसे बड़ा नगर है और यह सोन तथा गंगा नदियों के संगम पर स्थित है। यह नगर साढ़े नौ मील लम्बा और पौने दो मील चौड़ा है। नगर के चारों ओर एक खाईं-सी है जिसकी चौड़ाई ६०६ फीट और गहराई ४५ फीट है। उसके चारों ओर एक दीवार है जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज बने हैं। पाटलिपुत्र के प्रबन्ध के विषय में मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर का प्रबन्ध ६ समितियों के द्वारा होता था जिनमें से प्रत्येक में पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन समितियों के कार्यों का वर्णन चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का वर्णन करते समय किया जा चुका है। मोरलैण्ड महोदय ने मेगस्थनीज द्वारा वर्णित शासन की ओर संकेत

करते हुए लिखा है, "जहाँ तक शासन का सम्बन्ध है मेगस्थनीज के वर्णनांशों से हमें यह पता लग जाता है कि यह सुव्यवस्थित तथा पूर्णतया सुसंगठित था।"[1]

चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिवस—जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने महावीर स्वामी की शिष्यता ग्रहण कर ली थी। कहा जाता है कि भारत के इस महान् सेनानायक तथा कुशल शासक ने २४ वर्षों तक अत्यन्त सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त राज-वैभव को लात मार कर २६८ ई० पू० में संन्यास ग्रहण कर लिया। उसके शासन-काल के अंतिम भाग में उसके राज्य में एक बहुत बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। अतएव जैन-भिक्षुकों के एक बहुत बड़े दल ने आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में कर्नाटक के लिए प्रस्थान कर दिया। चन्द्रगुप्त को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया और अपना राज्य अपने पुत्र बिंदुसार को सौंप कर वह स्वयं कर्नाटक के पर्वतों की ओर चला गया और वहीं पर एक सच्चे जैन की भाँति अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक की जीवन-लीला समाप्त हो गई। अब इस प्रतापी सम्राट् के कार्यों का मूल्यांकन कर देना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त के कार्यों का मूल्यांकन—चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् था और भारत में एक विशाल साम्राज्य को स्थापित करने का श्रेय उसे प्राप्त है। जिन परिस्थितियों में उसने इस साम्राज्य की स्थापना की वे उसके गौरव को अधिक बढ़ा देती हैं। जिस समय उसने साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना की उस समय वह साधनहीन था। न उसके पास सेना थी और न सेना को संगठित करने के लिए धन था; वरन् अपने प्राणों की रक्षा के लिए वह इधर-उधर भटक रहा था। परंतु अपनी प्रतिभा के बल से उसने दोनों ही को प्राप्त कर लिया। सौभाग्य से उसे चाणक्य जैसे अद्वितीय प्रतिभा वाले ब्राह्मण का धन तथा बुद्धि प्राप्त हो गई और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने दोनों ही का सदुपयोग किया। नन्दों के विशाल तथा शक्तिशाली साम्राज्य पर विजय प्राप्त करना खेल न था। उसने न केवल एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की बरन् उसने विदेशी यूनानियों को भी अपने देश से मार भगाया और देश को विदेशी शासन से मुक्त करने का यश प्राप्त किया। वह प्रथम तथा अंतिम भारतीय शासक था जिसने अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान पर भी शासन किया। भारत की प्राकृतिक सीमाओं के बाहर शासन करने का यश उसी को प्राप्त है। उसने भारत के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर देश को राजनीतिक एकता प्रदान की और भारत के भावी महत्त्वाकांक्षी सम्राटों के लिए आदर्श उपस्थित किया। उसने न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया वरन् दक्षिण-भारत के भी एक बहुत बड़े भाग पर उसने शासन किया। उन दिनों, जब यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था, उसने एक असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया। चन्द्रगुप्त ने न केवल एक विशाल साम्राज्य की

---

[1] "Regarding administration we can see in the fragments of Megasthenese that it was elaborate and highly organised"

—Moreland.

स्थापना की वरन् उसे सुरक्षित रखने तथा स्थायी बनाने की भी व्यवस्था की। उसने एक ऐसी सुसंगठित तथा सुसज्जित सेना का संगठन किया कि उसका साम्राज्य न केवल उसके अपने जीवन-काल में वरन् उसके उत्तराधिकारियों के काल में भी वाह्य-आक्रमणों से सुरक्षित रहा।

न केवल सामारिक दृष्टिकोण से चन्द्रगुप्त मौर्य की कीर्ति अमर है वरन् प्रशासकीय दृष्टिकोण से भी उसका भारतीय इतिहास में बड़ा ऊँचा स्थान है। वह अपनी प्रजा को शान्ति, सुख तथा सम्पन्नता प्रदान करने में पूर्ण-रूप से सफल रहा। जिस शासन-व्यवस्था को उसने प्रारम्भ किया वह भावी शासकों के लिए आदर्श तथा अनुकरणीय बन गई। जिस मन्त्रि-परिषद् तथा विभागीय व्यवस्था का उसने प्रारम्भ किया वह थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ आज भी सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में प्रचलित है। उसके द्वारा स्थापित किया हुआ स्थानीय शासन आज भी ग्राम-पंचायतों, नगरपालिकाओं तथा महापालिकाओं के रूप में कार्य कर रहा है। अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सैनिक तथा प्रशासकीय दोनों ही दृष्टिकोणों से चन्द्रगुप्त मौर्य एक आदर्श तथा अनुकरणीय सम्राट् था।

बिन्दुसार (२९८ ई० पू०–२७३ ई० पू)—चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने सिंहासन पर बैठने के बाद 'अमित्रघात' की उपाधि ली जिसका अर्थ होता है अमित्रों अर्थात् शत्रुओं का घात अर्थात् विनाश करने वाला। इससे स्पष्ट है कि बिन्दुसार ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति को जारी रक्खा। यद्यपि अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सीमा में वह वृद्धि न कर सका परन्तु आन्तरिक विद्रोहों को शान्त कर वह साम्राज्य को संगठित रखने में पूर्णरूप से समर्थ रहा। उसके शासन-काल में पहला विद्रोह तक्षशिला में हुआ। इन दिनों बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुसीम वहाँ शासन कर रहा था। बिन्दुसार ने विद्रोह की सूचना पाते ही अपने दूसरे पुत्र अशोक को विप्लव शान्त करने के लिए तक्षशिला भेजा। वहाँ पहुँचने पर यह ज्ञात हुआ कि प्रजा ने राजा अथवा राजकुमार के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया है वरन् यह विद्रोह अमात्यों के विरुद्ध था जो उनके साथ अत्याचार तथा उनका अपमान किया करते थे। अशोक ने उदारता की नीति का अनुसरण कर वहाँ पर शान्ति स्थापित कर दी।

विदेशी राज्यों के साथ बिन्दुसार ने अपने पिता की भाँति मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध रक्खा। कहा जाता है कि मिस्र तथा सीरिया के शासकों ने अपने राजदूत पाटलिपुत्र भेजे थे जहाँ उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ था। भारत के बाहर पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसने यूनानियों के साथ मैत्री का व्यवहार किया तथा उनके साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रक्खा।

बिंदुसार के कई पुत्र तथा कन्याएँ थीं। अशोक उसका ज्येष्ठ पुत्र था जो बड़ा ही वीर तथा साहसी था। बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में अशोक के दो भाइयों सुसीम तथा विगतशोक का उल्लेख मिला है। सुसीम अशोक का सौतेला और विगतशोक उसका सगा भाई था। २७३ ई० पू० में बिंदुसार का परलोकवास हो गया

और उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अशोक मगध के सिंहासन पर बैठा ।

अशोक का प्रारम्भिक जीवन—अशोक बिन्दुसार का पुत्र और चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र था । उसकी माता चम्पा-निवासी एक ब्राह्मण की कन्या थी । वह ब्राह्मण बिन्दुसार को अपनी रूपवती, दर्शनीय कन्या उपहार (भेंट) के रूप में दे गया था । अन्तः-पुर की अन्य रानियाँ उसके असीम सौंदर्य से आतंकित हो उठीं और उन्होंने उसे नाइन (नौकरानी) के रूप में रनिवास में रखा । कालान्तर में सम्राट् को इस रहस्य का पत्ता लग गया और उसने उसे अपनी पटरानी बना लिया । इस ब्राह्मण-कन्या से बिन्दुसार के दो पुत्र उत्पन्न हुए । इनमें से एक का नाम अशोक और दूसरे का विगतशोक रखा गया । अशोक की माँ का नाम कई ग्रन्थों में 'धम्मा' मिलता है परन्तु कुछ ग्रन्थों में उसे 'सुभद्रांगी' अर्थात् अच्छे अंग वाली कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि 'धम्मा' उसका बचपन का नाम था और अत्यन्त रूपवती होने के कारण उसका नाम 'सुभद्रांगी' पड़ गया । कुछ विद्वानों के विचार में अशोक सिल्यूकस की कन्या का पुत्र था जिसका विवाह उसने चन्द्रगुप्त से परास्त होने के बाद बिन्दुसार के साथ कर दिया था; परन्तु इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है । अशोक के कई पत्नियाँ थीं जिनमें 'देवी' सबसे अधिक प्रसिद्ध है । वह विदिशा के एक श्रेष्ठी (व्यवसायी) की कन्या थी जिसका नाम देवी था । इसी देवी की सन्तान महेन्द्र तथा संघमित्रा थे जिन्होंने बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया था । अशोक की एक दूसरी पत्नी का नाम पद्मावती था जिससे कुणाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था । अपने पिता के जीवन-काल में ही अशोक ने शासन का काफी अनुभव प्राप्त कर लिया था क्योंकि वह अवन्ती (उज्जयिनी) तथा तक्षशिला का प्रांतपति रह चुका था । इससे स्पष्ट है कि बिन्दुसार को अशोक की कार्य-कुशलता, विवेकशीलता तथा वीरता में पूरा विश्वास हो गया था अन्यथा वह सुदूरस्थ प्रान्तों में इतने महत्त्वपूर्ण पद पर उसे नियुक्त न करता ।

अशोक का सिंहासनारोहण—'महावंश' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि बिन्दुसार के एक सौ पुत्र थे जिनमें विगतशोक ही अशोक का सगा भाई था और शेष सब उसके सगे भाई न थे । इनमें सुमन अथवा सुसीम सबसे बड़ा था । अशोक सुमन से छोटा और शेष भाइयों से बड़ा था । वह अपने सभी भाइयों से अधिक तेजस्वी था । कहा जाता है कि अशोक ने अपने ९९ सौतेले भाइयों की हत्या कर समस्त जम्बूद्वीप अर्थात् भारतवर्ष पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था । यद्यपि भाइयों की हत्या की कथा कपोल-कल्पित और बौद्ध आचार्यों की मन-गढ़न्त प्रतीत होती है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अशोक को अपने बड़े सौतेले भाई सुसीम के साथ संघर्ष करना पड़ा था । विभिन्न सूत्रों से यह पता लगता है कि बिन्दुसार सुसीम को अधिक प्यार करता था और उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था । ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण नैतिक दृष्टि से भी उसी को सिंहासन मिलना चाहिए था । परन्तु अशोक अपने भाइयों में सबसे अधिक योग्य था और अवन्ती तथा तक्षशिला में सफलतापूर्वक शासन करके और तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करके वह अपनी वीरता तथा शासन-कुशलता का पूरा परिचय दे चुका था; अतएव प्रधानमन्त्री खल्वाटक तथा अन्य अमात्य

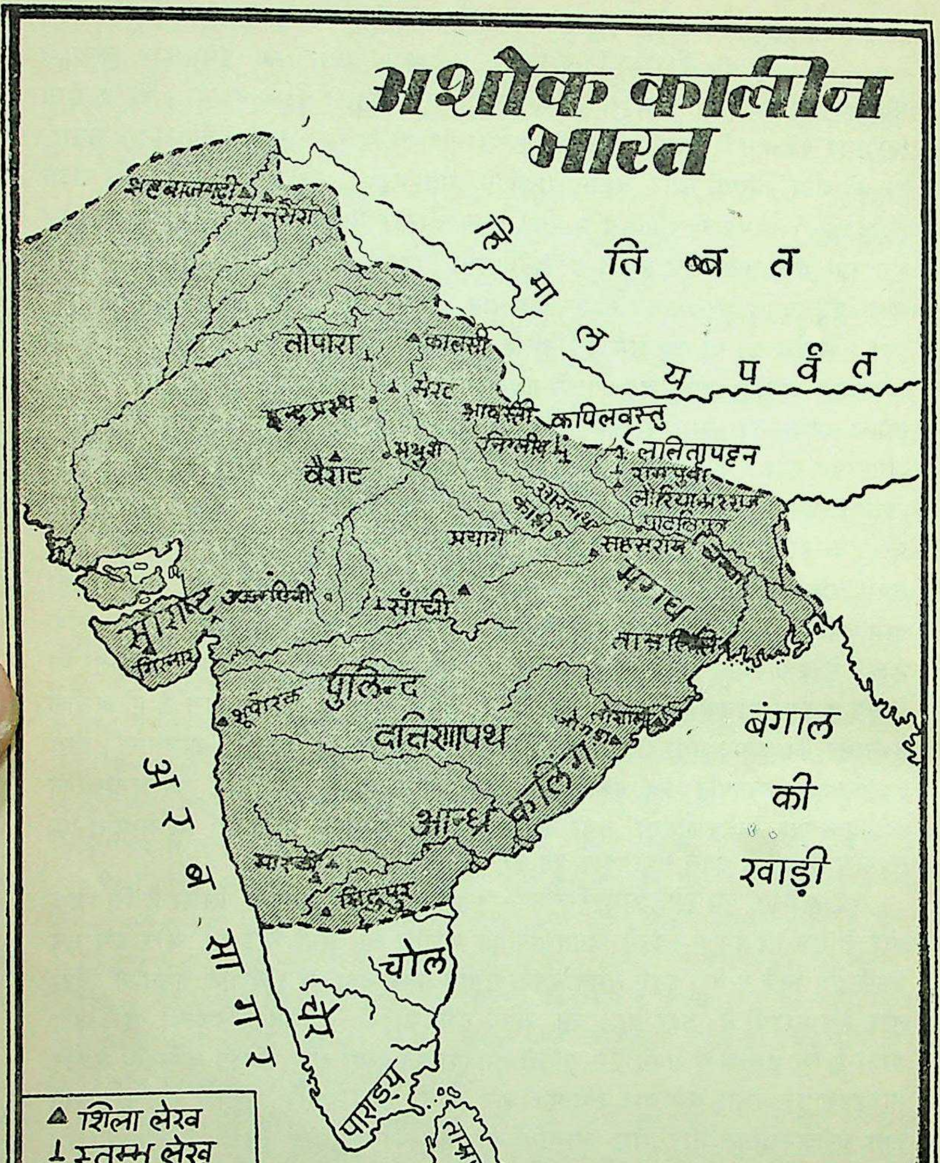
अशोक कालीन भारत
हिमालय पर्वत
तिब्बत
शहबाजगढ़ी
मनसेरा
तोपारा
कालसी
मेरठ
इन्द्रप्रस्थ
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
निग्लिवा
ललितापट्टन
रामपुरवा
लौरिया अरराज
वैराट
मथुरा
सारनाथ
काशी
पाटलिपुत्र
प्रयाग
सहसराम
मगध
उज्जयिनी
साँची
सौराष्ट्र
गिरनार
ताम्रलिप्ति
पुलिन्द
शूर्पारक
दक्षिणापथ
तोसाली
जौगड़
कलिंग
आन्ध्र
मास्की
सिद्दपुर
चोल
केरल
पाण्ड्य
ताम्रपर्णी
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर
▲ शिला लेख
⊥ स्तम्भ लेख
---मुख्य मार्ग

उसी को राजा बनाना चाहते थे। फलतः जब बिन्दुसार की मृत्यु हो गई तब अशोक तथा सुसीम में संघर्ष अवश्य हुआ। इस संघर्ष का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिंहासनारोहण के चार वर्ष बाद हुआ था। सम्भवतः भाइयों के पारस्परिक संघर्ष के कारण ही यह विलम्ब हुआ था। अतएव अधिकांश

विद्वानों की यह धारणा है कि हो सकता है कि इस युद्ध में सुसीम तथा उसके कुछ अन्य भाइयों की हत्या हो गई हो। अशोक के अभिलेखों से भी यह पता लगता है कि उसके राज्याभिषेक के बाद भी उसके कई भाई जीवित थे। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध आचार्यों ने इस बात को दिखाने के लिए कि बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लेने पर एक क्रूर तथा हत्यारा व्यक्ति भी उदार तथा दयावान् बन सकता है, अशोक द्वारा अपने ९९ भाइयों की हत्या की कथा का आविष्कार कर लिया।

अशोक की विजय—सिंहासनारोहण के उपरान्त अशोक ने अपने पिता बिन्दुसार तथा अपने पितामह चन्द्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति को जारी रक्खा। सिल्यूकस पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने विदेशियों के साथ मैत्री रखने तथा सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय किया था। अशोक ने भी इसी नीति को अपनाया। उसने यूनानियों के साथ मैत्री-भाव रखा और उनके साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया। उसने यूनानियों को सरकारी पदों पर भी नियुक्त किया। सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसने दिग्विजय की नीति का अनुसरण किया। उसने उन पड़ोसी राज्यों पर, जो साम्राज्य के बाहर थे, आक्रमण करना आरम्भ कर दिया।

काश्मीर विजय—यद्यपि चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण पंजाब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था परन्तु काश्मीर उसके साम्राज्य के बाहर था। अतएव अशोक ने उस पर विजय प्राप्त कर उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लेने का निश्चय कर लिया। काश्मीरी लेखक कल्हण की 'राजतरंगिणी' से हमें ज्ञात होता है कि अशोक ने काश्मीर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

कलिङ्ग विजय—कलिंग का राज्य अशोक के साम्राज्य के दक्षिण-पूर्व में जहाँ आधुनिक उड़ीसा का राज्य है, स्थित था। अशोक के सिंहासनारोहण के समय वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र था और उसकी गणना बड़े ही शक्तिशाली राज्यों में होने लगी थी। कलिंग के राजा ने एक विशाल सेना का संगठन कर लिया था और अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने में संलग्न था। ऐसे प्रबल राज्य का मगध-राज्य की सीमा पर रहना बड़ा ही आपत्तिजनक था और सम्राट् अशोक की दिग्वजय-नीति के विरुद्ध पड़ता था। अतएव अपने सिंहासनारोहण के तेरहवें वर्ष और अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने कलिंग पर एक विशाल सेना के साथ आक्रमण कर दिया। यद्यपि कलिंग की सेना बड़ी वीरता तथा साहस के साथ लड़ी परन्तु वह अशोक की विशाल सेना के सामने ठहर न सकी और अन्त में परास्त होकर भाग खड़ी हुई। कलिंग पर अशोक का अधिकार स्थापित हो गया और उसने अपने एक प्रतिनिधि को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार कलिंग मगध-साम्राज्य का एक अंग बन गया।

कलिङ्ग-युद्ध के परिणाम—कलिंग के युद्ध का पहला परिणाम यह हुआ कि मगध साम्राज्य की सीमा में वृद्धि हो गई और अशोक की साम्राज्यवादी नीति पूर्णरूप से सफल सिद्ध हुई। अब उसका राज्य पश्चिम में हिन्दूकुश से पूर्व में बंगाल तक और उत्तर मे हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैल गया। कलिंग

विजय का दूसरा परिणाम यह हुआ कि इसमें भीषण हत्याकांड हुआ। कहा जाता है कि इस युद्ध में हताहतों की संख्या दो लाख पचास हजार से अधिक थी जिनमें सैनिकों के साथ-साथ साधारण जनता भी सम्मिलित थी। इस भीषण रक्तपात का परिणाम यह हुआ कि कलिंग में भयानक महामारी फैली जिसने असंख्य प्राणियों के प्राण ले लिये। कलिङ्ग-युद्ध का तीसरा परिणाम यह हुआ कि भीषण नर-संहार का सम्राट् अशोक के हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने यह दृढ़-संकल्प कर लिया कि भविष्य में वह युद्ध न करेगा और युद्ध के स्थान पर वह धर्म-यात्राएँ करेगा। अब युद्ध-घोष के स्थान पर धर्म-घोष हुआ करेगा और सबसे मैत्री तथा सद्भावना रक्खी जायेगी। यदि कोई क्षति भी पहुँचायेगा तो सम्राट् उसे यथासम्भव सहन करेगा। अशोक ने न केवल स्वयं युद्ध न करने का निश्चय किया वरन् उसने अपने पुत्र तथा पौत्र को भी युद्ध न करने का आदेश दिया। कुछ इतिहासकारों के विचार में अशोक की इस युद्ध न करने की नीति का राजनीतिक प्रभाव बड़ा बुरा पड़ा। इसके फलस्वरूप भारत की सैनिक शक्ति उत्तरोत्तर निर्बल होती गई, जिससे विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने का दु:साहस हुआ और उन्होंने विभिन्न भागों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। परन्तु इसका धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव बहुत बड़ा पड़ा। अशोक ने इस युद्ध के उपरान्त बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार का उसने अथक प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म का न केवल सम्पूर्ण भारत में वरन् विदेशों में भी प्रचार हो गया। अशोक ने जिन देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करवाया उनके साथ उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इससे उन देशों के साथ भारत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार उन देशों में हो गया।

कलिङ्ग-युद्ध का महत्त्व—कलिंग-युद्ध का भारत के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसका न केवल राजनीतिक वरन् सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी बहुत बड़ा महत्त्व है। वास्तव में यहीं से भारत के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। यह युग है शान्ति तथा सद्भावना का, सामाजिक सुधार का, नैतिक उन्नति का, धार्मिक प्रचार का, आर्थिक समृद्धि का, साम्राज्य-विस्तार के विराम का, सैनिक ह्रास का तथा बृहत्तर भारत के प्रसार का। यहीं से उस साम्राज्यवादी नीति का अन्त हो जाता है जिसका प्रारम्भ मगध-नरेश बिम्बिसार ने अंग पर विजय प्राप्त करके किया था। राजनीति में अहिंसा की नीति के अनुसरण से भारत का सैनिक बल समाप्त हो गया और वह पतनोन्मुख हो गया परन्तु अपनी सारी शक्ति अशोक ने अपनी प्रजा की आर्थिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में लगा दी। भारतीय इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीयता का युग यहीं से आरम्भ होता है और भारत की कूपमण्डूकता समाप्त हो जाती है। प्राय: युद्ध में विजय प्राप्त करने से विजय-कामना प्रबल हो जाती है परन्तु कलिङ्ग-युद्ध का प्रथम उदाहरण है जब इसके विजेता ने सैनिक संन्यास ले लिया और भविष्य में युद्ध न करने का निश्चय कर लिया। यहीं से अशोक की महानता का बीजारोपण हुआ और यह भारतीय नरेशों का शिरोमणि

बन गया। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने कलिंग-युद्ध के महत्त्व को बतलाते हुए लिखा है, "कलिंग-युद्ध ने अशोक के जीवन को एक नया मोड़ दिया और भारत तथा सम्पूर्ण विश्व के इतिहास पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला।"[1]

डॉ० एन० एन० घोष ने लिखा है कि अशोक ने "अपनी तलवार को म्यान में रख लिया और धर्म-चक्र को ग्रहण कर लिया।"[2]

डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है कि अब "भेरि-घोष के स्थान को धर्म-घोष ग्रहण करेगा।"[3]

अशोक का शासन—अशोक की 'युद्ध-विराम-नीति' का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि उसकी सारी शक्ति प्रशासकीय-विभाग में नियोजित हो गई। अवन्ती तथा तक्षशिला से प्रान्तपति के रूप में वह सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव प्राप्त कर चुका था। अतएव उसे अपने पूर्वजों के शासन को सँभालने में कोई कठिनाई न पड़ी। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में उसने अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और उसके द्वारा प्रस्थापित शासन-व्यवस्था के अनुसार शासन को चलाता रहा। शासन का स्वरूप स्वेच्छाचारी, निरंकुश राजतन्त्र था और केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन पूर्ववत् चलता रहा। पुरानी मन्त्रि-परिषद् तथा विभागीय अध्यक्ष अन्य कर्मचारियों की सहायता से शासन को चलाते रहे। परन्तु कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक ने अपने शासन में नये-नये सिद्धान्तों तथा आदर्शों का समावेश किया। यह आदर्श तथा सिद्धान्त निम्नांकित थे :—

प्रजा-पालन तथा उसके हित-चिन्तन को अशोक ने अपने शासन का आधार बनाया। उसने अपनी प्रजा को संतान मानकर उसके अनुकूल आचरण करना आरम्भ किया। अपने द्वितीय कलिंग शिला-लेख में अशोक कहता है, "सभी मनुष्य मेरी संतान हैं। जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक तथा परलोक में सब प्रकार की समृद्धि तथा सुख भोगे, ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा के सुख तथा उसकी समृद्धि की कामना करता हूँ।" अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने इसी पितृत्व की भावना को इस प्रकार व्यक्त किया है, "जिस प्रकार मनुष्य अपनी संतान

---

1. "The Kalinga war proved a turning point in the career of Ashoka and produced results of far-reaching consequences in the history of India and of the world."

—H. C. Ray Chaudhuri.

2. "He sheathed his sword and took up the wheel of law"

—N .N Ghosh

3. "the reverberation of the war drum was to become the reverberation of the law."

—H. C. Ray Chaudhuri.

को अपनी चतुर धाय के हाथ में सौंप कर निश्चित हो जाता है और सोचता है कि वह उस बालक को यथा-शक्ति सुख देने की चेष्टा करेगी, उसी प्रकार अपनी प्रजा के सुख तथा हित-चिन्तन के लिए मैंने 'राजुक' नामक कर्मचारी नियुक्त किये हैं।'' अशोक अपने सातवें शिला-लेख में कहता है, मैंने यह प्रबन्ध किया है कि सब समय में—चाहे मैं भोजन करता रहूँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में, चाहे उद्यान में—सर्वत्र मेरे 'प्रतिवेदक' (सम्वाददाता) प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें। मैं प्रजा का कार्य सर्वत्र करूँगा। मैं सभी कार्य इस दृष्टि से करता हूँ कि प्राणियों के प्रति मेरा जो ऋण है उससे मैं उऋण हो जाऊँ और न केवल इस लोक में लोगो को सुखी करूँ वरन् परलोक में भी उन्हें स्वर्ग-लोक का अधिकारी बनाऊँ। इस प्रकार अशोक ने शासन में नैतिक तथा लोक-मंगलकारी सिद्धान्तों तथा आदर्शों का सूत्रपात किया।

अशोक कोरा आदर्शवादी ही न था। अपने इन आदर्शों को व्यवहार में लाने के लिए उसे अपने पूर्वजों की शासन-व्यवस्था में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी करना पड़ा। चूंकि प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना अशोक के शासन का परम आदर्श था, अतएव अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने नये पदाधिकारियों की नियुक्ति की जो 'धर्म-महामात्र' कहलाये। इनका प्रधान कार्य अकारण दण्डित व्यक्तियों को दण्ड से मुक्त करवाना, ऐसे दण्डित व्यक्तियों के दण्ड को कम करवाना जो वृद्ध हों अथवा जिनके आश्रित बहुत-से बाले-बच्चे हों, दानों के उचित वितरण की व्यवस्था करना और विभिन्न धार्मिक सप्रम्दायों के हित की चिन्ता करना था। कुछ पुराने पदाधिकारियों के कार्यों में भी उसने वृद्धि कर दी। अपने तीसरे शिला-लेख में अशोक कहता है कि राज्य के युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक नामक पदाधिकारी भविष्य में अपने नियत कार्यों के अतिरिक्त प्रति पाँचवें वर्ष दौरा करके धर्म का प्रचार करें। अशोक को इस बात की वड़ी चिन्ता रहती थी कि उसे अपनी प्रजा से सुख-दुःख का समाचार निरन्तर मिलता रहे। अतएव उसने अपने 'आवेदकों' को यह आदेश दे रक्खा था कि वह चाहे जहाँ और चाहे जिस अवस्था में हो वे तुरन्त प्रजा के सुख-दुख की सूचना उसे दें।

अपनी उदार तथा लोक-मङ्गलकारी नीति के कारण अशोक को अपनी न्याय-व्यवस्था में भी आवश्यक परिवर्तन करने पड़े। उसके पूर्वजों के काल का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। अशोक ने उसमें उदारता का संचार कर दिया। उसके पाँचवें शिला-लेख से यह ज्ञात होता है कि प्रति-वर्ष अपने राज्याभिषेक-दिवस पर वह कैदियों को मुक्त किया करता था। उसके चौथे शिला-लेख से यह पता लगता है कि उसने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि यदि किसी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड मिलता हो तो उसे मृत्यु-दण्ड देने के पहले तीन दिन का अवकाश देना चाहिए, जिससे वह अवकाश के समय में अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सके, अपने विचारों को सुधार ले तथा कुछ धार्मिक कृत्य कर सके जिससे उसका परलोक सुधर सके। न्याय व्यवस्था में अशोक ने एक और प्रशंसनीय सुधार किया कि उसने 'राजुकों' (न्यायाधीशों) को पुरस्कार तथा दण्ड देने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जिससे वे आत्म-विश्वास तथा निर्भीकता के साथ

अपने कर्तव्य का पालन कर सकें और जनता की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकें।

अपनी प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा की समुचित व्यवस्था करने के साथ-साथ उसने उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए समुचित वातावरण उपस्थित करवाया। उसने राज्य के कर्मचारियों को यह आदेश दे रक्खा था कि वे प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का सदैव ध्यान रखें। अशोक ने उन समारोहों, उत्सवों तथा अनुष्ठानों को बन्द करवा दिया जिनमें मांस, मदिरा तथा नाच-गाने का प्रयोग होता था। इनके स्थान पर उसने धर्म समाजों की स्थापना करवाई जिससे प्रजा में धार्मिक भावना तथा नैतिक बल उत्पन्न हो। विहार (आनन्द) यात्राओं के स्थान पर अब उसने धर्म-यात्राओं को प्रोत्साहन दिया और स्वयं धर्म-यात्राएँ करने लगा। अशोक ने स्वयं अपनी प्रजा के समक्ष अपने उच्च एवं पवित्र नैतिक आचरण का आदर्श रक्खा, जिसका उसकी प्रजा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

अशोक ने अनेक लोक-मंगलकारी कार्य करवाये। उसने सड़कें बनवाईं, उनके किनारे छायादार वृक्ष लगवाये और कुएँ तथा बावलियाँ खुदवाईं। पानी में उतरने के लिए उसने सीढ़ियाँ बनवाईं। राज्य की ओर से आम तथा बरगद के पेड़ लगवाये जाते थे जिससे उनकी सघन छाया में मनुष्य तथा पशु दोनों ही विश्राम कर सकें। सम्राट्, रानी तथा राजकुमारों की अपनी अलग-अलग दानशालाएँ होती थीं जिनमें दीन-दुखियों को मुफ्त भोजन वस्त्र मिलता था।

अशोक की उदारता तथा दया केवल मनुष्यों तक ही सीमित न रही वरन् वह पशु-पक्षियों तक पहुँच गई थी। उसने न केवल मनुष्यों वरन् पशु-पक्षियों के लिए भी औषधालय बनवाये थे। औषधि की सुविधा के लिए जड़ी-बूटियों के पौधे भी लगवाने का प्रबन्ध किया था। उसके प्रथम शिला-लेख से ज्ञात होता है कि उसने आदेश दे रक्खा था कि उसकी राजधानी में किसी पशु की हत्या न की जाय। यह आदेश उसके अहिंसात्मक बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने का फल था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का शासन बड़ा ही उदार तथा लोक-मङ्गलकारी था और उसने अपनी प्रजा को न केवल भौतिक सुख प्रदान किया वरन् उसने उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का भी यथाशक्ति प्रयत्न किया। स्मिथ महोदय ने अशोक को बड़ा ही सफल शासक बतलाया है। वह लिखता है, "यदि अशोक योग्य न होता तो अपने विशाल साम्राज्य पर चालीस वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन न किये होता और ऐसा नाम न छोड़ गया होता जो दो हजार वर्षों के व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी लोगों की स्मृति में अब भी ताजा बना है।"[1] यह सब उसकी धार्मिक भावनाओं का फल था। अतएव अब अशोक के धर्म की एक झाँकी प्राप्त

---

[1] "If Ashoka had not been capable, he could have not ruled his huge empire with success for forty years and left behind a name which is still fresh in the memory of men after the lapse of more than two millenniums."
—V. A. Smith.

कर लेना आवश्यक है।

अशोक का धर्म—अशोक का धर्म क्या था, यह एक बड़ा ही गूढ़ प्रश्न है और इतिहासकारों ने इस प्रश्न पर अपने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। हेरास महोदय के विचार में अशोक ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था। डॉ० एफ० डब्लू० टामस के मतानुसार वह जैन-धर्म का अनुगमन करता था। डॉ० फ्लीट ने उसके धर्म को राज-धर्म बतलाया है तथा भण्डारकर ने उसके धर्म को उपासक बौद्ध-धर्म बतलाया है जिसे बुद्ध जी ने गृहस्थों के लिए प्रतिपादित किया था और जिसमें केवल उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया है जो व्यावहारिक हैं। विन्सेन्ट स्मिथ तथा डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने उसके धर्म को सार्वभौम धर्म माना है जिसमें सभी धर्मों के अच्छे-अच्छे गुण सन्निहित हैं और जो किसी भी एक धर्म की सीमा में नहीं समा सकता।

ऊपर जिन विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है उन सभी में थोड़ा-बहुत सत्य का अंश विद्यमान है परन्तु इन मतों में सत्य का सबसे अधिक अंश किसमें विद्यमान है इसका पता लगाने के लिए अशोक के धार्मिक विचारों के क्रमागत विकास का पता लगाना पड़ेगा। उसके धार्मिक विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता गया है। अतएव उसके धार्मिक विचारों के प्रारम्भिक स्वरूप से लेकर अन्तिम स्वरूप तक का सिंहावलोकन कर लेने के बाद ही उस धर्म के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के प्रारम्भिक-काल में अशोक ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था। काश्मीरी लेखक कल्हण के मतानुसार वह शिव का उपाशक था और पशु तथा मनुष्य की हत्या का विरोधी न था। सम्राट् के भोजनालय में प्रतिदिन शोरबा बनाने के लिए सहस्रों पशुओं की हत्या की जाती थी। अपने पूर्वजों की भाँति युद्ध में उसकी रुचि थी और मनुष्यों का हत्याकाण्ड कराने में उसे संकोच नहीं होता था। परन्तु अशोक का इस प्रकार का आचरण केवल कलिंग युद्ध तक ही रहा है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन से कलिंग के युद्ध तक अशोक ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

कलिंग के युद्ध में जो भीषण हत्याकाण्ड हुआ उसका अशोक के हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और वह अहिंसा का पुजारी बन गया। उसने भविष्य में युद्ध न करने तथा प्राणि-मात्र पर दया करने का निश्चय कर लिया। अपने इस निश्चय के फलस्वरूप उसे ब्राह्मण-धर्म को, जो हिंसक धर्म था, त्याग देना पड़ा और नये धर्म में दीक्षित होने की आवश्यकता पड़ी, जो अहिंसक-धर्म हो और प्राणिमात्र पर दया करना सिखलाये। भारतवर्ष में उस समय दो ऐसे धर्म थे, जो अहिंसा के पोषक थे और सत्कर्म तथा सदाचार पर बल देते थे। ये थे जैन तथा बौद्ध धर्म। अशोक इन्हीं दोनों में से एक का अनुयायी बन सकता था। जैन-धर्म के कठोर नियमों तथा कठिन तपस्या के कारण अशोक ने इस बात का अनुभव किया कि उसकी प्रजा- इसका अनुसरण न कर सकेगी। अतएव उसने अत्यन्त सरल तथा व्यावहारिक बौद्ध-धर्म को

स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। फलतः अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष वह बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गया। 'दीपवंश' तथा 'महावंश' के अनुसार न्यग्रोध नामक व्यक्ति ने अशोक को बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी थी। परन्तु 'दिव्यावदान' के अनुसार बाल-पण्डित अथवा समुद्र ने उसे बौद्ध बनाया था विभिन्न साक्ष्यों से पता लगता है कि प्रारम्भ में अशोक एक उपासक के रूप में बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुआ था परन्तु कलिंग-युद्ध के एक वर्ष उपरान्त अर्थात् अपने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष यह बौद्ध-संघ में सम्मिलित हो गया और उसके नियमों का पालन करने लगा।

बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त पहला काम अशोक ने यह किया कि बुद्ध जी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। सर्व-प्रथम वह स्थविर उपगुप्त जी के साथ लुम्बिनी गया, जहाँ बुद्ध जी का जन्म हुआ था। यहाँ पर जो धार्मिक कर लगता था उसे उसने बन्द कर दिया और अन्य करों को भी १/२ से घटा कर १/८ कर दिया। इस प्रकार अशोक ने अपने उपास्य-देव की जन्मभूमि में अपनी दया तथा उदारता का परिचय दिया। लुम्बिनी से अशोक कपिलवस्तु गया, जहाँ बुद्ध जी का शैशव-काल व्यतीत हुआ था। यहाँ से वह उपगुप्त के साथ बुद्ध गया पहुँचा और वहाँ पर बोधि वृक्ष का दर्शन किया; जिसके नीचे बुद्ध जी को ज्ञान प्राप्त हुआ था। यहाँ से वह काशी के निकट सारनाथ गया, जहाँ बुद्ध जी ने अपने पाँच शिष्यों को अपना प्रथम उपदेश दिया था। अन्त में वह कुशीनगर गया, जहाँ बुद्ध जी को निर्वाण प्राप्त हुआ था। वह अन्य स्थानों पर भी गया और उनका दर्शन किया। अशोक ने बुद्ध जी के अवशेषों को एकत्र किया और उन्हें फिर से वितरित कर उन पर स्मारक बनवाये। उसने बौद्ध-संघ में उत्पन्न फूट को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने संघ में फूट पैदा करने वाले भिक्षुओं को संघ से निष्कासित कर देने की व्यवस्था की। अपने शासन-काल में अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में उसने तीसरी बौद्ध-संगीति बुलवाई और बौद्ध-धर्म के अनुयायियों में जो मतभेद उत्पन्न हो गया था उसको दूर करने का प्रयत्न किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार का भी उसने तन-मन-धन से प्रयत्न किया। यह सब बातें तथा उसके हिंसा-निषेधक कार्य यही सिद्ध करते हैं कि अशोक बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। चीनी यात्रियों ने भी उसे बौद्ध-धर्म का अनुयायी स्वीकार किया है। अशोक को बौद्ध-धर्म का अनुयायी स्वीकार करने में केवल यही कठिनाई हो सकती है कि उसने बौद्ध-धर्म के चार आर्य-सत्यों अर्थात् दुःख, दुःख समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध मार्ग का कहीं उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इस आपत्ति को यह कहकर दूर किया जा सकता है कि अशोक बौद्ध-धर्म के केवल उन नियमों का पालन कराना चाहता था, जो गृहस्थों के लिए थे, उनका नहीं जो भिक्षुओं के लिए थे।

अशोक के धर्म का अन्तिम स्वरूप वह है जब वह 'सार्वभौम-धर्म' का रूप धारण कर लेता है और उसमें सभी धर्मों के अच्छे-अच्छे गुण समाविष्ट हो जाते हैं। अब अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण इतना व्यापक हो जाता है कि वह किसी धर्म-विशेष का अनुयायी नहीं रह जाता वरन् वह एक नये धर्म का संस्थापक बन जाता है जो अशोक के 'धम्म' के नाम से विख्यात हुआ। अशोक का वह 'धम्म' सर्व-मङ्गलकारी है

और उसका उद्देश्य प्राणिमात्र का उद्धार करना है। यह धर्म अत्यन्त सरल, व्यावहारिक, सर्वग्राह्य तथा सर्वमान्य है। दान देना, सब पर दया करना, सत्य बोलना, सबके कल्याण की चिन्ता करना, अपनी आत्मा तथा विचारों को शुद्ध रखना और किसी प्रकार के पाप-कर्म न करना, यही अशोक के 'धम्म' के प्रधान लक्षण थे।

अशोक ने अपसे 'धम्म' की व्याख्या अपने अभिलेखों में की है जिनका अध्ययन करने से उसके 'धम्म' के सार का पता लग जाता है। अशोक के 'धम्म' का स्वरूप दो प्रकार का है, एक आदेशात्मक और दूसरा निषेधात्मक। माता-पिता की सेवा करना; गुरुजनों का आदर करना; मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों दासों, भृत्यों तथा वेतन-भोगी सेवकों के साथ उचित व्यवहार करना; ब्राह्मणो, श्रमणों तथा साधुओं के प्रति उदारता दिखलाना और प्राणि-मात्र पर दया करना, यही अशोक के 'धम्म' का अभिलेखीय सार तथा उसका आदेशात्मक स्वरूप है। परन्तु अशोक ने कुछ दुर्गुणों तथा कुप्रवृत्तियों का निषेध भी किया है जो धर्म में बाधक सिद्ध होती हैं। ये कुप्रवृत्तियाँ उग्रता, निष्ठुरता, क्रोध अभिमान, ईर्ष्या आदि हैं। इनको अशोक ने पाप कहा है। इन सब कुप्रभावों को मन में न आने देना चाहिये। यही अशोक के 'धम्म' का निषेधात्मक स्वरूप है।

प्रत्येक धर्म के दो स्वरूप होते हैं। एक उसका कर्मकाण्डमूलक स्वरूप होता है। और दूसरा आचारमूलक। कर्मकाण्ड में विभिन्न प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान तथा समारोह किये जाते हैं परन्तु आचारमूलक में अच्छे आचार पर बल दिया जाता है। अशोक ने अपने 'धम्म' में कर्मकाण्डमूलक रूप को हतोत्साहित और आचारमूलक रूप को प्रोत्साहित किया। लोग अनेक प्रकार के मङ्गल-कार्य करते हैं परन्तु अशोक ने इन्हें निस्सार बतलाया है। वह इनके स्थान पर धर्म-मङ्गल करने पर बल देता है जो निश्चित रूप से फलदायक होता है। दासों और वेतन-भोगी सेवकों से उचित व्यवहार करना, गुरुजनों का आदर करना, प्राणियों के प्रति अहिंसात्मक व्यवहार करना, ब्राह्मण और श्रमणों को दान देना तथा अन्य ऐसे ही कार्य धर्म-मङ्गल कहलाते हैं। इसी प्रकार अशोक ने धर्म-दान को साधारण दान से अधिक उत्तम बतलाया है। दासों और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार करना, माता-पिता की सेवा करना; मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, असहायों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता दिखलाना और अहिंसा ही धर्म-दान है अपने तेरहवें शिला-लेख में अशोक ने धर्म-विजय को साधारण विजय से अधिक कल्याणकारी बतलाया है।

अशोक का धार्मिक विचार तब उच्चता की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है और उसका धर्म सर्वभौम धर्म बन जाता है, जब वह विभिन्न धर्मों की बाह्य विभिन्नता की उपेक्षा करके उनके आन्तरिक तत्त्वों पर बल देता है। अपने बारहवें शिलालेख में उसने सब धर्मों के सार की वृद्धि की कामना की है। यह सर्व-धर्म-सार-समन्वित उसका अपना 'धम्म' था। सब धर्मों के सार की वृद्धि तभी हो सकती है जब मनुष्य दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु हो। इसी ध्येय से अशोक ने अपने बारहवें शिलालेख में यह परामर्श दिया है कि मनुष्य को दूसरे के भी धर्म को सुनना चाहिए।

अशोक का कहना है कि जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और अन्य धर्मों की निन्दा करता है वह अपने धर्म को बड़ी क्षति पहुँचाता है। अतएव लोगों में वाक्-संयम होना चाहिये अर्थात् सँभाल कर बोलना चाहिये। यह अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का अभिलेखीय प्रमाण है जो आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। अशोक के इन आदेशों तथा कामनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सभी धर्मों के मध्य बड़ा है और किसी से अपने को संलग्न न करते हुए उनमें मेल तथा सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। वह अपने सातवें शिला-लेख में कहता है, "सर्वत्र सभी धर्म वाले एक साथ निवास करें।" अशोक के अनेक अभिलेखों में ब्राह्मणों तथा श्रमणों को समान रूप से सम्मानित किया गया है। उसके आठवें शिला-लेख से यह ज्ञात होता है कि अपनी धर्म-यात्राओं में वह ब्राह्मणों तथा श्रमणों दोनों ही के दर्शन किया करता था और उन्हें दान दिया करता था। उसके बारहवें अभिलेख में कहा गया है कि देवताओं का प्रिय 'प्रियदर्शी' राजा (अशोक) सब धर्मों तथा सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों को दान तथा अन्य प्रकार की पूजा से सम्मानित करता है।

अशोक का 'धम्म' मानव-जाति के लिए ही नहीं वरन् समस्त प्राणि-मात्र के लिए था। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा उसके 'धम्म' का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त था। वह अपने सातवें शिला-लेख में कहता है, "मार्गों में मैंने वट-वृक्ष लगवाये जिससे वे पशुओं तथा मनुष्यों को छाया दें। मनुष्यों तथा पशुओं को सुख देने के लिए मैंने अनेक आम्र-कुंज लगवाये।" अपने दूसरे स्तम्भ-लेख में वह कहता है, "मैंने मनुष्यों और पशु-पक्षियों तथा जानवरों के प्रति यथेष्ट तथा अनेक प्रकार से उदारता तथा अनुग्रह किये हैं।" इस प्रकार अशोक ने प्राणि-मात्र पर दया करके अपने 'धम्म' की सर्वव्यापकता का परिचय दिया।

अशोक कोरा उपदेशक तथा आदर्शवादी ही न था वरन् उसने जो कुछ उपदेश दिया और जिन आदर्शों का अनुसरण करने के लिए उसने अपनी प्रजा से कहा उसको उसने स्वयं अपने जीवन में व्यवहार में लाकर चरितार्थ कर दिया। उसने हिंसात्मक समाजों को बन्द करवा दिया और स्वयं विहार-यात्राओं को, जिनमें आखेट द्वारा मनोरंजन किया जाता था, त्याग दिया। विहार-यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ आरम्भ कीं, जिनमें दर्शन, दान तथा उपदेशों का आयोजन रहता था। अशोक के बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के पूर्व उसकी पाकशाला में सहस्रों पशुओं तथा पक्षियों की हत्या होती थी। परन्तु उसके प्रथम शिला-लेख से ज्ञात होता है कि उसने यह आज्ञा दे दी थी कि उसकी पाकशाला में केवल तीन पशुओं अर्थात् दो मोर तथा एक मृग का वध हों। वह भी सदैव नहीं। भविष्य में यह भी बन्द कर दिया जाय। इस प्रकार अपने भोजनागार में भी उसने हिंसा को बन्द करवा दिया। सत्य बात तो यह है कि उसका धर्म उसके शासन तथा उसके जीवन का एक अविच्छिन्न अङ्ग बन गया था।

अशोक के धर्म की ऊपर जो विस्तृत विवेचना की गयी है उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अशोक कलिंग-युद्ध के पूर्व ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

कलिंग-युद्ध के उपरान्त वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया और अन्त में उसने अपने नये धर्म की स्थापना की जिसे सार्वभौम धर्म कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। वह धर्म अत्यन्त सरल, व्यावहारिक तथा आचार-मूलक था, जिसका अनुगमन उसकी प्रजा आसानी से कर सकती थी। उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। अशोक के धर्म को राजधर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें न केवल राजा का वरन् प्रजा का हित भी सन्निहित था।

अशोक के धर्म का प्रचार—अशोक न केवल एक महान् धर्मोपदेशक था वरन् वह बहुत बड़ा धर्म-प्रचारक भी था। उसका यह उद्देश्य था कि उसका धर्म न केवल सम्पूर्ण भारत में वरन् सम्पूर्ण विश्व में प्रचारित हो जाय। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने निम्नलिखित योजनाएँ कीं :—

(१) **सम्राट् द्वारा धर्म का पालन**—अशोक कोरा सिद्धान्तवादी ही न था वरन् उसमें उच्च-कोटि की व्यावहारिकता भी थी। जिस धर्म का उसने प्रतिपादन तथा प्रचार किया उसका उसने अपने जीवन में पालन भी किया। कलिंग-युद्ध के उपरान्त ही उसने अहिंसा-धर्म को स्वीकार कर लिया था और जीवन पर्यन्त उसने इस धर्म का पालन किया। उपदेशक के रूप में वह बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट हुआ था और जीवन भर उससे इस कार्य को सम्पन्न किया। जब सम्राट् बौद्ध-धर्म में सम्मिलित हो गया तब जीवन भर सक्रिय रूप में उसने संघ की सेवा की और एक भिक्षु की भाँति त्यागमय जीवन व्यतीत किया। जिस आचार की सभ्यता का उसने उपदेश दिया उसे उसने अपने जीवन में पालन कर चरितार्थ कर दिया। अशोक के इस त्याग-मय जीवन, उसकी धर्म-परायणता तथा उसकी संलग्नता का उसकी प्रजा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने अपने आध्यात्मिक सम्राट् के आदर्शों का अनुगमन करना आरम्भ कर दिया।

(२) **अपने धर्म को राज-धर्म बनाना**—अशोक ने अपने धर्म को राज-धर्म बना दिया। अशोक ने न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन को धर्ममय बनाया वरन् उसने सम्पूर्ण शासन को धर्ममय बना दिया। राज्य उसके लिए साध्य न था वरन् धार्मिक आदर्शों को व्यवहार में लाने के लिए साधन बन गया। उसने अपने राज्य की सम्पूर्ण शक्ति तथा उसके प्रचुर साधनों को धर्म-प्रचार में लगा दिया। राज्य-धर्म बन जाने के कारण अशोक के उत्तराधिकारियों ने भी इसको अपनाया तथा आश्रय दिया जिससे सम्राट् की मृत्यु के उपरान्त भी यह जीता-जागता रहा।

(३) **धर्म-विभाग की स्थापना**—अपने धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने एक अलग धर्म-विभाग की स्थापना की इस विभाग के प्रधान पदाधिकारी 'धर्म-महामात्र' कहलाते थे। इन धर्म-महामात्रों को यह आदेश रहता था कि वे प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करें। यह धर्म-महामात्र घूम-घूम कर अशोक के धर्म का प्रचार करते थे।

(४) **धर्म-यात्रा**—अशोक ने अपनी विहार-यात्राओं को, जो मनोरंजन के लिए की जाती थीं, बन्द करवा दिया और उनके स्थान पर धर्म-यात्राएँ करने लगा।

इन धर्म-यात्राओं में ब्राह्मणों तथा श्रमणों का दर्शन किया जाता था और उन्हें दान दिया जाता था; स्थविरों का दर्शन किया जाता था और उन्हें स्वर्ण-दान दिया जाता था। इन यात्राओं में लोगों से धर्म की चर्चा की जाती थी और उनके प्रश्नों का उत्तर दिया जाता था।

(५) **धर्म-श्रावण**—अपने धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने धर्म-श्रावण की व्यवस्था की थी। उसके सातवें-स्तंभ-लेख से प्रकट होती है कि समय-समय पर अशोक अपनी प्रजा को धर्म का सन्देश देता था। यही सन्देश धर्म-श्रावण कहलाते थे। ऐसे अवसरों पर धर्म के सम्बन्ध में भाषण आदि दिये जाते थे। राजुक, प्रादेशिक, युक्त आदि राज्य के कर्मचारियों को भी इस कार्य में सहायता देने का आदेश रहता था।

(६) **धार्मिक प्रदर्शन**—इस ध्येय से कि लोगों के हृदय में स्वर्ग की प्राप्ति की कामना बढ़े और वे धर्मनिष्ठ होकर सदाचार करें, अशोक ने लोगों को दिव्य रूपों का दर्शन कराना आरम्भ किया। उसने स्वर्ग में जाते हुए विमानों आदि का प्रदर्शन कराया और उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति का प्रलोभन दिया।

(७) **धर्म-मंगल**—अशोक ने साधारण मङ्गल को, जिसके अनुसार विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्य तथा अनुष्ठान किये जाते थे, अनुचित तथा निष्फल बतलाकर धर्म-मंगल करने का उपदेश दिया। धर्म-मङ्गल को अशोक ने सार्थक तथा लाभदायक बतलाया। यह धर्म-मङ्गल सदाचार द्वारा किये जा सकते हैं। अतएव सम्राट् ने आचरण की सभ्यता पर सबसे अधिक जोर दिया। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि बौद्ध-धर्म में आचरण की सभ्यता को प्रधानता दी गई थी।

(८) **दान-व्यवस्था**—धर्म-प्रचार पर अशोक की दान-व्यवस्था का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। राजधानी तथा अन्य स्थानों पर रोगियों, भूखे तथा दीन-दुखी मनुष्यों को राज्य की ओर से दान दिये जाने की व्यवस्था की गई। यह दान व्यक्तियों तक ही सीमित न था, वरन् भिन्न-भिन्न संस्थाओं को भी दिया जाता था। इन संस्थाओं में धार्मिक संस्थाओं का प्रमुख स्थान था। इससे धार्मिक संस्थाओं को धर्म के प्रचार में बड़ा प्रोत्साहन मिला।

( ) **लोक-हित के कार्य**—लोक-हित के अनेक कार्यों को करके अशोक ने अहिंसाधर्म को अत्यन्त प्रिय बना दिया। उसने मनुष्यों तथा पशुओं की चिकित्सा के लिए देश तथा विदेशों में भी औषधालय बनवाये और औषधियों के उद्यान लगवाये। इसी प्रकार के अन्य लोक-मङ्गलकारी कार्यों को करके अशोक ने प्राणिमात्र पर दया दिखाने का उपदेश दिया जो उसके धर्म का मूल-मन्त्र था।

(१०) **पशु-वध-निषेध**—अशोक ने पशुओं के वध का निषेध करके तथा प्राणिमात्र पर दया दिखलाने का उपदेश देकर अहिंसा-धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया। अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए अशोक ने यज्ञों में पशु-वध का निषेध कर दिया। अन्य प्रकार से भी पशु-पक्षियों की जो हिंसा होती थी उसे अशोक ने बन्द करवा दिया।

वास्तव में अहिंसा तथा प्राणिमात्र पर दया करना उसके शासन का मूल मन्त्र बन गया था।

(११) **निज्झाति अथवा आत्म-चिन्तन**—अशोक का विश्वास था कि मनुष्य सदैव अपने सत्कर्मों को देखता है, अपने कुकर्मों पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसका परिणाम यह होता है कि उसके पाप-कर्म बढ़ते जाते हैं और वह धर्म के मार्ग पर नहीं चल पाता। अतएव अशोक ने आत्म-परीक्षण, आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-चिन्तन की व्यवस्था की, जिससे मनुष्य अपने पापों को देख सके और अपना सुधार कर सके। इसी को निज्झाति कहा गया।

(१२) **धर्मानुशासन**—अशोक ने अपने 'धम्म' के अनुशासन सम्बन्धी कुछ नियम बनाये थे और उन्हें प्रकाशित करवाया था। इस नियमों के प्रचार तथा उनका पालन करवाने के लिए उसके पदाधिकारी भी नियुक्त किये थे जो राज्य में दौरा किया करते थे और देखते थे कि लोग धर्म के अनुशासन का पालन कर रहे हैं अथवा नहीं।

(१३) **बौद्ध-संगीति**—अशोक ने अपने शासन-काल में अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध-संगति बुलवाई थी। इस संगीति में बौद्ध-धर्मग्रन्थों का संशोधन किया गया था और बौद्ध-संघ में जो दोष आ गये थे उनको दूर करने का प्रयत्न किया गया था। इन संशोधनों तथा सुधारों से बौद्ध-धर्म में जो शिथिलता आ रही थी वह दूर हो गई और अग्रसर होने के लिए उनमें नया जीवन आ गया। हण्टर महोदय ने ठीक ही कहा है, "इसने लगभग आधी मानव-जाति के लिए एक साहित्य और धर्म का सृजन किया और शेष आधी के विश्वासों को प्रभावित किया है।"[1]

(१४) **मठों का निर्माण तथा उनकी सहायता**—देश के विभिन्न भागों में अशोक ने अनेक मठों का निर्माण करवाया और उनकी पूरी सहायता की। इन मठों में बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु-भिक्षुणी तथा धर्मोपदेशक निवास करते थे जो सदैव धर्म के चिन्तन तथा प्रचार में संलग्न रहा करते थे। ऐसी सुव्यवस्था में धर्म के प्रचार का क्रम तेजी से चलता रहा।

(१५) **धर्म-लिपि की व्यवस्था**—अशोक ने अपने धर्म के प्रचार के लिए अपने धर्म के सिद्धान्तों तथा आदर्शों को पर्वतों की चट्टानों, पत्थरों के स्तम्भों तथा पर्वतों की गुफाओं में लिखवाकर उन्हें सबके लिए तथा सदैव के लिए सुलभ तथा स्थायी बना दिया। यह अभिलेख जन-साधारण की भाषा में लिखवाये गये थे जिससे सभी उनको समझ सकें और उनका पालन कर सकें। इस प्रकार अभिलेखों से धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

(१६) **पाली भाषा में ग्रंथ-रचना**—अशोक के आदेश से बौद्ध-ग्रन्थों की रचना

---

1. "It has created a literature and religion for nearly half of the human race and has affected the beliefs of the other half." —W. W. Hunter

पाली भाषा में की गई जो जन-साधारण की तथा अत्यन्त लोकप्रिय भाषा थी। चूंकि इस भाषा को साधारण लोग भी सरलता से समझ लेते थे अतएव इससे बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ा योग मिला।

(१७) **धर्म-विजय का आयोजन**—अपने धर्म का दूर-दूर तक प्रचार करने के लिए अशोक ने धर्म-विजय की आयोजना की। उसने भारत के भिन्न-भिन्न भागों के अतिरिक्त विदेशों में भी अपने धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। उसने दूर-दूर के विदेशी राज्यों के साथ मैत्री की और वहाँ पर उसने मनुष्यों तथा पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया। इन देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने तथा हिंसा को रोकने के लिए उसने उपदेशक भेजे थे। उसने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को धर्म का प्रचार करने के लिए सिंहल-द्वीप अर्थात् श्रीलंका भेजा था। अशोक के धर्म-प्रचारक बड़े ही उत्साही तथा निर्भीक थे। उन्होंने मार्ग की कठिनाइयों की चिन्ता न कर श्रीलंका, बर्मा, तिब्बत, जापान, कोरिया तथा पूर्वी द्वीप-समूहों में धर्म का प्रचार किया और यद्यपि बौद्ध-धर्म अपनी जन्म-भूमि में उन्मूलित-सा हो गया है परन्तु इन देशों में वह अब भी अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अशोक द्वारा किये गये उपर्युक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप उसके शासन-काल में बौद्ध-धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए भण्डारकर महोदय ने लिखा है, "इस काल में बौद्ध-धर्म को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया कि वस्तुतः अन्य सभी धर्म पृष्ठभूमि में चले गये···परन्तु इसका सबसे अधिक श्रेय तीसरी शताब्दी ई० पू० के बौद्ध सम्राट्, चक्रवर्ती धर्मराज को मिलना चाहिए।"[1]

अशोक के अभिलेख—अशोक ने अपने जीवन-काल में अनेक शिला-लेख तथा स्तम्भ-लेख लिखवाये जिनका बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। इन स्तम्भ-लेखों से अशोक के साम्राज्य की सीमा निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है। इनसे यह भी पता लग जाता है कि किन विदेशी राज्यों के साथ अशोक ने अपना मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया था। ये अभिलेख अशोक के धर्म, उसके चरित्र तथा शासन पर भी बहुत बड़ा प्रकाश डालते हैं। अशोक के अभिलेखों के महत्त्व को बतलाते हुए डाक्टर रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "अशोक के अभिलेख अनूठे लेख-संग्रह हैं। उनसे उसकी आन्तरिक भावनाओं और आदर्शों का पता लग जाता है और

I. "The Buddhist faith occupies such a prominent position during this period that it practically puts all other religions in the background ..but by far the greater portion of the credit must go to the Buddhist Emperor, the Chakravarty Dharmraj of the third century B. C." —Dr. Bhandarkar.

वे उस महान् सम्राट् के शब्दों को ही शताब्दियों से वहन करते आये है।"[1]

अशोक के अभिलेखों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् शिला-लेख तथा स्तम्भ-लेख। शिला-लेख स्तम्भ-लेख से अधिक प्राचीन हैं। शिला-लेख सीमान्त प्रदेश में पाये जाते हैं परन्तु स्तम्भ-लेख आन्तरिक प्रान्तों में पाये जाते हैं। विन्सेन्ट स्मिथ ने अशोक के अभिलेखों को तिथिक्रमानुसार आठ भागों में विभक्त किया है, जो निम्नांकित हैं :—

(१) **लघु-शिला-लेख**—इसके अन्तर्गत नं० १ तथा नं० २ के शिला-लेख आते हैं। ये मैसूर तथा अन्य राज्यों में भी पाये जाते हैं। इनसे सम्राट् के व्यक्तिगत जीवन तथा धर्म के लक्षणों का पता चलता है।

(२) **भब्रू-शिला-लेख**—यह शिला-लेख जयपुर राज्य में था। इसमें बौद्ध-धर्म-ग्रंथों से लिये गये सात ऐसे उद्धरण हैं जिन्हें अशोक चाहता था कि उसकी प्रजा पढ़े और उसके अनुसार आचरण करे।

(३) **चतुर्दश-शिला-लेख**—ये संख्या में चौदह हैं। इनमें अशोक के नैतिक तथा राजनीतिक विचार अंकित किये गये हैं। इनमें तेरहवाँ शिला-लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक के मन में जो दु:ख उत्पन्न हुआ वह इसी अभिलेख में अंकित हैं।

(४) **दो कलिंग-शिला-लेख**—इन शिला-लेखों में उन सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनके अनुसार कलिंग के विभिन्न प्रान्तों तथा सीमान्त-प्रदेश के अविजित लोगों के साथ व्यवहार किया जाना चाहिए था।

(५) **तीन गुहा-लेख**—ये गया के निकट की बराबर नामक पहाड़ी में हैं। इन शिला-लेखों में सम्राट् अशोक के उन दानों का उल्लेख है जो उसने आजीवकों को दिये थे। इनसे अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का पता लगता है।

(६) **दो तराई स्तम्भ-लेख**—ये लेख नेपाल की तराई में विद्यमान हैं। इन स्तम्भ-लेखों में सम्राट् अशोक की उन तीर्थ-यात्राओं का वर्णन है जो उसने बौद्ध-धर्म के तीर्थ-स्थानों के दर्शन के लिए की थीं।

(७) **सप्त स्तम्भ-लेख**—ये संख्या में सात हैं और ६ स्थानों में पाये जाते हैं। इनमें से दो दिल्ली में हैं। इन स्तम्भ-लेखों में सम्राट् के उन उपायों का उल्लेख है जो उसने धर्म-प्रचार के लिए किये थे।

(८) **चार गौरा-स्तम्भ**—इनमें से दो साँची तथा सारनाथ की लाटों पर खुदे हैं और दो प्रयाग में हैं। इन स्तम्भ-लेखों को सम्भवत: बौद्ध-धर्म में उत्पन्न मतभेद को दूर करने के लिए उत्कीर्ण कराया गया था।

---

[1] "The inscriptions of Ashoka are a unique collection of documents. They give us insight into his inner feelings and ideals and transmit across centuries almost the very words of the great Emperor." —Dr. R. S. Tripathi.

अशोक महान् सम्राट क्यों ?—अशोक की गणना न केवल भारत के वरन् विश्व के महान् सम्राटों में की जाती है। अशोक के सम्पूर्ण जीवन का अध्ययन कर लेने के उपरान्त उसकी महानता के कारणों का पता लगाना कठिन नहीं रह जाता। उसकी महानता उसके साम्राज्य की विशालता, उसकी सेना की अजेयता, उसके शासन की सुदृढ़ता अथवा उसके राज-वैभव में नहीं पायी जाती; वरन् उसकी महानता उसके अलौकिक व्यक्तित्व, उसकी अगाध धर्म-परायणता, उसके धार्मिक विचारों की उदारता, उसके सिद्धान्तों तथा आदर्शों की उच्चता, उसके पैतृक शासन, उसकी राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं, उसकी साहित्य तथा कला की अपूर्व सेवाओं तथा उसकी धर्म-विजय में पाई जाती है। सत्य तो यह है कि उसकी समस्त मानव-समाज तथा समस्त संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण की विराट् चेष्टा उसे न केवल भारत के वरन् सम्पूर्ण विश्व के महान् सम्राटों के मध्य सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान करती है। अशोक की महानता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तथ्य उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(१) **महान् व्यक्तित्व**—अशोक की महानता का सबसे प्रथम प्रमाण उसका महान् व्यक्तित्व है। कलिंग-युद्ध के उपरान्त वह सभी राजसी सुखों तथा विलासों को त्याग कर एक सन्त का-सा अत्यन्त सरल तथा त्यागमय जीवन व्यतीत करने लगा। अब उसका जीवन बड़ा ही शुद्ध, पवित्र तथा दयामय बन गया। आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण में वह पूर्णरूप से सफल रहा और आत्म-त्याग उसके जीवन का मूल-मंत्र बन गया। वह अहिंसा का पुजारी बन गया और मांस-भक्षण उसने बन्द कर दिया। वह सत्यनिष्ठ, दयालु, सहिष्णु तथा शान्तिप्रिय बन गया। उसमें उच्च-कोटि की कर्त्तव्य-परायणता आ गई और वह अपनी प्रजा के हित-चिन्तन में संलग्न रहने लगा और उसकी नैतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा भौतिक उन्नति का अथक प्रयास करने लगा। अशोक के अभिलेखों तथा उपदेशों से, जो शिलाओं तथा स्तम्भों पर अंकित हैं, यह पता चलता है, कि वह अपने युग का भद्रतम तथा श्रेष्ठतम व्यक्ति था। वास्तव में वह मानवरूप में देवता था और उसके इस देवत्व के कारण उसे महान् ही नहीं वरन् महानतम व्यक्ति स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिये।

(२) **महान् धर्म-तत्त्व-वेत्ता**—अशोक ने धर्म के वास्तविक तत्त्व को समझा था। उसकी महानता का सबसे बड़ा कारण उसकी धर्म-निष्ठा तथा धर्म-परायणता है। परन्तु उसकी धार्मिक धारणा संकीर्ण न थी। वह कट्टर-पन्थी अथवा धर्मान्ध न था वरन् उसका धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा ही उदार तथा व्यापक था। उसकी धार्मिक धारणा का मूलाधार ईश्वर का पितृत्व तथा मानव का भ्रातृत्व था और वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—के सिद्धान्त का कट्टर अनुयायी था। उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। सभी धर्म तथा सभी सम्प्रदाय अशोक की दया तथा कृपा के पात्र थे। यद्यपि बौद्ध-धर्म अशोक का व्यक्तिगत धर्म था और इसके प्रचार के लिए उसने तन-मन-धन से प्रयत्न किया परन्तु अन्य धर्म वालों के साथ उसने किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उसका धर्म अपने अन्तिम स्वरूप में एक सार्व-

भौम धर्म बन गया था जो सभी धर्मों के उत्तम तत्वों के संग्रह से बना था और जिसका लक्ष्य था लोक-कल्याण तथा प्राणिमात्र का उद्धार। अशोक की यह अगाध धर्म-निष्ठा तथा धर्म-तत्त्व-ज्ञान उसे महान् धर्माचार्यों में स्थान प्रदान करते हैं।

(३) **महान्-धर्म-प्रचारक**—अशोक न केवल एक महान् धर्मोपदेशक था। वरन् वह एक महान् धर्म-प्रचारक भी था। अपने धर्म का प्रचार अशोक ने न केवल भारत के कोने-कोने में किया वरन् उसके धर्म का आलोक विदेशों में भी पहुँचा जहाँ वह अब भी जीवित तथा जागरूक है और असंख्य व्यक्तियों की आत्मा को शान्ति दे रहा है। एक स्थानीय धर्म को अशोक ने एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बना दिया। इसी से डॉ० भण्डारकर ने लिखा है, "अशोक के आदर्श बड़े ऊँचे थे और अपनी बुद्धिमत्ता तथा कलन-शक्ति को उसने बौद्ध धर्म को, जो एक संकीर्ण प्रान्तीय सम्प्रदाय था, विश्वव्यापी धर्म बना देने में लगा दिया।"[1] परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि धर्म-प्रचार का यह कार्य बाहु-बल से नहीं वरन् आत्म-बल से शान्तिपूर्वक, प्रेम तथा सद्भावना द्वारा किया गया था। यही बात अशोक के धर्म-प्रचार की विशेषता थी जो उसे धर्म-प्रचारकों में सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। अशोक ने धर्म-प्रचारकों की सहायता से धर्म-प्रचार का जो श्लाघनीय कार्य किया उसकी प्रशंसा करते हुए के० जे० सौन्डर्स ने लिखा है, "विश्व के इतिहास में सम्राट अशोक के धर्म-प्रचारकों द्वारा सभ्यता के प्रचार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया क्योंकि इन लोगों ने ऐसे देशों में प्रवेश किया जो अधिकांशतः बर्बर तथा अन्धविश्वासपूर्ण थे।"[2]

(४) **महान् धर्म-विजेता**—अशोक एक महान् धर्म-विजेता था। कलिंग-युद्ध के उपरान्त उसने भेरि-घोष को सदैव के लिए शान्त कर दिया और धर्म-घोष का कल-कल-निनाद समुत्थित कर दिया। अब रण-क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के स्थान पर अशोक ने धर्म-क्षेत्र में अपनी विजय-पताका फहराने का निश्चय कर लिया। यह विजय सरल विजय न थी, क्योंकि यह विजय शरीर पर नहीं प्राप्त करनी थी वरन् आत्मा पर प्राप्त करनी थी। यह विजय बाहु-बल अथवा सैन्य-बल की विजय न थी वरन् आत्म-बल तथा प्रेम-बल की विजय थी। यह विजय थोड़े से व्यक्तियों पर नहीं प्राप्त करनी थी वरन् प्राणिमात्र पर प्राप्त करनी थी। यह शान्ति की विजय थी, अशांति

---

1. "Ashoka...was Possessed of lofty ideals and employed his shrewedness and calculating powers to raise Buddhism from a narrow provincial sect that it was to the position of a worldwide religon." —Dr. Bhanbarkar.

2. "The missions of King Ashoka are amongst the greatest civilising influences in the history of the world for they entered countries for the most part barbarous and full of superstitions.'; —K. J. Saunders.

की नहीं । अशोक ने धर्माचार्यों तथा धर्म-प्रचारकों की एक विशाल सेना संगठित की और उन्हें प्रेमायुध से सुसज्जित किया । सत्य, सत्कर्म, सद्भावना तथा सद्व्यवहार की यह चतुरंगिणी सेना धर्म-विजय के लिए निकल पड़ी । इस सेना के प्रेमायुध के सामने न केवल सम्पूर्ण भारत नत-मस्तक हो गया वरन् अशोक की विजय-पताका विदेशों में भी फहराई गई । यह विजय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विजय थी जो बड़ी स्थायी सिद्ध हुई । अशोक ने जिन देशों पर धर्म-विजय प्राप्त की उन्हें भारत के साथ प्रेम के ऐसे प्रबल बन्धन में बांध दिया कि अब तक वह अविच्छिन्न रूप से चलता आ रहा है । यह अशोक की अद्वितीय विजय थी जिसकी समता संसार का अन्य कोई विजयी सम्राट् नहीं कर सकता ।

(५) **महान् शासक**—अशोक की गणना विश्व के महान शासकों में होती है । कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक के राजनीतिक आदर्श अत्यन्त ऊँचे हो गये । प्रजा-पालन तथा उसके हित-चिन्तन को अशोक ने अपने जीवन का महान् लक्ष्य बना लिया । वह अपनी प्रजा को सन्तानवत् समझने लगा और उसी के कल्याण की चिन्ता में दिन-रात संलग्न रहने लगा । डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है, "अपने उत्साह में वह सुदृढ़ और अपने प्रयासों में अथक था । उसने अपनी सारी शक्ति अपनी प्रजा की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति में लगा दी जिसे वह अपनी सन्तान-सदृश समझता था ।"[1] उसने विहार-यात्राएँ बन्द करवा दीं जो आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन का साधन थीं और इनके स्थान पर धर्म-यात्राएँ आरम्भ कीं जिनमें धार्मिक उपदेश दिये जाते थे, तीर्थ-स्थानों के दर्शन किये जाते थे और ब्राह्मणों तथा श्रमणों तथा दीन-दुखियों को दान दिये जाते थे । उसका शासन इतना सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित एवं लोक-मङ्गलकारी था कि उसके शासन-काल में कोई आन्तरिक उपद्रव न हुआ और प्रजा ने अधिक सुख तथा शान्ति का उपभोग किया । अशोक ने अपनी प्रजा की न केवल भौतिक अभिवृद्धि का भगीरथ प्रयास किया वरन् उसने उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का भी यथा-शक्ति प्रयास किया । अशोक कोरा सिद्धान्त-वादी ही न था वरन् अपने आदर्शों को वह सदैव कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया करता था । अपनी प्रजा के नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उसने धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया था और सरकारी कर्मचारियों को यह आदेश दे दिया था कि वे घूम-घूमकर प्रजा के आचरण का निरीक्षण करें और उसे सदाचारी तथा धर्म-परायण बनाने का प्रयत्न करें । शासक के रूप में अशोक की महानता इस बात में पायी जाती है कि देश के राजनीतिक जीवन में उसने आदर्शवादिता, पवित्रता तथा कर्त्तव्य-परायणता का समावेश किया । एक भिक्षु का-सा सादा

---

[1] "He was tireless in his exertion and unflagging in his zeal all directed to the promotion of the spiritual and material welfare of his people whom he looked upon as his children."
—Dr. H. C. Ray Chaudhuri.

जीवन व्यतीत कर और राज-सुलभ सभी सुखों का त्याग कर प्रजा के इहलौकिक तथा पारलौकिक हित-चिन्तन में संलग्न रहकर अशोक ने विश्व के सम्राटों के समक्ष एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया जो सर्वथा अनुकरणीय है। अशोक जैसा सम्राट् बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। एच० जी० वेल्स ने ठीक ही कहा है, "प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र इस प्रकार के सम्राट् को नहीं उत्पन्न कर सकता है। अशोक अब भी विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।"[1]

(६) **महान् राष्ट्र-निर्माता**—अशोक एक महान् राष्ट्र-निर्माता भी था। उसने राष्ट्र की एकता तथा संगठन के लिए सम्पूर्ण राज्य में एक राष्ट्र-भाषा का प्रयोग किया था। इस तथ्य की पुष्टि उसके अभिलेखों में प्रयुक्त पाली भाषा से होती है। उसने अपने साम्राज्य के अधिकांश भाग में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग कराया था। केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार भाषा तथा लिपि की एकता ने राजनीतिक एकता को सजीव बना दिया था। इस देश के कोने-कोने में अपने धर्म का प्रचार कर उसने सांस्कृतिक एकता की चेतना को जागृत कर दिया था। सम्पूर्ण राज्य के लिए एक-सी न्याय-व्यवस्था कर उसने समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। अशोक ने शिल्प तथा स्थापत्य कला के विकास में भी बड़ा योग दिया। उसके काल के बने स्तम्भ आज भी भारतीय कला के मस्तक को सम्राटों की कोटि में आदरणीय स्थान प्रदान करते हैं।

(७) **महान् आदर्शवादी**—अशोक की महानता उसके उच्चादर्शों तथा महान् सिद्धान्तों में पाई जाती है। अशोक ने राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में ऐसे नवीन आदर्शों की स्थापना की जिनकी कल्पना अन्य कोई महान् सम्राट् नहीं कर सका था। राजनीतिक क्षेत्र में उसके आदर्श थे—युद्ध-विराम और शान्ति तथा सद्भावना की स्थापना, पड़ोसियों के साथ मैत्री तथा सहयोग स्थापित करना, विदेशों में युद्ध-संदेश के स्थान पर शान्ति तथा सद्भावना के संदेश भेजना, प्रजा के हित-चिन्तन में दिन-रात संलग्न रहना और अपने सम्पूर्ण आमोद-प्रमोद तथा सुखों को प्रजा के हित के लिए त्याग देना, अपनी प्रजा का सच्चा सेवक बनना आदि। सामाजिक क्षेत्र में अशोक महान् लोकतंत्रवादी था और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी ही परिवार है, इस सिद्धान्त का अनुयायी था। समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व उसके सामाजिक जीवन की आधार-शिलाएँ थीं। धार्मिक जीवन में अशोक का आदर्श था सहिष्णुता तथा समन्वय। तत्कालीन प्रचलित धर्मों के उत्तम तथ्यों के संग्रह से उसने एक ऐसे धर्म की स्थापना की जो सर्वमान्य हो। इस धर्म में न कोई

---

[1] "It is not every age, it is not every nation that can produce a king like this type, Ashoka still remains without parallel in the history of the world."

H. G. Wells.

दुरूह दर्शन था और न कोई आडम्बर। यह बड़ा ही सरल तथा व्याहारिक धर्म था जिसमें आचरण की शुद्धता तथा कर्त्तव्य-पालन पर बल दिया जाता था। सारांश यह है कि लोक-कल्याण, भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति, यही अशोक के जीवन के प्रधान लक्ष्य थे और इन्हीं की पूर्ति का उसने आजन्म प्रयास किया। ऐसे उच्चादर्शी सम्राट् को कौन ऐसा कृतघ्न होगा जो महान् सम्राटों की कोटि में सर्व-श्रेष्ठ स्थान न प्रदान करेगा ? एच० जी० वेल्स ने ठीक ही लिखा है, "सहस्र सम्राटों के नामों के मध्य, जो इतिहास के पन्नों को भरे हुए हैं, अशोक का नाम एक सितारे की भाँति प्रकाशमान है।"[1]

डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने भी इतिहास में अशोक का स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है कि भारत के इतिहास में अशोक एक बड़ा ही दिलचस्प व्यक्ति था। उसमें चन्द्रगुप्त की-सी शक्ति, समुद्रगुप्त की-सी विलक्षण प्रतिभा और अकबर की-सी व्यापक उदारता थी।

अन्त में हम यही कहेंगे कि विश्व के अगणित 'भूपति-भूधरों के उत्तुंग शिखरों के मध्य अशोक को गौरीशंकर का गगन-चुम्बी शिखर ही मानना चाहिये। वह विश्व के राजनीतिक गगन-मंडल का देदीप्यमान प्रभाकर है जिसका अनुपम आलोक अमर रहेगा। धन्य है वह धर्मधुरीण धनुर्धर जिसने अपने धर्मायुध से धर्म-हीनता को धूलि-धूसरित कर धर्म-विजय की धवल-ध्वजा फहराई और धन्य है वह धर्म-धराधात्री जिसने अपने पुनीत पयोधर से पावन पय-पान करा कर उस परम पुरुष का पालन-पोषण किया। इसी से तो उसके चक्र को स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय झण्डे में स्थान देकर भारत-सरकार भारत की साठ करोड़ जनता से उसका अभिनन्दन करा रही है और उसे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करा रही है।

अशोक के उत्तराधिकारी—लगभग चालीस वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त २३२ ई० पू० में अशोक का परलोकवास हो गया। उसके बाद उसका पुत्र कुणाल सिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर बैठने के पहले वह गान्धार का शासक रह चुका था। कुणाल के शासन-काल में मगध-साम्राज्य का पश्चिमोत्तर भाग स्वतन्त्र हो गया और अशोक के दूसरे पुत्र जालौक ने काश्मीर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। कुणाल के बाद अशोक का पोता दशरथ मगध के सिंहासन पर बैठा। वह बड़ी ही धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने नागार्जुनी की पहाड़ियों में आजीवकों के लिए गुहा-मन्दिर बनवाये थे। उसके शासन-काल में कलिंग ने मगध-साम्राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। दशरथ के बाद सम्प्रति मगध के सिंहासन पर बैठा। वह एक योग्य तथा शक्तिशाली शासक था। वह जैन-धर्म का अनुयायी तथा आश्रयदाता था। सम्प्रति के बाद कई अयोग्य राजा मगध के सिंहासन

---

[1] "Amidst the tens of thousands of names of monarchs that crowd the columns of history... the name of Ashoka... shines almost like a star."
—H. G. Wells.

पर बैठे जिनके शासन-काल में साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। अन्त में मौर्य-वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसकी हत्या कर दी और स्वयं मगध का शासक बन गया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संस्थापित साम्राज्य का अन्त हो गया।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण—वास्तव में मौर्य-साम्राज्य के उस तेजोमय प्रभाकर (अशोक) के अस्ताचल में प्रवेश करते ही, जिसने अपने प्रबल प्रताप से मौर्य-साम्राज्य के गगन-मण्डल को देदीप्यमान बना रक्खा था, मौर्य-साम्राज्य की रजनी का आगमन हो गया और अभाग्यवश उस वंश में सुधांशु की ज्योत्स्ना के दर्शन न हुए वरन् खद्योतों का ही बाहुल्य रहा, जिनके शासन-काल में मौर्य-साम्राज्य की दीपशिखा मन्द पड़ गई और वह स्नेह-हीन होकर सदैव के लिए दीप्ति-हीन हो गई। मौर्य-साम्राज्य के पतन के प्रधान कारण निम्नलिखित थे :—

(१) अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारी—अशोक के उत्तराधिकारियों में एक भी इतना योग्य न था जो उसके विशाल केन्द्रीभूत शासन को सँभाल सकता। केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होते ही राज्य के सुदूर भागों के प्रान्तपतियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अशोक के उत्तराधिकारियों में कुछ बड़े ही अत्याचारी हुए अतः प्रजा की भी मौर्य शासकों के प्रति अब कोई सहानुभूति न रही। अशोक के कई पुत्र थे जिनमें परस्पर संघर्ष चला करता था। यह सब मौर्य-साम्राज्य के लिए बड़ा विनाशकारी सिद्ध हुआ।

(२) अशोक की अहिंसा की नीति—सम्राट् अशोक की अहिंसा की नीति के भी अन्तिम परिणाम अच्छे न हुए। यद्यपि वह अपने जीवन-काल में साम्राज्य को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रख सका परन्तु जो आध्यात्मिकता का वायुमण्डल उसने उत्पन्न कर दिया था वह सैनिक दृष्टिकोण से साम्राज्य के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। अशोक के शासन-काल में ही सैनिक-शक्ति बेकार तथा निरर्थक समझी जाने लगी। इससे वह निश्चय ही क्षीण हो गयी होगी। उसके उत्तराधिकारी भी सैनिक शक्ति को बढ़ा न सके।

(३) ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया—मौर्य-साम्राज्य के प्रायः सभी सम्राट् जैन अथवा बौद्ध-धर्म के अनुयायी हुए और इन्हीं दोनों धर्मों को प्रायः प्रश्रय तथा प्रोत्साहन देते रहे। इससे ब्राह्मणों में प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई और वे मौर्य-साम्राज्य के शत्रु बन गये।

(४) यवनों का आक्रमण—मौर्य-साम्राज्य की शक्ति को क्षीण होते देख बैक्ट्रिया के यवनों ने भी मगध-राज्य के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर आक्रमण करना आरम्भ किया और उसको छिन्न-भिन्न करने में बड़ा योग दिया।

(५) अन्तःपुर तथा दरबार के षड्यन्त्र—अशोक के अनेक पुत्र तथा रानियाँ थीं, जो प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करती थीं। इसका भी साम्राज्य पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। अशोक के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में राज-दरबार में दो दल हो गये थे। एक दल सेनापति का था और दूसरा प्रधान मन्त्री का। यह षड्यन्त्र तथा दल-बन्दी साम्राज्य के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुई। अन्त में पुष्यमित्र शुङ्ग ने,

जो मौर्य-सेना का सेनापति था, अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर दी और स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य का दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

मौर्य-कालीन भारत—मौर्य-कालीन भारत की राजनीतिक दशा पर चन्द्र-गुप्त मौर्य तथा अशोक की शासन-व्यवस्था का वर्णन करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतएव यहाँ पर अब उस समय की केवल सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा का ही वर्णन किया जाएगा। मौर्य कालीन दशा को जानने के हमारे पास तीन प्रमुख साधन हैं, अर्थात् मेगस्थनीज का भारतीय विवरण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेख। अब इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर तत्कालीन भारत की दशा का वर्णन किया जायगा।

सामाजिक दशा— मौर्य-काल में वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम-धर्म दोनों ही सुदृढ़ रूप से समाज में स्थापित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें चार जातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का पता लगता है, जिनमें ब्राह्मण सबसे अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। अशोक के अभिलेखों से पता लगता है कि वह ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान दिया करता था और उनका बड़ा सम्मान करता था। परन्तु मेगस्थनीज ने भूल से सात जातियों अर्थात् दार्शनिक, किसान, ग्वाले, कारीगर सैनिक, निरीक्षक तथा अमात्य का वर्णन किया है। मेगस्थनीज के विवरण से यह पता चलता है कि अन्तर्जातीय विवाह तथा खान-पान का निषेध था, परन्तु अर्थशास्त्र से पता लगता है कि ये दोनों ही प्रथाएँ प्रचलित थीं। मौर्य-काल में शूद्रों की दशा अच्छी न थी और वे घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे।

विवाह के समय कन्या की अवस्था कम-से-कम बारह वर्ष और वर की सोलह वर्ष की होनी आवश्यक थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है अर्थात् ब्राह्म, शौल्क, प्राजापत्य, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच। मेगस्थनीज ने विवाह के तीन लक्ष्य बतलाये हैं अर्थात् जीवन-संगिनी प्राप्त करने के लिए, भोग के लिए तथा बहुत-सी सन्तान प्राप्त करने के लिए। इस युग में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी क्योंकि सम्राट् अशोक के कई पत्नियाँ थीं। स्त्रियों को भी पति के मर जाने अथवा उसके बाहर चले जाने और बहुत दिनों तक न आने पर पुनर्विवाह की आज्ञा थी। पति के दुराचारी, हत्यारा नपुंसक आदि होने पर विवाह-विच्छेद की भी आज्ञा थी। कौटिल्य ने नियोग की भी आज्ञा दी है अर्थात् संतानहीन स्त्री किसी अन्य व्यक्ति के साथ संसर्ग कर संतान उत्पन्न कर सकती थी।

मौर्य-काल में स्त्रियों की दशा बहुत संतोषजनक न थी। वे सन्तान उत्पन्न करने का साधन-मात्र समझी जाती थीं। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र केवल चूल्हा-चक्की समझा जाता था और वे प्रायः घर के भीतर ही रहती थीं। डॉ० भण्डारकर के विचार में इस युग में पर्दे की प्रथा थी। कौटिल्य के मतानुसार स्त्रियों को उच्च-शिक्षा देना उचित ही है। मेगस्थनीज के कथनानुसार स्त्रियों को दार्शनिक ज्ञान देना इस

युग में उचित नहीं समझा जाता था। स्त्रियों में बड़ा अन्ध-विश्वास व्याप्त था और वे विभिन्न प्रकार के मंगल-अनुष्ठान किया करती थीं। परन्तु स्त्रियों को कुछ सम्पत्ति सम्बन्धों अधिकार अवश्य प्राप्त थे। अपने पति के अत्याचारों के विरुद्ध पत्नी न्यायालय की शरण में भी जा सकती थी। स्त्री-हत्या महा-पाप समझा जाता था। परन्तु कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह भी पता लगता है कि स्त्रियों का एक ऐसा भी वर्ग था जो अच्छी दशा में था। राज-महिलाएं दान दिया करती थीं, स्त्रियाँ सैनिक का भी कार्य किया करती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य की संरक्षिकाएँ स्त्रियाँ हुआ करती थीं। स्त्रियाँ गुप्तचरों का भी कार्य किया करती थीं। सम्भवतः वे धर्म-प्रचार का भी कार्य किया करती थीं क्योंकि अशोक ने स्वयं अपनी कन्या संघमित्रा को धर्म-प्रचार के लिए श्रीलंका भेजा था। इस काल में वेश्या-वृत्ति का भी प्रचलन था जो ललित कलाओं में बड़ी कुशल होती थीं।

मौर्य-काल में दास-प्रथा का भी प्रचलन था। ये दास अपने स्वामी की विभिन्न प्रकार की सेवा करते थे। दास प्रायः अनार्य लोग ही हुआ करते थे जिनका पशुओं की भाँति क्रय-विक्रय हुआ करता था। आर्थिक संकट के कारण कभी-कभी आर्य लोग भी दास बन जाते थे। परन्तु दासों के साथ अच्छा व्यवहार होता था। उन्हें गाली देना अथवा मारना-पीटना उचित नहीं समझा जाता था। दासों को अपनी माता की सम्पत्ति में पूरा अधिकार रहता था। अपने स्वामी को मूल्य चुका देने पर दासों की दासता समाप्त भी हो जाती थी और वे फिर पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र हो जाते थे।

मौर्य काल में मांस-भक्षण का प्रचलन था। स्वयं सम्राट् अशोक के भोजनालय में अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस बनता था। बाजार में कच्चा तथा पकाया हुआ दोनों प्रकार का मांस बिकता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लेने के उपरान्त मांस-भक्षण बहुत कम हो गया था। इस काल में मदिरा-पान का प्रचलन था क्योंकि अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की मदिराओं का वर्णन है। परन्तु मदिरा-पान केवल मदिरालय में ही होता था। बाहर केवल वही लोग मदिरा ले जा सकते थे जो बड़े ही विश्वसनीय तथा चरित्रवान होते थे। मदिरा-पान समाज में बुरा समझा जाता था अतएव इसका प्रयोग सीमित था। मद्य-पान प्रायः अनुष्ठानों के अवसर पर होता था।

अशोक के अभिलेखों से पता लगता है कि बिहार-यात्राएँ आमोद-प्रमोद की प्रधान साधन थी। इन यात्राओं में पशु-पक्षियों का शिकार किया जाता था। 'समाज' आमोद-प्रमोद के प्रधान साधन थे। इन समाजों में मनुष्य तथा पशुओं के द्वन्द्व-युद्ध हुआ करते थे। परन्तु अशोक ने अहिंसा-धर्म स्वीकार करने के उपरान्त बिहार यात्राओं तथा समाज दोनों को ही बन्द करवा दिया था। रथ-दौड़, खेल-कूद, नाच-गाने आमोद-प्रमोद करने के अन्य साधन थे।

मेगस्थनीज के कथनानुसार मौर्य-काल में भारतीयों का नैतिक स्तर बड़ा ऊंचा था। लोगों का जीवन बड़ा सरल था और उनमें फिजूल-खर्ची बिल्कुल न थी। इससे

उनका जीवन बड़ा ही सुखी था। लोग केवल यज्ञ के अवसरों पर मद्य-पान करते थे। चोरी का कहीं नामोनिशान न था और लोग प्रायः अपने घरों को अरक्षित छोड़कर चले जाते थे। लोग नियमों का पालन करते थे जिससे न्यायालय की शरण में जाने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी। योग्यता का बड़ा आदर होता था और वृद्ध तभी आदरणीय समझे जाते थे जब उनमें ज्ञान तथा योग्यता होती थी। सत्य तथा गुण का समाज में बड़ा आदर होता था। अतिथि-सत्कार पर बड़ा बल दिया जाता था। मेगस्थनीज के कथनानुसार दास-प्रथा का कहीं नाम न था। अशोक के शासन-काल में समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठ गया था क्योंकि अशोक ने गुरुजनों का आदर, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों तथा सम्बन्धियों के साथ उदारता तथा ब्राह्मणों एवं श्रमणों के दर्शन तथा दान पर बल दिया था।

धार्मिक दशा—मौर्य-कालीन शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा ही उदार तथा व्यापक था। यद्यपि उनमें से कई ने जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म को अपना आश्रय प्रदान किया परन्तु अन्य धर्मों के साथ उन्होंने किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया वरन् सभी धर्म उनकी कृपा के पात्र बने रहे, उनसे सहायता पाते रहे और अपनी उन्नति में लगे रहे।

कौटिल्य तथा मेगस्थनीज दोनों से ही हमें यह ज्ञात होता है कि नये-नये धर्मों का प्रचार हो जाने पर भी ब्राह्मण-धर्म सबसे अधिक प्रबल था और वैदिक कर्म-काण्डों अर्थात् यज्ञ तथा बलि का बड़ा जोर था। यज्ञ के अवसर पर मद्य-पान किया जाता था। स्त्रियाँ अनेक प्रकार के मङ्गल-कार्य भी किया करती थीं। ब्राह्मणों का बड़ा आदर-सत्कार होता था और मेगस्थनीज के विवरण से हमें पता लगता है कि ब्राह्मण लोग आत्मा तथा परमात्मा के चिन्तन में संलग्न रहते थे। ब्राह्मण-धर्म में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा थी जिनकी पूजा होती थी। कौटिल्य ने वर्णाश्रम-धर्म के पालन में बड़ा जोर दिया है। स्वर्ग की प्राप्ति अब भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझा जाता है।

मौर्य-काल में जैन-धर्म भी उन्नत दशा में था। जैन-ग्रन्थों से हमें पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का अनुयायी तथा आश्रयदाता था। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने भी जैन-धर्म को अपना संरक्षण प्रदान किया और स्वयं उसका अनुयायी बन गया था। अशोक के अभिलेखों में जैनियों को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

अशोक के शिला-लेखों में आजीवकों का भी उल्लेख मिलता है। डॉ० भण्डारकर के विचार में आजीवक सम्प्रदाय ब्राह्मणों से भिन्न कोई अन्य सम्प्रदाय न था परन्तु जैन-ग्रन्थों से यह पता लगता है कि आजीवक-सम्प्रदाय ब्राह्मण सम्प्रदायसे भिन्न था। आजीवक लोग नंगे संन्यासी की भाँति जीवन व्यतीत किया करते थे। इनका विश्वास था कि सभी बातें तथा घटनाएं एक नियति अर्थात् नियम के अनुसार घटती हैं और मनुष्य उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। अनुश्रुतियों से पता लगता है कि बिन्दुसार ने आजीवकों को अपना संरक्षण प्रदान किया था। अशोक

ने भी आजीवक संन्यासियों को बरार की गुफाओं को दान में दे दिया था मौर्य सम्राट् दशरथ भी आजीवकों का आश्रयदाता था।

ब्राह्मण-धर्म के सुधारवादी सम्प्रदाय शैव तथा भागवत धर्म भी प्रचलित थे। मेगस्थनीज ने शिव तथा कृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है। वासुदेव की पूजा का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भक्ति-प्रधान भागवत-धर्म का प्रचलन था।

बौद्ध-धर्म की इस काल में सभी धर्मों से अधिक उन्नति हुई। चूँकि अशोक इस धर्म का अनुयायी हो गया और इसे उसने राज-धर्म बनाकर उसका तन, मन, धन से प्रचार किया अतएव न केवल सम्पूर्ण भारत में वरन् विदेशों में भी इस धर्म का प्रचार हो गया परन्तु अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा ही उदार तथा व्यापक था। वह कट्टर-पन्थी बिल्कुल न था। बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म-वालों को भी वह दान देता था और उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। वह ब्राह्मणों तथा श्रमणों दोनों ही के दर्शन करता था और उन्हें दान दिया करता था। वास्तव में अशोक का धर्म एक सार्वभौम धर्म था जिसमें सभी धर्मों की अच्छी-अच्छी बातें विद्यमान थीं और जो बड़ा ही सरल तथा व्यावहारिक था, जिसका पालन साधारण लोग भी कर सकें।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मूर्तियों तथा मन्दिरों का भी उल्लेख किया है जिससे पता लगता है कि मूर्ति-पूजा का प्रचलन इस काल में था। मूर्ति बनाने वाले लोग 'देवता कारू' कहलाते थे। महर्षि पतंजलि ने भी शिव, विशाख आदि की मूर्तियों का उल्लेख किया है। बौद्ध लोग बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा किया करते थे। नदियों को भी पवित्र माना जाता था मेगस्थनीज ने गङ्गा को अत्यन्त पवित्र माना है। इस काल में तीर्थ यात्रा का भी प्रचलन था और पवित्र पर्वों के अवसरों पर लोग तीर्थ-स्थानों में दर्शन तथा स्नान के लिए जाया करते थे। राज्य तीर्थ-कर भी लिया करता था क्योंकि अशोक ने बुद्ध जी के जन्म-स्थान लुम्बिनी में तीर्थ-कर लेना बन्द करा दिया था।

आर्थिक दशा—भारत सदैव एक कृषि-प्रधान देश रहा है। अतएव मौर्य-काल में लोगों का प्रधान व्यवसाय कृषि था। किसानों को आवश्यक समझा जाता था और उनकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। युद्ध के समय भी उनकी कृषि को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचने पाती थी। सिंचाई का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था और कुएँ, तालाब, झील आदि खुदवाये जाते थे। इन सब सेवाओं के बदले राज्य सिंचाई-कर लेता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार की खादों का वर्णन मिलता है। भूमि की उर्वरता को बढ़ाने के लिए इन खादों का प्रयोग किया जाता था। किसान लोग विभिन्न प्रकार के अन्नों, फलों तथा तरकारियों की कृषि किया करते थे। कृषि तथा पशु-पालन में अटूट सम्बन्ध है। मेगस्थनीज ने ग्वालों की जाति का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि दूध के लिए पशु-पालन किया जाता था।

मौर्य-काल में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे भी उन्नत दशा में थे। कपास की अच्छी खेती होती थी। अतएव सूती वस्त्र का व्यवसाय बड़ी उन्नत दशा में था। वस्त्र बनाने के लिए सन का भी प्रयोग किया जाता था, और मगध तथा काशी सन के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। वृक्षों के पत्तों तथा उनकी छाल के रेशों का भी वस्त्र बनाने में प्रयोग किया जाता था अर्थशास्त्र से हमें पता लगता है कि मौर्य-काल में कई प्रकार के ऊनी वस्त्रों का निर्माण होता था मेगस्थनीज ने कई प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों का उल्लेख किया है। मलमल के कामदार वस्त्रों की उसने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। बङ्गाल अपने उच्चकोटि के मलमल के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। विभिन्न प्रकार की धातुओं का व्यवसाय भी उन्नत दशा में था। पुरुष तथा स्त्री दोनों ही आभूषणों का प्रयोग किया करते थे। इस काल में हाथी-दाँत के बड़े ही सुन्दर आभूषण बनते थे। मेगस्थनीज से हमें पता लगता है कि लोगों के वस्त्रों पर सोने के काम किये जाते थे और लोग बड़े बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। लकड़ी और चमड़े का व्यवसाय भी उन्नत दशा में था। कुछ लोग मदिरा बेचने का भी कार्य करते थे क्योंकि यज्ञ के अवसर पर मद्य-पान होता था।

विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार भी उन्नत दशा में था। व्यापारिक सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। मेगस्थनीय के विवरण से हमें पता लगता है कि विदेशियों की सुरक्षा तथा उन्हें हर प्रकार की सुविधा देने के लिए पाटलिपुत्र में पाँच सदस्यों की एक समिति बना दी गई थी। विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के करने वालों की भी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की गई थी। यदि इनका कोई अंग-भंग कर देता था तो उसे मृत्यु-दंड दिया जाता था। व्यापारी लोग नाप-तौल में किसी प्रकार की बेईमानी नहीं करने पाते थे और अपने माल में किसी प्रकार की मिलावट नहीं कर पाते थे। यदि कोई बेईमानी अथवा मिलावट करता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। आन्तरिक व्यापार की सुविधा के लिए बड़े-बड़े राजमार्ग बनवाये गये थे और कई छोटे-छोटे मार्ग विभिन्न नगरों को तथा इन मार्गों को एक दूसरे से मिलाने के लिए बनवाये गये थे। इन मार्गों की सुरक्षा का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। नावों द्वारा नदियों के मार्ग से भी व्यापार होता था। देश के विभिन्न भाग विभिन्न प्रकार के व्यवसायों तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे। विदेशी व्यापार स्थल तथा सामुद्रिक दोनों मार्गों से होता था। चीन, मिस्र आदि देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। जिन देशों में अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया उनके साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। विदेशों के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान करके भी मौर्य-सम्राटों ने व्यापार में बड़ी उन्नति की। व्यापार के लिए विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग होता था।

साहित्य तथा शिक्षा—मौर्य-काल में दो प्रकार की भाषाओं का प्रचलन था। पहलो भाषा संस्कृत थी दूसरी प्राकृत अथवा पाली। संस्कृत विद्वानों की और पाली जन-साधारण की भाषा थी। संस्कृत साहित्यिक भाषा थी और इसमें ग्रन्थ लिखना बड़ा गौरवपूर्ण समझा जाता था। परन्तु बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ-

साथ पाली में भी ग्रन्थ-रचना आरम्भ हो गई। प्रारम्भिक बौद्ध-ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये हैं। अशोक के अभिलेख भी पाली भाषा में ही खुदे हैं। मौर्य-काल में दो प्रकार की लिपियों का प्रयोग होता था अर्थात् ब्राह्मी-लिपि तथा खरोष्ठी-लिपि। खरोष्ठी-लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग अशोक ने अपने पश्चिमोत्तर प्रदेश के अभिलेखों में किया है। सम्भवतः उस प्रदेश में इस लिपि का प्रयोग होता था। शेष भारत में ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग होता था। यह बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। इसी से निकली लिपि का प्रयोग आज भी अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं में किया जाता है। अशोक के अधिकांश अभिलेख ब्राह्मी-लिपि में ही हैं।

मौर्य-काल का संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' है। कुछ सूत्र-ग्रन्थों तथा धर्म-शास्त्रों की रचना भी इसी युग में हुई थी। सम्भवतः रामयरा तथा महाभारत का परिवर्द्धन भी इसी काल में हुआ था। बौद्ध-धर्म के त्रिपिटक ग्रन्थों का संकलन भी इसी युग में हुआ था। जैन ग्रन्थों का संकलन भी इसी युग में हुआ था। जैन-धर्म का प्रसिद्ध आचार्य भद्रबाहु इसी काल की विभूति था।

मौर्य-कालीन सम्राटों ने शिक्षा की भी बड़ी सुन्दर व्यवस्था की थी। स्मिथ के विचार में तो ब्रिटिश-काल में भी उतनी विस्तृत शिक्षा की योजना न थी जितनी मौर्य-काल में थी। तक्षशिला उच्च-शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था जहाँ धनी तथा निर्धन दोनों ही की शिक्षा का प्रबन्ध था। धनी लोग पढ़ाई शुल्क देकर दिन में अध्ययन करते थे और गरीब विद्यार्थी दिन में अपने गुरु की सेवा करते थे और रात में अध्ययन का कार्य करते थे। गुरुकुलों, मठों तथा बिहारों में भी शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षण-संस्थाओं को राज्य की ओर से सहायता मिलती थी।

कला—मौर्य-काल की कला भी बड़ी उच्चकोटि की थी। अशोक के पूर्व जो भवन बने हैं वे ईंट तथा लकड़ी के बने हैं। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र में बने राज-प्रासादों का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही सुन्दर है। परन्तु अशोक के शासन-काल में लकड़ी तथा ईंटों के स्थान पर पाषाण का प्रयोग आरम्भ हो गया था। जो काम लकड़ी तथा ईंटों पर किया जाता था, वह पत्थर पर आरम्भ हो गया था। अशोक बहुत बड़ा निर्माता था। काश्मीर में श्रीनगर की स्थापना उसी के शासन-काल में हुई थी। पाटलिपुत्र का राजप्रासाद इतना सुन्दर था कि सात सौ वर्ष बाद जब फाह्यान ने उसे देखा तो वह आश्चर्य चकित रह गया। पहाड़ों को काट कर गुहा-गृहों का निर्माण भी इसी काल में आरम्भ हुआ था। अशोक तथा दशरथ द्वारा निर्मित गुहा-गृह आज भी बरार तथा नागार्जुनी की पहाड़ियों में विद्यमान हैं जो आजीवकों को दान में दिये गये थे। इन गुहा-गृहों की दीवारें आज भी शीशे की भाँति चमकती हैं। अशोक ने लगभग ८४,००० स्तूपों का निर्माण करवाया था। साँची तथा सारनाथ में अशोक के स्तम्भ अब भी विद्यमान हैं। परन्तु अशोक की कृतियों में उनके पाषाण-स्तम्भ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी संख्या लगभग ३०-४० है। इनका निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है। इन स्तम्भों पर की गई पालिश आज भी

शीशे की भाँति चमकती हैं। अशोक का सारनाथ का पाषाण-स्तम्भ सबसे अधिक सुन्दर है। अशोक के स्तंभों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि ये चालीस-पचास फीट लम्बे हैं परन्तु वे सभी एक ही पत्थर के बने हैं। अशोक के स्तम्मों पर अंकित पशुओं की आकृतियाँ बड़ी ही सजीव हैं। पत्थर की मूर्तियों का भी निर्माण इस काल में प्रचुरता से हुआ था। अतएव मौर्य-काल पाषाण-कला के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है।

अध्याय १५

विच्छिन्नता का युग

> "The period between the extinction of the Kushan and Andhra dynasties... and the rise of the Imperial Gupta dynasty, nearly a century ago, is one of the darkest in the whole range of the Indian history."
>
> —V. A Smith.

मौर्य-साम्राज्य भारत का प्रथम विशाल-साम्राज्य था। मौर्य काल में भारत को जो राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक एकता प्राप्त हुई वह इसके पूर्व उसे प्राप्त न थी। अशोक के काल में यह एकता पराकाष्ठा को पहुँच गई थी परन्तु अशोक के आँख बन्द करते ही फिर विच्छिन्नता आरम्भ हो गई और न केवल राजनीतिक वरन् सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी भारत छिन्न-भिन्न हो गया। मौर्य साम्राज्य के विध्वंस हो जाने पर भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। इस राजनीतिक विच्छिन्नता का परिणाम यह हुआ कि भारत पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये और भारत के विभिन्न भागों में विदेशियों के राज्य स्थापित हो गये। सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम-धर्म ने फिर जोर पकड़ा और ब्राह्मणों का महत्त्व फिर बढ़ने लगा। इस काल में अहिंसा-धर्म की प्रगति मन्द पड़ गई और हिंसा-धर्म ने फिर जोर पकड़ा। संस्कृत भाषा का महत्त्व फिर बढ़ा और उसी में फिर साहित्य की रचना होने लगी। इस प्रकार यदि हम इसे प्रतिक्रिया का काल कहें तो कुछ अनुचित न होगा। अब इस विच्छिन्नता के युग का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है।

शुंग-वंश—मौर्य-वंश के ध्वंसावशेष पर शुङ्ग-वंश की स्थापना हुई। शुङ्ग लोग ब्राह्मण थे। इस वंश का प्रथम शासक पुष्यमित्र शुङ्ग था। वह मौर्य-वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ का सेनापति था। अपने स्वामी का बध कर वह स्वयं पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठ गया था। यह घटना १८४ ई० पू० की है। पुष्यमित्र शुङ्ग के काल की तीन प्रधान घटनाएँ हैं अर्थात् उसने यूनानियों के आक्रमणों को रोका, विदर्भ के राजा को युद्ध में परास्त किया और अश्वमेध यज्ञ किया। महर्षि पतंजलि के महाभाष्य से हमें ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र वैष्णव-धर्म का अनुपायी था। उसने ब्राह्मण-धर्म को अपना संरक्षण प्रदान किया और उसे राज-धर्म बना दिया। बौद्ध-ग्रन्थ 'दिव्यावदान' से हमें पता लगता है कि पुष्यमित्र बौद्धों का विरोधी था और उनके साथ अत्याचार करता था। पुष्यमित्र ने कुल लगभग ३६ वर्षों तक शासन किया और

१४८ ई० पू० में उसका परलोकवास हो गया। शुङ्ग-वंश में कुल दस शासक हुए जिन्होंने लगभग ११२ वर्ष तक शासन किया। इस वंश का अन्तिम शासक देवभूति था। ७२ ई० पू० में उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध करके अपने नये राजवंश की स्थापना की।

कण्व-वंश—इस वंश का संस्थापक वसुदेव कण्व था। इस वंश का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस वंश में कुल चार शासक हुए जिन्होंने कुल ४५ वर्षों तक शासन किया। इस वंश का अन्तिम शासक सुशर्मा था। पुराणों से हमें ज्ञात होता है कि २८ ई० पू० में आन्ध्र अथवा सातवाहन वंश के सिन्धुक नामक व्यक्ति ने सुशर्मा का वध कर कण्व-वंश का अन्त कर दिया और स्वयं मगध का शासक बन गया।

आन्ध्र अथवा सातवाहन-वंश—आन्ध्र एक जाति का नाम था जो गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मध्य-भाग में निवास करती थी। आन्ध्र लोग आर्य थे अथवा अनार्य, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है! कुछ विद्वानों के विचार में यह लोग मूलतः अनार्य थे परन्तु आर्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाने पर आर्य-सभ्यता तथा संस्कृति को इन लोगों ने अपना लिया था। इससे यह बतलाना कठिन हो गया कि यह लोग आर्य थे अथवा अनार्य। आयंगर महोदय ने इस सम्बन्ध में लिखा है, 'इस प्रकार आन्ध्र लोग अनार्य प्रजाति के थे जो धीरे-धीरे आर्य बना लिये गये और वे दक्षिण के उत्तरी-पूर्वी भाग में निवास करते थे और काफी शक्तिशाली थे।"[1] इसी आन्ध्र-जाति में एक राजकुमार हुआ जिसका नाम सातवाहन था, जिसके वंशज सातवाहन कहलाये। इस प्रकार आन्ध्र एक जाति का और सातवाहन एक कुल का नाम था। पुराणों से हमें पता लगता है कि सातवाहन राजा ब्राह्मण थे जो मगध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के पहले दक्षिण भारत में निवास करते थे। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने सातवाहनों को आन्ध्र का भृत्य बतलाया और लिखा है कि वे ब्राह्मण थे और उनमें नाग-रक्त का सम्मिश्रण था, "यह विश्वास करने योग्य बात है कि आन्ध्र-भृत्य अथवा सातवाहन राजा ब्राह्मण थे जिनमें कुछ नाग-रक्त का सम्मिश्रण था।"[2]

सातवाहन-वंश का पहला राजा सिन्धुक था। उसे सिसुक तथा शिशुक नामों से पुकारा गया है। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी जो गोदावरी नदी के तट पर स्थित थी। २८ ई० पू० में सिन्धुक ने कण्व-वंश के अन्तिम शासक की हत्या कर मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सातवाहन-वंश का

---

[1] "Andhras were, thus, a non-Aryan race, were slowly Aryanised and they lived on the north-eastern portion of the Deccan and possessed considerable power."

—Srinivasachari and Ayanger.

[2] "There is reason to believe that the Andhra-bhritya or Satavahan kings were Brahamins with a little mixture of Naga-blood."

—Dr. H. C. Ray Chaudhuri.

सबसे अधिक प्रतापी तथा शक्तिशाली राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि था। उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और सम्पूर्ण दक्षिणापथ तथा मध्य भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु एक विजेता के रूप में उसका सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य यह था कि उसने शकों को महाराष्ट्र से मार भगाया। गौतमी-पुत्र शातकर्णि केवल एक महान् विजेता ही नहीं, वरन् एक कुशल शासक भी था। वह अपने राज्य में पूर्ण शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने में सफल रहा। उसने १०६ ई० से १३० ई० तक शासन किया। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक यज्ञश्री शातकर्णि था। उसके बाद इस वंश का उत्तरोत्तर पतन ही होता गया। कालान्तर में महाराष्ट्र पर आभीर-वंश ने और दक्षिणापथ पर इक्ष्वाकु तथा पल्लव-वंश ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार तीसरी शताब्दी तक सातवाहन वंश का अन्त हो गया।

विदेशी आक्रमण—अशोक के मरते ही भारत की राजनीतिक विश्रृङ्खलता आरम्भ हो गई। उत्तरकालीन मौर्य शासकों में इतनी शक्ति न थी कि वे पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित रख सकते। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर-पश्चिम की ओर से विदेशियों के आक्रमण आरम्भ हो गये और इन लोगों ने भारत में अपनी राज-संस्था स्थापित करना आरम्भ किया। मौर्य-साम्राज्य के पतन के उपरान्त जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया वे यवन, शक, कुषाण आदि थीं। अब इनका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

यवनों अथवा यूनानियों के आक्रमण—भारत पर पहला यूनानी आक्रमण सिकन्दर महान् ने किया था। उसने यहाँ पर अधिक दिनों तक निवास न किया और अपनी सेना के साथ वह वापस लौट गया, परन्तु वह सिल्यूकस निकेटर को पंजाब का शासक बना गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस को परास्त किया और यूनानियों को भारत की सीमा के बाहर कर दिया। यह यूनानी बैक्ट्रिया में स्थायी रूप से निवास करने लगे, जो हिन्दूकुश पर्वत तथा आक्सस नदी के मध्य स्थित है। यहीं से वे सदैव भारत पर अपनी दृष्टि लगाये रहते थे और भारत की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करते रहते थे। अशोक की मृत्यु के उपरान्त जब मौर्य-साम्राज्य का अधःपतन आरम्भ हुआ तब बैक्ट्रिया के यूनानियों के आक्रमण भी भारत पर आरम्भ हो गये। इन दिनों बैक्ट्रिया में डिमेट्रियस नामक राजा शासन कर रहा था। उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया और १९० ई० पू० में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और काबुल तथा पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वह बड़ी तेजी से आगे बढ़ता गया और पाटलिपुत्र तक पहुँच गया। परन्तु उसकी यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई। मध्य-प्रदेश में उसके पैर जम न सके। कलिंग के खारवेल राजा ने उसे न केवल पूर्वी प्रदेशों से वरन् पंजाब से भी मार भगाया। मगध के राजा पुष्यमित्र शुङ्ग ने भी यवनों का पीछा किया और उन्हें सिन्धु नदी के उस पार खदेड़ दिया। परन्तु भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में यूनानियों

के पैर जम गये और डिमेट्रियस पूर्वी पंजाब में शाकल को अपनी राजधानी बनाकर वहीं से शासन करता रहा ।

इस वंश का दूसरा प्रतापी शासक मिनैण्डर अथवा मेनेन्द्र था । बौद्ध-ग्रंथों में उसे मिलिन्द कहा गया है । उसका शासन-काल १६० ई० पू० से १४० ई० पू० तक माना गया है । उसने भी शाकल अथवा स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया और वहीं से शासन किया । मेनेन्द्र एक बहुत बड़ा विजेता माना गया है और उसने शुङ्ग राजाओं के साथ भी लोहा लिया था । नागसेन नामक बौद्ध-भिक्षु ने उसे बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर लिया था । इससे वह बौद्धों का आश्रयदाता बन गया । उसने बहुत से बौद्ध मठों, स्तूपों तथा विहारों का निर्माण करवाया था । वृद्धावस्था में उसने एक बौद्ध-भिक्षु की तरह जीवन व्यतीत किया और अर्हत् का पद प्राप्त किया था । मेनेन्द्र के उत्तराधिकारी शक्तिशाली न थे । उन लोगों ने ५० ई० पू० तक शासन किया और अन्त में शकों ने उनके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।

१६२ ई० पू० में बैक्ट्रिया के शासक यूक्रेटिडस ने भारत पर आक्रमण कर दिया और काबुल की घाटी तथा पश्चिमी पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और तक्षशिला, पुष्कलावती तथा कपिशा पर शासन करने लगा । १५५ ई० पू० में यूक्रेटिडस के पुत्र ने उसका वध कर दिया । इन दिनों शकों के आक्रमण हो रहे थे । शकों ने न केवल बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया वरन् भारत से भी यूनानियों को मार भगाया । इस प्रकार लगभग ४० ई० पू० में यवनों की सत्ता भारत में समाप्त हो गई और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में शकों की सत्ता स्थापित हो गई ।

शकों का आक्रमण—शकों की एक पर्यटनशील जाति थी । ये लोग मूलतः मध्य-एशिया में सिकंदरिया के उत्तरी प्रदेश में निवास करते थे । इन्हीं के समीप उत्तरी-पश्चिमी चीन में यू-ची नाम की एक दूसरी जाति निवास करती थी । यूचियों के पड़ोस में हूँग-नू नाम एक दूसरी जाति निवास करती थी । १७४-१७६ ई० पू० में हूँग-नू जाति ने यूचियों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें अपने निवास-स्थान से मार भगाया । अब यू-ची लोग नये प्रदेश की खोज में निकल पड़े और वे अपने पड़ोस में बसने वाले शकों पर टूट पड़े और उन्हें वहाँ से मार भगाया । इस प्रकार शक लोग अपनी जन्म-भूमि छोड़ने पर विवश हो गये और दक्षिण की ओर चल पड़े । यह लोग कई शाखाओं में विभक्त हो गये और विभिन्न देशों में चले गये । इनकी एक शाखा ने हेलमन्द नदी की घाटी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसका नाम शक-स्तान अर्थात् सीस्तान रखा । यहाँ पर भी ये लोग शान्तिपूर्वक रहने न पाये और यूचियों के दबाव के कारण उन्हें आगे बढ़ना पड़ा । अब वे बैक्ट्रिया तथा पार्थिया के राज्यों पर टूट पड़े । पार्थिया के विरुद्ध उन्हें विशेष सफलता न प्राप्त हुई परन्तु बैक्ट्रिया पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया । यहीं से शकों ने भारत की ओर बढ़ना आरम्भ किया ।

कुछ समय तक इधर-उधर भटकने के उपरान्त अन्त में शकों ने कन्दहार तथा

बलूचिस्तान से होकर बोलन के दर्रे से सिन्ध के निचले प्रदेश में प्रवेश किया और वहीं पर वे बस गये। इसी से इस प्रदेश का नाम शक-द्वीप पड़ गया। इसी को शकों ने अपना आधार बनाया और यहीं से वे भारत के विभिन्न भागों में फैले।

सिन्ध में अपनी सत्ता स्थापित कर लेने के उपरान्त शकों ने काठियावाड़ पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और एक ही वर्ष में वे सौराष्ट्र तक पहुँच गये। इसके बाद शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उज्जैन से शक लोग मथुरा की ओर बढ़े और उस पर अपना अधिकार कर लिया। मथुरा से शक लोग पंजाब की ओर बढ़े। सम्भवतः शक लोग दो मार्गों से पंजाब की ओर बढ़े थे। मथुरा से वे उत्तर-पश्चिम की ओर और सिन्ध से वे नदियों के मार्ग के द्वारा उत्तर-पूर्व की ओर बढ़े थे। कालान्तर में शकों ने पंजाब तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार भारत के एक बहुत बड़े भाग पर शकों का आधिपत्य स्थापित हो गया। नासिक तथा मथुरा के अभिलेखों से हमें यह पता लगता है कि शकों की सत्ता पूर्व में यमुना नदी तक और दक्षिण में गोदावरी नदी तक व्याप्त थी।

शकों ने भारत में क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था स्थापित की। यह पहले बतलाया जा चुका है कि शक लोग सबसे पहले सिन्ध में बसे थे और वहीं से शेष भारत में फैले थे। सिन्ध के बाहर जहाँ कहीं शकों ने अपनी राज-संस्था स्थापित की वहाँ के राजा क्षत्रप अथवा महा-क्षत्रप कहलाये। इसका तात्पर्य है कि ये लोग स्वतन्त्र राजा नहीं थे वरन् किसी अन्य राजा की अधीनता में शासन करते थे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि क्षत्रप लोग प्रान्तीय शासक थे और केन्द्रीय सरकार की अधीनता में शासन करते थे। यह क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था पंजाब, मथुरा, महाराष्ट्र तथा उज्जैन में पायी जाती थी। कालान्तर में जब गुप्त-साम्राज्य का उत्थान आरम्भ हुआ तब वे सभी क्षत्रप गुप्त-साम्राज्य में समाविष्ट हो गये। शकों ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया और वे भारतीयों में इतना घुल-मिल गये कि वे अपने अस्तित्व को खो बैठे और आज उनका कहीं पर नाम-निशान नहीं मिलता।

पह्लवों अथवा पार्थियनों के आक्रमण—पार्थिया एक प्रदेश का नाम था जो बैक्ट्रिया के पश्चिम में स्थित था। पार्थिया के लोग पार्थियन अथवा पह्लव कहलाते थे। जिस समय शकों ने भारत में अपनी राज-संस्था स्थापित की उसी समय पह्लवों ने भी भारत के पश्चिमोत्तर भाग में अपनी राज-संस्था स्थापित की। पह्लव राजाओं के विषय में हमें बहुत कम ज्ञात है और जो कुछ ज्ञात भी है वह बड़ा विवादग्रस्त है। इनका इतिहास शकों के साथ इतना घुल-मिल गया है कि उसे अलग करना बड़ा कठिन हो जाता है। शकों की भाँति वे लोग भी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को अपनाकर भारतीयों में घुल-मिल गये। पश्चिमोत्तर प्रदेश में पह्लवों, शकों तथा यूनानियों की राज-सत्ता को समाप्त करने का श्रेय एक नई जाति को प्राप्त हुआ जो 'कुषाण' के नाम से प्रसिद्ध है।

कुषाण कौन थे ?—कुषाण लोग यू-ची जाति की एक शाखा के थे। यू-ची

लोग प्रारम्भ में चीन के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में कानस नामक प्रान्त में निवास करते थे। लगभग १६५ ई० पू० में हूँग-नू नामक जाति ने उन्हें वहाँ से मार भगाया। अब यू-ची लोग नये प्रदेश की खोज में पश्चिम की ओर बढ़े और वे सिरदरिया के प्रदेश में आ पहुँचे। यहाँ पर उन दिनों शक लोग निवास करते थे। अतएव यूचियों की शकों से मुठभेड़ हुई परन्तु विजय यूचियों की हुई और शकों को विवश होकर वहाँ से भाग जाना पड़ा। परन्तु यू-ची लोग इस नये प्रदेश में शान्तिपूर्वक रह न सके। उनके पुराने शत्रु वू-सुन ने हूँग-नू जाति की सहायता से लगभग १४० ई० पू० में उन्हें वहाँ से मार भगाया। यू-ची लोग फिर नये प्रदेश की खोज में आगे बढ़े। उन लोगों ने आक्सस नदी को पार कर लिया और वे ताहिया प्रदेश में आ गये। यहाँ के लोगों ने उनके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। परन्तु ताहिया-विजय से ही यू-ची लोग संतुष्ट न हुए। उन्होंने बैक्ट्रिया तथा उनके पड़ोस के प्रदेश पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय यू-ची लोग पांच शाखाओं में विभक्त थे जिनके अलग-अलग नाम थे। इन्हीं में से एक का नाम कुई सांग अथवा कुषाण था। इस शाखा का प्रथम शासक कुजुल कदफिस था। वह बड़ा ही वीर तथा साहसी शासक था। उसने यूचियों की अन्य शाखाओं पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार यूचियों का वह एकछत्र सम्राट् बन गया और उसका वंश कुषाण वंश कहलाया।

भारतीय विजय—बैक्ट्रिया तथा उसके पास-पड़ोस के प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त कुजुल ने अपनी विशाल सेना के साथ भारत की ओर प्रस्थान कर दिया। सबसे पहले उसने काबुल-घाटी में प्रवेश किया और यूनानियों की रही-सही शक्ति को विनष्ट कर उस पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने पूर्वी गान्धार प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में कुजुल का परलोकवास हो गया और उसका पुत्र विम कदफिस उसके साम्राज्य का स्वामी बना। विम भी अपने पिता ही की भाँति बड़ा वीर तथा साहसी था और उसके शासन-काल में कुषाणों की सत्ता भारत में बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। उसने थोड़े ही दिनों में पंजाब, सिन्ध, काश्मीर तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कुषाण लोग अपनी भारतीय विजय के साथ-साथ यहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित होते जा रहे थे और उनकी छाप उन पर पड़ती जा रही थी। विश्वस्त सूत्रों से हमें ज्ञात होता है कि कुजुल बौद्ध-धर्म का और उसका पुत्र विम जैन-धर्म का अनुयायी था। विम के बाद कनिष्क कुषाण-वंश का शासक हुआ। वह इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी तथा शक्तिशाली शासक था। अतएव उसके शासन-काल का विस्तृत वर्णन कर देना आवश्यक है।

कनिष्क का सिंहासनारोहण—कनिष्क कौन था? विम के साथ उसका क्या सम्बन्ध था। वह कब सिंहासन पर बैठा? यह सब बड़े ही विवादग्रस्त प्रश्न रहे हैं परन्तु अब यह निश्चय हो गया है कि कनिष्क कुषाण-वंश का ही शासक था और विम कदफिस के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अब यह भी निर्विवाद

सिद्ध हो गया है कि कनिष्क ७८ ई० में सिंहासन पर बैठा था। उसका शासन-काल विजय तथा शासन दोनों ही दृष्टिकोणों से बहुत महत्त्व रखता है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी उसका शासन-काल कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। कनिष्क ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया था और वह उसके रंग में इतना अधिक रँग गया था कि उसे भारतीय शासक कहना अनुचित न होगा। अतः इस महान् शासक के कृत्यों का वर्णन कर देना आवश्यक है।

कनिष्क की दिग्विजय—कनिष्क एक बहुत बड़ा विजेता था। सिंहासन पर बैठते ही उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया और अपने साम्राज्य के विस्तार में लग गया। सबसे पहले कनिष्क ने काश्मीर पर विजय प्राप्त की और उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। काश्मीर में कनिष्क ने बहुत से विहारों तथा नगरों का निर्माण करवाया। चीनी तथा तिब्बती अनुश्रुतियों से हमें ज्ञात होता है कि उसने साकेत तथा मगध पर आक्रमण किया था और उन पर विजय प्राप्त की थी। इसी समय बौद्ध-आचार्य अश्वघोष से पाटलिपुत्र में उसकी भेंट हुई थी। वह अश्वघोष की विद्वत्ता तथा उसके व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह उसे अपने साथ अपनी राजधानी पुष्पपुर अथवा पेशावर ले गया और उससे बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। कनिष्क की मुद्राएँ बंगाल में भी प्राप्त हुई हैं। अतएव इतिहासकारों ने यह अनुमान लगाया है कि पूर्व में उसका साम्राज्य बंगाल तक फैला था। एक शिलालेख से यह पता लगता है कि सिन्धु नदी की घाटी पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। जेंदा और तक्षशिला के लेखों से यह ज्ञात होता है कि कम्बोज, गान्धार, काहिरा तथा काबुल पर कनिष्क का अधिकार था। अब प्रमाणित हो गया है कि कनिष्क का राज्य अफगानिस्तान की सीमा तक फैला था। कनिष्क ने दूरस्थ देशों की भी विजय-यात्रा की। उसने पार्थिया के राजा पर आक्रमण किया और उसे युद्ध में परास्त किया। कनिष्क ने चीन के राजा के साथ भी लोहा लिया। इन दिनों चीन में हो-ती नाम का राजा शासन कर रहा था। कनिष्क ने अपने एक राजदूत को हो-ती के पास यह प्रस्ताव लेकर भेजा कि वह अपनी कन्या का विवाह कनिष्क के साथ कर दे। हो-ती ने इस प्रस्ताव को बड़ा अपमानजनक समझा और उसने कनिष्क के राजदूत को बन्दी बना लिया। इस पर कनिष्क को बड़ा क्रोध आया और उसने चीन के राजा पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इस युद्ध-यात्रा में कनिष्क को सफलता न प्राप्त हुई और वह परास्त होकर वापस लौट आया। परन्तु वह अपनी इस पराजय को भूला नहीं। उसने दूसरी बार फिर हो-ती के मर जाने पर चीन पर आक्रमण किया। इस बार उसे सफलता प्राप्त हुई और अपनी विजय के उपलक्ष्य में दो चीनी राजकुमारों को बन्दी बना कर वह अपनी राजधानी में ले आया और उनके रहने के लिए समुचित व्यवस्था की। चीनी साक्ष्यों से पता लगता है कि कनिष्क ने काशगर, खोतन तथा यारकन्द पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस प्रकार कनिष्क का साम्राज्य न केवल भारत के वरन् दक्षिण-पश्चिम के भी

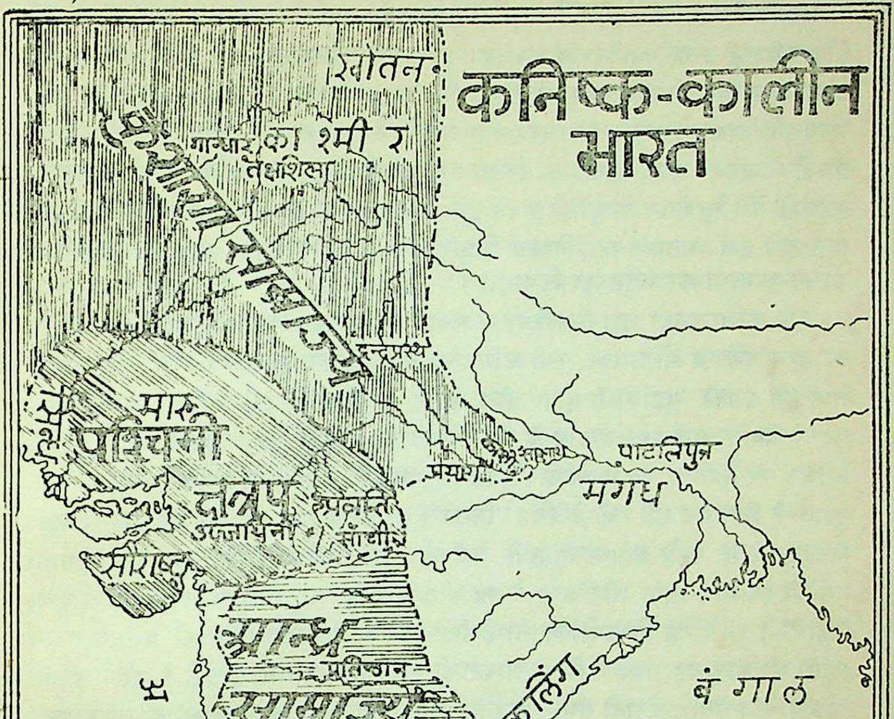
कनिष्क-कालीन भारत
खोतन
कुशाण साम्राज्य
गान्धार
काश्मीर
तक्षशिला
इन्द्रप्रस्थ
मरु
सिन्ध
पश्चिमी क्षत्रप
उज्जयिनी
सांची
सौराष्ट्र
प्रयाग
पाटलिपुत्र
मगध
आन्ध्र
प्रतिष्ठान
साम्राज्य
कलिंग
अमरावती
चोल
पाण्ड्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर
कुशाण साम्राज्य
पश्चिमी क्षत्रप
आन्ध्र साम्राज्य

बहुत बड़े भाग में फैला था। कनिष्क की दिग्विजय का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसके शासन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

कनिष्क का शासन प्रबन्ध—कनिष्क के शासन-प्रबन्ध के विषय में हमें अधिक ज्ञात नहीं है। परन्तु जो थोड़े-बहुत साक्ष्य प्राप्त हैं उनसे यह पता लगता है कि उसने पुष्पपुर अथवा पेशावर को अपनी राजधानी बनाया था जो उसके साम्राज्य

के केन्द्र में स्थित था। यहीं से वह अपने सम्पूर्ण साम्राज्य की देख-भाल करता था और यहीं से उसके केन्द्रीय शासन का संचालन होता था। चूंकि कनिष्क का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था और वह पूर्व तथा पश्चिम में दूर-दूर तक फैला था, अतएव कनिष्क ने अपने साम्राज्य को प्रान्तों में विभक्त कर रखा था और दूरस्थ प्रान्तों में उसने अपने प्रान्तपति नियुक्त कर रक्खे थे, जो क्षत्रप तथा महाक्षत्रप कहलाते थे। सारनाथ के अभिलेख से हमें उसके क्षत्रपों तथा महाक्षत्रपों के नाम भी ज्ञात होते हैं। अतएव यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसने शकों की क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था का अनुसरण किया था।

कनिष्क का धर्म--कनिष्क न केवल एक महान् विजेता तथा कुशल शासक था वरन् धर्म में भी उसकी बड़ी अभिरुचि थी। कनिष्क का धर्म क्या था, इसका ज्ञान हमें उसकी मुद्राओं से होता है। उसकी प्रथम कोटि की वे मुद्राएँ हैं जिन पर यूनानी देवता, सूर्य तथा चन्द्रमा के चित्र मिलते हैं; उसकी दूसरी कोटि की वे मुद्राएँ हैं जिन पर ईरानी देवता अग्नि के चित्र मिलते हैं तथा उसकी तीसरी कोटि की वे मुद्राएँ है जिन पर बुद्ध जी के चित्र मिलते हैं। इससे कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पहले कनिष्क यूनानी धर्म को मानता था, उसके बाद उसने ईरानी धर्म को स्वीकार किया और अन्त में वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया। परन्तु कुछ विद्वानों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि कनिष्क में उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और वह सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखता था। इसी से उसने अपनी मुद्राओं में यूनानी, ईरानी तथा भारतीय तीनों ही देवताओं को स्थान देकर उन्हें सम्मानित किया। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि कनिष्क की मुद्राओं पर अंकित देवताओं से यह पता लगता है कि उसके साम्राज्य में कौन-कौन से धर्म प्रचलित थे। यह कनिष्क के व्यक्तिगत धर्म का द्योतक नहीं है। कनिष्क प्रारम्भ में चाहे जिस धर्म को मानता रहा हो परन्तु वह मगध पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त निश्चित रूप से बौद्ध हो गया था। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक की भाँति कनिष्क भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने के पूर्व क्रूर तथा निर्दयी था, परन्तु बौद्ध-धर्म का आलिंगन कर लेने के उपरान्त वह अशोक की ही भाँति बड़ा उदार तथा दयालु हो गया था। परन्तु अशोक तथा कनिष्क में एक बहुत बड़ा अन्तर यह था कि बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लेने के उपरान्त अशोक ने युद्ध करना बन्द कर दिया था परन्तु कनिष्क बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने के बाद भी युद्ध करता रहा। एक बात और ध्यान देने की यह है कि अशोक हीनयान का अनुयायी था और कनिष्क महायान सम्प्रदाय का। परन्तु इन दोनों सम्राटों में उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। यद्यपि इन दोनों सम्राटों ने बौद्ध-धर्म को अपना आश्रय दिया था परन्तु अन्य धर्मों के साथ इन्होंने किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया वरन् उन्हें भी आदर की दृष्टि से देखा और उनकी सहायता की। बुद्ध जी के साथ-साथ शिव की भी मूर्तियाँ उसकी मुद्राओं में मिली हैं और वह हवन भी किया करता था जिससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण-धर्म के साथ उसकी सहानुभूति थी। अशोक की भाँति कनिष्क ने भी बौद्ध-धर्म

को दूर-दूर प्रचारित किया। जिस प्रकार अशोक ने तीसरी बौद्ध-संगीति पाटलिपुत्र में बुलाई थी उसी प्रकार कनिष्क ने भी चतुर्थ बौद्ध-संगीति काश्मीर के कुण्डलवन में बुलाई थी। इस संगीति अथवा सम्मेलन के बुलाने का ध्येय बौद्ध-धर्म में उत्पन्न हुए मतभेदों को दूर करना और बौद्ध-ग्रन्थों का संकलन कर उन पर प्रामाणिक टीका एवं भाष्य लिखना था। इस सम्मेलन में लगभग ५०० भिक्षु तथा बौद्ध-आचार्य सम्मिलित हुए थे। यह सभा बौद्ध आचार्य वसुमित्र के सभापतित्व में हुई थी और आचार्य अश्वघोष ने उप-सभापति का आसन ग्रहण किया था। इस सभा की कार्यवाही संस्कृत भाषा में हुई थी जिससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा का सम्मान इस समय बढ़ रहा था। इस सभा में बौद्ध-धर्म में उत्पन्न मतभेदों को दूर किया गया और त्रिपिटक-ग्रन्थों पर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी गईं। सम्राट् कनिष्क ने इनको ताम्र-पत्रों पर लिखवाया और इन्हें पत्थर के सन्दूक में रखवाकर इन पर स्तूप बनवा दिया परन्तु इस सभा का सबसे बड़ा कार्य यह था कि इसमें बौद्ध-धर्म के 'महायान' सम्प्रदाय को मान्यता प्रदान की गई। महायान सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म का प्रगतिशील तथा सुधारवादी सम्प्रदाय था जो देश तथा काल के अनुसार बौद्ध-धर्म में परिवर्तन करने के पक्ष में था। अब बौद्ध-धर्म का प्रचार विदेशों में हो गया था और भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशियों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति में बौद्ध-धर्म में थोड़ा बहुत परिवर्तन आवश्यक हो गया था। इसके अतिरिक्त भारत में भक्ति-मार्ग का प्रचार हो रहा था। इससे बौद्ध-धर्म प्रभावित हुए बिना न रहा। इस समय ब्राह्मण-धर्म का प्रचार भी जोरों के साथ चल रहा था। अतएव उसकी अपेक्षा बौद्ध-धर्म को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए बौद्ध-धर्म में संशोधन की आवश्यकता थी। इन्हीं सब कारणों से बौद्ध-धर्म में 'महायान' पन्थ को चलाया गया था। यह पन्थ अपनी परिस्थिति से प्रभावित होकर भक्तिवादी, अवतारवादी तथा मूर्तिवादी बन गया। महायान सम्प्रदाय वाले बुद्ध जी को ईश्वर का अवतार मानने लगे और उनकी तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी उपासना करने लगे। यद्यपि महायान सम्प्रदाय का बीजारोपण कनिष्क के पहले हो चुका था परन्तु उसे मान्यता बौद्धों की चतुर्थ संगीति में दी गई और उसे कनिष्क ने राज-धर्म बना लिया। यह कनिष्क के शासन-काल की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना थी।

साहित्य—सौभाग्य से कनिष्क के काल में बड़े बड़े विद्वान् तथा साहित्यकार हुए जिनका कनिष्क के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क था। वसुमित्र, अश्वघोष तथा नागार्जुन जो बौद्ध-धर्म के बहुत बड़े आचार्य थे, इसी काल की महान् विभूतियाँ हैं। वसुमित्र एक बहुत बड़े धर्माचार्य तथा सुवक्ता थे। उनकी संगीत में भी बड़ी रुचि थी। उनकी विद्वत्ता के कारण ही उन्हें चतुर्थ बौद्ध-संगीति का अध्यक्ष बनाया गया था। उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थों पर बड़ी प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं। अश्वघोष इस काल की दूसरी महान् विभूति थे। इनकी गणना बौद्ध-धर्म के महान् आचार्यों में होती है। यह बड़े ही उच्च कोटि के कवि, दार्शनिक, उपदेशक तथा नाटककार थे।

उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्ध-चरित' है। जिसकी रचना संस्कृत में की गई है। इस महाकाव्य में बुद्ध जी के चरित्र तथा उनकी शिक्षाओं का वर्णन किया गया है। नागार्जुन महायान पन्थ का प्रकाण्ड पण्डित तथा प्रवर्तक था। वह विदर्भ का रहने वाला एक कुलीन ब्राह्मण था, परन्तु कालान्तर में उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया और महायान सम्प्रदाय का बहुत बड़ा प्रचारक बन गया। बौद्ध-धर्म का उच्चकोटि का विद्वान पार्श्व कनिष्क का गुरु था। आयुर्वेद के आचार्य चरक कनिष्क के राजवैद्य थे उनकी 'चरक-संहिता' भारतीय आयुर्वेद का एक अमूल्य ग्रन्थ है।

कला—कनिष्क के काल में कला की भी उन्नति हुई। अशोक की भाँति कनिष्क भी बहुत बड़ा निर्माता था। उसने दो नगरों का निर्माण किया था। एक नगर उसने तक्षशिला के समीप बनवाया था जिसके खण्डहर आज भी विद्यमान हैं। यह नगर 'सिरपक' नामक स्थान पर बसाया गया था। कनिष्क ने दूसरा नगर काश्मीर में बसाया था। इसका नाम कनिष्कपुर था। अपनी राजधानी पुष्पपुर में उसने ४०० फीट ऊँचा लकड़ी का एक स्तम्भ तथा बौद्ध-विहार बनवाया था। यहीं पर उसने एक पीतल की मंजूषा में बुद्ध के अवशेष रखवाकर एक स्तूप बनवाया था। इस स्तूप का निर्माण कनिष्क ने एक यूनानी शिल्पकार द्वारा करवाया था। अपने साम्राज्य के अन्य भागों में भी कनिष्क ने बहुत-से विहार तथा स्तूप बनवाये थे। चीनी यात्री फाहियान ने गान्धार में कनिष्क द्वारा बनवाये गये विहारों तथा स्तूपों के दर्शन किये थे। एक दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसांग ने १७०८ विहारों तथा स्तूपों का वर्णन किया है। कनिष्क के काल में मूर्ति-कला की बड़ी उन्नति हुई। मथुरा में इस काल की कई मूर्तियाँ मिली हैं। 'गान्धार-कला' की भी इस काल में बड़ी उन्नति हुई। कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जो बौद्ध-मूर्तियाँ बनवाई हैं। उनमें अधिकांश गान्धार जिले में मिली हैं। इसी से इस कला का नाम गान्धार-कला रखा गया है। गान्धार-कला की बहुत-सी प्रतिमाएँ मुद्राओं पर मिलती हैं।

व्यापार—कनिष्क का साम्राज्य न केवल भारत के एक बहुत बड़े भाग में वरन् भारत के बाहर उत्तर-पश्चिम की ओर एशिया के एक बहुत बड़े भाग में फैला हुआ था। उसका परिणाम यह हुआ कि भारत का ईरान, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत आदि देशों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया। चूँकि कनिष्क ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को अपना लिया था और बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया था, अतएव इन देशों में उसने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार करने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक सम्बन्ध के साथ-साथ इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया और स्थायी रूप से इन देशों के साथ भारत का व्यापार होने लगा। मुद्राओं से पता लगता है कि रोम साम्राज्य के साथ भी इस काल में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में वस्त्र, आभूषण तथा शृंगार की वस्तुएँ रोम भेजी जाती थीं और वहाँ से लाखों रुपये का सोना भारत आता था।

कनिष्क का अन्त—लगभग ४५ वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के

उपरान्त १२३ ई० में कनिष्क का परलोकवास हो गया। दन्त कथाओं से पता लगता है कि कनिष्क की प्रजा सामरिक प्रवृत्ति तथा साम्राज्यवादी नीति से अप्रसन्न हो गयी और उसके सैनिकों ने षड्यन्त्र रचकर उसकी हत्या कर दी।

कनिष्क कुषाण-वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् क्यों ?—कुषाण-वंश में जितने शासक हुए उसमें कनिष्क सबसे अधिक वीर, साहसी तथा कुशल सेनानायक था। उसने जितने विशाल साम्राज्य पर शासन किया उतने विशाल साम्राज्य पर शासन करने का सौभाग्य किसी अन्य कुषाण-वंशी सम्राट् को नहीं प्राप्त हुआ। प्रशासकीय प्रतिभा भी किसी अन्य कुषाणकालीन शासक में उतनी न थी जितनी कनिष्क में में थी। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तो किसी कुषाण-वंशी शासक की तुलना किसी भी दशा में कनिष्क से नहीं की जा सकती। कुषाण-वंश के किसी भी शासक में न तो उतनी धर्म परायणता थी और न उतनी सहृदयता तथा सहिष्णुता, जितनी कनिष्क में थी। कनिष्क का धार्मिक दृष्टिकोण अशोक की भाँति बड़ा व्यापक था। साहित्य तथा कला में भी जो अभिरुचि कनिष्क की थी वह अन्य किसी कुषाण-वंशी सम्राट् में न थी। वास्तव में कनिष्क की गणना न केवल कुषाण-वंश के वरन् भारत के महान् सम्राटों में होनी चाहिए। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक के गुणों का समन्वय देखते हुए लिखा है, "निस्सन्देह भारत के कुषाण-सम्राटों में कनिष्क का व्यक्तित्व सबसे अधिक आकर्षक है। वह एक महान विजेता और बौद्ध-धर्म का आश्रयदाता था। उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य की सामरिक योग्यता और अशोक के धार्मिक उत्साह का समन्वय था।"[1] उसकी महानता उसके निम्नलिखित कार्यों में पायी जाती है :—

(१) **महान विजेता**—कनिष्क की गणना महान् विजेताओं में होनी चाहिए। वह बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और सिंहासन पर बैठते ही उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया और जीवन-पर्यन्त अपने साम्राज्य की वृद्धि करने में संलग्न रहा। यद्यपि उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था, जो अहिंसात्मक धर्म है, परन्तु कनिष्क ने अपनी युद्ध-यात्राएँ बन्द न कीं। इनका परिणाम यह हुआ कि न केवल भारत के एक बहुत बड़े भाग पर वरन् भारत की सीमाओं के बाहर एशिया के एक बहुत बड़े भाग पर भी उसने शासन किया। कनिष्क के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी सम्राट् को भारत के बाहर इतने बड़े भू-भाग पर शासन करने का श्रेय नहीं प्राप्त है। उसका साम्राज्य उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में सौराष्ट्र तक और पूर्व में बंगाल तक फैला था। पश्चिम में उसने पार्थिया के राजा से सफलतापूर्वक

---

[1] 'Kaniska is undoubtedly the most striking figure amony the Kushan kings of India. A great couqueror and a patron of Buddhism, he combined in himself the military ability of Chandragupta Maurya and religius zeal of Ashoka."

—Dr. R- S. Tripathi.

युद्ध किया और काशगर, यारकन्द तथा खोतन को अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसकी इस विजय की प्रशंसा करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "कनिष्क की सबसे अधिक आकर्षक सैनिक सफलता उसकी काशगर, यारकन्द तथा खोतन की विजय थी।"[१] इसके अतिरिक्त चीन के शासक को मत-मस्तक कर उसने अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि की थी। अतएव एक विजेता के रूप में कनिष्क की गणना भारत के महान् शासकों में करना उचित ही है।

(२) **कुशल शासक**—प्रशासकीय दृष्टि से भी कनिष्क को ऊँचा स्थान प्रदान करना चाहिए। अशोक की मृत्यु के उपरान्त उत्तरी भारत में जो कुव्यवस्था तथा अराजकता फैली थी उसे दूर करने में वह सफल रहा। इतने विशाल साम्राज्य को सुरक्षित तथा सुसंगठित रखना ही इस बात का प्रमाण है कि वह शासन करने में अत्यन्त कुशल था। अपने क्षत्रपों तथा महाक्षत्रपों पर अपना पूरा नियन्त्रण रखने में भी वह सफल रहा और अपने साम्राज्य को आन्तरिक उपद्रवों तथा विद्रोहों से मुक्त रख सका। उसकी मुद्राओं, स्तूपों तथा विहारों से यह पता लगता है कि उसका साम्राज्य धन-धान्य-पूर्ण था और उसकी प्रजा बड़ी सुखी थी। विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण भारत के उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में भी बड़ी उन्नति हुई होगी। अतएव एक शासक के रूप में भी कनिष्क को भारतीय इतिहास में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होना चाहिये।

(३) **महान धर्म-तत्त्ववेत्ता**—कनिष्क में उच्चकोटि की धर्म-परायणता थी। उसने बौद्ध-धर्म की उसी प्रकार सेवा की जिस प्रकार सम्राट् अशोक ने की थी। अशोक की भांति ही उसने अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण करवाया और बौद्ध-धर्म, भिक्षुओं तथा आचार्यों की सहायता की। उसने चतुर्थ बौद्ध-संगीति बुलाकर बौद्ध-धर्म में उत्पन्न मतभेदों को दूर किया और बौद्ध-ग्रन्थों पर टीकाएँ तथा भाष्य लिखवाये। महायान सम्प्रदाय को मान्यता देकर, उसे राज धर्म बनाकर और विदेशों में उसका प्रचार करवा कर उसने उस सम्प्रदाय की बड़ी सेवा की और कम से कम विदेशों में तो उसने उसे अमर बना ही दिया। श्री एन० एन० घोष ने ठीक ही लिखा है, "महायान सम्प्रदाय के आश्रयदाता तथा समर्थक के रूप में उसे उतना ही ऊँचा स्थान प्राप्त है जितना अशोक को हीनयान सम्प्रदाय के संरक्षक तथा समर्थक के रूप में प्राप्त था।"[२] परन्तु कनिष्क के धार्मिक विचार संकीर्ण न थे और वह कट्टरपन्थी न था वरन् उसमें उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और वह अशोक की भाँति सभी

---

1. "The most striking military exploit of Kaniska was his conquest of Kashgar, Yarkand and Khotan." —V. A. Smith

2. "As a royal supporter and patron of Mahayanism he occupies an equally great place as Ashoka had occupied with regard to Hinayanism." —N. N. Ghosh.

धर्मों को आदर की दृष्टि से देखता था। उसकी मुद्राओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह यूनानी, ईरानी तथा ब्राह्मण-धर्म का भी सम्मान करता था। श्री आयंगर ने कनिष्क के सम्बन्ध में लिखा है, "परन्तु वह फारसीक तथा यूनानी देवताओं को भी आदर की दृष्टि से देखता था। इन कथाओं को, कि वह बौद्ध-धर्म का भक्त था, बड़े ही सीमित अंश में स्वीकार करना चाहिए।"[1] इस प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से कनिष्क सम्राट् अशोक महान् का समकक्षी ठहरता है। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने ठीक ही लिखा है, "कनिष्क की ख्याति उसकी विजयों पर उतनी आधारित नहीं है जितनी शाक्यमुनि के धर्म को संरक्षण प्रदान करने के कारण है।"[2]

(४) **महान् निर्माता**—यद्यपि कनिष्क का सम्पूर्ण जीवन युद्ध करने तथा अपने साम्राज्य को सुरक्षित तथा सुसंगठित रखने में व्यतीत हुआ था, परन्तु उसने शान्तिकालीन कार्यों की ओर भी ध्यान दिया। कहा जाता है कि काश्मीर का कनिष्कपुर नामक नगर उसी ने बसाया था। अपनी राजधानी पुष्पपुर के समीप उसने एक दूसरे नगर का निर्माण करवाया था। अपनी राजधानी में तथा अपने राज्य के अन्य भागों में उसने बहुत-से स्तूपों तथा बिहारों का भी निर्माण करवाया था। अपनी राजधानी में उसने लकड़ी का जो स्तम्भ बनवाया था वह लगभग ४०० फीट ऊँचा था। अतएव एक निर्माता के रूप में भी कनिष्क को यश प्राप्त होना चाहिए। स्मिथ महोदय ने एक निर्माता के रूप में उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, "स्थापत्य-कला को उसकी सहायक शिल्प के साथ कनिष्क का उदार संरक्षण प्राप्त था जो अशोक की भाँति एक महान् निर्माता था।"[3]

(५) **साहित्य तथा कला का महान् प्रेमी**—कनिष्क को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने बड़े-बड़े विद्वानों, लेखकों तथा धर्माचार्यों को अपना आश्रय प्रदान किया था। अपने समय के अत्यन्त धुरन्धर धर्माचार्यों वसुमित्र तथा अश्वघोष को चतुर्थ बौद्ध-संगीति का अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष बनवा कर उसने उन्हें सम्मानित किया था। एक दूसरे बौद्ध-आचार्य पार्श्व की शिष्यता ग्रहण कर कनिष्क ने उसे प्रतिष्ठित किया था। यह कनिष्क के लिए बड़े गौरव की बात है कि नागार्जुन जैसा महायान धर्म का आचार्य उसके सम्पर्क में था। यह श्रेय भी कनिष्क को ही प्राप्त है कि गान्धार-शैली की

---

[1] "But he respected also Zorostrianism and Greek divinities. The stories of his devotion to Buddhism should be accepted with great limition." —Ayanger.

[2] "Kanishka's fame rests not so much on his conquests as on his patronage of tbe religion of Shakyamuni."
—Dr. H. C. Ray Chaudhuri.

[3] "Architecture, with its subsidiary art of sculpture, enjoyed the liberal patronage of Kanishka, who was like Ashoka a great builder." V. A. Smith.

प्रतिष्ठा उसके शासन-काल में बढ़ी और अन्यत्र भी उसका अनुकरण होने लगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक विजेता, एक शासक, एक निर्माता, एक धर्म-वेत्ता तथा एक साहित्य एवं कला-प्रेमी के रूप में भारतीय इतिहास में कनिष्क को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होना चाहिए। स्मिथ महोदय का यह कथन सर्वथा सत्य पर आधारित है, "कुषाण सम्राटों में केवल यही एक ऐसा नाम छोड़ गया है जो भारत की सीमाओं के सुदूर बाहर भी विश्रुत था और जिसकी समता के लिए लोग लालायित रहते आये हैं।"[1]

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त वसिष्क, हुविष्क तथा कनिष्क द्वितीय नाम के राजा हुए इनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। कुषाण-वंश का अन्तिम शासक वासुदेव था। उसका राज्य केवल मथुरा तथा उसके पड़ोस के प्रदेशों तक सीमित था। वह शिव का उपासक था और उसकी मुद्राओं पर नन्दी बैल का चित्र अंकित मिलता है। वासुदेव के शासन-काल में कुषाण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो गया और उत्तरी-भारत में कई राज-वंशों का उदय हुआ जिन्होंने कुषाण-साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। कुषाण-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग पर शकों तथा पार्थियनों ने अपना अधिकार जमा लिया।

कुषाण साम्राज्य का पतन—साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन इतिहास की स्वाभाविक घटना है। कुषाण-साम्राज्य का पतन भी भारतीय इतिहास की एक स्वाभाविक घटना है और इसके पतन का मूल कारण इसके अन्तिम सम्राटों की अयोग्यता थी, परन्तु किस शक्ति ने कुषाणों का उन्मूलन किया, इस पर विद्वानों में मतभेद है। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल के विचार में कुषाण-साम्राज्य के उन्मूलन का कार्य नागों और वाकाटकों द्वारा सम्पन्न किया गया था। परन्तु डॉ० अल्तेकर के विचार में यह कार्य यौधेय, कुणिन्द, मालव, नाग और माघ के द्वारा सम्पन्न किया गया। वास्तव में यह युग विदेशी सत्ता के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिरोध का युग था और यह राष्ट्रीय चेतना के विकास का द्योतक है। तत्कालीन सभी गणराज्यों ने यौधेय राज्य के नेतृत्व में कुषाण-साम्राज्य के उन्मूलन का प्रयत्न किया और उसमें वे सफल रहे।

●

---

[1] "Alone among the Kushan kings he has left a name cherished by tradition and famous far beyond the limits of India."
—V. A. Smith.

अध्याय १६

मौर्योत्तरकालीन सभ्यता तथा संस्कृति

"The Indian art, which thus attained to a high standard of excellence during the period of the Mauryas, continued to flourish in the subsequent periods, and in some respects made further progress."
—Dr. R. C. Majumdar

मौर्य-साम्राज्य का प्रखर-प्रभाकर भारत के भव्य गौरव-गगन मण्डल पर लगभग दस दशाब्दियों तक अपने पूर्ण-प्रकाश तथा अलौकिक आलोक के साथ देदीप्यमान रहा । चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-काल इस गौरव-महिमा से परिपूरित साम्राज्य का उषा-काल था, जब इसकी स्थापना की गई थी । अशोक का शासन-काल इसका मध्याह्न था, जब इसका चूड़ान्त विकास हो गया था । अशोक के उत्तराधिकारियों का शासन-काल द्वाभा का काल था, जब यह पतनोन्मुख हो चला और इस प्रभाकर की मन्दाभा तिमिर--तिरोहित हो चली और सदैव के लिए अस्ताचल के अंचल में समाहित हो गया ।

मौर्य-काल में भारत की चरमोन्नति हो चुकी थी । मौर्य-सम्राटों ने भारत के अधिकांश भाग पर बिजय प्राप्त कर विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा कर उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा की और चतुर्दिक अपनी चतुरंगिनी सेना भेज कर जय-लक्ष्मी प्राप्त कर देश को राजनीतिक एकता प्रदान की और उसकी गौरव-गरिमा में वृद्धि की वास्तव में अशोक का शासन-काल, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता का युग था । परन्तु अशोक के पंचत्व प्राप्त करने के उपरान्त ही यह एकता छिन्न-भिन्न होने लगी और भारत के विभिन्न भागों में आन्तरिक कलह आरम्भ होने लगा । भारतीय शासक केन्द्रीय शक्ति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में संलग्न हो गये । इस आन्तरिक कलह तथा कुव्यवस्था से विदेशी आक्रमणकारियों ने भी लाभ उठाया और पश्चिमोत्तर प्रदेश पर प्रहार करना आरम्भ किया और अपने छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना कर ली । इस प्रकार मौर्य कालीन राजनीतिक एकता समाप्त हो गई और देश के विभिन्न भागों में छोटी-छोटी देशी तथा विदेशी राज-सत्ताओं की स्थापना हो गई । अब मौर्य-साम्राज्य

के ध्वंसावशेष पर उत्तर में शुंग एवं कण्व राजवंशों की स्थापना हुई। दक्षिण में आंध्र-सातवाहन राज-वंश का अभ्युदय हुआ और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में विदेशी आक्रमणकारियों अर्थात् यवन, शक, पह्लव तथा कुषाण राजवंशों की स्थापना हुई और मौर्य-कालीन गौरव नगण्यता के गहन-गह्वरों में तिमिर-तिरोहित हो गया राजनीतिक एकता के विनाश का सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस में भी भयङ्कर उथल-पुथल आरम्भ हो गई। अब इन्हीं सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

समाज—अशोक का काल बौद्ध-धर्म के उत्थान का काल था और उसका शासन बौद्ध-धर्ममय हो गया था। बौद्ध-धर्म वर्ण-व्यवस्था में आस्था नहीं रखता है। अतएव इस काल में वर्ण-व्यवस्था में कुछ शिथिलता आ गई थी और व्यवसाय परिवर्तन तथा अन्तर्जातीय विवाहों के अनेक साक्ष्य मिलते हैं। मौर्योत्तर-काल ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान का काल था, जो वर्ण-व्यवस्था में दृढ़ विश्वास रखता था। फलतः शुंग तथा सातवाहन राजाओं के शासन-काल में वर्ण-व्यवस्था की जटिलता पुनः आरम्भ हो गई और चातुर्वर्ण-व्यवस्था ने अत्यन्त विकसित रूप धारण कर लिया। इस काल का समाज चार वर्गों में विभक्त था। सबसे ऊँचा वर्ग सामन्तों तथा सरदारों का था। दूसरा वर्ग राजकीय पदाधिकारियों का था। सेठ-साहूकार भी इसी वर्ग में आते थे। तीसरे वर्ग में लेखक, वैद्य, कृषक, स्वर्णकार तथा गन्धी आते थे। चौथे वर्ग में बढ़ई, माली, लोहार तथा मछुए आते थे।

कालान्तर में विदेशियों के कारण, जो भारत के पश्चिमोत्तर भाग से आकर यहाँ बस गये थे, भारतीय जाति-व्यवस्था में कठोरता न रह गई और वर्ण-व्यवस्था का क्षेत्र परिवर्तनशील ही बना रहा। यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ भारत में आईं और वे भारत की विभिन्न जातियों में समाविष्ट हो गईं और अपने अलग अस्तित्व को खो बैठीं। इससे स्पष्ट कि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति में अभी संकीर्णता नहीं आई थी और उसमें विशाल उदारता, सहिष्णुता, व्यापकता तथा ग्रहणशीलता विद्यमान थी।

धर्म—यद्यपि मौर्य-काल में धार्मिक सहिष्णुता बनी रही और जैन-बौद्ध तथा ब्राह्मण सभी धर्म मौर्य सम्राटों के कृपा-पात्र बने रहे तथापि बौद्ध-धर्म की इस युग में सर्वाधिक उन्नति हुई थी। अशोक ने तो इसे राज-धर्म बना लिया था और तन-मन-धन से उसके प्रचार का प्रयत्न किया था, जिसके फलस्वरूप न केवल भारत के विभिन्न भागों में वरन् उसकी सीमाओं के बाहर भी इसका प्रचार आरम्भ हो गया था।

शुंग तथा कण्व-काल में पुनः धार्मिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। शुंग-वंश का प्रथम शासक पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था। अतएव उसके सिंहासनारोहण से ही ब्राह्मण-धर्म के पक्ष में प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। डॉ० विसेन्ट स्मिथ ने लिखा है, "पुष्यमित्र के शासन-काल में प्रतीत होता है कि बौद्ध-धर्म के विरुद्ध, जिसे अशोक के काल में इतनी अधिक लोक-

प्रियता प्राप्त थी, ब्राह्मणों की भयङ्कर प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।''[1]

इस काल के शासकों ने ब्राह्मण-धर्म को राज-धर्म बना दिया। फलतः ब्राह्मण धर्म की क्रियाओं अर्थात् यज्ञों तथा अनुष्ठानों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और वैदिक कर्म-काण्डों के अनुसार अश्वमेध यज्ञों का प्रचलन भी आरम्भ हो गया। इस प्रकार इस काल में वैदिक परम्परा तथा धर्म की पुनः स्थापना का सफल प्रयास किया गया और वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार किया गया। श्री के० एम० मुन्शी ने लिखा है, ''पुष्यमित्र तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को आगे बढ़ाया। अब युद्ध का निषेध करके धर्म-विजय नहीं प्राप्त की जायगी वरन् सैनिक शक्ति में वृद्धि करके की जायगी। अब राजनीति ने वास्तविक रूप धारण कर लिया।''[2]

सातवाहन-काल में बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों ही धर्म उन्नत दशा में थे और अश्वमेध, राजसूय यज्ञ तथा ब्राह्मण-दक्षिणा का प्रचलन था। इस काल में शैव-धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में सबसे अधिक हुआ और शिव तथा कृष्ण की आराधना लोग विशेष रूप से किया करते थे। इस काल में धार्मिक-सहिष्णुता उच्च-कोटि की थी।

कुषाण-काल में पुनः बौद्ध-धर्म का प्रभाव बढ़ा। कनिष्क ने तो इसे अपना राज-धर्म ही बना लिया था। उसने बौद्ध-धर्म के लिए वही किया जो अशोक ने किया था। जिस प्रकार अशोक ने तीसरी बौद्ध-संगीति बुलाई थी, उसी प्रकार कनिष्क ने भी चौथी बौद्ध-संगीति काश्मीर के कुण्डलवन में बुलाई थी। इस संगीति का महत्त्व बतलाते हुए रॉलिन्सन महोदय ने लिखा है, ''कनिष्क की काश्मीर की संगीति बौद्ध-धर्म के इतिहास में नव-युग का प्रादुर्भाव करती है। यहीं से उत्तर के महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव होता है जो दक्षिण के प्राचीन हीनयान सम्प्रदाय से उसी प्रकार भिन्न था जिस प्रकार मध्य-काल का कैथोलिक-धर्म प्रथम शताब्दी के ईसाई-धर्म से भिन्न था।''[3]

---

1. "The reign of Pushyamitra appears to mark a violent Brahmanical reaction against Buddhism which had enjoyed so much favour in the time of Ashoka." —V. A. Smith

2. "Pushyamitra and his successors carried forward the pre-Ashoka tradition of Magadha. Dharma Vijaya was no longer to be achieved by abjuriug war but building up military strengthn. Politics became real." —K. M. Munshi.

3. "Kanishka's Council at Kashmir marks the beginning of Mahayan of Northern church which differs as much from the primitive Buddhism of the Hinayan or Lower Vehicle of the South, as Medieval Cotholicism does from the simple creed of the Christians of the first century." —H. G. Rawlinson.

उसने बौद्ध-धर्म में अनेक संशोधन भी किये, जिससे उसे ब्राह्मण-धर्म से अधिक लोकोपयोगी बनाया गया। इसी समय में बौद्ध-धर्म के दो सम्प्रदाय, महायान तथा हीनयान, के बीच की रेखा अधिक स्पष्ट हो गई। किन्तु कनिष्क का धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण न था। उसकी मुद्राओं में अंकित मूर्तियों से पता चलता है कि वह भिन्न-भिन्न जातियों के देवी-देवताओं का सत्कार करता था। यूनान तथा ईरान के देवताओं के साथ-साथ वह हिन्दुओं के शिव आदि देवताओं की भी पूजा करता था। वह हवन भी किया करता था।

साहित्य—इस काल में साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। इस काल में पाली भाषा का अधिक प्रचार हुआ था। प्रारम्भिक बौद्ध-ग्रन्थ पाली भाषा में ही लिखे गये थे। अशोक ने इसी को अपने सम्पूर्ण साम्राज्य की राज-भाषा बनाया था और उसके अभिलेख भी इसी भाषा में लिखे गये थे।

शुङ्ग तथा कण्व-काल में ब्राह्मण-धर्म की अधिक उन्नति हुई। फलतः संस्कृत भाषा ने, जो मौर्य-काल में विद्वानों की भाषा मात्र रह गयी थी, अपना गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। शुङ्ग-काल का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पतंजलि का 'महाभाष्य' है जो पाणिनि के व्याकरण पर सर्वोत्तम टीका है। 'मनुस्मृति' की भी रचना इसी काल में हुई थी, जिसमें गार्हस्थ्य जीवन, वर्णाश्रम, स्त्रियों की स्थिति तथा विवाह; उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमों तथा सामाजिक आदर्शों का सच्चा संग्रह किया गया है। कण्व-काल में संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भास ने 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक की रचना की थी।

सातवाहन राजाओं में कई एक स्वयं उच्च-कोटि के विद्वान् और विद्वानों के आश्रयदाता थे। हाल नामक राजा प्राकृत का कवि था और उसने शृंगार-रस की 'गाथा सप्तसती' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसकी राज-सभा के गुणाढ्य नामक विद्वान् ने 'वृहत्कथा' की रचना की थी।

कुषाण-काल में बड़े-बड़े विद्वान् तथा साहित्यकार हुए। वसुमित्र, अश्वघोष, चरक, पार्श्व तथा नागार्जुन इसी काल की विभूतियाँ हैं। वसुमित्र ने 'महाविभाषा-शास्त्र' की रचना की थी और चतुर्थ बौद्ध-संगीति का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया था। बौद्ध-धर्म के महान् आचार्य, कवि, दार्शनिक, उपदेशक तथा नाटककार अश्वघोष ने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्ध-चरित' की रचना की। आयुर्वेद के आचार्य चरक कनिष्क के राजवैद्य थे जिन्होंने 'चरक-संहिता' की रचना की। बौद्ध-धर्म का उच्च-कोटि का विद्वान् पार्श्व कनिष्क का गुरु था। नागार्जुन महान् आचार्य एवं दार्शनिक था। इन्हीं उद्भट विद्वानों की ओर संकेत करते हुए डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है, "अश्वघोष, नागार्जुन तथा अन्य लोगों की कृतियों से यह सिद्ध हो जाता है कि कुषाण-काल महती क्रियाशीलता का युग था। यह धार्मिक उत्तेजना तथा धर्म-प्रचार का भी युग था।"[1]

---

[1] "That the Kushan age was a period of great literary activity is proved dy the works of Asvaghosha, Nagarjuna and others. It was also a period of religious ferment and missionary activity."
—Dr. H. C. Ray Chaudhuri.

इस प्रकार इस काल में उच्चकोटि के संस्कृत-साहित्य का सृजन हुआ और दर्शन, साहित्य, नाटक, संगीत, काव्य, शिल्प, आयुर्वेद आदि विषयों पर श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई। रॉलिन्सन महोदय के शब्दों में इस काल में, "नूतन साहित्यिक स्वरूप प्रकाश में आते हैं, नाटक तथा महाकाव्य सामने आते हैं और प्रतिष्ठित संस्कृत का विकास होता है।"[1]

कला—मौर्य काल की कला पर बौद्ध-धर्म की छाप दृष्टिगोचर होती है। फलतः इस काल में सहस्रों स्तूपों, चैत्यों एवं विहारों का निर्माण हुआ था।

शुंग-काल में यद्यपि मौर्य-कालीन अनेक भवनों एवं स्तूपों के निर्माण को पूरा किया गया था किन्तु ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव के कारण मन्दिरों एवं मूर्तियों का अधिक बाहुल्य दिखाई पड़ता है। हिन्दू देवी-देवताओं विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बलराम, लक्ष्मी, वासुदेव, आदि की मूर्तियों की बहुतायत है। बेसनगर में गरुड़ध्वज के साथ खड़ी विष्णु की मूर्ति इसी काल में निर्मित हुई थी।

कुषाण-काल में कला की बड़ी उन्नति हुई। अशोक की भाँति कनिष्क भी एक महान निर्माता था। उसने बहुत से स्तूप तथा नगर बनवाये थे। उसने अपनी राजधानी पुष्पपुर अथवा पेशावर में एक मठ तथा काष्ठ का एक बहुत बड़ा बुर्ज बनवाया था। काश्मीर का कनिष्क नामक नगर उसी का बनवाया हुआ माना जाता है। वास्तु-कला तथा शिल्पकला की भी इस काल में बड़ी उन्नति हुई। इसी काल में गान्धार-कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसे इण्डो-हेलेनिक कला की भी संज्ञा दी गई है, क्योंकि इस पर यूनानी कला की छाप है। बुद्ध जी की मूर्तियों में यवन देवताओं की आकृतियों का अनुसरण किया गया है। कुषाण-काल में कला की जो पहली उन्नति हुई, उस ओर संकेत करते हुए रॉलिसन महोदय ने लिखा है, "भारतीय संस्कृति के इतिहास में कुषाण काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग है।"[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्योत्तर-काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का बड़ा विकास हुआ। बौद्ध-धर्म स्थानीय न रह कर विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस काल में नागरिक जीवन की वृद्धि तथा विकास हुआ। वाणिज्य, व्यवसाय, विज्ञान, साहित्य तथा कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसी युग में भारत का विदेशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। रोमन-राज्य से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इन विदेशी सम्बन्धों से भारतीयों का जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मौर्योत्तर-काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई उसने गुप्तकालीन

---

[1] "New literary forms come to light, the drama and the court epic make their appearence and classical Sanskrit is evolved."
—H. G. Rawlinson.

[2] "The Kushan period is one of the allmost importance in the history of Indian culture."
—H. G. Rawlinson.

गौरव का मार्ग प्रशस्त बना दिया।

अन्धकार का युग—कुषाण-साम्राज्य के बाद और गुप्त-साम्राज्य के उदय के पूर्व के युग को भारतीय इतिहास में 'अन्धकार का युग' कहा गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० स्मिथ ने लिखा है, "कुषाण तथा आन्ध्र राजवंशों के विनाश और साम्राज्य-वादी गुप्त-साम्राज्य के उदय के मध्य का काल भारत के सम्पूर्ण इतिहास में सर्वाधिक अन्धकारमय है।"[1] परन्तु आधुनिक काल में मुद्राओं तथा अभिलेखों के आधार पर जो शोध का कार्य किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अन्धकार का युग न था वरन् इस युग में भारत में अनेक राजतंत्र तथा गणतन्त्र विद्यमान थे जिनके इतिहास को अन्धकार से प्रकाश में लाया गया है। इन समय सात राजतन्त्र तथा नौ गणतन्त्र विद्यमान थे। राजतन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—नाग, अहिछत्र, अयोध्या, कौशाम्बी, वाकाटक, मौखरि और गुप्त। गणतन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—आर्जुनायन, मालव, यौधेय, शिवि, लिच्छवि, कुणिन्द, कुलूट, औदुम्बर और मद्र।

उपर्युक्त राजतन्त्रों में नाग-राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली था और गण-राज्यों में यौधेय गण-राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। इन्हीं राज्यों के ध्वंशावशेषों पर गुप्तों के विशाल साम्राज्य का निर्माण किया गया था।

---

[1] "The period between the extinction of the Kushan and Andhra dynasties......and the rise of the imperial Cupta dynasty ......is one of the darkest in the whole of Indian history.

—V A. Smith.

अध्याय १७

गुप्त-साम्राज्य

"The Gupta period. remarkable for religious and intellectul renaissance also witnessed brilliant development in respect of all the branches of fine art viz., architecture, sculpture and painting."
—Dr. R. C. Majumdar.

गुप्त कौन थे ?—३२० ई० से ४६५ ई० तक भारत में एक राज-वंश ने शासन किया जिसे 'गुप्त-वंश' कहते हैं । चूंकि इस वंश में जितने शासक हुए उन सभी के नाम के साथ 'गुप्त' का प्रयोग हुआ है, अतएव इस वंश को गुप्त-वंश के नाम के पुकारा गया है । गुप्त-सम्राट् किस जाति के थे, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है । इस मतभेद का कारण इस वंश के सम्राटों के नाम के अन्त में 'गुप्त' शब्द का प्रयोग है, जो उनकी उपाधि प्रतीत होती है । 'विष्णुपुराण' में ब्राह्मणों की शर्मा, क्षत्रियों की वर्मा, वैश्यों की गुप्त और शूद्रों की दास उपाधियां बतलाई गई हैं । अतएव उपाधि के आधार पर गुप्त सम्राट् वैश्य ठहरते हैं । यह भारतीय परम्परा के अनुकूल भी लगता है । गुप्तों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "गुप्तों की उत्पत्ति रहस्य से घिरी हुई है, परन्तु नामों के अन्त में गुप्त लगे रहने के कारण उन्हें वैश्य जाति का कहना उचित ही होगा ।"[1]

यह सत्य है कि जाति-व्यवस्था के अनुसार राज-पद क्षत्रियों को ही ग्रहण करना चाहिए परन्तु कालान्तर में ब्राह्मणों ने भी क्षात्र-धर्म को स्वीकार कर लिया, जिसके फलस्वरूप शुङ्ग, कण्व, सातवाहन आदि ब्राह्मण राज-वंशों की स्थापना हुई । इसी प्रकार यह सम्भव हो सकता है कि ब्राह्मणों का अनुसरण कर वैश्यों ने भी क्षात्र-वृत्ति स्वीकार कर ली हो और राज्य की स्थापना कर शासन करने लगे हों । हमें इसका ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य का सौराष्ट्र का प्रान्तपति पुष्यगुप्त वैश्य था । अतएव यह सम्भव प्रतीत होता है कि गुप्त-वंश के शासक वैश्य रहे हों । यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि गुप्त-वंश के प्रारम्भिक शासक श्रीगुप्त तथा घटोत्कच स्वतन्त्र शासक नहीं थे वरन् वे किसी स्वतन्त्र राजा के सामन्त

---

[1] "The origin of the Guptas is shrouded in mystery, but on a consideration of the terminations of their names it has been contended with some plausibility that they belonged to the Vaisya caste.
—Dr. R. S. Tripathi.

थे। अतएव यह सम्भव हो सकता है कि पुष्यगुप्त कि भाँति श्रीगुप्त भी वैश्य रहा हो और किसी क्षत्रिय राजा, सम्भवतः नाग-वंश के सामन्त के रूप में शासन करता रहा हो। कालान्तर में इस वंश के प्रथम स्वतन्त्र शासक चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अपने एक नये राज-वंश की स्थापना की जो 'गुप्त-वंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु गुप्त-वंश को वैश्य-वंशीय स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि इस वंश के राजाओं का वैवाहिक सम्बन्ध क्षत्रिय राजवंशों के साथ था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-वंश की और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नाग-वंश की राजकुमारियों के साथ अपना विवाह किया था। यद्यपि राजवंशीय विवाह किसी जाति के द्योतक नहीं होते क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस की कन्या के साथ विवाह कर लिया था, जो यूनानी था परन्तु अधिकांश इतिहासकारों ने गुप्त सम्राटों को क्षत्रिय जाति का ही बतलाया है।

गुप्त-काल का महत्त्व—गुप्त-काल का भारत के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। वास्तव में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना से भारत के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है, जिसका राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्त्व है।

(१) **ऐतिहासिक महत्त्व**—गुप्त-वंश का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि यह काल हमें अन्धकार से प्रकाश में लाता है। कुषाण-साम्राज्य के विध्वंस तथा गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के मध्य का काल अन्धकारमय माना जाता है, परन्तु गुप्त-काल के आरम्भ होते ही यह अन्धकार समाप्त हो जाता है और हमें क्रम-बद्ध इतिहास प्राप्त होने लगता है। अब तिथि-सम्बन्धी संदेह समाप्त हो जाता है और घटनाओं तथा तिथियों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है। स्मिथ महोदय ने ठीक ही लिखा है, "चौथी शताब्दी में प्रकाश का पुनः आगमन होता है, अन्धकार का परदा हट जाता है और भारतीय इतिहास में फिर एकता तथा दिलचस्पी पैदा हो जाती है।"[1]

(२) **राजनीतिक महत्त्व**—सम्राट् अशोक के मरने के बाद मौर्यों का विशाल साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया और भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। देश के विभिन्न भागों में विदेशी राज्यों की स्थापना हो गई, जिनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। परन्तु गुप्त सम्राटों ने एक बार फिर अपनी दिग्विजय द्वारा भारत की विच्छिन्नता को समाप्त किया और अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर देश को राजनीतिक एकता प्रदान की। यह गुप्त-सम्राटों की भारत को बहुत बड़ी देन थी।

(३) **आर्थिक महत्त्व**—गुप्त-सम्राटों ने सम्पूर्ण देश में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर उसमें शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित की और लोक-कल्याण

---

1. In the fourth century light again dawns, the veil of oblivion is lifted and the history of India regains unity and interest."
—V. A. Smith.

की अनेक आयोजनाएँ कर देश को समृद्धिशाली बना दिया। वास्तव में यह भारत की अभूतपूर्व समृद्धि का युग था और विदेशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया।

(४) धार्मिक महत्त्व—इस काल में ब्राह्मण-धर्म का चूड़ान्त विकास हुआ। गुप्त-सम्राटों ने ब्राह्मण-धर्म को राज-धर्म बना कर उसे अपना संरक्षण प्रदान किया और अश्वमेध यज्ञ करने लगे। इससे ब्राह्मण-धर्म को बड़ा प्रोत्साहन मिला और उसकी द्रुतगति से उन्नति होने लगी। परन्तु गुप्त-सम्राट् कट्टरपन्थी न थे वरन् उनमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और सभी धर्मों के साथ वे उदारता का व्यवहार करते थे।

(५) सांस्कृतिक महत्त्व—ब्राह्मण-धर्म का संस्कृत भाषा के साथ अटूट-सम्बन्ध है। चूँकि गुप्त-काल में ब्राह्मण-धर्म की उन्नति होने लगी अतएव संस्कृत भाषा की भी उन्नति आरम्भ हो गई। वास्तव में गुप्त-काल संस्कृत के चरमोत्कर्ष का काल माना जाता है। इस काल में साहित्य तथा कला की बड़ी उन्नति हुई। इस काल में भारत की सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में भी बड़ा प्रचार हुआ। इस अभूत-पूर्व सांस्कृतिक उन्नति के कारण ही गुप्त-काल को स्वर्ण युग कहा गया है।

गुप्त-काल की यह बहुमुखी उन्नति उस काल के सम्राटों की बहुमुखी प्रतिभा तथा योग्यता के कारण हुई थी। अतएव इस काल के सम्राटों के कृत्यों का वर्णन कर देना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त-प्रथम (३२०-३३५)—गुप्त-वंश का प्रथम प्रतापी तथा स्वतन्त्र शासक चन्द्रगुप्त प्रथम था। सिंहासन पर बैठते ही उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की, जिससे स्पष्ट है कि वह स्वतन्त्र शासक था और किसी अन्य राजा का अधीनस्थ न था। जिन दिनों चन्द्रगुप्त का विकास आरम्भ हुआ उन दिनों मगध में कुषाणों का शासन था। मगध की जनता इस विदेशी शासन को विनष्ट कर देने के लिए आतुर थी। चन्द्रगुप्त ने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया और मगध की जनता की सहायता से विदेशी शासन का अन्त कर मगध का स्वतन्त्र सम्राट् बन गया इस प्रकार, चन्द्रगुप्त ने द्वितीय मगध-साम्राज्य की स्थापना की। यह घटना ३२० ई० में घटी। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए चन्द्रगुप्त ने वैशाली के प्रतापी लिच्छवि-राज्य की कन्या कुमारदेवी के साथ विवाह कर लिया। इस विवाह का राजनीतिक महत्त्व बहुत बड़ा है। लिच्छवि-राज्य से मैत्री हो जाने के कारण गुप्त-सम्राटों को अपने राज्य के विस्तार में बड़ी सहायता मिली। कालान्तर में लिच्छवि-राज्य भी मगध-राज्य में सम्मिलित हो गया जिससे मगध-राज्य की प्रतिष्ठा तथा शक्ति में बड़ी वृद्धि हो गई। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने एक नया सम्वत् भी चलाया था, जिसका प्रारम्भ २६ जनवरी, ३१९-२० ई० अर्थात् उसके राज्याभिषेक से हुआ था। चन्द्रगुप्त प्रथम के शासन-काल की अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि अपने जीवन-काल में ही उसने अपने पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया उसके इस चयन की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "समुद्रगुप्त

की प्रारम्भिक स्थिति चाहे जैसी रही हो, वह गुप्त-सम्राटों में सबसे अधिक योग्य सिद्ध हुआ और उसने अपनी सफलताओं से अपने पिता के चयन के औचित्य को प्रमाणित कर दिया। अपने युद्ध तथा आक्रमण के आदर्शों के कारण चन्द्रगुप्त अशोक के बिलकुल विपरीत था, जो शान्ति तथा पवित्रता का समर्थक था।"[1]

समुद्रगुप्त (३३५-३७५)—चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। यद्यपि समुद्रगुप्त के और कई भाई थे परन्तु उसके अलौकिक गुणों तथा योग्यता से प्रसन्न होकर चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने जीवन-काल में ही उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। अतएव समुद्रगुप्त निर्विरोध अपने पिता के साम्राज्य का स्वामी बन गया और उसने उसका विस्तार करना आरम्भ कर दिया।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय—समुद्रगुप्त बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी शासक था। सिंहासन पर बैठते ही उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया और अपनी विजय-यात्रा आरम्भ कर दी। उसकी विजयों को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् उत्तरी भारत पर विजय, मध्य भारत पर विजय, दक्षिण भारत पर विजय, सीमान्त-प्रदेश पर विजय तथा गण-राज्यों पर विजय।

(१) उत्तरी भारत पर विजय—सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत अथवा आर्यावर्त के राज्य पर आक्रमण करना आरम्भ किया। उसने नौ राजाओं के साथ युद्ध किया और उन्हें परास्त कर उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इन राज्यों के राजाओं के नाम तो मालूम हैं परन्तु इन राज्यों के नाम का पता नहीं लग सका है। इन राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाकर समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत में राज्य-विस्तार की नीति का अनुसरण किया।

(२) मध्य भारत पर विजय—उत्तरी भारत के स्वतन्त्र राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने विन्ध्याचल पर्वत के आस-पास के राज्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रस्थान कर दिया। अभिलेखों से हमें पता लगता है कि जबलपुर तथा नागपुर के आस-पास १८ अटवी-राज्य थे। अटवी का अर्थ होता है जंगल। चूंकि यह प्रदेश पर्वतों तथा जङ्गलों से भरा पड़ा था अतएव इन राज्यों को अटवी राज्य कहते थे, प्रयाग के स्तम्भ-लेख से हमें पता लगता है कि इन राज्यों के राजाओं को समुद्रगुप्त ने अपना परिचारक अथवा सेवक बनाया था। इन राज्यों पर विजय प्राप्त कर लेने से समुद्रगुप्त का दक्षिण-विजय का मार्ग खुल गया।

---

1. "Whatever his earlier position, Samudragupta turned to be one of the ablest Gupta sovereigns, and by his exploits more than justified his father's selection. With his ideal of war and aggrandisement Samudragupta is the very antithesis of Ashoka, who stood for peace and piety." —Dr. R. S. Tripathi.

(३) दक्षिण भारत पर विजय—मध्य भारत के राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर आक्रमण कर दिया। अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के १२ राज्यों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु इन राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया वरन् उसने उनके साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया और उन्हें विजित राजाओं को लौटा दिया। इन राजाओं ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे कर तथा भेंट देने के लिए उद्यत हो गये। दक्षिण के इन राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित न कर समुद्रगुप्त ने अपनी दूरदर्शिता तथा राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। वह जानता था कि उस युग में, जब गमनागमन के साधनों का सर्वथा अभाव था, उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत पर नियंत्रण रखना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यदि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया होता तो दक्षिण भारत अशान्ति तथा उपद्रव का स्थान बन जाता और इसका कुप्रभाव उत्तरी साम्राज्य पर भी पड़ता। समुद्रगुप्त की इस नीति का अनुसरण आगे चलकर अलाउद्दीन खिलजी ने किया। परन्तु मुगल-सम्राटों ने इसकी उपेक्षा की और दक्षिणी भारत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इससे उनका उत्तर का भी साम्राज्य अचिरात् छिन्न-भिन्न हो गया।

(४) सीमान्त-प्रदेशों पर विजय—समुद्रगुप्त की विजय-यात्राओं का प्रभाव सीमान्त-प्रदेशों पर पड़े बिना न रहा। यहाँ के राज्यों ने युद्ध करने के पश्चात् परास्त हो जाने पर और कुछ ने बिना युद्ध किये ही समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। ये राज्य समुद्रगुप्त को कर देते थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

(५) गण राज्यों पर विजय—गुप्त-साम्राज्य के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में कुछ ऐसे राज्य थे जिनमें प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। यह राज्य गण-राज्य कहलाते थे। इन राज्यों ने समुद्रगुप्त के प्रताप से आतंकित होकर बिना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार समुद्रगुप्त की सत्ता सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई और वह भारत का एकछत्र सम्राट् बन गया।

समुद्रगुप्त की उपर्युक्त दिग्विजय के फलस्वरूप उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय की तलहटी से दक्षिण में नर्मदा नदी तक और पश्चिम में यमुना तथा चम्बल नदी से पूर्व में हुगली नदी तक फैला था।

अपनी दिग्विजय के उपलक्ष में समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ में दान तथा दक्षिणा देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ ढलवाई गई थीं। इन मुद्राओं में एक ओर यज्ञ-स्तम्भ में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर चँवर लिये प्रधान महिषी की मूर्ति अंकित है और उस पर 'अश्वमेध पराक्रम' लिखा है। इस अवसर पर सम्राट् ने असंख्य मुद्राओं तथा गाँवों को दान में दिया था।

विदेशों से सम्बन्ध—समुद्रगुप्त की दिग्विजय का प्रभाव विदेशी राज्यों पर भी पड़ा। उसकी ख्याति तथा उसका यश विदेशों में फैल गया और विदेशी राजा

उसकी मैत्री की आकांक्षा करने लगे। चीनी अनुश्रुतियों से पता लगता है कि श्रीलंका के राजा मेघवर्ण ने दो बौद्ध-भिक्षुओं को बोधिगया भेजा था। वहाँ पर इन भिक्षुओं को यथोचित सुविधा न मिल सकी। जब मेघवर्ण को इसकी सूचना मिली तब उसने समुद्रगुप्त से गया में एक बिहार बनवाने की आज्ञा माँगी। समुद्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। इसके फलस्वरूप मेघवर्ण ने गया में महाबोधि संघाराम नामक बिहार का निर्माण करवा दिया। जब चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था तब तक यह विहार सुरक्षित था और इसमें महायान पंथ के लगभग एक हजार भिक्षु निवास करते थे। कुषाणों तथा शकों के जो छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे उन्होंने भी समुद्रगुप्त की प्रधानता को स्वीकार कर लिया था।

समुद्रगुप्त का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—समुद्रगुप्त को भारत के इतिहास में बड़ा ऊँचा स्थान दिया जाता है। स्मिथ महोदय ने लिखा है, "समुद्रगुप्त, द्वितीय गुप्त-सम्राट्, भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा गुण-सम्पन्न-सम्राट् था।"[1] उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह न केवल एक महान् विजेता था वरन् एक अत्यन्त कुशल शासक भी था। राजनीति का वह प्रकाण्ड पंडित था। साहित्य तथा कला में उसकी विशेष अनुरक्ति थी और उसका धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा ही उदार तथा व्यापक था। समुद्रगुप्त की बहुमुखी प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है, "समुद्रगुप्त की सैनिक-विजय तो महान् थी ही उसकी व्यक्तिगत साधनाएँ भी कम महान् न थीं। उसके राजकवि ने विजित लोगों के प्रति उसकी उदारता, उसकी परिष्कृत प्रतिभा, उसके धर्म-शास्त्रों के ज्ञान, उसके काव्य-कौशल और उसकी संगीत की योग्यता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।"[2] स्मिथ महोदय ने भी समुद्रगुप्त को बहुमुखी प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "समुद्रगुप्त अद्भुत व्यक्तिगत क्षमता का व्यक्ति था और उसमें असाधारण विभिन्न गुण थे। वह एक वास्तविक व्यक्ति, एक विद्वान्, एक कवि, एक संगीतज्ञ तथा सेनानायक था।"[3] अब उसके विभिन्न गुणों तथा कार्यों को अलग-

---

[1] "Samudragupta, the second Gupta monarch, was one of the most remarkable and accomplished kings of Indian history."
—V. A. Smith.

[2] "Great as were the military laurels won by Samudragupta, his personal accomplishments were no less remarkable. His court-poet extolls his magnanimity towards the fallen, his polished intellect, his knowledge of scriptures, his poetic skill and proficiency in music."
—R C. Majumdar.

[3] "Samudragupta was a man of exceptional personal capacity and unusually varied gifts. He stands forth as a real man, a scholar, musician and a warrior."
—V. A. Smith.

अलग विवेचना कर देना आवश्यक है ।

(१) **महान् विजेता**—समुद्रगुप्त की गणना भारत के महान् विजेताओं में होनी चाहिये । उसने अपने पिता के एक छोटे-से राज्य को, जो केवल साकेत, प्रयाग तथा मगध तक विस्तृत था, एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया । उसने अपनी दिग्विजय द्वारा छिन्न-भिन्न भारत को एक राज-सूत्र में बाँध कर फिर राजनीतिक एकता प्रदान की । उन दिनों जब गमनागमन के साधनों का सर्वथा अभाव था, सम्पूर्ण उत्तरी भारत, मध्य भारत, दक्षिण भारत तथा सीमान्त प्रदेशों को नतमस्तक करना, साधारण योग्यता के व्यक्ति का कार्य न था । सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय कर राजनीतिक एकता स्थापित करने का जो अनुपम आदर्श उसने उपस्थित किया, उसका अनुगमन उसके बाद के सभी महत्त्वाकांक्षी विजेताओं ने किया और हमारी आज की राष्ट्रीय सरकार भी इसी आदर्श से प्रेरित है । एक विजेता के रूप में समुद्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "छः सौ वर्ष पूर्व अशोक के काल से इतने बड़े साम्राज्य पर और किसी ने शासन न किया । वह अपने को भारत का सर्वशक्तिमान् सम्राट् बनाने के महान् कार्य में समर्थ हुआ ।"[1]

(२) **महान् सेनानायक**—समुद्रगुप्त एक महान् सेनानायक भी था । वह अपनी एक मुद्रा में सैनिक के वेश में अस्त्र-शस्त्र धारण किये दिखलाया गया है । समुद्रगुप्त ने जो विजय प्राप्त की वह उसके अपने बाहुबल की विजय थी । अपनी विजय-यात्राओं में वह स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व तथा संचालन करता था और रण-स्थल में स्वयं सैनिकों प्रथम पंक्ति में विद्यमान रहता था और अपने शत्रुओं पर बाज की भाँति टूट पड़ता था । इसी से वह व्याघ्र-पराक्रम, पराक्रमाङ्क आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है । वह समरशत अर्थात् सौ युद्धों का विजेता था और समझा जाता था ।

(३) **राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित**—समुद्रगुप्त न केवल महान् विजेता तथा सेनानायक था वरन् वह बड़ा ही दूरदर्शी तथा कुशल राजनीतिज्ञ भी था । उसने इस बात का अनुभव किया कि उस युग में, जब यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था, एक केन्द्र से सम्पूर्ण भारत का शासन करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव था । अतएव उसने केवल उत्तरी भारत के राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया । शेष राजाओं के साथ उसने प्रचण्ड नीति के स्थान पर उदार नीति का अनुसरण किया और उनके साथ विग्रह करने के स्थान पर अनुग्रह किया । उसने उन्हें अपने साम्राज्य का संरक्षक तथा अपना परम भक्त बना लिया । उसका व्यवहार इन राज्यों के साथ इतना उदार तथा सौजन्यतापूर्ण था कि कभी किसी राजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह करने का साहस न किया ।

---

1. "His empire was greater than any that India had seen since the days of Ashoka for six centuries earlier...He succeeded in accomplishing the formidable task of making himself the paramount power in India."
V. A. Smith.

(४) **सफल शासक**—यद्यपि समुद्रगुप्त एक महान् विजेता तथा सेनानायक के रूप में अधिक प्रसिद्ध है, परन्तु उसमें प्रशासकीय प्रतिभा का अभाव न था। उसके शासन-काल में कभी किसी प्रकार का विद्रोह अथवा विप्लव न हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि अपने साम्राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने में वह पूर्ण रूप से सफल रहा। उसने जितनी मुद्राएँ चलाईं वे सब सोने की हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसका साम्राज्य धन-धान्य से पूर्ण था और उसकी प्रजा सुखी थी। चूंकि उसका साम्राज्य अत्यन्त विशाल था अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उसने प्रान्तीय शासन की भी व्यवस्था की थी, परन्तु उन पर वह अपना नियन्त्रण रखता था। शासन को सुचारु रीति से चलाने के लिए विभागीय-व्यवस्था भी की गई थी और सेना, शासन, न्याय आदि के लिए अलग-अलग विभाग होते थे, जिनके अध्यक्ष नियुक्त रहते थे, समुद्रगुप्त बड़ा ही उदार तथा दयावान् व्यक्ति था, अतएव उसने दीन-दुखियों, अनाथों तथा असहायों की सहायता के लिए भी व्यवस्था की थी।

(५) **महान् साहित्यानुरागी**—समुद्रगुप्त में न केवल उच्च-कोटि की सैनिक तथा प्रकाशकीय प्रतिभा थी वरन् उसमें उच्च-कोटि की मानसिक प्रतिभा भी थी। वह उच्च-कोटि का विद्वान तथा विद्या-व्यसनी था। साहित्य में उसकी बड़ी रुचि थी और वह उच्च-कोटि का लेखक तथा कवि था। वह साहित्यकारों तथा कवियों का आश्रयदाता भी था। सम्भवत; बौद्ध-विद्वान् वसुबन्धु को समुद्रगुप्त का आश्रय प्राप्त था। उसका मन्त्री हरिषेण भी एक उच्च-कोटि का कवि था। वह अपने स्वामी का बड़ा कृपा पात्र था। प्रयाग के स्तम्भ-लेख में हरिषेण ने समुद्रगुप्त की बड़ी प्रशंसा की है। उसने कहा है कि अनेक काव्यों को लिखकर समुद्रगुप्त ने कविराज की उपाधि प्राप्त की थी। वही विद्वानों के मनन करने योग्य है। उसी की काव्य-शैली अध्ययन करने योग्य है और उसी की काव्य-रचनाएँ कवियों के आध्यात्मिक कोष में अभिवृद्धि करती हैं। हरिषेण की इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त को साहित्य से बड़ा प्रेम था। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने समुद्रगुप्त की अलौकिक प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "समुद्रगुप्त अद्भुत प्रतिभा का व्यक्ति था। वह न केवल शस्त्रों में वरन् शास्त्रों में भी कुशल था। वह स्वयं बड़ा ही सुसंस्कृत व्यक्ति था और उसे विद्वानों की संगति बड़ी प्रिय थी।"[1]

(६) **महान् कला-प्रेमी**—समुद्रगुप्त वीणा बजाने में बड़ा कुशल था और संगीत में उसकी बड़ी रुचि थी। उसकी अनेक स्वर्ण-मुद्राएँ वीणाङ्कित हैं। हरिषेण की प्रशस्ति से हमें पता चलता है कि उसने संगीत में नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था। गायन तथा वादन दोनों ही में उसने प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

---

[1] "Samudragupta was versatile genius. He was profieeient not only in war, but also in the sacred lore (Shastras). Himself highly cultured he was fond of the company of the learned."

—Dr. R. S. Tripathi.

(७) **उदार धार्मिक दृष्टिकोण**—समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मण-धर्म तथा यज्ञों की उपयोगिता में अपना विश्वास प्रकट किया। इससे ब्राह्मण-धर्म को राज्य का आश्रय प्राप्त हो गया और वह फिर लोक-धर्म बन गया और उसकी उन्नति होने लगी। समुद्रगुप्त की मुद्राओं में लक्ष्मी की आकृति अङ्कित मिलती है। उसने परम भागवत की उपाधि भी धारण की थी। उसका राज-चिह्न गरुड़ था, जो विष्णु का वाहन है। इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह विष्णु का उपासक था। परन्तु समुद्रगुप्त के धार्मिक विचार संकीर्ण न थे और अन्य धर्मों के साथ वह किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं करता था वरन् वह उनकी भी सहायता करता था। गया में उसने एक बौद्ध-विहार बनवाया था। इससे यही प्रकट होता है कि उसका धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा उदार था और उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी।

(८) **अलौकिक व्यक्तित्व**—समुद्रगुप्त के चरित्र तथा उसके कार्यों का विवेचन करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह साधारण मनुष्य न था वरन् उसे दैवी शक्तियाँ प्राप्त थीं। इसी से उसे अमनुज अर्थात् जो मनुष्य न हो तथा अचिंत्य पुरुष आदि कहा गया है जो लोक तथा समय के अनुकूल कार्य करने के लिए ही मनुष्य का स्वरूप धारण किये था अन्यथा वह धन में कुबेर के समान, न्याय में वरुण के समान, शक्ति में इन्द्र के समान, अजेयता में यम के समान, बुद्धिमत्ता वे बृहस्पति के समान और साधु के लिए उदय (आशा) और असाधु के लिए प्रलय (विनाश) था। अतएव वह देवता का साक्षात् स्वरूप था।

समुद्रगुप्त भारत का नेपोलियन क्यों ?—अंग्रेज इतिहासकार डॉ० विसेन्ट स्मिथ ने समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहा है। उसने लिखा है, "समुद्रगुप्त ने कलाओं के अभ्यास में चाहे जितनी मात्रा में ख्याति प्राप्त की हो, जिससे उसके न्यूनावकाश की शोभा बढ़ी, यह स्पष्ट है कि वह साधारण शक्तियों में संयुक्त न था। वह वास्तव में विलक्षण प्रतिभा का व्यक्ति था और वह भारतीय नेपोलियन कहलाने का अधिकारी है।"[1] इसके विपरीत आयंगर महोदय ने लिखा है, "उसको भारत का नेपोलियन कहना बड़ा ही अनुचित है जो केवल राज्य जीतना ही राजा का कर्त्तव्य समझता था।"[2] अब इन दोनों मतों का समाधान कर देना आवश्यक है।

---

[1] "Whatever may have been exact degree of skill attained by Samudragupta in the practice of arts which graced his scanty leisure, it is clear that he was endowed with no ordinary powers, and that he was in fact a man of genius, who may fairly claim the title of the Indian Napoleon." —V. A. Smith.

[2] "It is most unjust to describe him as a Napoleon who regarded kingdom taking as the duty of the king." —Ayangar.

नेपोलियन यूरोप का एक महान् विजेता तथा सेनानायक था। फ्रांसीसी क्रांति के समय वह फ्रांसीसी सेना का सेनापति था। कालान्तर में उसने सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली और वह फ्रांस का सम्राट्, बन गया। उसने अपने बाहु-बल तथा सैन्य-बल से न केवल फ्रांस की उसके शत्रुओं से रक्षा की वरन् उसने सम्पूर्ण यूरोप को आतंकित कर उसे नत-मस्तक कर दिया। परन्तु अन्त में उसे पराजय का आलिंगन करना पड़ा और उसका अन्त बड़ा ही दुःखद हुआ। ट्राफलगर तथा वाटरलू के सामुद्रिक युद्धों में इंगलैण्ड की सेनाओं ने उसे बुरी तरह परास्त किया और रूस में मास्को से उसकी सेनाओं को हताश होकर वापस लौटना और काल के गाल में चले जाना पड़ा था। उसे अनेक अन्य युद्धों में पराजय का भी आलिंगन करना पड़ा था। अन्त में वह बन्दी बना कर सेन्ट हेलेना के द्वीप में भेज दिया गया, जहाँ अपमान के साथ उसकी जीवन-लीला समाप्त हुई। स्मिथ महोदय ने समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन केवल इस आधार पर कहा है कि जिस प्रकार नेपोलियन एक महान् विजेता तथा सेनानायक था और अपने बाहु-बल तथा रण-कौशल से उसने सम्पूर्ण यूरोप को रौंद डाला था और आतंकित कर दिया था, उसी प्रकार समुद्रगुप्त ने भी अपने अलौकिक पराक्रम से सम्पूर्ण भारत पर विजय प्राप्त कर उसे नत-मस्तक किया था। अतएव स्मिथ के कथन में सत्य का बहुत बड़ा अंश विद्यमान है और समुद्रगुप्त को इस दृष्टिकोण से भारत का नेपोलियन मानने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु दोनों की समानता यहीं समाप्त हो जाती है। दो विभिन्न महान् महाद्वीपों के इन दो महान् योद्धाओं तथा बिजेताओं में बहुत बड़ा अन्तर भी है। नेपोलियन को अपने उद्देश्य में बिलकुल सफलता न प्राप्त हुई। जिस नये साम्राज्य का उसने निर्माण किया वह थोड़े ही समय बाद बिनष्ट हो गया अर्थात् उसकी बिजय क्षणिक सिद्ध हुई। इसके विपरीत समुद्रगुप्त को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उसने जिस नये साम्राज्य का निर्माण किया वह स्थायी सिद्ध हुआ और न केवल उसने स्वयं जीवन-पर्यन्त उसका सुखपूर्वक-उपभोग किया बरन् उसके उत्तराधिकारियों ने भी बहुत दिनों तक उसके मधुर फल को चखा और उसका उपभोग किया। इन दोनों महान विजेताओं में दूसरा अन्तर यह है कि समुद्रगुप्त को अपनी विजय यात्राओं में ट्राफलगर अथवा वाटरलू का कटु अनुभव प्राप्त नहीं करना पड़ा था। न उसे मास्को जैसी दुर्घटना के कटु फल चखने पड़े थे और न दुखान्त प्रत्यावर्तन ही करना पड़ा था। अपनी विजय-यात्रा में सर्वत्र उसने जय-लक्ष्मी का ही आलिंगन किया था, पराजय का नहीं। इनमें तीसरा अन्तर यह है कि नेपोलियन विजय के उपरान्त बिजित प्रदेशों में शान्ति स्थापित न कर सका और शत्रु को मित्र बनाने में वह सर्वथा असफल रहा। इसके विपरीत समुद्रगुप्त ने जिन प्रदेशों को जीता वहाँ पर उसने स्थायी शान्ति स्थापित की और अपने शत्रुओं को भी अभयदान देकर उन्हें अपना मित्र बना लिया। नेपोलियन के विरुद्ध स्पेन तथा जर्मनी ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था परन्तु समुद्रगुप्त को इस प्रकार के किसी आन्दोलन का सामना न करना पड़ा। इसका कारण यह है कि नेपोलियन निरा समर-विजयी योद्धा था।

और उसकी विजय का नैतिक स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का था। इसके विपरीत समुद्रगुप्त एक धर्म-विजयी सम्राट् था और उसकी विजय का नैतिक स्तर ऊँचा था। अन्तिम बात ध्यान देने की यह है कि नेपोलियन के जीवन का अन्त बड़ा ही दुखद था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में उसे कैदी के रूप में एक निर्जन द्वीप में निवास करना पड़ा था और वहीं पर उसके जीवन का निर्मम अन्त हुआ। इसके विपरीत समुद्रगुप्त ने ४० वर्षों के दीर्घकालीन शासन में अपनी विजयों के मधुर फलों का आस्वादन किया था। नेपोलियन तथा समुद्रगुप्त के जीवन में इतना बड़ा अन्तर होने के कारण ही कुछ इतिहासकार स्मिथ के कथन की परिपुष्टि नहीं करते और कहते हैं कि नेपोलियन यूरोप का समुद्रगुप्त हो सकता है, परन्तु समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहना उचित नहीं है। परन्तु स्मिथ ने जिस दृष्टिकोण से इन दोनों विजेताओं की तुलना की है वह ठीक प्रतीत होता है।

रामगुप्त—समुद्रगुप्त के कई पुत्र तथा पौत्र थे। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामगुप्त था जो उसके बाद सिंहासन पर बैठा। सम्भवतः उसके सिंहासन पर बैठते ही शकों ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। रामगुप्त परास्त हो गया और शकों ने उसे कैद कर लिया। विवश होकर रामगुप्त को शकों से सन्धि करनी पड़ी और अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित कर देने की कठोर शर्त को स्वीकार करना पड़ा। परन्तु रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त बड़ा ही वीर, साहसी तथा स्वाभिमानी व्यक्ति था। वह स्वयं ध्रुवदेवी के वेश में स्त्री-वेशधारी योद्धाओं के साथ शकों की सैनिक छावनी में गया और जब शक-राजा ध्रुवदेवी का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़ा तब चन्द्रगुप्त ने उसका वध कर दिया और अपने सैनिकों की सहायता से शकों को फिर अपने साम्राज्य से मार भगाया। रामगुप्त की कायरता तथा कापुरुषता से ध्रुवदेवी को बड़ा क्षोभ हुआ और वह बड़ी लज्जित हुई। अपने देवर चन्द्रगुप्त के गुण से आकृष्ट होकर वह उस पर आसक्त हो गई। षड्यन्त्र रचकर चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त का वध कर दिया और ध्रुवदेवी के साथ अपना विवाह कर वह स्वयं गुप्त साम्राज्य का सम्राट् बन गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७४-४१३)—चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त की रानी-दत्तदेवी का पुत्र था। वह बड़ा ही वीर तथा पराक्रमी व्यक्ति था। इसी से उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् विक्रम तथा आदित्य। विक्रम का अर्थ होता है पराक्रम अथवा प्रताप और आदित्य का अर्थ होता है सूर्य। विक्रमादित्य उस व्यक्ति को कहते हैं जो सूर्य के समान प्रतापी हो। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने ऐश्वर्य तथा प्रताप को उसी प्रकार फैलाना आरम्भ किया जिस प्रकार सूर्य अपने आलोक को सम्पूर्ण विश्व में फैला देता है।

वैवाहिक सम्बन्ध—अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। नाग-वंश के साथ गुप्त-वंश का वैमनस्य बहुत दिनों से चला आ रहा था। इस वैमनस्य को समाप्त करने के लिए नाग-वंश की राजकुमारी कुबेर नाग के साथ अपना विवाह

कर लिया । कुबेर नाग से प्रभावती नामक कन्या उत्पन्न हुई थी । इसका विवाह चन्द्रगुप्त ने बरार के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया । यह विवाह चन्द्रगुप्त ने गुजरात तथा सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों पर विजय प्राप्त करने के पूर्व किया था । अतएव डॉ० स्मिथ की धारणा है कि शकों पर विजय प्राप्त करने में रुद्रसेन से चन्द्रगुप्त को बड़ी सहायता मिली होगी । अतएव इस विवाह का भी बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व है । चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र का विवाह बम्बई प्रान्त में स्थित कुन्तल के शक्तिशाली राजा काकुस्थवर्मन की कन्या के साथ किया । इस विवाह का भी बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व था । इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने तथा अपने प्रभाव एवं शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय—चन्द्रगुप्त को अपने पिता से एक अत्यन्त विशाल तथा सुसंगठित साम्राज्य प्राप्त हुआ । अतएव उसे साम्राज्य-स्थापना के लिए कोई युद्ध न करना पड़ा परन्तु इस विशाल साम्राज्य की सुरक्षा तथा उसे सुसंगठित बनाये रखने और अपने साम्राज्य की सीमा को बढ़ाने के लिए उसे निम्नलिखित युद्ध करने पड़े :—

(१) **गण-राज्यों का विनाश**—गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर में गण-राज्यों की एक पतली पंक्ति थी । समुद्रगुप्त ने इन राज्यों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था । परन्तु इन्हें गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था । यह राज्य बड़े ही स्वतंत्रता-प्रेमी थे और अपने को स्वतन्त्र बनाये रखने का प्रयास किया करते थे । अपने साम्राज्य की सीमा पर ऐसे राज्यों की स्थिति, जिनमें गणतन्त्रात्मक व्यवस्था थी । चन्द्रगुप्त ने इसे उचित न समझा । इसके अतिरिक्त इन गण-राज्यों में बाह्य आक्रमणों को रोकने की शक्ति न थी । अतएव चन्द्रगुप्त ने इन गण-राज्यों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें परास्त कर गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया ।

(२) **शक-क्षत्रपों का अन्त**—गण-राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त का ध्यान उन शक-क्षत्रपों की ओर गया जो मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र में शासन कर रहे थे । यद्यपि इन क्षत्रपों ने समुद्रगुप्त के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था परन्तु चन्द्रगुप्त ने इस बात का अनुभव किया कि अपने साम्राज्य के निकट विदेशी शासन की स्थिति कभी भी घातक सिद्ध हो सकती है । अतएव उसने उन पर आक्रमण कर दिया और शक राजा रुद्रसिंह को परास्त कर तथा उसकी हत्या करवा कर उसके राज्य को गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया । अपनी विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने चाँदी की मुद्राएँ चलवाईं । इसके पूर्व के गुप्त-सम्राटों ने केवल सोने की मुद्राएँ चलवाई थीं । इस विजय से गुप्त-साम्राज्य की सीमा पश्चिमी समुद्र-तट तक पहुँच गई, जिससे विदेशों के साथ भारत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ गया । इसके अतिरिक्त व्यापार में भी वृद्धि हो गई । मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र के प्रान्त बड़े उपजाऊ तथा धन-सम्पन्न थे । अतएव न केवल गुप्त-साम्राज्य की सीमा वरन् उसके कोष में भी वृद्धि हो गई ।

(३) **पूर्वी प्रदेश पर विजय**—गुप्त-साम्राज़्य की पूर्वी सोमा पर कई छोटे-छोटे राज्य थे जो गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए संगठन कर रहे थे। मेहरौली के स्तम्भ-लेख से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने इन्हें परास्त कर यश प्राप्त किया था।

(३) **वाह्लीक-राज्य पर आक्रमण**—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कुषाणों के वंशज अब भी शासन कर रहे थे। मेहरौली के स्तम्भ-लेख से हमें पता लगता है कि चन्द्रगुप्त ने सिन्धु की सहायक नदियो को पार कर वाह्लीकों को परास्त किया था और पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर वाह्लीकों को काबुल के उस पार भगा दिया था। सम्भवतः अपनी इन सब विजयों के उपरान्त ही चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी।

(५) **दक्षिणापथ पर पुनर्विजय**—मेहरौली के स्तम्भ-लेख से हमें ज्ञात होता है कि सम्भवतः रामगुप्त के शासनकाल में दक्षिण-भारत के राज्यों ने गुप्त साम्राज़्य की सत्ता को अस्वीकार कर दिया था परन्तु चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम तथा प्रताप के बल से फिर गुप्त-साम्राज्य की सत्ता दक्षिण में स्थापित की।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-प्रबन्ध—साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ चन्द्रगुप्त ने अपने शासन को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का शासन बड़ा ही उदार तथा दयालु था। उसके शासन की रूपरेखा निम्नांकित थी :—

(१) **सम्राट्**—चन्द्रगुप्त स्वयं राज्य का प्रधान था और केन्द्र से ही सम्पूर्ण राज्य के शासन पर नियंत्रण रखता था। वह स्वयं अपनी सेना का प्रधान सेनापति होता था और युद्ध के समय रण-क्षेत्र में उपस्थित रहता था। सम्राट् न्याय विभाग का भी प्रधान होता था और उसका निर्णय अन्तिम समझा जाता था इस प्रकार सेना, शासन तथा न्याय तीनों ही केन्द्र-बिन्दु स्वयं सम्राट् होता था।

(२) **मन्त्री**—सम्राट् को परामर्श देने तथा शासन में सहायता पहुँचाने के लिए मन्त्री होते थे। चन्द्रगुप्त का प्रधान परामर्शदाता 'मन्त्रिन्' कहलाता था एक मन्त्री सन्धि तथा विग्रह (युद्ध) के लिए होता था, जो 'सान्धिविग्रहिक' कहलाता था। यह मन्त्री युद्ध के समय रण-स्थल में सम्राट् के साथ उपस्थित रहता था। चन्द्रगुप्त का मन्त्री वीरसेन अपने स्वामी के साथ क्षत्रपों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए गया था। एक मन्त्री राज-पत्रों को रखता था जो 'अक्षपटल अधिकृत' कहलाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना तथा शासन के अधिकारियों में कोई अंतर न था और जो मन्त्री शासन को देखता था वही सैन्य-विभाग को भी सँभालता था।

शासन की विभिन्न इकाइयाँ—शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त 'देश' अथवा 'भुक्ति' कहलाता था। देश का शासन 'गोत्री' और भुक्ति का 'उपरिक' कहलाता था। कुछ प्रान्तों के शासक राजकुमार हुआ करते थे।

प्रत्येक प्रान्त कई जिलों में विभक्त रहता था। ये जिले 'प्रदेश' अथवा 'विषय' कहलाते थे। इनका शासक 'विषयपति' कहलाता था।

प्रत्येक विषय कई ग्रामों में विभक्त रहता था। गाँव का शासक 'ग्रामिक' अथवा **'भोजक'** कहलाता था। इस पद पर गाँव के चौधरी अथवा मुखिया ही नियुक्त किये जाते थे। इनकी सहायता के लिए ग्राम-वृद्धों की पंचायतें हुआ करती थीं।

(४) **दंड-विधान**—चन्द्रगुप्त बड़ा ही उदार तथा दयालु शासक था। अतएव उसका दंड-विधान कठोर न था। दंड अपराध के अनुसार दिया जाता था। साधारण अपराध के लिए साधारण जुर्माना और बड़े-बड़े अपराधों के लिए बड़े-बड़े जुर्माने होते थे। अंग-भंग का दंड नहीं दिया जाता था। केवल राजद्रोहियों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। प्राण-दंड नहीं दिया जाता था।

(५) **व्यापार तथा वाणिज्य**—चन्द्रगुप्त के शासन-काल में बाह्य तथा आन्तरिक व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। उसका साम्राज्य पश्चिमी समुद्र-तट तक फैला था। इससे भारत का विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। बंगाल से सूती तथा रेशमी कपड़े, बिहार से नील, हिमालय प्रदेश से अंगराग तथा दक्षिण-भारत से कपूर, चन्दन और मसाले पश्चिमी समुद्र-तट पर लाये जाते थे और रोम राज्य को भेजे जाते थे जहाँ से बहुत-सा सोना प्रतिवर्ष भारत आता था।

(६) **मुद्राएँ**—साधारण-व्यापार में कौड़ी का प्रयोग किया जाता था। परन्तु बड़े-बड़े व्यापारों में धातु-मुद्राओं का प्रयोग होता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने तीन प्रकार की मुद्राएं चलाई थीं। उत्तर-भारत में सोने तथा ताँबे की मुद्राएँ प्रचलित थीं परन्तु गुजरात तथा काठियावाड़ में चाँदी की मुद्राओं का प्रयोग किया जाता था।

(७) **धार्मिक सहिष्णुता**—यद्यपि चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव था। परन्तु अन्य संप्रदायों के साथ भी वह बड़ा ही सहिष्णु था। सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ वह योग्यता के आधार पर किया करता था। अतएव सरकारी नौकरियों के द्वार सभी संप्रदाय वालों के लिए खुले रहते थे। चन्द्रगुप्त का सेनापति बौद्ध और उसका एक मन्त्री वैश्य था।

(८) **दान-व्यवस्था**—सम्राट् चन्द्रगुप्त बड़ा ही उदार तथा दानी था और अनाथों तथा दीन-दुखियों की वह सदैव सहायता किया करता था। उसने दान का अलग विभाग खोल दिया था और उसके प्रबन्ध के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त कर दिया था।

फाहियान का परिचय—चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में चीनी यात्री फाहियान भारत आया था। उसका बचपन का नाम कुङ् था। जब वह केवल दस वर्ष का था तब उसके पिता का परलोकवास हो गया अतएव कुङ् के पालन-पोषण का भार उसके चाचा पर पड़ा। उसका चाचा उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराना चाहता था, परन्तु कुङ् ने भिक्षु बनने का संकल्प कर लिया था। पिता की मृत्यु के कुछ ही समय उपरान्त कुङ् की माता का भी परलोकवास हो गया। माता तथा पिता के स्नेह से वंचित हो जाने के कारण कुङ् गृहस्थ-जीवन से बिल्कुल विमुख हो गया। बड़े होने पर उसने संन्यास ले लिया और इसी समय वह फाहियान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फाहियान दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् फा तथा हियान। चीनी भाषा

में फा का अर्थ है धर्म और हियान का अर्थ होता है आचार्य। अतएव फाहियान का अर्थ हुआ धर्माचार्य। चीन में उस समय तक बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया था। फाहियान बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गया था। जब उसने बौद्ध-ग्रन्थ 'त्रिपिटक' तथा 'विनय पिटक' का अध्ययन किया तो वे उसे अधूरे तथा क्रमहीन प्रतीत हुए। अतएव उसने उनकी प्रामाणिक प्रतियाँ प्राप्त करने तथा बौद्ध-धर्म की जन्मभूमि का दर्शन करने के लिए भारत आने का निश्चय किया। फलतः ४०० ई० में चार अन्य भिक्षुओं के साथ उसने भारत आने के लिए प्रस्थान कर दिया। मार्ग की भयानक कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह गान्धार पहुँचा। वहाँ से वह तक्षशिला गया और वहाँ से पुष्पपुर अथवा पेशावर पहुँचा। अब उसका केवल एक साथी उसके साथ रह गया था और शेष दो अपने देश को लौट गए थे। पेशावर से फाहियान मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगृह, काशी, सारनाथ आदि नगरों का दर्शन करता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। यहाँ पर उसने दो वर्ष तक निवास किया। ताम्रलिप्ति से वह सिंहलद्वीप अर्थात् श्रीलंका गया। वहाँ से वह जावा गया और जावा से फिर अपने देश को लौट गया। ४१४ ई० में वह चीन पहुँच गया। ४०५ ई० में उसने भारत में प्रवेश किया था और ४११ ई० में उसने भारत से प्रस्थान किया था। इस प्रकार लगभग ६ वर्ष तक वह भारत में रहा और लगभग चौदह वर्ष तक यात्रा करता रहा। जब फाहियान अपने देश पहुँचा तब उसने अपनी यात्रा का वर्णन अपने एक मित्र को कह सुनाया जिसने उसे लेख-बद्ध कर दिया। उसका भारतीय विवरण प्राचीन भारत का इतिहास जानने का अच्छा साधन है।

फाहियान का भारतीय विवरण—फाहियान ४०५ से ४११ ई० अर्थात् लगभग छः वर्षों तक भारतवर्ष में रहा और भारत के विभिन्न भागों में भ्रमण किया। यद्यपि वह बौद्ध-ग्रन्थों को प्राप्त करने तथा तीर्थ स्थानों का दर्शन करने के लिए भारत आया था परन्तु उसके विवरण से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

(१) राजनीतिक दशा—फाहियान लिखता है कि राज्य का मुख्य उद्देश्य प्रजा के जीवन को सुखी बनाना था। चीनी यात्री के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का शासन बड़ा अच्छा था और उसकी प्रजा बड़ी सुखी तथा सम्पन्न थी। प्रजा को बड़ी स्वतन्त्रता थी और राजा उसके कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। लोग स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवसाय करके धन कमा सकते थे। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग होता था। बड़े-बड़े नगरों में राज्य की ओर से औषधालयों का प्रबन्ध रहता था, जहाँ लोगो को मुफ्त दवा मिलती थी। राज्य-कर बहुत थोड़े थे। अतएव प्रजा को बहुत कम कर देने पड़ते थे। भूमि-कर राज्य की आय का प्रधान साधन था। दण्ड-विधान कठोर न था। अपराधियों को प्रायः जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। राजद्रोहियों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था परन्तु प्राण-दण्ड कभी नहीं दिया जाता था। देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था थी। लोगों को चोरी तथा ठगी का बिल्कुल भय न था। राजा से उसकी प्रजा प्रेम करती थी। यात्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था

और उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यात्रियों की सुविधा के लिए सड़कें बनी थीं और उनके किनारे पर छायादार वृक्ष लगे थे। स्थान-स्थान पर कुएँ खुदे रहते थे और धर्मशालाएँ बनी रहती थीं, जिनमें यात्रियों को मुफ्त भोजन मिलता था।

(२) **सामाजिक दशा**—फाहियान के विवरण से भारत की सामाजिक दशा का भी पर्याप्त परिचय मिल जाता है। उसने लिखा है कि उत्तरी भारत के लोग बड़े धर्मात्मा तथा धन-सम्पन्न थे। वे बड़े सदाचारी तथा विद्या-प्रेमी थे। वे एक दूसरे के सहानुभूति रखते थे और एक दूसरे की सहायता करने के लिए उद्यत रहते थे। वे सत्यवादी होते थे और अपने व्यवहार में सत्य का पालन करते थे। लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति के होते थे और सज्जन लोग न तो आखेट करते थे और न मांस, लहसुन, प्याज, मदिरा आदि का सेवन करते थे। नगरों में इन वस्तुओं की दुकान तक न होती थी। इन वस्तुओं का प्रयोग केवल चाण्डाल लोग तथा नीच जातियाँ करती थीं। उन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था और उन्हें लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। सुअर तथा मुर्गियों को केवल नीच लोग पालते थे।

(३) **धार्मिक दशा**—फाहियान के विवरण से भारत की तत्कालीन धार्मिक दशा का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। उसके विवरण से हमें ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म इस समय बड़ी उन्नत दशा में था और मध्य भारत में उसका बड़ा जोर था। सम्राट् चन्द्रगुप्त स्वयं परम भागवत तथा वैष्णव-धर्म का अनुयायी था। परन्तु पंजाब, मथुरा तथा बंगाल में बौद्ध-धर्म की प्रधानता थी और महायान तथा हीनयान दोनों ही सम्प्रदाय विद्यमान थे। फाहियान ने स्वयं देश के विभिन्न भागों में अनेक बौद्ध-विहार देखे थे। परन्तु बौद्ध-धर्म अब अधःपतन की ओर जा रहा था और मध्य-भारत में तो इसका प्रभाव समाप्त-सा हो रहा था। यद्यपि गुप्त सम्राट् ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था परन्तु अन्य धर्मों के साथ वह सहिष्णुता का व्यवहार करता था। वह बौद्ध-धर्म को मानने वालों के साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करता था। सभी सम्प्रदाय वाले मेल-जोल के साथ रहते थे और उनमें ईर्ष्या-द्वेष की भावना बिल्कुल न थी। सम्राट् ब्राह्मणों के साथ-साथ बौद्धों को भी दान-दक्षिणा दिया करता था।

(४) **पाटलिपुत्र की दशा**— फाहियान गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में तीन वर्ष तक रहा और वहाँ पर उसने संस्कृत सीखने का प्रयत्न किया। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र में दो बड़े ही सुन्दर बौद्ध-बिहार थे। इनमें से एक हीनयान सम्प्रदाय का था और दूसरा महायान सम्प्रदाय का। इन बिहारों में लगभग छः सात सौ भिक्षु निवास करते थे। भिक्षु बड़े ज्ञानवान् होते थे और समाज के विभिन्न भागों से लोग ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन विद्वान् भिक्षुओं के पास आया करते थे। फाहियान ने पाटलिपुत्र में अशोक के बनवाये हुए सुन्दर भवन को देखा था। इस भवन को सुन्दरता से वह आश्चर्यचकित हो गया था और उसने सोचा कि वह देवताओं द्वारा बनाया गया है क्योंकि मनुष्य ऐसे भव्य-भवन का निर्माण नहीं कर

सकता था। फाहियान लिखता है कि नगर में बड़े धनी तथा दानी लोग निवास करते थे। नगर में अनेक संस्थाएँ थीं जहाँ दीन-दुखियों, अपाहिजों तथा असहायों को दान मिलता था। पाटलिपुत्र में एक बहुत बड़ा औषधालय था, जहाँ दीन-दुखियों को मुफ्त दवा मिलती थी। औषधालय का व्यय नगर के धनी-मानी तथा दानी व्यक्ति चलाते थे।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कार्यों का मूल्यांकन—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की गणना भारत के अत्यन्त योग्य तथा सफल शासकों में होती है। उसने अपने पिता के साम्राज्य को न केवल सुरक्षित तथा सुसंगठित रक्खा वरन् उसने उसकी सीमाओं में वृद्धि भी की। उसने शक-क्षत्रपों को परास्त कर मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र को गुप्त-साम्राज्य में मिलाया। उसने वाह्लीकों को पश्चिमोत्तर प्रदेश से मार भगाया और पश्चिम के गणराज्यों को गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित किया। उसने पूर्व की ओर भी गुप्त-साम्राज्य की सीमा में वृद्धि की। दक्षिण भारत पर भी उसने गुप्त-साम्राज्य की सत्ता को फिर से स्थापित किया। इस प्रकार एक विजेता के रूप में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का स्थान बड़ा ऊँचा है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बहुत बड़ा कूटनीतिक भी था और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकता था। उसने नारी का वेश धारण कर शक-राजा की हत्या की और अपने भाई रामगुप्त का वध कर पाटलिपुत्र का सिंहासन प्राप्त किया और नाग-वंश तथा वाकाटक-वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपनी स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ बनाया। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि राजनीति का वह बहुत बड़ा पण्डित था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य न केवल एक महान विजेता तथा कूटनीतिक था वरन् वह बड़ा ही कुशल शासक भी था। फाहियान के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि उसकी प्रजा बड़ी सुखी थी और उससे बड़ा प्रेम करती थी। उसका शासन बड़ा ही उदार था और वह बड़ा न्याय-प्रिय था। उसका दंड-विधान कठोर न था और मृत्यु-दंड का सर्वथा निषेध था। यद्यपि चन्द्रगुप्त वैष्णव-धर्म का उपासक था परन्तु उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और सरकारी नौकरियों के द्वार सभी के लिए खुले रहते थे। उसका सेनापति एक बौद्ध था और उसका सन्धि-विग्रह-मन्त्री शिव का उपासक था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य साहित्य का भी बड़ा प्रेमी तथा साहित्यकारों का आश्रय-दाता था। कहा जाता है कि उसकी सभा में नौ महान् विद्वान् थे जो 'नवरत्न' कहलाते थे। इनमें कालिदास सर्वश्रेष्ठ थे। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में संस्कृत भाषा की बड़ी उन्नति हुई और उसमें अनेक उच्च-कोटि के ग्रन्थ लिखे गये।

उपर्युक्त विवरण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बड़ा ही योग्य तथा सफल शासक था और राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टिकोणों से वह बहुत बड़ा महत्त्व रखता है।

कुमारगुप्त प्रथम (४१४-४५५)—चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त

उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम सिंहासन पर बैठा। अभिलेखों से पता चलता है कि वह अपने पूर्वजों के विशाल साम्राज्य को सुरक्षित तथा संगठित रख सका था। मुद्राओं से ज्ञात होता है कि उसने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था। कुमारगुप्त के शासन-काल के अंतिम भाग में पुष्यमित्र वंशी लोगों ने, जो नर्मदा नदी के उद्गम के निकट निवास करते थे, गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया, परन्तु कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ उसका सामना किया और उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। कुमारगुप्त ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। यद्यपि वह स्वयं कार्तिकेय का उपासक था परन्तु अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ वह उदारता का व्यवहार करता था। ४५५ ई० में कुमारगुप्त का परलोकवास हो गया।

स्कन्दगुप्त (४५५-४६७)—अपने पिता कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर बैठते ही उसे भयानक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, क्योंकि हूणों ने सिन्धु नदी को पार कर उसके साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ उनका सामना किया और उन्हें परास्त कर दिया। स्कन्दगुप्त की इस सेवा का वर्णन करते हुए श्री वी० पी० सिन्हा ने लिखा, "यदि चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों की दासता के बंधन से देश को मुक्त किया, यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विदेशी शकों की शक्ति का विनाश किया तो स्कन्दगुप्त ने हूणों से साम्राज्य तथा देश की रक्षा की।"[1] परन्तु हूणों के आक्रमण बन्द न हुए और स्कन्दगुप्त को जीवन-पर्यन्त उनके साथ संघर्ष करना पड़ा। स्कन्दगुप्त ने अपने शासन-काल में सुदर्शन झील की मरम्मत कराई थी, जिसका पुल टूट गया था। स्कन्दगुप्त स्वयं वैष्णव-धर्म का अनुयायी था, परन्तु अपने पूर्वजों की भाँति उसने भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया था। यद्यपि स्कन्दगुप्त का काल भयानक आपत्तियों का काल था, परन्तु वह अपने पूर्वजों के साम्राज्य को सुरक्षित रखने में सफल हो सका था।

उत्तरकालीन गुप्त सम्राट्—स्कन्दगुप्त के बाद उसका सौतेला भाई पुरगुप्त वृद्धावस्था में सिंहासन पर बैठा। पुरगुप्त साम्राज्य को विशृंखलित होने से बचा न सका। उसका चाचा गोविन्दगुप्त, जो मालवा में शासन करता था, स्वतन्त्र हो गया। उसकी देखा-देखी अन्य प्रान्तपति भी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। उनके बाद ४६८ ई० के पूर्व ही उसका शासन समाप्त हो गया। उसके बाद कई शक्तिहीन राजा हुए जो गुप्त-साम्राज्य को पतन से बचा न सके और ५५० ई० तक गुप्त-साम्राज्य विनष्ट हो गया।

---

[1] "If Chandragupta Maurya liberated the country from the yoke of the servitude of the Greeks, if Chandagupta II destroyed the power of the foreign Sakas, Skandgupta saved the empire and the country from occupation of the Huns."

—B. P. Sinha.

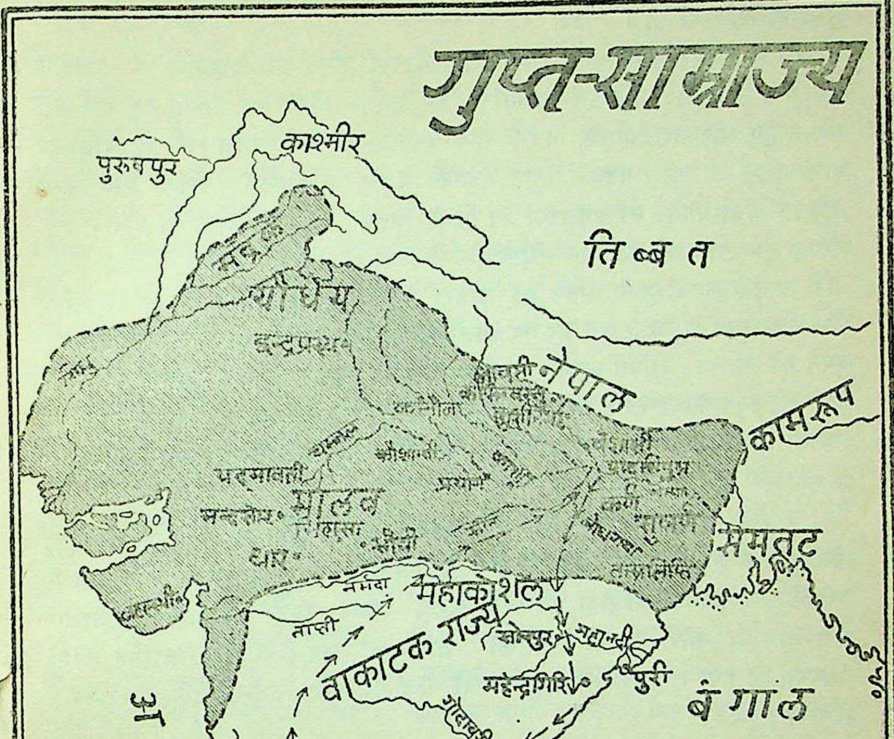
गुप्त-साम्राज्य
पुरुषपुर
काश्मीर
तिब्बत
यौधेय
इन्द्रप्रस्थ
नेपाल
कामरूप
कन्नौज
कौशाम्बी
प्रयाग
पद्मावती
मालव
मन्दसोर
विदिशा
धार
समतट
ताम्रलिप्ति
नर्मदा
ताप्ती
महाकोशल
वाकाटक राज्य
महानदी
महेन्द्रगिरि
पुरी
गोदावरी
वेङ्गीपुर
पल्लव
काँची
कावेरी
चोल
तंजौर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर
▨ गुप्त साम्राज्य
→ समुद्रगुप्त की विजय यात्रा

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण—गुप्त साम्राज्य के पतन का सर्वप्रथम कारण यह था कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त जितने गुप्त-सम्राट् हुए वे बड़े ही अयोग्य तथा शक्तिहीन थे और विशाल गुप्त-साम्राज्य को सुरक्षित रखने की उनमें क्षमता न थी। केन्द्रीभूत शासन की सुरक्षा तथा सुदृढ़ता सम्राट् की योग्यता पर ही

निर्भर रहती है। अतएव अयोग्य शासकों के शासन-काल में साम्राज्य का छिन्न-भिन्न हो जाना अनिवार्य था।

गुप्त-साम्राज्य के पतन का दूसरा कारण हूणों का आक्रमण था। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने सफलतापूर्वक इन आक्रमणों का सामना किया था परन्तु यह आक्रमण बन्द न हुए और उत्तरकालीन निर्बल गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में यह आक्रमण और अधिक बढ़ गये। परवर्ती गुप्त-सम्राटों ने इन आक्रमणों के रोकने लिए किसी निश्चित सीमा-नीति का अनुसरण न किया अतएव वे उत्तरी बाढ़ को रोक न सके और न गुप्त-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा ही सके।

गुप्त-साम्राज्य के पतन का तीसरा कारण प्रान्तपतियों की महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। स्कन्दगुप्त के बाद जब अयोग्य शासक सिंहासन पर बैठे तब इन प्रान्तपतियों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करना आरम्भ किया। सबसे पहले बल्लभी के मैत्रकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसके बाद सौराष्ट्र, मालवा, बङ्गाल आदि के शासकों ने भी अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया जिससे गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गुप्त-साम्राज्य के पतन का चौथा कारण आर्थिक विपन्नता थी। यह विपन्नता स्कन्दगुप्त के शासन-काल में ही आरम्भ हो गई थी। बाह्य-आक्रमणों को रोकने में परवर्ती गुप्त-सम्राटों को बड़ा धन व्यय करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि राज-कोष धीरे-धीरे रिक्त हो गया और शासन को सुचारु रीति से संचालित करना असम्भव हो गया। फलतः सर्वत्र कुव्यवस्था फैल गई और गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गुप्त-साम्राज्य के पतन का पाँचवाँ तथा अन्तिम कारण यह था कि गुप्त वंश के परवर्ती शासकों ने ब्राह्मण-धर्म त्याग कर बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। बौद्ध-धर्म अहिंसा-धर्म है अतएव वह सैनिक-शक्ति को बल नहीं प्रदान करता। इसका परिणाम यह हुआ कि गुप्त-साम्राज्य की सैनिक-शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती गई और अन्त में वह प्रबल शत्रुओं का शिकार बन गया और विनष्ट हो गया।

हूणों का परिचय—गुप्त-साम्राज्य के पतन में हूणों के आक्रमणों से बड़ा योग मिला। अतएव हूणों का परिचय, उनके आक्रमणों का संक्षिप्त विवरण तथा इन आक्रमणों के प्रभाव पर प्रकाश डाल देना स्थान-संगत होगा।

हूण कौन थे ?—हूण लोग मूलतः चीन के निवासी थे। चीनी भाषा में इन्हें हिंगनू के नाम से पुकारा गया है। संस्कृत-साहित्य तथा अभिलेखों में इन्हें हूण कहा गया है। हूण लोग मंगोल जाति के और सिथियनों की एक शाखा के थे। यह लोग बड़े ही असभ्य, निर्दय तथा रक्त-पिपासु होते थे। यह लोग बड़े लड़ाकू होते थे और युद्ध-कला में बड़े कुशल होते थे। लूट-मार इनका मुख्य व्यवसाय था और इसके लिए उनकी अपनी एक विशाल सेना थी। अपने शत्रुओं का रक्तपात करने, उनकी सम्पत्ति को लूटने तथा उसे जला कर नष्ट कर देने में उन्हें लेश-मात्र भी संकोच न होता था।

हूणों का पर्यटन—हूण लोग खानाबदोश थे अर्थात् वे एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे वरन् वे एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा करते थे। लगभग १६५ ई० पू० में यह लोग यूचियों पर टूट पड़े और उन्हें उत्तरी-पश्चिमी चीन से मार भगाया परन्तु हूण लोग इस नये प्रदेश में भी स्थायी रूप से न रह सके। इनकी जन-संख्या में वृद्धि हुई और वे वहाँ पर समा न सके। अपनी लूट-खसोट की नीति तथा पर्यटनशील स्वभाव के कारण भी ये लोग धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ते गये। कालान्तर में ये दो शाखाओं में विभक्त हो गये। एक शाखा सीधे यूरोप की ओर चली गई और रोम-साम्राज्य पर टूट पड़ी और उसे रौंदना आरम्भ कर दिया। इनकी दूसरी शाखा ने आक्सस नदी को पार किया और फारस में प्रवेश कर उसे लूटना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में यह लोग अफ़गानिस्तान में प्रवेश कर गये और भारत की सीमा पर आ डटे।

भारत पर आक्रमण—भारत पर हूणों का पहला आक्रमण स्कन्दगुप्त के शासन के प्रारम्भिक भाग में लगभग ४८६ ई० में हुआ था। स्कन्दगुप्त ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ इनका सामना किया और विवश होकर हूणों को पीछे लौट जाना पड़ा। कुछ समय तक हूण लोग फारस-राज्य को लूटते रहे। इसके बाद पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने फिर भारत पर आक्रमण कर दिया। तोरमाण ने सबसे पहले गान्धार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद तोरमाण ने गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने मालवा पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार भारत के पश्चिमी-प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने साकल अर्थात् स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया और वहीं से शासन करने लगा।

तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल शासक हुआ। वह बड़ा ही निर्दयी तथा रक्त-पिपासु था। ह्वेनसांग से हमें पता लगता है कि बौद्धों के साथ उसने बड़ा अत्याचार किया था। उसने उनके मठों, विहारों तथा स्तूपों को लूटा और बड़ी निर्दयता के साथ उनका वध कराया। मिहिरकुल ने अपने मद में चूर होकर गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। इन दिनों गुप्त-साम्राज्य पर भानुगुप्त बालादित्य शासन कर रहा था। उसने मिहिरकुल को बुरी तरह परास्त किया और उसे बन्दी बना लिया। परन्तु बाद में उसने उसे मुक्त कर दिया। इसी समय मिहिरकुल को एक दूसरे संकट का सामना करना पड़ा। यशोवर्मन नामक एक प्रतापी राजा ने मालवा पर आक्रमण कर दिया और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर मिहिरकुल को वहाँ से मार भगाया अब शरण की खोज में मिहिरकुल काश्मीर गया। काश्मीर के राजा ने दया करके उसे शरण दे दी परन्तु मिहिरकुल ने उसके साथ विश्वासघात कर काश्मीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस विश्वासघात के बाद मिहिरकुल अधिक दिनों तक जीवित न रहा और एक वर्ष के भीतर ही उसका परलोकवास हो गया।

हूणों का पतन—मिहिरकुल की मृत्यु के उपरान्त हूणों का पतन आरम्भ

हो गया। उसके उत्तराधिकारी बड़े ही निकम्मे तथा अयोग्य थे जो उसके राज्य को सँभाल न सके। जब भारत में राजपूतों का उत्कर्ष आरम्भ हुआ तो उन्होंने हूणों का विनाश आरम्भ कर दिया। उत्तर-पश्चिम की ओर से तुर्कों ने उन्हें दबाना आरम्भ किया। इस प्रकार दो प्रबल शक्तियों के बीच पड़कर हूण लोग पिस गये और उनकी राजनीतिक शक्ति समाप्त हो गई। राजनीतिक शक्ति समाप्त हो जाने पर हूण लोग भारतीयों में घुल-मिल गये और अपना अस्तित्व खो बैठे।

हूणों का प्रभाव—हूण लोग भारत में एक भयंकर आँधी की भाँति आये थे और थोड़े ही दिनों में उनकी सत्ता समाप्त हो गई परन्तु भारतीयों के नैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर उनका प्रभाव पड़े बिना न रहा। हूणों के आक्रमणों का राजनीतिक प्रभाव यह पड़ा कि गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके स्थान पर छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई। इस प्रकार भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई।

हूणों के आक्रमण का धार्मिक प्रभाव यह पड़ा कि बौद्ध-धर्म को बहुत बड़ा धक्का लगा और वह अन्तिम श्वास लेने लगा। हूणों ने बौद्धों का बड़ी क्रूरता के साथ वध किया और उनके मठों तथा विहारों को लूटा तथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

हूणों के आक्रमण का भारतीय संस्कृति पर भी बहुत विनाशकारी प्रभाव पड़ा हूण बड़े ही असभ्य तथा बर्बर थे। उन्होंने मन्दिरों, मठों, स्तूपों, विहारों आदि का विध्वंस कर भारतीय कला को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई। वे जहाँ कहीं जाते थे वहीं आग लगा देते थे और उस प्रदेश को उजाड़ देते थे इससे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को बहुत बड़ी हानि पहुँची।

हूणों के आक्रमण का भारतीय समाज पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। इनके कारण भारतीय समाज में बहुत-सी कुप्रथाएँ तथा अन्ध-विश्वास प्रचलित हो गये। भारतीय समाज में बहुत सी उपजातियाँ भी बन गईं परन्तु अन्त में ये लोग भारतीयों में घुल-मिल गये और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति में इस प्रकार रँग गये कि अब उनका कहीं नाम व निशान तक नहीं है।

गुप्तकालीन भारत—गुप्तकाल का भारतीय इतिहास में बहुत महत्त्व है। यह भारत का दूसरा विशाल साम्राज्य था। इस युग में भारत को जो राजनीतिक एकता प्राप्त हुई वह उसे इसके पूर्व कभी न प्राप्त थी। भारत के छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर इस विशाल साम्राज्य की स्थापना की गई थी। इस काल में विदेशी शासकों से सफलतापूर्वक युद्ध किया गया और उन्हें भारत-भूमि से निष्कासित करने का प्रयत्न किया गया। इस युग में बड़े ही प्रतापी राजा हुए जिन्होंने अपनी सैनिक तथा प्रशासकीय प्रतिभा से भारत के मस्तक को ऊँचा उठाया।

न केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से वरन् सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी इस काल का बहुत बड़ा गौरव है। इसी से स्मिथ महोदय ने लिखा है, "अतएव यह स्पष्ट है कि गुप्त-वंश के योग्य तथा लम्बे शासन-काल

में बौद्धिक सक्रियता का असाधारण विस्फोट हुआ।''[1] गुप्त-कालीन समाज में आत्मसात् करने की अपूर्व क्षमता थो। यही कारण है कि शक, कुषाण, पल्लव आदि विदेशी, जो गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत में प्रविष्ट हुए थे, भारतीयों में घुल-मिल गये और अपने अस्तित्व खो बैठे। धार्मिक क्षेत्र में यह अनुपम धार्मिक सहिष्णुता का युग था। यद्यपि गुप्त-सम्राट् ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, और इसी को उन्होंने राज-धर्म बनाया था परन्तु अन्य धर्मों के साथ उन्होंने किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। इतना ही नहीं, सरकारी नौकरियों का द्वार सभी धर्म वालों के लिए खुला था और सभी को गुप्त-सम्राटों से दान-दक्षिणा प्राप्त होती थी। आर्थिक दृष्टिकोण से भी इस युग का बहुत बड़ा महत्त्व है। समुद्र-पर्यन्त इस साम्राज्य की सीमा के विस्तृत हो जाने के कारण विदेशों के साथ भारत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और विदेशी व्यापार की अत्यधिक उन्नति हुई। आन्तरिक व्यापार की भी उन्नति हुई क्योंकि देश में सर्वत्र शान्ति तथा सुव्यवस्था थी जो व्यापारिक उन्नति के लिए आवश्यक है। कृषि की भी इस काल में बड़ी उन्नति हुई और देश धन-धान्य से पूर्ण हो गया। साहित्य तथा कला की दृष्टि से भी इस युग का बड़ा महत्त्व है। यह साहित्य के तो पुनरुत्थान तथा पुनर्जागरण का युग माना जाता है। संस्कृत-साहित्य की इस युग में आशातीत वृद्धि हुई और एक बार फिर उसे एकमात्र साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त हो गया। अब पाली तथा प्राकृत में साहित्य की रचना बन्द हो गई और संस्कृत ही साहित्यकारों की अभिव्यंजना का माध्यम रह गई। कला पर जो विदेशी प्रभाव आ गया था वह इस युग में प्रक्षालित हो गया और वह विशुद्ध भारतीय कला के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस काल में विज्ञान की भी बड़ी उन्नति हुई और ज्योतिष तथा गणित के बड़े धुरन्धर आचार्य हुए जिन्होंने विज्ञान की उन्नति में बड़ा योग दिया। प्रकार गुप्त-काल भारत की सर्वतोमुखी उन्नति का काल था और इसी से इतिहासकारों ने इसे स्वर्ण-काल कहा है। अब इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

शासन-व्यवस्था—गुप्त-काल साम्राज्यवाद का युग था। गुप्त-सम्राटों ने एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य की स्थापना एक अत्यन्त विशाल, सुशिक्षित तथा सुसज्जित सेना की सहायता से की गई थी। इस सेना के चार प्रधान अंग थे अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल। सम्राट् स्वयं सैनिकों को भर्ती करता था। वह स्वयं अपनी सेना का प्रधान सेनापति होता था और रण-स्थल में सेना की प्रथम पंक्ति में विद्यमान रहता था।

गुप्त-साम्राज्य अत्यन्त विशाल साम्राज्य था। अतएव उस युग में जब गमना-

---

[1] "It is apparent, therefore, that the rule of the able and long-lived monarchs of the Gupta dynasty coincided with an extraordinary outburst of intellectual activity of all kinds."

—V. A. Smith.

गमन के साधनों का सर्वथा अभाव था, एक केन्द्र से सम्पूर्ण शासन को चलाना सम्भव न था। फलतः गुप्त-साम्राटों ने सामन्तीय शासन-व्यवस्था का अनुसरण किया और साम्राज्य के सुदूरस्थ प्रान्तों का शासन अपने सामन्तों को सौंप दिया, जिन पर वे कड़ा नियन्त्रण रखते थे। शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को कई छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त कर लिया गया था और प्रत्येक इकाई के लिए अलग-अलग पदाधिकारी नियुक्त कर दिये जाते थे। परन्तु इन सब पर केन्द्रीय सरकार का कड़ा नियन्त्रण रहता था जिससे साम्राज्य सुसंगठित बना रहे। गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है, "गुप्तकालीन शासन तथा उसकी सफलता के सम्बन्ध में हमें काफी विस्तृत जानकारी प्राप्त है और हम यह नतीजा निकालते हैं कि यह बड़ा ही सुव्यवस्थित था।"[1]

गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। राजा ही शासन का प्रधान होता था और विभिन्न विभागों पर अपना पूरा नियन्त्रण रखता था। सेना, शासन, न्याय तीनों का ही वह प्रधान होता था और अपने मन्त्रियों तथा पदाधिकारियों के परामर्श तथा सहायता से वह सम्पूर्ण शासन को सुचारु रूप से चलाता था। अपराधों का पता लगाने के लिए गुप्तचर और अपराधियों को दण्ड देने के लिए दण्डाधिकारी होते थे। दण्ड-विधान कठोर न था और प्राण-दण्ड का निषेध था। गुप्त-सम्राटों के शासन का आदर्श बहुत ऊँचा था और वे अपने को प्रजा का ऋणी समझते थे और प्रजा की सेवा करके ही वे अपने इस ऋण से मुक्त हो सकते थे। अतएव गुप्त-साम्राज्य ने लोक-हित के अनेक कार्य किये। गमनागमन की सुविधा के लिए सड़कें बनवाई गईं और उनके किनारे पर छायादार वृक्ष लगवाये गये और स्थान-स्थान पर कुएँ खुदवाये गये और धर्मशालाएँ बनवाई गईं। सिंचाई की सुविधा के लिए झीलें तथा तालाब खुदवाये गये। रोगियों की चिकित्सा के लिए औषधालय खुलवाये गये जिनमें रोगियों को मुफ्त औषधि दी जाती थी। राज्य की ओर से शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था की गई और साहित्य तथा कला को प्रोत्साहन दिया गया। राज्य के इन उदार तथा लोकोपकारी कार्यों का परिणाम यह हुआ कि प्रजा सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी।

सामाजिक जीवन—गुप्त-कालीन भारतीय समाज बड़ा ही प्रगतिशील था और उसमें विदेशियों को आत्मसात् करने की अद्भुत् क्षमता थी। यही कारण है कि शक, कुषाण, यूनानी, पल्लव आदि जातियाँ जो गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत में प्रविष्ट हुई थीं, भारतीयों में घुल-मिल गईं और अपने अस्तित्व को खो बैठीं। बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रचार के कारण जाति-प्रथा के बन्धन अवश्य कुछ ढीले पड़ गये थे परन्तु जाति-प्रथा अपने पूर्व स्वरूप में सुदृढ़ बनी थी। इस काल में ब्राह्मणों का

---

1. "We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievements and can well conclude that its was well organised."
—Nilkant Shastri.

आदर-सत्कार समाज में फिर बहुत अधिक बढ़ गया था और उनका समाज में बड़ा सम्मान था। फाहियान के विवरण से हमें पता लगता है कि चाण्डालों की एक बड़ी निकृष्ट जाति पैदा हो गई थी। ये लोग बड़ी घृणा की दृष्टि के देखे जाते थे। ये नगर के किनारे रहते थे और जब ये लोग नगर में प्रवेश करते थे तब इन्हें लकड़ी बजाते हुए चलना पड़ता था, जिससे लोगों के इनके आने की सूचना मिल जाय और वे मार्ग से अलग हो जायँ।

ऐसा प्रतीत होता कि गुप्त-काल में अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन था क्योंकि क्षत्रिय गुप्त-सम्राटों ने ब्राह्मण वाकाटक-सम्राट् के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। इस काल में विधवा-विवाह का भी प्रचलन था क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने रामगुप्त की विधवा ध्रुवदेवी के साथ अपना विवाह कर लिया था। बहु-विवाह की प्रथा का भी प्रचलन इस युग में था। अनमेल वृद्ध-विवाहों के भी उदाहरण मिलते हैं। इस काल के विद्वानों ने अपने ग्रंथों में सती की प्रथा की ओर संकेत किया है। यद्यपि पर्दे की प्रथा न थी और स्त्रियाँ बाहर-आ-जा सकती थीं, परन्तु उन्हें एक प्रकार का आवरण डाल लेना पड़ता था।

गुप्त-काल में दास-प्रथा का प्रचलन था। युद्ध के कैदी प्रायः दास बना लिये जाते थे। ऋण न चुकाने पर ऋणी लोग अपने ऋण-दाता के दास बन जाते थे। यदि कोई जुआड़ी जुए में हार जाता था तो वह भी दासता के बन्धन में फँस जाता था। परन्तु यह दासता आजीवन की दासता नहीं होती थी। कैद से छूट जाने, ऋण चुका देने तथा जुए में हारे धन को दे देने पर दासता समाप्त हो जाती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि अहिंसा-धर्म के प्रचार के कारण भारतीय समाज धीरे-धीरे शाकाहारी होता जा रहा था और मांस-भक्षण धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। चीनी यात्री फाहियान ने तो यहाँ तक लिखा है कि चाण्डालों के अतिरिक्त जो समाज में बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, कोई भी व्यक्ति मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज आदि का सेवन नहीं करता था। इससे यह प्रकट है कि हिन्दू लोग सात्त्विक प्रवृत्ति के होते जा रहे थे और खान-पान में वे शुद्धता तथा सात्त्विकता का ध्यान रखते थे।

आर्थिक दशा—गुप्त-काल आर्थिक दृष्टि से बड़े गौरव का युग था। इस काल में देश धन-धान्य पूर्ण था और जनता बड़ी सुखी तथा सम्पन्न थी। भारत एक कृषि-प्रधान देश होने के कारण कृषि ही लोगों का मुख्य व्यवसाय था और विभिन्न प्रकार के अन्नों के साथ-साथ फल, मसाले आदि की भी कृषि होती थी। विभिन्न प्रकार के कुटीर-उद्योग-धन्धे भी उन्नत दशा में थे। विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई। ताम्रलिप्ति बंगाल का बड़ा प्रसिद्ध बन्दरगाह था और उत्तरी-भारत का सारा व्यापार इसी बन्दरगाह द्वारा चीन, बर्मा तथा पूर्वी-द्वीप-समूह से होता था। इन देशों के साथ दक्षिण-भारत का भी व्यापार होता था। यह व्यापार गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहानों पर स्थित बन्दरगाहों के द्वारा होताथा। गुप्त-साम्राज्य पश्चिमी समुद्र-तट तक पहुँच गया था। भड़ौच इस ओर का सबसे अधिक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इस

बन्दरगाह से पाश्चात्य देशों और विशेषकर रोम-साम्राज्य के साथ व्यापार होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में भारत में सोने-चाँदी का अभाव था। अतएव विदेशों में बहुत बड़ी मात्रा में भारतीय माल भेजा जाता था और वहाँ से सोने-चाँदी मँगाये जाते थे। आन्तरिक व्यापार भी बड़ी उन्नत दशा में था और वह व्यापार नदियों तथा सड़कों द्वारा होता था। गुप्त-साम्राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो जाने के कारण व्यापारी निर्भय होकर व्यापार करते थे। इन व्यापारियों की अपनी श्रेणियाँ बनी हुईं थीं जिन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इन श्रेणियों के अपने प्रधान होते थे और इनकी कार्यकारिणी भी होती थी। इससे व्यापार बड़े संगठित रूप में चलता था।

धार्मिक दशा —धार्मिक दृष्टि से गुप्त-काल का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस काल में वैदिक-धर्म अथवा ब्राह्मण-धर्म की बड़ी तेजी से उन्नति हुई और अनेक राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये। गुप्त-सम्राट् वैष्णव-धर्म के अनुयायी थे और इसी को उन्होंने राज-धर्म बनाया। राज-धर्म हो जाने के कारण वैष्णव-धर्म का खूब प्रचार हुआ और सम्पूर्ण भारत में यह धर्म फैल गया। इस काल में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया और भगवद्गीता के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव-धर्म का भी इस काल में खूब प्रचार हुआ। वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब आदि राजाओं ने शैव-धर्म को स्वीकार कर उसे अपना प्रश्रय प्रदान किया। इस काल में अनेक शिव-मन्दिरों का निर्माण हुआ।

यद्यपि गुप्त-सम्राट् ने ब्राह्मण-धर्म को स्वीकार किया और उसे राज्य का आश्रय प्रदान किया परन्तु वे कट्टर-पन्थी न थे वरन् उनमें उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। वे सभी धर्म वालों को आदर की दृष्टि से देखते थे और सभी उनकी कृपा के पात्र थे और उनसे दान-दक्षिणा पाते थे। गुप्त-सम्राटों ने सरकारी नौकरियों का द्वार सभी सम्प्रदाय वालों के लिए खोल रखा था और वे केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ किया करते थे।

गुप्त-सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध तथा जैन-धर्म का भी अस्तित्व बना रहा और वे शान्तिपूर्वक अपनी धार्मिक क्रियाओं को करते रहे। इस काल में बौद्ध तथा जैन दोनों ही धर्म ब्राह्मण-धर्म से प्रभावित हुए। बौद्ध-धर्म वाले बुद्ध जी को तथा बोधिसत्त्वों को ईश्वर का अवतार मानने लगे और उनकी मूर्तियाँ बनाकर चैत्यों (मन्दिरों) में उनकी पूजा करने लगे। इसी प्रकार जैन-धर्म के मानने वाले भी मन्दिर बनवा कर अपने तीर्थङ्करों की मूर्तियों की पूजा करने लगे। परन्तु ब्राह्मण-धर्म के प्रचार के कारण बौद्ध तथा जैन-धर्म की गति बड़ी मन्द पड़ गई थी और धीरे-धीरे इनके अनुयायियों की संख्या घटती जा रही थी।

इस काल में मन्दिरों का निर्माण बड़ी तेजी से हुआ। इसका कारण यह था कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध बोधिसत्वों तथा तीर्थङ्करों की पूजा इस काल में बहुत बढ़ गई और उनकी पूजा के लिए मन्दिरों का निर्माण किया गया। इन मन्दिरों में

पूजा-पाठ तथा देवताओं की उपासना की जाती थी। इन मन्दिरों के निर्माण का परिणाम यह हुआ कि शिल्प-कला तथा चित्र-कला की इस युग में बड़ी उन्नति हुई। चूंकि इन मन्दिरों में कीर्तन तथा नृत्य हुआ करते थे अतएव संगीत तथा नृत्य-कला की भी इस युग में बड़ी उन्नति हुई।

साहित्य—इस काल की साहित्यिक क्रियाशीलता की प्रशंसा करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "यह काल सामान्य साहित्यिक उद्रेक से ओतप्रोत था जिसके परिणाम काव्य एवं विधि-ग्रन्थों तथा अनेक अन्य प्रकार के साहित्य में परिलक्षित होते हैं।"[1] साहित्य-सम्वर्द्धन के लिए तीन चीजों की आवश्यकता पड़ती है, अर्थात् शान्ति, व्यवस्था तथा सम्पन्नता। गुप्त-सम्राटों के शासन काल में यह तीनों चीजें विद्यमान थीं। अतएव गुप्त-काल में साहित्य तथा कला दोनों ही की बड़ी उन्नति हुई। गुप्त-कालीन साहित्यिक उन्नति की विवेचना करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "गुप्त-काल की तुलना प्रायः यूनान के इतिहास में पेरिक्लीज के काल से अथवा इंगलैंड में एलिजाबेथ के युग से की जाती है। इस काल को अनेक बुद्धिमान विभूतियों ने विभूषित किया, जिनकी देन से भारतीय साहित्य की विभिन्न शाखाएँ अत्यधिक सम्पन्न हो गईं। गुप्त-सम्राटों ने विद्वत्ता को प्रोत्साहित किया और स्वयम् भी वे अत्यधिक सुसंस्कृत थे।"[2]

गुप्त-काल संस्कृत-साहित्य के पुनरुद्धार का युग माना जाता है। इस युग में संस्कृत साहित्य की बडी द्रुतगति से उन्नति हुई और ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गये जो अमर हो गये हैं और बड़े ही आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। संस्कृत भाषा की उन्नति का कारण यह था कि वैदिक-धर्म तथा संस्कृत-भाषा में अटूट सम्बन्ध है। चूंकि गुप्त-काल में वैदिक-धर्म की बड़ी उन्नति हुई अतएव उसके साथ-साथ संस्कृत भाषा की उन्नति अनिवार्य थी। इस काल में संस्कृत को एकमात्र साहित्यिक भाषा बनने का गौरव फिर प्राप्त हो गया। पाली तथा प्राकृत में साहित्य-रचना की जो मनोवृत्ति आरम्भ हुई थी वह बन्द हो गई और ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय वालों ने भी संस्कृत में ही साहित्य रचना आरम्भ कर दिया। इतना ही

---

[1] "The period was distinguished by a general literary impulse, the effects of which were visible in poetry, as well as in law-books and many other forms of literature." —V. A. Smith.

[2] "The Gupta period has generally been compared to the Periclean age in the history of Greece, or to the Elizabethan epoch in that of England. It was distinguished by a number of intellectual celebrities, whose contribution vastly enriched the different branches of Indian literature. The Gupta monarchs encouraged learning and were themselves highly cultured."

—Dr. R. S. Tripathi.

नहीं, विदेशी लोग संस्कृत की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने उसको सीखना आरम्भ कर दिया।

गुप्त-सम्राट् बड़े विद्या-व्यसनी थे और साहित्य में उनकी बड़ी रुचि थी। समुद्रगुप्त स्वयम् एक उच्चकोटि का विद्वान एवं साहित्यकार था और कविताएँ लिखा करता था। इसी से वह कविराज 'अर्थात् कवियों का राजा' कहा गया है। समुद्रगुप्त का मन्त्री हरिषेण भी उच्चकोटि का कवि था। उसकी प्रशस्ति प्रयाग के स्तम्भ-लेख में अब भी विद्यमान है। समुद्रगुप्त विद्वानों तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता माना जाता है। कहा जाता है कि बौद्ध-दार्शनिक वसुबन्धु तथा बौद्ध-नैयायिक दिङ्नाग को समुद्रगुप्त का आश्रय प्राप्त था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी बड़ा विद्या-प्रेमी तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। कहा जाता है कि उसने अपनी राज-सभा को नौ महान् विद्वानों से सुशोभित कर रक्खा था, जो उनकी राज-सभा के 'नवरत्न' कहलाते थे। इन विद्वानों में महाकवि कालिदास सर्वश्रेष्ठ थे। कालिदास की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे इस युग के सबसे बड़े कवि तथा नाटककार माने जाते हैं। कालिदास के लिखे हुए कुल सात ग्रन्थ प्राप्त हैं। इनमें रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत तथा ऋतुसंहार काव्य-ग्रन्थ हैं और अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र नाटक ग्रन्थ हैं। शाकुन्तलम् संसार का सर्वोत्कृष्ट नाटक-ग्रन्थ माना जाता है। 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक के रचयिता विशाखदत्त इसी काल की विभूति माने जाते हैं। 'अमरकोष' के रचयिता अमरसिह तथा भारतीय आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित एवं चिकित्सक चरक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे।

अन्य गुप्त-सम्राटों की भी साहित्य में बड़ी रुचि थी और साहित्यकारों को अपना आश्रय प्रदान कर उन्होंने साहित्य की उन्नति में अपना योगदान किया। उत्तर-कालीन गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में गणित तथा ज्योतिष की अत्यधिक उन्नति हुई। आर्यभट्ट तथा ब्रह्मगुप्त इस काल के बड़े गणितज्ञ और वराहमिहिर बहुत बड़े ज्योतिषी थे। इसी से स्मिथ महोदय ने लिखा है, "गणित और ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र में गुप्तकाल आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर के महान् नामों से अलंकृत था।"[1]

गुप्त-काल मे अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों का पुनरुद्धार हुआ। पुराणों का इस काल में सम्वर्द्धन किया गया और मनुस्मृति में भी कुछ परिवर्तन तथा संशोधन किया गया। याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा नारद की स्मृतियों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन तथा संशोधन किया गया। सूत्रों पर भी टीकाएँ तथा भाष्य लिखे गये और उन्हें समयानुकूल बनाया गया।

गुप्त-कालीन दर्शन पर प्रकाश डालते हुए डॉ० अल्तेकर ने लिखा है, "उस

---

1. "In the field of mathematical and astronomical sciences the Gupta age is adorned by the illustrious names of Aryabhatta and Varahamihira"   —V. A. Simith

काल के हिन्दू दर्शन की नूतन तथा साहसिक पद्धति को विकसित करने में उतने ही सफल रहे जितने समुद्र पार सामान ले जाने के लिए विशाल तथा सुदृढ़ पोतों को बनाने में ।''[1]

कला—कला की उन्नति के लिए जिस शान्ति तथा सम्पन्नता की आवश्यकता होती है वह गुप्त-काल में विद्यमान थी। अतएव इस काल में विभिन्न प्रकार की कलाओं की अत्यधिक उन्नति हुई। गुप्त-कालीन कला की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह विदेशी प्रभावों से मुक्त थी। गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत में यूनानी, शक, कुषाण, सिथियन आदि जातियाँ प्रवेश कर गई थीं और भारत के विभिन्न भागों में शासन करने लगी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कला पर विदेशी कला और विशेषकर गान्धार-शैली का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ गया। परन्तु गुप्त-कालीन कला ने इस विदेशी प्रभाव को उखाड़ फेंका और विशुद्ध भारतीय कला के रूप में विकसित हुई।

गुप्त-काल में स्थापत्य-कला अर्थात् भवन-निर्माण-कला की बड़ी उन्नति हुई। गुप्त-कालीन स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में स्मिथ महोदय ने लिखा है, ''इस कथन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त जानकारी प्राप्त है कि वास्तु-कला का बड़े परिमाण में बड़ी सफलतापूर्वक अभ्यास किया जाता था।''[2] यद्यपि इस काल के अधिकांश भवन विनष्ट हो गये हैं परन्तु अनेक मन्दिर, विहार, चैत्य आदि अब भी विद्यमान हैं जो तत्कालीन कला की उच्चता के प्रमाण हैं। अत्यधिक मन्दिरों, विहारों तथा चैत्यों के बनने का कारण यह था कि इस युग में ब्राह्मण; बौद्ध तथा जैन तीनों ही धर्म अपने-अपने उपास्य देवों की प्रतिमाओं की देवालयों में उपासना करते थे। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी विष्णु, शिव, सूर्य आदि की प्रतिमाओं की, बौद्ध-धर्म वाले बुद्ध जी तथा बोधिसत्त्वों की और जैन-धर्म वाले अपने तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना मन्दिरों में करते थे। सारनाथ के स्तूप, अजन्ता तथा एलोरा के गुहा-विहार, भीतर-गाँव का मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर आदि गुप्तकालीन कला के सौन्दर्य के प्रमाण हैं।

गुप्त-काल में शिल्प-कला की भी बड़ी उन्नति हुई। गुप्त-कालीन शिल्प-कला के सम्बन्ध में डॉ॰ रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, ''कुल मिला कर गुप्त-काल के शिल्पकारों की कृतियों की यह विशेषता है कि उनमें ओज, असंयम का अभाव

---

[1] The Hindus of that age were as successful in evolving new and bold systems of philosophy as in building large and sturdy vessels to carry goods oversea." —Altekar

[2] "Enough is known to justify the assertion that the art of architecture was practised on a large scale with eminent success." —V. A Smith.

तथा शैली सा सौष्ठव पाया जाता है।"[1] गुप्त-काल की शिल्प-कला तथा चित्र-कला के सम्बन्ध में डॉ० नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है, "शिल्प-कला तथा चित्र-कला के क्षेत्र में गुप्त-कालीन कला भारतीय प्रतिभा में चूड़ान्त विकास की प्रतीक है और इसका प्रभाव सम्पूर्ण एशिया पर दीप्तिमान है।"[2] डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने गुप्त-कालीन शिल्प की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "सामान्यत: उच्चकोटि का आदर्श और माधुर्य तथा सौंदर्य की उच्चकोटि की विकसित भावना गुप्त काल की शिल्प-कला की विशेषता है।"[3]

गुप्त-काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन बहुत बढ़ गया था। अतएव देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी उपासना तथा पूजा के लिए बनायी जाने लगीं और देवालयों में उनकी स्थापना की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इस काल में मूर्ति-निर्माण-कला की बड़ी उन्नति हुई। इस काल की मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। उनकी पहली विशेषता यह है कि वे विदेशी प्रभाव से मुक्त हैं और विशुद्ध भारतीय बन गई हैं। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि इनमें नैतिकता पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। इस काल में नग्न मूर्तियों का निर्माण बन्द-सा हो गया था और उन्हें झीने वस्त्र पहनाये गये हैं। इनकी तीसरी विशेषता यह है कि ये बड़ी ही सरल हैं और इन्हें अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सारनाथ में इस काल की जो बौद्ध-मूर्ति है वह बड़ी ही सुन्दर तथा सजीव है।

मूर्ति-कला के साथ-साथ चित्र-कला की भी इस युग में बड़ी उन्नति हुई। अजन्ता तथा एलोरा की गुफाओं की दीवारों में इस काल की चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं। इन चित्रों को बज्रलेप से बनाया गया है। लताओं, फूलों, पशुओं तथा मनुष्यों के जो चित्र इस युग में बने हैं, वे बड़े ही स्वाभाविक, सजीव तथा चित्ताकर्षक हैं। अजन्ता की चित्रकारी के विषय में श्रीमती ग्राबोस्का ने लिखा है,[4] "अजन्ता की कला भारत की प्राचीन कला है। चित्रकारियों का सौन्दर्य आश्चर्य-

---

1. "On the whole, the work of the Gupta artists is distinguished by vitality, freedom from extravagance and exquisite technique"
—Dr. R. S. Tripathi.

2. "In the realm of sculpture and painting Gupta art marks the highest reach of the Indian genius and its influence radiates all over Asia."
—Nilkant Shastri.

3. "In general a sublime idealism combined with a highly developed sense of rhythm and beauty characterises the Gupta sculpture."
—R. C. Majumdar.

4. "The art of Ajanta is the classical art of India, the beauty of the paintngs is marvellous and they are the high watermark of Indian painting."
—Mrs. Grabowska.

जनक है और वह भारतीय चित्रकारी की चरमोन्नति का प्रतीक है ।"

गुप्त-सम्राटों ने संगीत-कला को अपना आश्रय दे रखा था । अतएव संगीत-कला की इस काल में बड़ी उन्नति हुई । सम्राट् समुद्रगुप्त को संगीत से बड़ा प्रेम था और इस कला में वह बड़ा प्रवीण था । अपनी मुद्राओं में वह वीणा बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है । कहा जाता है कि संगीत-कला में उसने नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था । नाट्य-कला की भी गुप्त-काल में उन्नति हुई । इस काल में बहुत-से नाटक-ग्रन्थ लिखे गये, जिनसे स्पष्ट है कि रंगमंच पर इन नाटकों का अभिनय अवश्य होता रहा होगा ।

गुप्त-काल में मुद्रा-कला की भी उन्नति हुई । प्रारम्भ में तो गुप्त-कालीन सम्राटों ने विदेशी मुद्राओं का अनुसरण किया था, परन्तु बाद में विशुद्ध भारतीय मुद्राएँ चलाई । गुप्त-सम्राटों की अधिकांश मुद्राएँ सोने की हैं । परन्तु बाद में उन्होंने चाँदी की मुद्राएँ भी चलाई थीं । ये मुद्राएँ बड़ी सुन्दर तथा चित्ताकर्षक हैं । इनका आकार तथा इन पर अंकित मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं । इन मुद्राओं पर गुप्त-सम्राटों का यशोगान किया गया है ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल भारत के सर्वतोमुखी विकास का काल था । इस काल में भारत में नवजीवन तथा नवोल्लास का संचार हो रहा था जो जीवन विभिन्न क्षेत्रों में प्रस्फुटित हो रहा था । इसी से श्री अरविन्द ने लिखा है, "भारत ने अपने इतिहास में कभी भी जीवन की शक्ति का इतना बहुमुखी विकास नहीं देखा ।" हैवेल महोदय ने भी गुप्त-काल की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "भारतवर्ष उन दिनों शिष्यता की स्थिति में न था वरन् वह सम्पूर्ण एशिया का शिक्षक था और पाश्चात्य सुझावों को लेकर उसने उन्हें सुधारणा के अनुकूल बना लिया ।"[2]

गुप्त-काल स्वर्ण-युग

स्वर्ग-युग का तात्पर्य—स्वर्ण अपने बाह्य सौन्दर्य तथा आन्तरिक गुणों के कारण सबसे अधिक श्रेष्ठ धातु समझा जाता है । कोई धातु न तो इतनी देदीप्यमान होती है और न इतनी मूल्यवान हो । सुनहला रंग सभी रंगों से अधिक कान्तिमय तथा चित्ताकर्षक होता है । प्रातःकाल के प्रभाकर की स्वर्णिम रश्मियाँ किस के मन को विमुग्ध नहीं कर देतीं ? सुनहले बालों की अपनी अनुपम छटा होती है । सोने को

---

1. 'Never in her history has India seen such a many-sided blossoming of her force of life." —Aurobindo

2. "India was not then in a state of pupillage, but the teacher of all Asia and she borrowed western suggestions to mould them to her own way of thinking." —Havell.

बड़ा शुभ माना जाता है और स्वर्ण-दान परम पवित्र दान माना जाता है। मुद्राओं की कोटि में स्वर्ण-मुद्रा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सोने के आभूषणों से अलंकृत शरीर अलौकिक कान्ति प्राप्त कर लेता है। केवल सोना ही कसौटी पर कसा जा सकता है और इस प्रकार सदैव आत्म-परीक्षा देने के लिए उद्यत रहता है। इन्हीं बाह्य तथा आन्तरिक गुणों के कारण सोने को धातुओं में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है और उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

'स्वर्ण-युग' उस युग को कहते हैं जो स्वर्ण की भाँति कान्तिमान, देदीप्यमन, मूल्यवान, धनवान, गुणवान, कीर्तिवान तथा शक्तिमान हो। इतिहास में स्वर्ण-युग का तात्पर्य उस युग से है जो अन्य युगों से अधिक गौरवपूर्ण तथा ऐश्वर्यवान रहा हो, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देश का चूड़ान्त विकास हुआ हो, जिसमें व्यक्तियों को अपने भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास का सुअवसर प्राप्त हुआ हो, जिसमें जनता न केवल दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से मुक्त रही हो वरन् उसने सुख तथा शान्ति का उपभोग भी किया हो और अपनी चरमोन्नति का अवसर भी प्राप्त किया हो, जिसमें संकीर्णता तथा असहिष्णुता की शून्यता रही हो और संगठन, सहयोग तथा सद्भावना का प्राबल्य रहा हो, जिसमें समृद्धि तथा सम्पन्नता का बाहुल्य रहा हो, जिसमें साहित्य तथा कला का चूड़ान्त विकास हुआ हो और जिसमें राष्ट्र के गौरव तथा प्रतिष्ठा में ऐसी अभिवृद्धि हुई हो कि विदेशों में वह आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा हो और उसकी कीर्ति-पताका वहाँ पर फहराई गई हो।

गुप्त-काल स्वर्ण-युग क्यों ?—गुप्त-काल को भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा गया है। इसका कारण यह है कि इस युग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत की अभूतपूर्व उन्नति हुई। यह भारतीयों के व्यापक दृष्टिकोण तथा विदेशियों को आत्मसात् करने का अनुपम युग था। यह सात्विक मनोवृत्तियों, सामाजिक विशुद्धता तथा समाज को शाकाहारी बनाने का युग था। यह भारत की अभूतपूर्व आर्थिक सम्पन्नता का युग था जब हमारी स्वर्णगर्भा वसुन्धरा ने हमारे सामने अपनी रत्न-राशि उँड़ेल दी और अपनी अनुपम वस्तुओं को विदेशों में भेजकर उन्हें सहर्ष अपनी रत्न-राशि भारत के चरणों में अर्पित करने के लिए विवश किया। यह वह युग था जब भारत में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता विद्यमान थी। सभी धर्म वाले अपने-अपने धर्म का स्वतन्त्रता-पूर्वक पालन करते थे और सरकारी नौकरियों के द्वार सभी धर्म वालों के लिए खुले थे। यह वह युग था जब साहित्य तथा कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस काल में संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार तथा चरमोन्नति हुई और भारतीय कला को विदेशी प्रभाव से मुक्त किया गया। वह यह युग था जब विदेशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस काल में विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ और भारत की गौरव-पताका वहाँ पर फहराई गई। अतएव इस युग को 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारना तथ्य-संगत तथा न्याय-

संगत दोनों हैं। बारनेट महोदय ने गुप्त-काल की तुलना यूनान के सम्राट् पेरिक्लीज के स्वर्ण-युग से करते हुए लिखा है, "प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्त काल का वही महत्त्व है जो यूनान के इतिहास में पेरिक्लीज के युग का है।"[1] गुप्त-काल के 'स्वर्ण-युग' होने की सार्थकता के समर्थन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(१) **राजनीतिक योग्यता का युग**—राजनीतिक दृष्टिकोण से गुप्त-काल का महान् गौरव इस बात में है कि इस काल में भारत को जो राजनीतिक एकता प्राप्त हुई वह इसके पूर्व कभी प्राप्त न थी। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने गुप्त-सम्राटों द्वारा स्थापित की गई राजनीतिक एकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "गुप्त साम्राज्य बड़ा ही सुसंगठित राज्य था, जिसे अपनी सार्वभौम सम्प्रभुता की छत्रछाया में भारत के बहुत बड़े भाग पर राजनीतिक एकता स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई और इतने बड़े क्षेत्र पर अपना प्रभाव स्थापित किया जो उससे भी बड़ा था जो प्रत्यक्ष रूप में उसके साम्राज्य तथा शासन के अन्तर्गत था।"[2] अशोक की मृत्यु के उपरान्त सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था और देश के विभिन्न भागों में विदेशी आक्रमणकारियों के राज्य स्थापित हो गये थे। गुप्त-सम्राटों ने भारत की इस विच्छिन्नता को दूर कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और विदेशी शासकों को नत-मस्तक किया। गुप्त-काल महान् शासकों का युग माना जाता है। इस काल का प्रतापी तथा दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त था। अपनी वीरता तथा साहस के कारण ही वह भारत का नेपोलियन कहा गया है। उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को जीत कर सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना की थी। इतना ही नहीं, उसने अटवी प्रदेश, दक्षिणापथ तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्यों को भी नत-मस्तक कर उन्हें अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए विवश किया था। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने उस राजनीतिक एकता को फिर स्थापित कर दिया जो अशोक की मृत्यु के उपरान्त समाप्त हो गई थी। गुप्त-काल का दूसरा महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। उसने अपने पिता के साम्राज्य को न केवल सुरक्षित रक्खा वरन् उसमें वृद्धि भी की। उसने शकों को ध्वस्त करके 'शकारि' की

---

1. "Gupta period is in the annals of classical India, almost what Periclean age is in the history of Greece." —Barnett.

2. "The Gupta empire was a well organised state which achieved the political unification over a large part of India under the umbrella of its paramount sovereignty, establishing a sphere of influence which was much wider than that of its direct dominion and administration" —Dr. Radha Kumud Mukerjee.

उपाधि धारण की। कहा जाता है कि उसने वाह्लीकों को भी नत-मस्तक किया था। अएतव उसे विक्रम का आदित्य अर्थात् वीरता का सूर्य कहना ठीक ही है। गुप्त-वंश का तीसरा प्रतापी सम्राट् स्कन्दगुप्त था। उसने हूणों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया और अपने पूर्वजों के विशाल साम्राज्य को सुरक्षित रखखा। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण से गुप्त-काल का गौरव इतना महान् था कि इसे स्वर्ण-युग कहना सार्थक है ।

(२) **शान्ति तथा सुव्यवस्था का युग**—गुप्त-काल शान्ति तथा सुव्यवस्था का युग माना जाता है, जिसमें प्रजा को अपनी चरमोन्नति का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी से डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "देश की जो भौतिक तथा नैतिक उन्नति हुई वह सुव्यवस्थित राजनीतिक दशा का ही परिणाम था।"[1] गुप्त-शासन आतंक पर आधारित न था वरन् वह बड़ा ही उदार तथा दयापूर्ण था। उसमें प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी और बाह्य तथा आन्तरिक आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करने के लिए राज्य की ओर से पूरी व्यवस्था की गई थी। यद्यपि न्याय की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की गई थी परन्तु दण्ड-विधान कठोर न था और किसी को प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। यातायात के साधनों की समुचित व्यवस्था कर गुप्त-सम्राटों ने व्यापार की उन्नति में बड़ा योग दिया। इस काल में न केवल आन्तरिक वरन् बाह्य-व्यापार की भी बहुत बड़ी उन्नति हुई। ताम्रलिप्ति पूर्वीय देशों के साथ व्यापार करने का प्रमुख बन्दरगाह था और भड़ौच पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार करने का प्रधान मार्ग था। न केवल व्यापार वरन् कृषि की भी उन्नति की व्यवस्था की गई थी। जलाशयों तथा जल-कुण्डों का निर्माण कर सिंचाई की समुचित व्यवस्था की गई जिससे अनावृष्टि हो जाने पर कृषि की रक्षा हो सकती थी। गुप्त-सम्राटों के काल में देश इतना धन-धान्यपूर्ण हो गया कि वह वास्तव में सोने की चिड़िया बन गया। स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन कर गुप्त-सम्राटों ने वास्तव में इसे स्वर्ण-युग बना दिया। राज्य की ओर से प्रजा को न केवल ऐहिक वरन् नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का भी प्रयत्न किया गया। राज्य की ओर से दीन-दुखियों तथा रोगियों की सहायता का भी समुचित प्रबन्ध किया गया था। गुप्त-काल में स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी और स्वायत्त-शासन को प्रोत्साहन दिया जाता था। अल्तेकर महोदय ने गुप्तकालीन शासन की प्रशंसा करते हुए लिखा है,[2] "अतएव हमें गुप्त-शासन-व्यवस्था पर

---

[1] "Much of material and moral progress of the country was ultimately the outcome of the established political conditions."

—Dr. Radha Kumud Mukerjee.

[2] "We may, therefore, be well proud of the Gupta administrative system which served as the ideal for contemporary and later states."

—Dr. Altekar.

गर्व कर सकते हैं जो अपने काल के तथा बाद के राज्यों के लिये आदर्श व्यवस्था बन गई।'' अतएव प्रशासकीय दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल को 'स्वर्ण-युग' कहना सर्वथा उचित है।

(३) **धार्मिक सहिष्णुता का युग**—धार्मिक दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार तथा विकास का स्वर्ण-युग था। इस काल में न केवल भारत के कोने-कोने में ब्राह्मण-धर्म की तूती बोलने लगी थी वरन् इण्डो-चीन तथा पूर्वी-द्वीप समूह में भी इसका प्रचार हो गया था। परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से गुप्त-वंश का सबसे बड़ा गौरव यह था कि ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी होते हुए भी गुप्त-वंश के सम्राटों में उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और उन्होंने अन्य धर्म वालों को भी अपना प्रश्रय प्रदान किया। स्मिथ महोदय ने लिखा है, ''यद्यपि गुप्त-सम्राट् ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे परन्तु प्राचीन भारत की परम्परा के अनुकूल वे सभी भारतीय धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे।''[1] ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन सभी धर्म वालों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और सभी धर्म वाले ज्ञानार्जन तथा सत्य की खोज में संलग्न रहते थे। यह धार्मिक सहिष्णुता केवल भारतीयों तक ही सीमित न थी वरन् जो विदेशी भारत में बसे थे उन्होंने भी इससे लाभ उठाया। शक, यूनानी, कुषाण, सिथियन सभी विदेशियों को भारतीयों ने अपने में आत्मसात् कर लिया और अपने व्यापक दृष्टिकोण तथा धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। अतएव धार्मिक दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल को 'स्वर्ण-युग' कहना सर्वथा उचित है।

(४) **वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का युग**—गुप्त-काल वैदिक-सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का युग माना जाता है। इसी से स्मिथ महोदय ने लिखा है, ''इतना ही बतला देना पर्याप्त है कि ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार के साथ-साथ ब्राह्मणों की पवित्र भाषा संस्कृत का भी विस्तार हुआ।''[3] वैदिक-धर्म, जो निष्प्राण-सा हो गया था, उसे गुप्त-सम्राटों ने फिर अनुप्राणित किया और उसे स्वीकार कर, उसे राज्य का आश्रय प्रदान कर उसके विकास में बड़ा योग दिया। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा स्कन्दगुप्त ने अश्वमेध यज्ञों को कराकर वैदिक-धर्म की प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया। ब्राह्मणों को दान देकर तथा उनका सम्मान कर इन सम्राटों ने वर्णाश्रम-धर्म

---

1. "The Gupta kings although offcially Brahmanical Hindus with a special devotion to Vishnu, followed the usual practice of ancient India in looking with a favourable eye on all varties of Indian religion." —V A. Smith.

2. "It must suffice to observe that revival of the Brahmanical religion was accompanied by diffusion and extension of Sanskrit, the sacred language of the Brahmans." —V. A. Smith.

की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया अनेक शैव तथा वैष्णव-मन्दिरों का निर्माण करा कर इन सम्राटों ने 'परम-भागवत' होने का परिचय दिया। वैदिक-धर्म के साथ-साथ वैदिक भाषा अर्थात् संस्कृत के विकास में भी गुप्त-सम्राटों ने बड़ा योग दिया। गुप्त-काल में संस्कृत फिर राष्ट्रभाषा बन गई। इससे उसे फिर अपना प्राचीन गौरव प्राप्त हो गया इन सम्राटों ने अपने अभिलेखों तथा अपनी मुद्राओं पर संस्कृत में ही श्लोक लिखवाये हैं। इन सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि संस्कृत फिर एक मात्र साहित्यिक भाषा हो गई और बौद्ध तथा जैन-धर्म वाले भी संस्कृत में ही ग्रंथ-रचना करने लगे। अतएव संस्कृत भाषा के लिए यह निश्चय ही 'स्वर्ण-युग' था।

(५) **साहित्य तथा विज्ञान की उन्नति का युग**—साहित्य तथा विज्ञान की उन्नति के दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल 'स्वर्ण-युग' था। इस काल के साहित्यिक गौरव की प्रशंसा करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "गुप्त-युग अनेक क्षेत्रों में अद्वितीय क्रियाशीलता का युग था। गुप्त-काल ऐसा युग था जिसकी तुलना इंगलैण्ड के एलिजाबेथ और स्टुअर्ट-काल से करना अनुचित न होगा। जिस प्रकार इंगलैण्ड में शेक्सपियर अन्य सभी लेखकों का सिरमौर था, उसी प्रकार भारत में कालिदास की प्रतिभा सर्वोपरि थी। परन्तु जिस प्रकार यदि शेक्सपियर कुछ न लिखे होता तो भी एलिजाबेथ के काल का साहित्य सम्पन्न रहा होता, उसी प्रकार यदि भारत में कालिदास का साहित्य जीवित न रहा होता तो भी अन्य लेखकों की रचनाएँ इतनी प्रचुर हैं कि वे इस काल की अद्वितीय साहित्यिक सफलता की प्राप्ति के लिए पर्याप्त हैं।',[1] गुप्त-काल में देश में पूर्ण शान्ति तथा सुव्यवस्था थी। अतएव साहित्य तथा दर्शन का इस काल में चूड़ान्त विकास हुआ। इस युग में अनेक महाकवि, नाटककार तथा दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनमें कालिदास, हरिषेण, वसुबन्धु, विशाखदत्त, वराहमिहिर आदि अग्रगण्य हैं। साहित्य की चरमोन्नति के कारण हो इसकी तुलना एलिजाबेथ तथा पेरिक्लीज के युग से की गई है। गुप्त-काल में भौतिक,आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सभी प्रकार की साहित्य की उन्नति हुई। विज्ञान की भी इस काल में बड़ी उन्नति

---

[1] "The Gupta period...was a time of exceptional intellectual activity in many felds a time not unworthy of comparison with the Elizabethan and Stuart period in England. In India all the lesser lights are outshone by the brilliency of Kalidasa, as in England all the smaller authors are overshadowed by Shakespeare. But, as the Elizabethan literature would still be rich even if Shakespeare had not written, so in India if Kalidasa's works had not survived, enough of other men's wrtings would remain to distinguish his age as extraordinarily fertile in literary achievement."

—V. A. Smith.

हुई। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान तथा धातु-विज्ञान की इस काल में बड़ी प्रगति रही। आर्यभट्ट इस काल के बहुत बड़े गणितज्ञ तथा ज्योतिषी थे। वराहमिहिर भी इस काल के बहुत बड़े ज्योतिषी थे। चरक तथा सुश्रुत इस काल के विख्यात वैद्य थे।

(६) **कला की चरमोन्नति का युग**—गुप्त-काल भारतीय कलाओं का भी 'स्वर्ण-युग' माना जाता है। इस काल में वास्तु-कला, शिल्प-कला, मूर्ति-निर्माण-कला, वाद्य-कला, संगीत-कला तथा अन्य सभी कलाओं की आशातीत उन्नति हुई। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तियाँ, मन्दिर, विहार, चैत्य तथा स्तूप इस कला की उच्चता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इस कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह बड़ी ही स्वाभाविक, सरल तथा विदेशी प्रभाव से मुक्त है। सॉण्डर्स महोदय ने लिखा है, "सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाएँ इस जागरण का उतना ही प्रतिनिधित्व करती हैं जितना कालिदास की कविताएँ। उनके शासन-काल में एक नवीन बौद्धिकता व्याप्त थी जो वास्तु तथा स्थापत्य-कलाओं में उतनी ही प्रतिविम्बित होती है जितनी साहित्य और विज्ञान में—एक प्रकार का तार्किक सौन्दर्य जो अनेक रूपों में अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए यूनान की याद दिलाता है और जीवन के प्रति अपने उत्साह तथा साहसिकता की भावना में यह हमें एलिजाबेथ के काल की याद दिलाता है।"[1] अतएव कला के दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल को 'स्वर्ण-युग' मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

(७) **विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार का युग**—गुप्त-काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का खूब प्रचार हुआ और विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई। इस काल की जावा की एक अनुश्रुति के अनुसार गुजरात के राजकुमार ने कई हजार मनुष्यों के साथ समुद्र पार कर जावा में उपनिवेश की स्थापना की थी। गुप्त-काल में पूर्वी द्वीप-समूहों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापरिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इतिहासकारों की धारणा है कि गुप्त-काल में सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, चम्पा, कम्बोडिया आदि द्वीपों में भारतीय भाषा, साहित्य तथा शिक्षा का खूब प्रचार हुआ। भारतीय सामाजिक प्रथाओं, धर्म, कला तथा शासन-पद्धति का इन द्वीपों में अनुसरण होने लगा। डॉ० अल्तेकर ने लिखा

---

[1] "The Buddhist images of Sarnath are the typical of the awakening as the poems of Kalidasa. A new intellectualism was in the art, reflected in the architecture and sculpture as much in literature and science—a logical beauty which reminds us in many ways of Greece at its zenith, as in its spirit of adventure and of the zest of life it reminds us of Elizabethan England."

—Kenneth Saunders.

है, "यदि एक ओर भारत और दूसरी ओर चीन के बीच कोई सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, यदि मूल्यवान स्मारक, जो भारत की संस्कृति के गौरव के मूक साक्षी हैं, समस्त इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो में विकीर्ण परिलक्षित होते हैं तो इसका श्रेय गुप्त-काल को ही प्राप्त है, जिसने भारतीय संस्कृति को बाहर विस्तारित करने की प्रेरणा प्रदान की ।"[1] अतएव विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार के दृष्टिकोण से गुप्त-काल 'स्वर्ण-युग' प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गुप्त-काल में भारत की जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हुई वह न तो उसके पूर्व कभी हो सकती थी और न उसके बाद ही हो सकी, क्योंकि हर्ष के भगीरथ प्रयास करने पर भी भारत पतनोन्मुख होने से न बच सका । अतएव गुप्त-काल को 'स्वर्ण-युग के नाम से पुकारना सर्वथा सत्य है । डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने गुप्त-काल के 'स्वर्ण-युग' होने की सार्थकता का समर्थन करते हुए लिखा है,[2] "साम्राज्यवादी गुप्त-सम्राटों का काल हिन्दू-इतिहास में प्रायः स्वर्ण-युग बतलाया जाता है । इस काल में कई योग्य, विलक्षण प्रतिभाशाली तथा शक्तिशाली राजाओं ने शासन किया, जिन्होंने उत्तरी-भारत के बहुत बड़े भाग का संगठन कर उसे एक राजनीतिक छत्र के नीचे ला दिया और

---

1. "If there exists an appreciable cultral unity today between India on the one side and China on the other, if valuable monuments which are silent witnesses to the glory of Indian culture are seen scattered all over Indo-China, Java, Sumatra and Borneo, the credit must be given to the impulse given by the Gupta age to spread of Indian culture outside India."
—Dr. Altkar.

2. "The period of the Imperial Guptas has often been described as the golden age of Hindu history. It comprised the reigns of a number of able, versatile and mighty monarchs, who brought about the consolidation of a large part of Northern India under 'one political umbrella' and ushered in an age of orderly Government and progress. Both inland and foreign trade floursihed under their vigorous rule and the wealth of the country multiplied. It was, therefore, natural that the internal security and material prosperity should find expression in the development and promotion of religions, literature, art and science."
—Dr. R. S. Tripathi.

एक व्यवस्थित तथा उन्नतिशील युग का प्रादुर्भाव किया। उनके शक्तिशाली शासन के अन्दर बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के व्यापार की उन्नति हुई और देश की धन-सम्पन्नता बढ़ गई। अतएव यह स्वाभाविक था कि आन्तरिक सुरक्षा तथा भौतिक सम्पन्नता की अभिव्यक्ति धर्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान के विकास में उन्नति हुई हो।"

स्मिथ महोदय ने भी गुप्त-काल के ऐश्वर्य तथा वैभव की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "हिन्दू-भारत के इतिहास में महान् गुप्त-सम्राटों का युग जितना सुन्दर और सन्तोषजनक है उतना अन्य कोई युग नहीं। साहित्य, कला तथा विज्ञान की असाधारण मात्रा में उन्नति हुई और बिना अत्याचार के धर्म में क्रमागत परिवर्तन किये गये।"[1]

---

1. The age of the great Gupta kings presents a more agreeable and satisfactory picture than any other period in the history of Hindu India. Literature, art and science flourished in a degree beyond ordinary and gradual changes in religions were effected without persecution." —V. A. Smith.

अध्याय १८

पुष्यभूति-वंश

"As a king he (Harsha) had high and lofty ideals of duty and service. In his zeal for the performance of good deeds he knew no rest and even foregot to eat and sleep,"

—B. N. Luniya

पुष्यभूति वंश का परिचय—गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता एक बार फिर समाप्त हो गई और देश के विभिन्न भागों में फिर छोटे-छोटे राजवंशों की स्थापना हो गई, जिसमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। देश में कोई ऐसी प्रबल शक्ति न थी जो देश की रक्षा कर सकती और इन छोटे-छोटे राज्यों पर नियन्त्रण रख कर देश को सुख तथा शान्ति प्रदान कर सकती। जिस समय हूणों के आक्रमण हो रहे थे और गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था उन्हीं दिनों छठी शताब्दी के आरम्भ में थानेश्वर में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। इस वंश का संस्थापक पुष्यभूति था जो शिव का परम भक्त था। इस वंश के प्रारम्भिक शासकों के विषय में अधिक ज्ञान नहीं है। पुष्यभूति के उपरान्त नरवर्धन, राज्यवर्धन तथा आदित्यवर्धन शासक हुए जो स्वतन्त्र शासक न थे वरन् किसी स्वतन्त्र शासन के सामन्त के रूप में शासन कर रहे थे।

प्रभाकरवर्धन इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक था जिसने परम भट्टारक तथा महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। वह बड़ा ही प्रतापी शासक था और गुर्जरों के विरुद्ध उसने सफलतापूर्वक युद्ध किया था। प्रभाकर के तीन संतानें थीं—दो पुत्र और कन्या। उसके बड़े पुत्र का नाम राज्यवर्धन और छोटे का हर्षवर्धन था। उसकी कन्या का नाम राज्यश्री था जिसका विवाह कान्यकुब्ज (कन्नौज) के मौखरी राजा ग्रहवर्मन के साथ हुआ था। ७०५ ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन सिंहासन पर बैठा परन्तु उसी समय उसे यह सूचना मिली कि मालवा के राजा देवगुप्त ने मौखरी-राज्य पर आक्रमण कर दिया है और ग्रहवर्धन की हत्या कर राज्यश्री को बन्दीगृह में डाल दिया है। इस दुर्घटना का समाचार पाते ही राज्यवर्धन ने शासन का भार अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को सौपकर स्वयं एक विशाल सेना के साथ देवगुप्त को दण्ड देने के लिए प्रस्थान कर दिया। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को युद्ध में परास्त किया और उसके राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और गौड़ (बंगाल) के राजा शशांक ने, जो देवगुप्त का मित्र था, विश्वास-

घात करके राज्यवर्धन की हत्या करा दी और कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया। उसने राज्यश्री को मुक्त कर दिया जो विन्ध्य की पहाड़ियों में अज्ञात स्थान को चली गई। राज्यवर्धन की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई हर्षवर्धन थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा। हर्ष के सिंहासनारोहण की ओर संकेत करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "छठी शताब्दी ईसवी का प्रारम्भ राजनीतिक मंच पर एक अलौकिक व्यक्ति के आगमन से होता है और यद्यपि हर्षवर्धन में न तो अशोक का उच्चादर्श था और न चन्द्रगुप्त मौर्य का सैनिक कौशल, फिर भी वह उन्हीं दोनों महान् सम्राटों की भाँति इतिहासकारों की दृष्टि को आकृष्ट करने में सफल हुआ है।"[1]

हर्ष का सिंहासनारोहण—६०६ ई० में हर्षवर्धन सिंहासनारूढ़ हुआ। इस समय उसकी अवस्था केवल १६ वर्ष की थो। उसने तुरन्त अपनी बहन की खोज के लिए प्रस्थान कर दिया। वह विन्ध्याचल के वनों में गया, जहाँ राज्यश्री इधर-उधर भटक रही थी। आपत्तियों से तंग आकर राज्यश्री एक चिता बना कर अपने को अग्नि को समर्पित करने जा रही थी कि हर्ष वहाँ पहुँच गया और उसकी जान बचा ली। वह राज्यश्री को लेकर कन्नौज चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष से भयभीत होकर शशांक ने कन्नोज छोड़ दिया था। ग्रहवर्मन के कोई सन्तान न थी और न कोई दूसरा उत्तराधिकारी ही था। अतएव मन्त्रियों तथा जनता के अनुरोध करने पर हर्ष ने कन्नौज का भी सिंहासन स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हर्ष थानेश्वर तथा कन्नौज दोनों ही का शासक बन गया और उसकी शक्ति में बड़ी वृद्धि हो गई। हर्ष ने कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बना लिया और वहीं से शासन करने लगा।

हर्ष की दिग्विजय—थानेश्वर तथा कन्नोज दोनों का शासक हो जाने के कारण हर्ष की शक्ति में बड़ी वृद्धि हो गई थी। उसके पास एक विशाल सेना भी थी। इस सेना की सहायता से उसने दिग्विजय कर फिर भारत की राजनीतिक एकता को स्थापित करने का निश्चय कर लिया। स्मिथ महोदय ने हर्ष की विजय-योजनाओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है,[2] "सम्पूर्ण भारत को एक छत्र के नीचे लाने के उद्देश्य

---

[1] "The sixth century A. D. begins with the appearance of a remarkable figure on the political stage and although Harshavardhan had neither the lofty idealism of Ashoka nor the militray skill of Chandragupta Maurya yet he has succeeded in arresting the attention of the historians like both of those great rulers." —Dr. R. S. Tripathi.

[2] "He devoted his single ability and energy to the prosecution of a methodical scheme of conquest with the deliberate purpose of bringing all India under one umbrella."

—V. A. Smith.

से उसने अपनी सारी शक्ति तथा योग्यता को एक सुव्यवस्थित विजय-योजना के कार्यान्वित करने में लगा दिया।"

(१) **वल्लभी के राजा के साथ युद्ध**—सौराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ में मैत्रक वंश शासन कर रहा था। वल्लभी इनके राज्य की राजधानी थी। यह राज्य उत्तर के कन्नौज और दक्षिण के चालुक्य राज्यों के मध्य में स्थित था। अतएव सैनिक दृष्टिकोण से इसका बहुत बड़ा महत्त्व था। इन दिनों ध्रुवसेन द्वितीय वल्लभी में शासन कर रहा था। हर्ष ने वल्लभी पर आक्रमण कर दिया और ध्रुवसेन को युद्ध में परास्त कर दिया। परन्तु ध्रुवसेन की हर्ष से मैत्री हो गई। हर्ष ने अपनी कन्या का विवाह ध्रुवसेन के साथ कर दिया। सम्भवतः ध्रुवसेन ने हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली और उसी के सामन्त के रूप में वह फिर वल्लभी में शासन करने लगा।

(२) **चालुक्य राज्य पर आक्रमण**—वल्लभी राज्य के दक्षिण में चालुक्य-वंश महाराष्ट्र में शासन कर रहा था। पुलकेशिन द्वितीय इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी तथा शक्तिशाली शासक था। उसने अपने पड़ोसी राज्यों को नत-मस्तक कर अपनी शक्ति को अत्यन्त सुदृढ़ बना लिया था। लगभग ६२० ई० में हर्ष ने पुलकेशिन के राज्य पर आक्रमण कर दिया। पुलकेशिन ने डटकर हर्ष का सामना किया और उसे युद्ध में परास्त कर दिया। निराश होकर हर्ष नर्मदा नदी के तट से लौट आया और यही उसके राज्य की सीमा बन गई।

(३) **पूर्वी विजय**—हर्ष को अपनी पूर्व-विजय-यात्रा में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई। उसने मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और ६४१ ई० में उसने मगध के राजा की उपाधि धारण की। कामरूप (आसाम) के राजा भास्करवर्मन से उसकी मैत्री हो गई। यद्यपि हर्ष अपने सबसे बड़े शत्रु शशांक के राज्य का अन्त न कर सका परन्तु बाद में उसके मित्र भास्करवर्मन ने गौड़ राज्य का अन्त कर दिया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष का साम्राज्य उत्तर में हिमालय पर्वत से दक्षिण में नर्मदा नदी के तट तक और पूर्व में आसाम से पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला था। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रदेश में उसका प्रत्यक्ष शासन न था। कुछ भाग में वह स्वयं शासन करता था और कुछ में उसके सामन्त शासन करते थे।

हर्ष का शासन-प्रबन्ध—हर्ष न केवल एक महान् विजेता था वरन् वह एक कुशल शासक भी था। डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार ने हर्ष की प्रशासकीय प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है,[1] "इसमें सन्देह नहीं कि वह भारत के महानतम सम्राटों

---

[1] He was undoubtedly one of the great kings of India. He was called upon to rule over two distracted kingdoms in a period of turmoil. He succeeded to a large extent in restoring respect for authority in the vast tracts of Northern India."

—Dr. R. C. Majumdar.

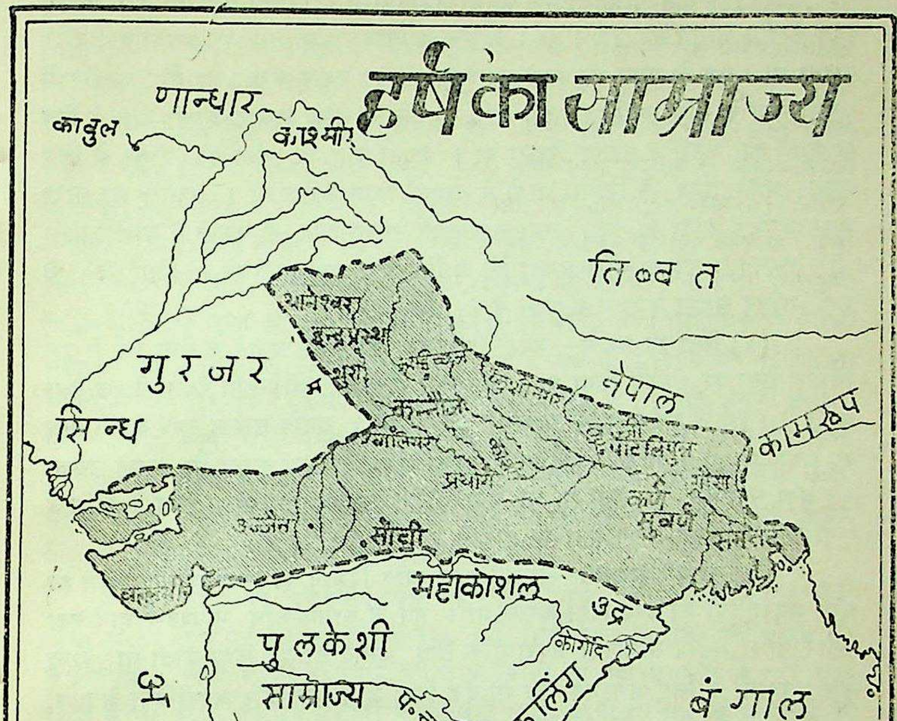
हर्ष का साम्राज्य
गान्धार
काबुल
काश्मीर
तिब्बत
गुरजर
सिन्ध
थानेश्वर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
अहिच्छत्र
कुशीनगर
नेपाल
कन्नौज
ग्वालियर
कौशाम्बी
पाटलिपुत्र
कामरूप
प्रयाग
गया
कर्ण सुवर्ण
उज्जैन
साँची
समतट
वल्लभी
महाकोशल
उड्र
कोंगोद
पुलकेशी साम्राज्य
पू० चालुक्य
कलिंग
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
पल्लव
नीलौर
काँची
चोल
चेर
मदुरा
पाण्ड्य
हिन्द महासागर

में एक था। एक उथल-पुथल के काल में उसे दो विशृंखलित राज्यों का शासन करना पड़ा। वह उत्तरी भारत के एक विशाल क्षेत्र के बहुत बड़े अंश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने सफल रहा।'' उसने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था का ही अनुसरण किया था। उसके शासन की रूप-रेखा इस प्रकार थी :—

(१) **केन्द्रीय शासन**—हर्ष की शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी और सम्राट् स्वयं केन्द्रीय शासन का प्रधान था। शासन के विभिन्न भागों पर वह अपनी कड़ी दृष्टि रखता था। युद्ध के समय वह स्वयं सेनाध्यक्ष का पद ग्रहण करता था और रणक्षेत्र में अपनी सेना के साथ उपस्थित रहता था। शान्ति के समय सम्राट् अपनी प्रजा के हित के कार्यों को करने में संलग्न रहता था। अपनी प्रजा की दशा को जानने के लिए सम्राट् अपने राज्य के विभिन्न भागों में यात्राएँ किया करता था। सम्राट् का सारा समय धार्मिक कार्यों को करने तथा शासन को सुचारु-रीति से चलाने में व्यतीत होता था। सम्भवतः सम्राट् को सहायता देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् भी होती थी। ये मन्त्री सचिव अथवा अमात्य कहलाते थे।

(२) **सेना का प्रबन्ध**—अपनी दिग्विजय को सफल बनाने के लिए हर्ष ने एक विशाल सेना का संगठन किया था। इस सेना में हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिक हुआ करते थे। हर्ष ने रथ-सेना की व्यवस्था नहीं की थी। यद्यपि सम्राट् स्वयं अपनी सेना का सेनाध्यक्ष होता था और रणक्षेत्र में उसका संचालन किया करता था; परन्तु उसका एक बड़ा सेनापति भी होता था जो महाबलाधिकृत कहलाता था। सेना के विभिन्न अंगों के लिए अलग-अलग सेनापति होते थे।

(३) **न्याय व्यवस्था**—सम्राट् स्वयं न्याय-विभाग का सर्वोच्च न्यायाधीश था और अपराधियों को दण्ड दिया करता था। हर्ष के शासन-काल में दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। यद्यपि साधारण अपराधों के लिए जुर्माने का दंड दिया जाता था; परन्तु कुछ अपराधों के लिए अंग-भंग का भी दंड दिया जाता था और अपराधियों के हाथ, नाक, कान काट लिये जाते थे। राजद्रोहियों को जीवन भर के लिए जेल में बन्द कर दिया जाता था। कुछ अपराधों के लिए लोगों को नगर से निकाल दिया जाता था और जंगलों में भेज दिया जाता था। दंड-विधान की कठोरता के कारण अपराध कम होते थे और लोग शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत किया करते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सड़कें चोर-डाकुओं से पूर्ण-रूप से सुरक्षित न थीं, क्योंकि चीनी यात्री ह्वेनसांग कई बार डाकुओं के चक्कर में पड़ गया था।

(४) **शासन की इकाइयाँ**—हर्ष का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। अतएव एक केन्द्र से सम्पूर्ण साम्राज्य को सँभालना सम्भव न था। फलतः हर्ष ने अपने साम्राज्य को कई प्रान्तों में विभक्त कर रक्खा था। यह प्रान्त 'भुक्ति', 'देश' आदि नामों से पुकारे जाते थे। भुक्ति के शासक राजस्थानीय, राष्ट्रीय, उपरिक आदि कहलाते थे। इन पदों पर प्रायः राज-कुल के राजकुमार नियुक्त किए जाते थे। प्रत्येक प्रान्त कई जिलों में विभक्त रहता था। यह जिले 'विषय' कहलाते थे और इनका शासक विषयपति कहलाता था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव होता था। गाँव के सभी मामलों की देख-भाल गाँव के प्रतिष्ठित लोग किया करते थे जो 'महत्तर' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त गाँव के प्रबन्ध के लिए 'ग्रामिक' भी होता था।

(५) **राजस्व-विभाग**—हर्ष बड़ा ही उदार शासक था। अतएव वह अपनी प्रजा से उपज का केवल छठा भाग लेता था। आयात-कर भी बहुत कम था जो सीमा-

स्थित चुंगीघरों में वसूल किया जाता था। राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग विद्वानों को पुरस्कार देने, धार्मिक कृत्यों तथा विभिन्न सम्प्रदायों को दान-दक्षिणा देने में व्यय किया जाता था।

(६) **लोकहित के कार्य**—हर्ष बड़ा ही दयालु शासक था। वह सदैव अपनी प्रजा के कल्याण की चिन्ता किया करता था। उसने सड़कें बनवाईं। उनके किनारे छायादार वृक्ष लगवाये, यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ बनवाईं। इन धर्मशालाओं में यात्रियों के लिए भोजन, चिकित्सा तथा औषधि की पूरी व्यवस्था रहती थी। राज्य की ओर से शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गई थी। नालन्दा तथा अन्य शिक्षा-केन्द्रों की राज्य की ओर से पूरी सहायता की जाती थी। साहित्यकारों की भी सहायता करके उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। हर्ष में उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और सभी धर्म वाले उससे दान-दक्षिणा पाते थे। उसने अनेक मन्दिर, चैत्य, विहार, स्तूप आदि बनवाये थे। हर्ष के शान्ति-कालीन कार्यों की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "हर्ष एक विजेता तथा शासक के रूप में तो महान् था ही, वह शान्ति-कालीन कलाओं में और भी अधिक महान् था जिनकी विजयें युद्ध की विजयों से कम विख्यात नहीं होतीं।"[1]

(७) **प्रयाग की पंचवर्षीय सभा**—हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक सभा किया करता था। इस अवसर पर वह बुद्ध, सूर्य, शिव आदि देवताओं को समान रूप से सम्मानित किया करता था और उनकी प्रतिमाओं की बड़े समारोह के साथ पूजा किया करता था। इन सब सभाओं में वह सभी सम्प्रदाय वालों तथा दीन-दुखियों को दान-दक्षिणा दिया करता था। इसी से वह महादान-भूमि कहलाता था। कहा जाता है कि इस अवसर पर सम्राट् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में दे देता था। यहाँ तक कि वह अपने मूल्यवान आभूषण भी दान में दे दिया करता था। प्रयाग की एक पंचवर्षीय परिषद् में चीनी यात्री ह्वेनसांग भी विद्यमान था, जिसका उसने आँखों देखा वर्णन किया है।

ह्वेनसांग का परिचय—ह्वेनसांग एक चीनी यात्री था, जो हर्षवर्धन के शासन-काल में भारत आया था। ह्वेनसांग का जन्म ६०५ ई० में चीन के एक नगर में हुआ था। ह्वेनसांग का भाई पहले भिक्षु बन गया था। ह्वेनसांग ने भी अपने भाई का अनुकरण किया और उसने भी भिक्षु की दीक्षा ले ली। ह्वेनसांग बाल्य-काल से ही बड़ा जिज्ञासु था और वह सदैव सत्य की खोज में संलग्न रहता था। उसने चीन के विभिन्न स्थानों में जाकर अध्ययन किया और अपने ज्ञान की वृद्धि की। अन्त में वह चङ्गगन में निवास करने लगा। यहीं पर उसने भारत आने की योजना बनाई। वह अपने कुछ मित्रों के साथ चीन के सम्राट् के पास गया और उससे सहायता की

---

[1] "Great as was Harsha as a ruler and conqueror, he was greater still in the arts of peace that hath his victories no less renowned than war." —Dr. R. S. Tripathi.

प्रार्थना की। सम्राट् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार न की परन्तु ह्वेनसांग निराश न हुआ। ६२६ ई० में जब उसकी अवस्था २४ वर्ष की थी, दो अन्य साहसिक व्यक्तियों के साथ उसने भारत के लिए प्रस्थान कर दिया। कुछ दूर यात्रा करने के उपरान्त उसके दोनों साथी हताश हो गये और अपने देश को लौट गये। परन्तु ह्वेनसांग ने साहस न छोड़ा और वह मार्ग की कठिनाइयों को झेलता हुआ आगे बढ़ता गया। मार्ग में व्यापारियों से उसे बहुत सहायता मिली। मार्ग की भयंकर कठिनाइयों को सहन करता हुआ ह्वेनसांग अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता गया। जिस किसी राज्य में ह्वेनसांग गया वहीं उसका स्वागत तथा सम्मान हुआ और उसे सहायता मिली। अन्त में ६३१ ई० में वह काश्मीर पहुँचा। यहाँ पर उसने एक बिहार में दो वर्ष अध्ययन में व्यतीत किए। काश्मीर से मथुरा, थानेश्वर आदि स्थानों की यात्रा करता हुआ हर्ष की राजधानी कन्नौज पहुँचा। यहाँ पर हर्ष ने उसका बड़ा स्वागत तथा आदर-सत्कार किया। कन्नौज से प्रस्थान कर उसने भारत के अन्य तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और प्रयाग, कौशाम्बी, अयोध्या, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पाटलिपुत्र, गया तथा राजगृह होता हुआ नालन्दा पहुँचा। वहाँ पर उसने संस्कृत तथा बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन करने में दो वर्ष व्यतीत किए। ६४० ई० में वह कांचीपुर अर्थात् कांजीवरम पहुँचा। वहाँ से महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्धु, मुल्तान तथा गजनी होता हुआ वह काबुल नदी के किनारे पहुँच गया। वहाँ से पामीर की पहाड़ियों को पार कर काशगर तथा खोतन होता हुआ अपने देश को लौट गया। चीन के राजा ने उसका बड़ा स्वागत तथा आदर-सत्कार किया। ह्वेनसांग ने अपने जीवन का शेष भाग भारत से लाये हुए ग्रंथों का अनुवाद करने तथा अपनी यात्रा के विवरण लिखने में व्यतीत किया। ६६४ ई० में ह्वेनसांग का परलोक-वास हो गया, परन्तु भारत तथा चीन के इतिहास में ह्वेनसांग का नाम अमर हो गया है।

ह्वेनसांग का भारतीय विवरण—ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर अच्छा प्रभाव डाला है।

(१) राजनीतिक दशा—तत्कालीन राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष का शासन-प्रबन्ध बड़ा ही अच्छा था। वह अपनी प्रजा की सुरक्षा तथा सुख का बड़ा ध्यान रखता था। राज्य-कर बहुत कम तथा हल्के थे। इससे प्रजा बड़ी सुखी तथा सम्पन्न थी। लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। मजदूरों से बेगार नहीं ली जाती थी। किसानों से भूमि की उपज का छठा भाग सरकारी कर के रूप में लिया जाता था। सरकारी भूमि चार भागों में बँटी थी। एक भाग की आय से सरकारी खर्च चलता था, दूसरा भाग सरकारी कर्मचारियों को जागीर के रूप में दिया जाता था। तीसरे भाग की आय विद्या तथा कलाकौशल में व्यय की जाती थी। चौथे भाग की आय विभिन्न सम्प्रदायों की सहायता करने तथा दान-दक्षिणा देने में व्यय की जाती थी। सड़कें बड़ी सुन्दर

तथा चौड़ी होती थीं और उनके किनारे छायादार वृक्ष लगे होते थे। यद्यपि सड़कों पर सुरक्षा की पूरी व्यवस्था रहती थी, परन्तु वे डाकुओं से मुक्त न थीं। यात्रियों को हर प्रकार की सुविधा देने का प्रयत्न किया जाता था। अपराधियों को बड़े कठोर दण्ड दिये जाते थे। राजद्रोहियों को सारे जीवन के लिए बन्दी-गृह में डाल दिया जाता था। बड़े अपराधों के लिए अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था और लोगों के हाथ-पैर, नाक-कान काट लिये जाते थे। व्यापार से राज्य को अच्छी आय हो जाती थी। चुंगी तथा घाट के करों से भी राज्य को आय हो जाती थी। हर्ष की सेना बड़ी विशाल थी और उसके सैनिक शस्त्र चलाने में बड़े कुशल थे।

(२) **सामाजिक दशा**—ह्वेनसांग के विवरण से भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा का भी पता लग जाता है। चीनी यात्री लिखता है कि भारत के लोग बड़ी सरल प्रकृति के तथा ईमानदार होते थे और उनका जीवन बड़ा ही सादा था। लोगों का रहन-सहन तथा-खान-पान बड़ा सादा था। दूध, घी, भुने चने तथा मोटी रोटी लोगों का साधारण भोजन था। मांस, लहसुन, प्याज आदि का प्रयोग लोग बहुत कम करते थे। मिट्टी तथा काठ के बर्तनों में केवल एक बार भोजन किया जाता था, फिर उन्हें फेंक दिया जाता था। जाति-प्रथा के बन्धन बड़े कठोर हो गये थे और लोग छुआछूत का बड़ा विचार करते थे। वस्त्रों की स्वच्छता पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। अन्तर्जातीय विवाहों की प्रथा न थी और बाल-विवाह का प्रचलन था। पर्दे की प्रथा न थी और स्त्री-शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। सती-प्रथा का प्रचलन था। विधवा-विवाह की प्रथा न थी। विद्या तथा कला-कौशल में लोगों की बड़ी रुचि थी। संस्कृत ही विद्वानों की भाषा थी। संन्यासी लोगों का समाज में बड़ा आदर था। वे जनता में ज्ञान का प्रचार किया करते थे। ये संन्यासी ऐसे विरक्त होते थे कि निन्दा तथा प्रशंसा का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

(३) **आर्थिक दशा**—तत्कालीन आर्थिक दशा पर प्रकाश डालते हुए ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष की प्रजा सुखी तथा सम्पन्न थी। अधिकांश लोग खेती-बारी किया करते थे और यही उनकी जीविका का प्रधान साधन था। व्यापार प्रधानतः वैश्य लोगों का व्यवसाय था, जो जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों से होता था। उन दिनों भवन इतने सुन्दर थे कि चीनी यात्री उनकी सुन्दरता को देखकर आश्चर्यचकित हो गया था। गरीब लोगों के मकान भी ईंट अथवा काठ के बने होते थे। इन भवनों पर भाँति-भाँति की चित्रकारी बनी रहती थी, जिससे वे बड़े सुन्दर लगते थे। देश धन-धान्य पूर्ण था और लोग सुखी थे। ह्वेनसांग स्वयं भी बहुमूल्य धातुओं की बनी हुई बुद्ध जी की मूर्तियाँ अपने देश को ले गया था।

(४) **धार्मिक दशा**—चीनी यात्री के वर्णन से पता लगता है कि ब्राह्मण-धर्म उन दिनों बड़ी उन्नत दशा में था और ब्राह्मण लोग समाज में बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इन दिनों वैदिक-क्रियाओं का प्रचलन था और यज्ञ आदि खूब होते थे। अधिकांश लोग वैष्णव अथवा शैव-धर्म के अनुयायी थे। थानेश्वर में शैव-धर्म का अधिक प्रचलन था। ब्राह्मण-धर्म में मूर्ति-पूजा का खूब प्रचार था और मन्दिरों में

पूजा के लिए मूर्तियों की स्थापना की जाती थी। ब्राह्मण-धर्म के साथ-साथ बौद्ध-धर्म का भी प्रचार था। परन्तु जहाँ ब्राह्मण-धर्म उन्नत दशा में था वहाँ बौद्धधर्म अवनत दशा में था। यद्यपि बौद्ध-धर्म के महायान तथा हीनयान दोनों ही पंथों का प्रचलन था, परन्तु महायान सम्प्रदाय हीनयान सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक अच्छी दशा में था। यद्यपि पश्चिमोत्तर भारत में बौद्ध-धर्म निष्प्राण-सा हो गया था परन्तु पूर्वी भारत में अब भी उसका प्रचार था। बौद्धों की संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही थी, परन्तु उनके विहार, मठ, स्तूप आदि अब भी बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। बौद्ध लोग भी मूर्ति-पूजा किया करते थे। ये लोग बुद्ध जी को ईश्वर का अवतार मानने लगे थे और उनकी मूर्ति बनाकर पूजा किया करते थे। ह्वेनसांग स्वयं बुद्ध जी की बहुत-सी मूर्तियाँ अपने साथ ले गया था।

(५) **सांस्कृतिक दशा**—ह्वेनसांग के विवरण से भारत की तत्कालीन सांस्कृतिक दशा तथा शिक्षा-विधि का भी पता लग जाता है। वह लिखता है कि अध्यापक लोग अपने विद्यार्थियों के साथ बड़ी सहानुभूति रखते थे और वे उन्हें परिश्रम के साथ पढ़ाते थे। शिक्षा निःशुल्क थी और व्यक्तिगत सेवा के अतिरिक्त विद्यार्थियों से कुछ नहीं लिया जाता था। अध्यापक लोग बड़े ही योग्य तथा चरित्रवान होते थे। नालन्दा उस समय का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था जो पटना जिले में राजगृह के निकट स्थित था। ह्वेनसांग ने स्वयं दो वर्ष तक इस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था। इस विश्वविद्यालय की इतनी अधिक ख्याति थी कि विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ पर अध्ययन करने के लिए आया करते थे। इस विश्वविद्यालय में कई हजार भिक्षु निवास करते थे। यद्यपि नालन्दा प्रधानतः बौद्ध-शिक्षा का केन्द्र था परन्तु इसमें सभी धर्मों की शिक्षा दी जाती थी और वाद-विवाद की पूरी स्वतन्त्रता थी। विश्वविद्यालय के नियम कठोर थे जिनका अध्यापकों तथा विद्यार्थियों दोनों ही को पालन करना पड़ता था। इस संस्था में आचार्यों की संख्या लगभग १००० और विद्यार्थियों की संख्या लगभग १०,००० थी। इसका व्यय २२० गाँवों की आय से चलता था। बौद्ध-शिक्षा के साथ-साथ ब्राह्मण शिक्षा भी इस काल मे बड़ी उन्नत दशा में थी।

हर्ष की मृत्यु—लगभग ४२ वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त हर्ष का ६४८ ई० में परलोकवास हो गया। उसके कोई पुत्र न था, अतएव उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके मन्त्री अर्जुन ने उसके राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। साम्राज्य पर कई नये राज्यों की स्थापना हो गई। इस प्रकार पुष्यभूति-वंश का अन्त हो गया।

हर्ष महान् सम्राट् क्यों ?—हर्ष की गणना भारत के महान् सम्राटों में की जाती है, इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **महान् विजेता तथा साम्राज्य-निर्माता**—हर्ष की दिग्विजय के महान् कार्य का वर्णन करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "एक युद्ध ने अशोक की रक्त-पिपासा को शांत कर दिया, हर्ष अपनी तलवार को म्यान में रखने के लिए तब संतुष्ट हुआ

जब उसने सैंतीस वर्ष तक, जिनमें छः वर्षों तक निरन्तर और शेष समय में सविराम युद्ध कर लिया।''[1] हर्ष एक महान् विजेता तथा साम्राज्य-निर्माता था। उसे अपने पूर्वजों से थानेश्वर का छोटा-सा राज्य प्राप्त हुआ था, परन्तु अपनी दिग्विजय द्वारा उसने उसे एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया और सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उसने अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। यद्यपि अपनी दक्षिण भारत की विजय-यात्रा में यह सफल नहीं रहा और चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया, परन्तु उसकी उत्तर की विजय उसे भारत के महान् सम्राटों में स्थान प्रदान करती है। गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भारत की राजनीतिक एकता जो समाप्त हो गई थी उसे फिर से स्थापित करने का श्रेय हर्ष को ही प्राप्त है। जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना उसने अपने बाहुबल से की थी उसे अपने जीवन-काल में सुरक्षित तथा सुसंगठित रखने में भी वह समर्थ रहा। अतएव उसकी गणना भारत के महान् विजेताओं तथा साम्राज्य-निर्माताओं में करना उचित ही है।

(२) महान् शासक—हर्ष न केवल महान् विजेता तथा साम्राज्य-निर्माता था वरन् अपने बाहुबल से जिस विशाल साम्राज्य की उसने स्थापना की उसके सुशासन की भी उसने सुन्दर व्यवस्था की। एक शासक के रूप में उसकी महानता इस बात में पाई जाती है कि उसका शासन बड़ा ही उदार, दयालु तथा प्रजा-हितकारी था। उसने कर बहुत कम तथा हल्के लगाये थे, जिससे प्रजा को कर देने में कष्ट न हो और उसकी आर्थिक दशा अच्छी बनी रहे। देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए उसने दण्ड-विधान को कठोर बना दिया था। अपराधों की कमी के कारण प्रजा सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी। हर्ष अपनी प्रजा के सुख का इतना ध्यान रखता था कि वह अपने राज्य में घूम-घूम कर अपनी प्रजा की कठिनाइयों को जानने तथा उनको दूर करने का प्रयत्न किया करता था। हर्ष अपने विशाल साम्राज्य के सुशासन की स्वयं देख-रेख करता था और अपने कर्मचारियों पर निर्भर नहीं रहता था। स्मिथ महोदय ने उसके इस गुण की प्रशंसा करते हुए लिखा है।''[2] ''अपने विस्तृत साम्राज्य पर नियन्त्रण रखने के लिए हर्ष अपने

---

1. "One campaign had satiated Ashoka's thirst for blood: thirty-seven years of warfare, cotinuous for six years and intermittent for the rest of the time were needed by Harsha before he could be content to sheathe the sword." —V. A. Smith.

2. For the control of his extensive empire Harsha relied upon his personal supervision rather than upon the service of a trained bureaucracy." —V. A. Smith.

प्रशिक्षित कर्मचारियों की सेवाओं पर निर्भर न रहकर अपने व्यक्तिगत निरीक्षण पर भरोसा करता था।" इस सम्बन्ध में डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "अपने विस्तृत शासन-सम्बन्धी मामलों के निरीक्षण के कठोर कार्य को उसने स्वयं करने का प्रयत्न किया।"[1] उसने अनेक लोक-मंगलकारी कार्य किए, जिनसे उसकी प्रजा बड़ी ही सुखी तथा सम्पन्न बन गई। अतएव एक शासक के रूप में हर्ष महान् था।

(३) **महान् धर्मपरायण**—हर्ष का हृदय न केवल बड़ा ही कोमल तथा दयालु था वरन् उसमें धर्मपरायणता भी उच्च-कोटि की थी। प्रारम्भ में वह ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था और शिव, सूर्य आदि की उपासना किया करता था। बाद में वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया था। परन्तु इस धर्म-परिवर्तन से उसके धार्मिक विचारों में किसी भी प्रकार की संकीर्णता नहीं आई थी। उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और सभी धर्म वालों को वह आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। वह सभी सम्प्रदाय वाले साधु-संन्यासियों का आदर करता था और उन्हें दान-दक्षिणा दिया करता था। प्रयाग की अपनी पंचवर्षीय सभा में वह सभी धर्म वालों का आदर करता था और उन्हें अपने अपार दान से मुग्ध कर देता था। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी हर्ष महान् था।

(४) **महान् विद्यानुरागी**—हर्ष महान् साहित्यानुरागी था। हर्ष के विद्यानुराग की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "हर्ष के स्मरणीय होने का एक कारण यह है कि वह विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। परन्तु हर्ष केवल विद्वानों का आश्रयदाता मात्र ही न था वरन् उसने स्वयम् भी अपनी लेखनी का प्रयोग उसी कौशल के साथ किया जिस कौशल से उसने अपनी तलवार का प्रयोग किया था।"[2] इस सम्बन्ध में डॉ० विसेन्ट स्मिथ ने लिखा है, "सम्राट् हर्ष न केवल योग्य साहित्यकारों का उदार आश्रयदाता था, वह स्वयम् भी एक उच्च-कोटि का लेख-विशारद तथा सुविख्यात लेखक था।"[3] वह स्वयं एक उच्च-कोटि का विद्वान् तथा लेखक था। उसने 'नागानन्द,' 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नामक तीन ग्रन्थों

---

[1] "Harsha essayed the trying task of supervising personally the affairs of his wide administration." —Dr. R. S. Tripathi.

[2] "One of the claims of Harsha to remembrance rests on his liberal patronage of learning...But Harsha was not a mere detached patron of letters. He himself appears to have wielded the pen with no less dexterity than the sword."

—Dr. R. S. Tripathi.

[3] "King Harsha was not only a liberal patron of literary merit; but was himself an accomplished calligraphist and author of reputation." —V. A. Smith.

की रचना की थी। हर्ष विद्वानों तथा लेखकों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार का सबसे बड़ा विद्वान् बाणभट्ट था, जिसने 'हर्ष-चरित' तथा 'कादम्बरी' नामक ग्रन्थों की रचना की। शिक्षा-प्रसार में भी हर्ष की बड़ी रुचि थी। उसने अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना करवाई और बड़ी उदारतापूर्वक उनकी सहायता की। हर्ष ने नालन्दा विश्वविद्यालय को सहायता के लिए २२० गाँवों की आय दान में दे दी थी। इस प्रकार हर्ष ने अपनी प्रजा के न केवल भौतिक सुख तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न किया, वरन् उसने अपनी प्रजा के बौद्धिक विकास के लिए भी सुविधाएँ उपस्थित कीं। इस प्रकार उसके शासन-काल में सरस्वती की पूरी सेवा हुई। अतएव उसे महान् सम्राट् मानना सर्वथा उचित है।

(५) **संस्कृति का महान् सेवक**—हर्ष ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के पोषण तथा प्रचार का भी अथक प्रयास किया। उसके शासन-काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में खूब प्रचार हुआ। तिब्बत, चीन तथा मध्य-एशिया के साथ इस काल में भारत का बड़ा घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था और इन देशों में भारतीय संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप-समूहों में भी इस काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ। इस प्रकार भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के दृष्टिकोण से भी हर्ष का शासन-काल बड़ा गौरवपूर्ण था। अतएव हर्ष को भारतीय सम्राटों में उच्च स्थान प्रदान करना तथ्य-संगत है।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने हर्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "हर्ष प्राचीन भारत के इतिहास के श्रेष्ठतम सम्राटों में से है। उसमें समुद्रगुप्त तथा अशोक दोनों ही के गुण संयुक्त थे। उसका जीवन हमें पहले की सैनिक सफलताओं और दूसरे की पवित्रता की याद दिलाता है।"[1]

---

[1] "Harsha is one of the noblest kings in ancient Indian history. He combined in himself some of the attributes and characteristics of both Samudragupta and Ashoka. His career recalls the military achievements of the farmer and piety of the latter." —Dr. Radha Kumud Mukerjee.

अध्याय १९

राजपूत-युग

"The political unification of Northern India achieved under the suzerainty of Harsh did not hold when the cohesive force of his personality was withdrawn by his death. It soon spilt up into a number of small States. The unified history of a large Empire lost itself in local annals." —Dr. R. K.Mukerjee.

राजपूत-युग का तात्पर्य—हर्ष की मृत्यु के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता एक बार फिर समाप्त हो गई और देश के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई। इन राज्यों के शासक राजपूत लोग थे। अतएव इस युग को 'राजपूत-युग' के नाम से पुकारा गया है। इस युग का आरम्भ हर्ष की मृत्यु से होता है और इसका अन्त उस समय होता है जब भारत में मुसलमानों की राज-संस्था स्थापित हो गई। हर्ष की मृत्यु ६४८ में हुई थी और १२०० ई० तक मुसलमानों की राजसंस्था भारत में स्थापित हो गई थी। अतएव ६४७ ई० से १२०० ई० तक के काल को भारतीय इतिहास में 'राजपूत-युग' के नाम से पुकारा गया है।

राजपूत-युग का महत्त्व—भारतीय इतिहास में राजपूत-युग का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह वह युग था जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए। लगभग पाँच शताब्दियों तक वीर राजपूतों ने वीरता तथा साहस के साथ इन आक्रमणकारियों का सामना किया और अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा में तन-मन-धन से संलग्न रहे। यद्यपि वे विदेशी आक्रमणकारियों से अपने देश की रक्षा न कर सके, परन्तु उनकी वीरता तथा साहस की कहानियाँ भारतीय इतिहास में अमर हो गईं।

राजपूतों में कुछ ऐसे महान् गुण थे, जिनमें न केवल उनके देशवासी वरन् उनके शत्रु भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। राजपूत अपने वचन का पक्का होता था और किसी के साथ वह विश्वासघात नहीं करता था। वह कभी शत्रु को पीठ नहीं दिखाता था वरन् रणक्षेत्र में वीरतापूर्वक युद्ध कर अपने प्राण दे देता था और वीरगति प्राप्त कर लेता था। निरस्त्र शत्रु पर प्रहार करना वह महापाप समझता था और शरणागत की रक्षा करना वह अपना परम धर्म समझता था। वह रणप्रिय होता था। और रणक्षेत्र ही उसकी कर्मभूमि होती थी। देश की रक्षा का सम्पूर्ण भार उसी को वहन करना पड़ता था। अपने उच्चादर्शों तथा अलौकिक गुणों

के कारण राजपूत बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। राजपूतों के गुणों की प्रशंसा करते हुए कर्नल टाड ने लिखा है, "यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उच्च साहस, देश-भक्ति, स्वामि-भक्ति, आत्म-सम्मान, अतिथि-सत्कार तथा सरलता के गुण राजपूतों में विद्यमान थे।"[1] डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने भी राजपूतों के गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "राजपूत में आत्म-सम्मान की भावना उच्च कोटि की होती थी और वह सत्य को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। वह अपने शत्रुओं के प्रति भी उदार था, और विजयी हो जाने पर वह उस प्रकार की बर्बरता के कार्य नहीं किया करता था, जिनका किया जाना मुस्लिम-विजय के फलस्वरूप अवश्यम्भावी था। युद्ध में वह कभी बेईमानी या विश्वासघात नहीं करता था और गरीब तथा निरपराध व्यक्तियों को कभी क्षति नहीं पहुँचाता था।"[2]

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी राजपूत-युग का बड़ा महत्त्व है। इन राजाओं ने देश को धन-धान्य पूर्ण बनाने का अथक प्रयास किया। इनके शासन-काल में साहित्य तथा कला की उन्नति हुई और धर्म की रक्षा का प्रयत्न किया गया। राजपूत-राजाओं ने अपने दरबार में कवियों तथा कलाकारों को प्रश्रय देकर और पुरस्कार से प्रोत्साहित कर साहित्य तथा कला की उन्नति में बड़ा योग दिया। इस काल में असंख्य मन्दिरों का निर्माण किया गया और उन्हें दान-दक्षिणा से सम्पन्न बना दिया गया। जिन राजपूतों का भारतीय इतिहास में इतना बड़ा महत्त्व है, उनकी उत्पत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

राजपूत शब्द की व्याख्या—राजपूत संस्कृत के राजपुत्र का बिगड़ा हुआ स्वरूप है। प्राचीन काल में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किसी विशेष जाति के लिए नहीं होता था, वरन् इसका प्रयोग राजकुमारों तथा राज-वंश के लोगों के लिए होता था। परन्तु प्राचीन काल में प्रायः क्षत्रिय ही राज-वंश के होते थे, अतएव 'राजपूत' शब्द सामान्यतः क्षत्रिय राजकुमारों के लिए प्रयोग किया जाता था। जब मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया तब उन्हें राजपुत्र शब्द के उच्चारण करने में कठिनाई हुई, अतएव वे राजपुत्र के स्थान पर राजपूत शब्द का प्रयोग करने लगे। राजपूत शब्द

---

[1] "High courage, patriotism, loyalty, honour, hospitality and simplicity are qualities which must at once be conceded to them." —Tod.

[2] "The Rajput had a high sense of honour and a strict regard for truth. He was generous towards his foes, and even when he was victorious, he seldom had recourse to those acts of barbarity which were the inevitable concommitants of Muslim conquest. He never employed deceit or treachery in war and scrupulously abstained from causing misery to the poor and innocent people." —Dr. Ishwari Prasad

की व्याख्या करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "राजपूताना के कुछ राज्यों में साधारण बोलचाल में राजपूत शब्द का प्रयोग क्षत्रिय सामन्त या जागीरदार के अवैध पुत्रों को सूचित करने के लिए किया जाता है। परन्तु वास्तव में यह संस्कृत के राजपुत्र शब्द का विकृत स्वरूप है जिसका अर्थ होता है राज-वंश का।"[1] चूंकि राजपूत शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी के दूसरे भाग में हुआ और उसके पूर्व कभी इसका प्रयोग नहीं हुआ था; अतएव राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत-भेद उत्पन्न हो गया। इस सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "राजपूतों की उत्पत्ति विवाद-ग्रस्त है। राजपूतों की उत्पत्ति को निश्चित रूप से निर्धारित करने के लिए ऐतिहासिक विदग्धता का प्रयोग किया गया है और ब्राह्मण साहित्य तथा चारणों की प्रशस्तियों में उन्हें जो उच्च अभिजातीय स्थान प्रदान किया गया है उसने कठिनाई को अत्यधिक बढ़ा दिया है।"[2]

राजपूतों की उत्पत्ति—राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् उन्हें विशुद्ध प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान बतलाते हैं। कुछ उन्हें विदेशियों के वंशज बतलाते हैं और कुछ मिश्रित-रक्त का बतलाते हैं। अब इन विभिन्न मतों की व्याख्या कर देना आवश्यक है :—

(१) प्राचीन क्षत्रियों से उत्पत्ति—अधिकांश भारतीय इतिहासकारों की यह धारणा है कि राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों के वंशज हैं, जो अपने को सूर्यवंशी तथा चन्द्र-वंशी मानते हैं। यह विचार भारतीय अनुश्रुतियों तथा परम्परा के अनुकूल पड़ता है। प्राचीन अनुश्रुतियों से हमें पता लगता है कि प्राचीन क्षत्रिय-समाज दो भागों में विभक्त था। इनमें से एक सूर्यवंशी और दूसरा चन्द्रवंशी कहलाता था। कालान्तर में इनकी एक तीसरी शाखा उत्पन्न हो गई जो यदुवंशी कहलाने लगी। इन्हीं तीन शाखाओं के अन्तर्गत सभी क्षत्रिय आ जाते थे, जिनका मुख्य व्यवसाय शासन करना तथा आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करना था। क्षत्रियों का यह कार्य भारतीय जाति-व्यवस्था के अनुकूल था। कालान्तर में कुल के महान् ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के

---

[1] "The word Rajput, in common parlance, in certain states of Rajputana is used to denote the illegitimate sons of a Kshatriya chief or Jagirdar. But in reality it is the corrupted form of the Sanskrit word Rajputra which means a scion of the royal blood." —Dr. Ishwari Prasad

[2] "The orgin of the Rajputs is a matter of controversy Historical ingenuity has been much exercised in determining precision the origin of the Rajputs, and the difficulty has been considerably aggravated by the lofty pedigrees assigned to them by Brahmanical litrature and the bardic chronicles."

—Dr. Ishwari Prasad-

नाम पर भी वंश के नाम पड़ने लगे। इससे क्षत्रियों की अनेक उपजातियाँ बन गईं। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त क्षत्रियों की इन्हीं विभिन्न शाखाओं ने भारत के विभिन्न भागों में अपना राज्य स्थापित कर लिया और राजपूत नाम से प्रसिद्ध हुईं। राजपूतों का जीवन, उनके आदर्श तथा उनका धर्म उसी प्रकार का है, जो प्राचीन क्षत्रियों का था। उनमें विदेशीपन की कोई छाप नहीं। अतएव अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने उन्हें प्राचीन क्षत्रियों की ही सन्तान माना है।

(२) **अग्निकुण्ड से उत्पत्ति**—एक अनुश्रुति के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई है। कहा जाता है कि जब परशुराम ने क्षत्रियों का विनाश कर दिया तब समाज में बड़ी गड़बड़ी फैल गई और लोग कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो गये। इससे देवता बड़े दुःखी हुए और आबू पर्वत पर एकत्रित हुए, जहाँ एक विशाल अग्निकुण्ड था। इसी अग्निकुण्ड से देवताओं ने प्रतिहारों, पँवारों, सोलंकियों तथा चौहानों को उत्पन्न किया। अतएव वे अग्निवंशी कहलाते हैं। इस अनुश्रुति के स्वीकार करने में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि यह अनुश्रुति सोलहवीं शताब्दी की है। इसके पूर्व इसका कहीं पता नहीं लगता। अतएव यह चारणों की कल्पना की उपज मात्र प्रतीत होती है। कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि इन राजपूतों ने अग्नि के सामने जो हिन्दू-समाज में एक देवता माने जाते थे, अरबों तथा तुर्कों से देश की रक्षा की शपथ ली। अतएव ये अग्निवंशी कहलाये। कुछ अन्य इतिहासकारों की धारणा है कि ब्राह्मणों ने यज्ञ द्वारा जिन विदेशियों की शुद्धि कर ली थी और क्षत्रिय-समाज में समाविष्ट कर लिया था, वही अग्निवंशी राजपूत कहलाये। परन्तु अग्निकुण्ड से राजपूतों की उत्पत्ति मानने वाले बहुत कम लोग हैं। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने इसे कोरी गल्प बतलाते हुए लिखा है, "यह स्पष्ट है कि कथा कोरी गल्प है और इसे सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह ब्राह्मणों द्वारा उस जाति को अभिजातीय सिद्ध करने का प्रयास प्रतीत होता है, जिसका समाज में बड़ा ऊँचा स्थान था और जो ब्राह्मणों को मुक्त-हस्त होकर दान दिया करती थी, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ उस उदारता का बदला देने का प्रयत्न किया।"[1]

(३) **विदेशियों से उत्पत्ति**—कुछ इतिहासकारों ने राजपूतों की उत्पत्ति विदेशियों से बतलाई है। राजस्थान के इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने राजपूतों तथा मध्य एशिया की शक तथा सिथियन जातियों में बड़ी समानता पाई है। अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजपूत लोग इन्हीं विदेशियों के वंशज हैं। ये जातियाँ

---

[1] "The fictitious character of the story is obvious and it is unnecessary to adduce evidence to prove it. It represents only a Brahamanical effort of finding a lofty origin for the race that stood very high in the social order and whose munificence flowed in an unstinted measure to the priestly class, which reciprocated that generosity with great enthusiasm".

—Dr. Ishwari Prasad.

समय-समय पर भारत में प्रवेश करती रही हैं। इन्होंने कालान्तर में हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया। चूंकि यह विदेशी जातियाँ शासक-वर्ग में आती थीं, जिस वर्ग में भारत के प्राचीन क्षत्रिय आते थे, अतएव उन्होंने प्राचीन क्षत्रियों का स्थान ग्रहण कर लिया और राजपूत कहलाने लगे। टॉड महोदय के इस मत का अनुमोदन करते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि शकों तथा कुषाणों के राजवंश, जब उन्होंने हिन्दू-धर्म को स्वीकार कर लिया तब हिन्दू जाति-व्यवस्था में क्षत्रियों के रूप में सम्मिलित कर लिये गये।"[१] राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति का समर्थन करते हुए क्रुक महोदय ने लिखा है, "आज-कल के अनुसन्धानों ने राजपूतों की उत्पत्ति पर काफी नया प्रकाश डाला है। वैदिक क्षत्रियों तथा मध्य-काल के राजपूतों में ऐसी खाई है कि उसको पूरा करना असम्भव है।"[२] परन्तु इस मत को स्वीकार करने में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि यदि सभी राजपूत विदेशी थे तो हर्ष की मृत्यु के उपरान्त भारत के प्राचीन क्षत्रियों की एक जीवित तथा शक्तिशाली जाति, जिसके हाथ में राजनीतिक शक्ति थी, सहसा कहाँ, कैसे और कब विलुप्त हो गई। इस मत को स्वीकार करने में दूसरी कठिनाई यह है कि राजपूतों का जीवन, उनके आदर्श, उनका नैतिक स्तर तथा उनका धर्म विदेशियों से बिल्कुल भिन्न और प्राचीन क्षत्रियों के बिल्कुल अनुरूप है। अतएव उन्हें विदेशी मानना सर्वथा अनुचित है।

(४) **निश्चित उत्पत्ति**—उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों के वंशज हैं। परन्तु कालान्तर में जो विदेशी जातियाँ भारत में आईं और यहाँ पर शासन करने लगीं और क्षात्र-धर्म को स्वीकार कर लिया, वे इन्हीं राजपूतों में घुल-मिल गईं। भारतीय समाज में विदेशियों को आत्मसात् करने की बहुत बड़ी क्षमता थी और शक, कुषाण, सिथियन आदि विदेशी जातियाँ भारतीयों में घुल-मिल गईं। राजपूतों में इनके विलयन की सबसे अधिक सम्भावना थी, क्योंकि राजपूतों की भाँति ये शासक-वर्ग के थे और उन्हीं के समान वीर तथा साहसी थे। अतएव यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि इनमें विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो गया हो और इनके आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज एक से हो गये हों।

---

1. "I have no doubt that the ruling families of both the Sakas and the Kushans, when they became Hinduised were admitted to ranks as Kshatriyas in the Hindu caste system."
—Dr. V. A. Smith.

2. "Recent investigation has thrown much new light on the origin of the Rajputs. A wide gulf lies between the Vedic Kshatriyas ond the Rajputs of medieval times, which now it is impossible to bridge."
—Crook.

इसी से कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि राजपूत लोग निश्चय ही प्राचीन क्षत्रियों के वंशज हैं, परन्तु उनमें विदेशी रक्त के सम्मिश्रण की भी सम्भावना है।

प्रमुख राजपूत-वंश—हर्ष की मृत्यु के उपरान्त एक बार फिर भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई और देश के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राजपूत-राज्यों की स्थापना हो गई। इनमें प्रमुख राजपूत-वंश निम्नलिखित थे :—

गुर्जर प्रतिहार-वंश—इस वंश का उदय राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में गुर्जर प्रदेश में हुआ था। इसी वंश के नाम के पहले गुर्जर शब्द जोड़ दिया गया है। प्रतिहार एक पदाधिकारी होता था जो सम्राट् का अंगरक्षक होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के लोग पहले किसी राजा के प्रतिहार थे। इसी से इस वंश का नाम प्रतिहार-वंश पड़ा। इस वंश के लोग अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय तथा लक्ष्मण के वंशज मानते हैं। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "यह कहना बहुत बड़ी मूर्खता होगी कि राजपूत लोग प्राचीन वैदिक-काल के क्षत्रियों की शुद्ध सन्तान हैं। ऐसा सोचकर हम मिथ्याभिमान कर सकते हैं, परन्तु मिथ्याभिमान प्रायः तथ्य से दूर होता है। पाँचवीं तथा छठीं शताब्दी ई० में भी विदेशी भारत में आये, वे प्रतिहार थे अतएव इस वंश के लोग भी प्रतिहार कहलाये।

इस वंश का उदय सर्वप्रथम राजस्थान में मन्दौर (जोधपुर) नामक स्थान पर हुआ। धीरे-धीरे इस वंश की एक शाखा ने उज्जैन में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली और वहीं पर शासन करने लगी। इस शाखा का प्रथम शासक नागभट्ट था। वह बड़ा प्रतापी शासक था। उसने सम्पूर्ण मालवा तथा पूर्वी राजस्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना ७२५ ई० में अरबों द्वारा मालवा पर आक्रमण था। नागभट्ट ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ विदेशी आक्रमणकारियों का सामना किया और उन्हें मार भगाया। इस प्रकार नागभट्ट प्रथम ने मुसलमानों से देश की रक्षा का प्रशंसनीय कार्य किया।

नागभट्ट प्रथम के बाद दो नाममात्र के शासक हुए। इस वंश का चौथा प्रतापी शासक वत्सराज था। उसने राजपूताना के भट्टी-वंश के राजा को परास्त किया और गौड़ (बङ्गाल) के राजा धर्मपाल को परास्त कर बङ्गाल तक उसने अपनी प्रभुत्व-शक्ति बढ़ा ली। परन्तु राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने उसे परास्त कर मरुभूमि में शरण लेने के लिए बाध्य किया।

---

1. "It will be absurd to contend that the Rajputs are the pure descendants of the Kshatriyas of the ancient Vedic times. It may be flattering to our pride to think so, but flattery is often far removed from fact. The original Kshatriyas were mixed up with the hordes of immigrants who poured into India in the fifth and sixth centuries of the Christian era." —Dr. Ishwari Prasad.

वत्सराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय हिंसासन पर बैठा। वह बड़ा ही साहसी तथा महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने राष्ट्रकूट राजा से अपने पिता की पराजय का बदला लेने का प्रयत्न किया. परन्तु वह सफल न हो सका। उसके शासन-काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि उसने कन्नौज पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब उससे कन्नौज को ही अपनी राजधानी बना लिया और वहीं से शासन करने लगा। उसका बंगाल के राजा धर्मपाल से भी संघर्ष हुआ, जिसे उसने मुंगेर के निकट परास्त किया। इससे नागभट्ट द्वितीय की प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हो गई।

नागभट्ट द्वितीय के बाद उसका पुत्र रामचन्द्र सिंहासन पर बैठा, परन्तु वह बड़ा ही अयोग्य सिद्ध हुआ। रामचन्द्र के बाद उसका पुत्र मिहिरभोज शासक हुआ। वह बड़ा ही प्रतापी सिद्ध हुआ। सिंहासन पर बैठते ही उसने बुन्देलखण्ड पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मारवाड़ में भी उसने अपने वंश की सत्ता फिर से स्थापित की। बंगाल के शासक देवपाल के साथ भी उसका युद्ध हुआ, परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। मिहिरभोज एक कुशल शासक भी था।

मिहिरभोज के बाद महेन्द्रपाल प्रथम शासक हुआ। यह भी बड़ा योग्य तथा प्रतापी शासक था। सिंहासन पर बैठते ही उसने मगध के बहुत बड़े भाग तथा उत्तरी बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने दक्षिण-पश्चिम में सौराष्ट्र तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी।

महेन्द्रपाल के बाद महिपाल कन्नौज का शासक हुआ। उसे बड़ी भयानक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसे खूब लूटा। पूर्व में बंगाल के राजा ने भी अपने खोये हुए राज्य पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया। यद्यपि महिपाल ने बड़े धैर्य के साथ इन आपत्तियों का सामना किया, परन्तु वह कन्नौज राज्य को गिरने से बचा न सका। उसके जीवन के अन्तिम भाग में राष्ट्रकूट राजा ने कन्नौज पर आक्रमण करना आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप वह पतनोन्मुख हो गया।

महिपाल के बाद उस वंश में कई अयोग्य शासक हुए। इनमें राजपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके शासन-काल में १०१८ ई० में महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। राजपाल ने बड़ी कायरता दिखलाई। वह कन्नौज छोड़कर भाग गया और अपने एक सामन्त के यहाँ शरण ली। महमूद ने कन्नौज को और वहाँ के मन्दिरों को खूब लूटा। फिर वह अपने देश को लौट गया। यशपाल इस वंश का अन्तिम राजा था। १०५८ ई० में गहड़वाल वंश के राजा चन्द्रदेव ने कन्नौज पर विजय प्राप्त कर उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार कन्नौज में प्रतिहार-वंश के शासन का अन्त हो गया।

गहड़वाल-वंश—इस वंश का उदय ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिर्जापुर की पहाड़ियों (गुहाओं) के प्रदेश में हुआ था। पहाड़ी प्रदेश में रहने के कारण ही यह लोग गहड़वाल अर्थात् गुहावाले कहलाये। इस वंश के संस्थापक का नाम चन्द्रदेव

था, जिसकी राजधानी वाराणसी थी। लगभग १०८५ ई० में उसने कन्नौज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वहीं से शासन करने लगा। पूर्व में उसने सेन राजाओं की प्रगति को रोका। लगभग ११०० ई० में चन्द्रदेव का परलोकवास हो गया।

चन्द्रदेव के बाद गोविन्दचन्द्र तथा विजयचन्द्र नाम के दो प्रतापी शासक इस वंश में हुए, जिन्होंने अपने पूर्वजों के राज्य तथा गौरव को सुरक्षित रक्खा। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा जयचन्द था, जो लगभग ११७० ई० में सिंहासन पर बैठा था। कहा जाता है कि उसने मुसलमान आक्रमणकारी शहाबुद्दीन को कई बार युद्ध में परास्त किया था। दुर्भाग्यवश जयचन्द की दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान से शत्रुता हो गई और ये एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये। जयचन्द की कन्या संयोगिता के विवाह ने इस शत्रुता को और बढ़ा दिया। कहा जाता है कि जयचन्द ने अपनी कन्या संयोगिता का स्वयम्वर किया। पृथ्वीराज से शत्रुता होने के कारण उसे अपमानित करने के लिए जयचन्द ने उसकी एक प्रतिमा द्वार पर द्वारपाल के रूप में रखवा दी। संयोगिता पृथ्वीराज की वीरता की कहानियाँ सुन चुकी थी। अतएव उसने उसी के साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया था। फलतः उसने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में जयमाल डाल दी। पृथ्वीराज अपने सैनिकों के साथ वहीं पास ही छिपा था। उसने तुरन्त संयोगिता को अपने घोड़े पर बिठा लिया और उसे लेकर दिल्ली भाग गया। इस दुर्घटना से जयचन्द तथा पृथ्वीराज की शत्रुता और बढ़ गई। जयचन्द अपने इस अपमान को न तो भूला और न क्षमा ही कर सका। जब मुसलमान आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया तब जयचन्द ने पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। यह जयचन्द की बहुत बड़ी भूल थी। पृथ्वीराज को परास्त करने के बाद मुहम्मद गोरी ने ११९४ ई० में कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। जयचन्द युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। जयचन्द के बाद उसका पुत्र हरिश्चन्द्र राजा हुआ, जो मुहम्मद गोरी के सामन्त रूप में शासन करता रहा। अन्त मे १२२५ ई० में इल्तुतमिश ने कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार गहड़वाल-वंश का अन्त हो गया।

चौहान-वंश—चौहान लोग चाहमान नामक व्यक्ति के वंशज थे। इसी से ये लोग चौहान कहलाये। इस वंश का उदय साँभर-प्रदेश में हुआ था, जो जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमाओं पर स्थित है। इस वंश के प्रारम्भिक शासक प्रतिहारों के सामन्त के रूप में शासन कर रहे थे। कालान्तर में वे स्वतन्त्र हो गये और अजमेर में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लगे। इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक विग्रहराज द्वितीय था। उसने नर्मदा नदी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली और गुजरात के चालुक्य राजा को युद्ध में परास्त किया। अजयराज इस वंश का दूसरा प्रतापी राजा था। उसने उज्जैन तक के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने अजमेर नगर की स्थापना की और उसी को अपनी राजधानी बनाकर वहीं से शासन करने लगा। वीसलदेव इस वंश का दूसरा प्रतापी शासक था। उसने बड़ी वीरता के साथ मुसलमानों का सामना किया और यमुना तथा सतलज नदियों के बीच के प्रदेश

को उनसे छीन लिया। उसने तोमरों से दिल्ली तथा उसके आस-पास का प्रदेश छीन लिया। दिल्ली पर अधिकार हो जाने से चौहानों की प्रतिष्ठा तथा शक्ति में बड़ी वृद्धि हो गई।

चौहान-वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक पृथ्वराज था, जिसे रायपिथौरा भी कहते हैं। उसने ११७९ ई० से ११९२ ई० तक शासन किया। उसके राजकवि चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक ग्रन्थ में उसका गुण-गान कर उसकी कीर्ति को अमर कर दिया है। पृथ्वीराज का जयजाकभुक्ति के चन्देलों तथा गुजरात के चालुक्य के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहा। परन्तु पृथ्वीराज का सबसे भीषण संग्राम मुहम्मद गोरी के साथ हुआ। ११९१ ई० में तराइन के मैदान में पृथ्वीराज का मुहम्मद गोरी के साथ भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी की पराजय हो गई और उसकी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई परन्तु इस पराजय से मुहम्मद गोरी हताश न हुआ। दूसरे ही वर्ष वह फिर एक विशाल सेना के साथ चढ़ आया। इस बार पृथ्वीराज की पराजय हुई। वह कैद कर लिया गया और मार डाला गया। इस प्रकार दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया।

चन्देल-वंश—इस वंश का उदय जयजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) प्रदेश में हुआ था, जो यमुना तथा नर्मदा नदियों के बीच स्थित था। यह लोग अपने को चंद्रात्रेय नामक व्यक्ति का वंशज मानत हैं। इसी से यह चन्देल कहलाते हैं। प्रारम्भ में चन्देल लोग प्रतिहारों के सामन्त के रूप में शासन करते थे। बाद में वे स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक यशोवर्मन था। उसने कालिजर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और महोबा को अपनी राजधानी बना कर वहीं से शासन करना आरम्भ किया। कालिजर के दुर्ग का राजपूताना के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। यशोवर्मन ने कन्नौज के राजा को भी युद्ध में परास्त किया था। उसका शासन-काल ९२५ ई० ९५० तक माना जाता है।

यशोवर्मन के बाद उसका पुत्र धंग शासक हुआ। उसने उत्तर तथा दक्षिण के कई राज्यों पर विजय प्राप्त की। खजुराहो के बहुत से मन्दिर उसी के शासन-काल में बने थे। धंग के बाद उसका पुत्र गण्ड शासक हुआ। १००८ ई० में उसने महमूद गजनवी के विरुद्ध आनन्दपाल शाही की सहायता की। जब कन्नौज के राजा राज्यपाल ने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली तब गण्ड ने राज्यपाल को दण्ड देने के लिए कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में राज्यपाल परास्त हुआ और मारा गया। राज्यपाल की मृत्यु का बदला लेने के लिए महमूद ने गण्ड पर आक्रमण कर दिया। विवश हो गण्ड को महमूद की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। परमार्दी इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक था। १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिजर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। विवश होकर परमार्दी को मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सोलहवीं शताब्दी तक इस वंश के लोग बुन्देलखण्ड के कुछ भाग पर शासन करते रहे।

परमार-वंश—इस वंश का उदय नवीं शताब्दी के आरम्भ में आबू पर्वत के

निकट हुआ था। इस वंश का संस्थापक कृष्णराज (उपेन्द्र) था। वह राष्ट्रकूटों का सामन्त था। प्रारम्भ में परमार लोग गुजरात में निवास करते थे, परन्तु बाद में वे मालवा में चले गये और वहीं पर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक श्रीहर्ष था। इस वंश का दूसरा प्रतापी शासक मुंज था। उसने ९७४ ई० से ९९ ई० तक शासन किया। वह बड़ा ही विद्यानुरागी था। वह स्वयं एक उच्च-कोटि का कवि तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। परन्तु परमार-वंश का सबसे प्रतापी तथा विख्यात राजा भोज था। उसने १०१८ से १०६० ई० तक शासन किया। सर्वप्रथम उसने कल्याणी के चालुक्य राजा को परास्त किया। उसने अन्य राजाओं के साथ भी सफलतापूर्वक युद्ध किया। परन्तु भोज अपनी विजयों के लिए उतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना अपने विद्यानुराग तथा दानशीलता के लिए। कहा जाता है कि वह कवियों को एक-एक श्लोक की रचना के लिए एक-एक लाख मुद्राएँ दान में दे दिया करता था। वह धारा नगरी के राजा के नाम से प्रसिद्ध है। परमार-वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक उदयादित्य था, जिसने १०५९ ई० से १०८८ ई० तक शासन किया। अन्त में अलाउद्दीन के सेनापति ऐनुलमुल्क ने मालवा पर विजय प्राप्त कर उसे खिलजी साम्राज्य में मिला लिया।

सोलङ्की अथवा चालुक्य-वंश—इस वंश का उदय गुजरात में हुआ था। इस वंश का संस्थापक मूलराज नामक व्यक्ति था, जिसने ९४१ ई० से ९९५ ई० तक शासन किया था। सोलङ्कियों की राजधानी अन्हिलवाड़ा थी। इस वंश का दूसरा शक्तिशाली राजा भीम प्रथम था। उसे महमूद गजनवी के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। १०२५ ई० में महमूद गजनवी एक विशाल सेना लेकर सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ आया था। भीम भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ और महमूद ने मन्दिर को खूब लूटा। महमूद के चले जाने पर भीम ने अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी राजा जयसिंह सिद्धराज था। उसने १०९६ ई० से ११४३ ई० तक शासन किया। सिंहासन पर बैठते ही उसने पड़ोस के राज्यों को जीतना आरम्भ किया। उसने सौराष्ट्र को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। चौहान राजा को भी उसने युद्ध में परास्त किया। परमार राजाओं के साथ उसका बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में सम्पूर्ण मालवा पर उसने प्रभुत्व स्थापित कर लिया। सिद्धराज ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण कर दिया, परन्तु चन्देल राजा ने उसे परास्त कर दिया। सिद्धराज शिव का उपासक था। उसने बहुत-से मन्दिर बनवाये। साहित्य से भी उसे बड़ा प्रेम था। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक भीम द्वितीय था। उसके शासन-काल में मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। ११९७ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अन्हिलवाड़ा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके एक सौ वर्ष बाद १२९७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात को जीत लिया और उसे अपने राज्य में मिला लिया।

कलचुरि-वंश—इस वंश का उदय नर्मदा तथा गोदावरी नदियों के मध्य के प्रदेश में हुआ था। यह लोग अपने को हैहय क्षत्रियों के वंशज मानते हैं। त्रिपुरी

इनकी राजधानी थी, जो वर्तमान जबलपुर के निकट स्थित है। प्रारम्भ में यह लोग प्रतिहार-वंश की अधीनता में शासन करते थे। परन्तु जब प्रतिहार-वंश का पतन आरम्भ हुआ तब दसवीं शताब्दी के मध्य में इन लोगों ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। इस वंश का संस्थापक कोकल्ल नामक व्यक्ति माना जाता है। परन्तु इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी अथवा स्वतन्त्र शासक लक्ष्मणराज था। यह एक महान् योद्धा तथा वीर विजेता था। मालवा के परमार तथा कालिंजर के चन्देल राजाओं के साथ इस वंश का निरन्तर संघर्ष चलता रहा। इससे यह राज्य अधिक उन्नति न कर सका और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका अन्त हो गया।

पाल-वंश—इस वंश का उदय बंगाल में आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। चूंकि इस वंश के सभी राजाओं के नाम के साथ पाल शब्द जुड़ा है, अतएव इसे पाल-वंश के नाम से पुकारा गया है। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त, बंगाल में जब भयंकर अराजकता फैल गई तब उसे दूर करने के लिए जनता ने गोपाल नामक व्यक्ति को ७२५ ई० में अपना राजा चुन लिया। गोपाल बड़ा ही सफल शासक सिद्ध हुआ। उसने बंगाल की अराजकता को दूर कर वहाँ पर शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की और बिहार पर भी उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने लगभग ४५ वर्षों तक शासन किया।

गोपाल के बाद उसका पुत्र धर्मपाल शासक हुआ। उसे अपने शासन-काल में प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के साथ कई बार युद्ध करने पड़े थे। धर्मपाल साहित्य तथा कला का बड़ा प्रेमी था। उसने भागलपुर के पास गङ्गा नदी के किनारे विक्रमशिला नामक विहार बनवाया था, जो एक विख्यात विश्वविद्यालय बन गया था। धर्मपाल के बाद ८१५ ई० में उसका पुत्र देवपाल राजा हुआ। वह बड़ा ही शक्तिशाली शासक था। उसने आसाम तथा उड़ीसा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने बर्मा, सुमात्रा, जावा आदि के साथ भी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। देवपाल के बाद नारायणपाल, महिपाल, विग्रहपाल आदि कई शक्तिशाली राजा इस वंश में हुए। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक रामपाल था। वह बड़ा ही उदार तथा दयालु शासक था। रामपाल के उत्तराधिकारी बड़े निर्बल सिद्ध हुए और वे पाल-वंश को पतनोन्मुख होने से बचा न सके। पूर्व से सेन-वंश ने और पश्चिम से गहड़वाल-वंश ने इन्हें दबा लिया और इनका विनाश कर दिया।

सेन-वंश—पाल-वंश के विनाश के उपरान्त बंगाल में सेन-वंश का उदय हुआ। चूँकि इस वंश के राजाओं के नाम के साथ सेन शब्द जुड़ा है, अतएव इस वंश का नाम सेन-वंश पड़ा। इस वंश का संस्थापक सामन्त सेन नामक व्यक्ति माना जाता है। उसने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में उड़ीसा में सुवर्णरेखा नामक नदी के तट पर अपने राज्य की स्थापना की थी। परन्तु इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक विजयसेन था, जिसने १०९५ से ११५८ ई० तक शासन किया। वह एक वीर विजेता था। उसने पाल-वंश के मदनपाल को परास्त किया और पालों को उत्तरी भारत से मार भगाया। उसने पूर्वी बंगाल पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। तिरहुत,

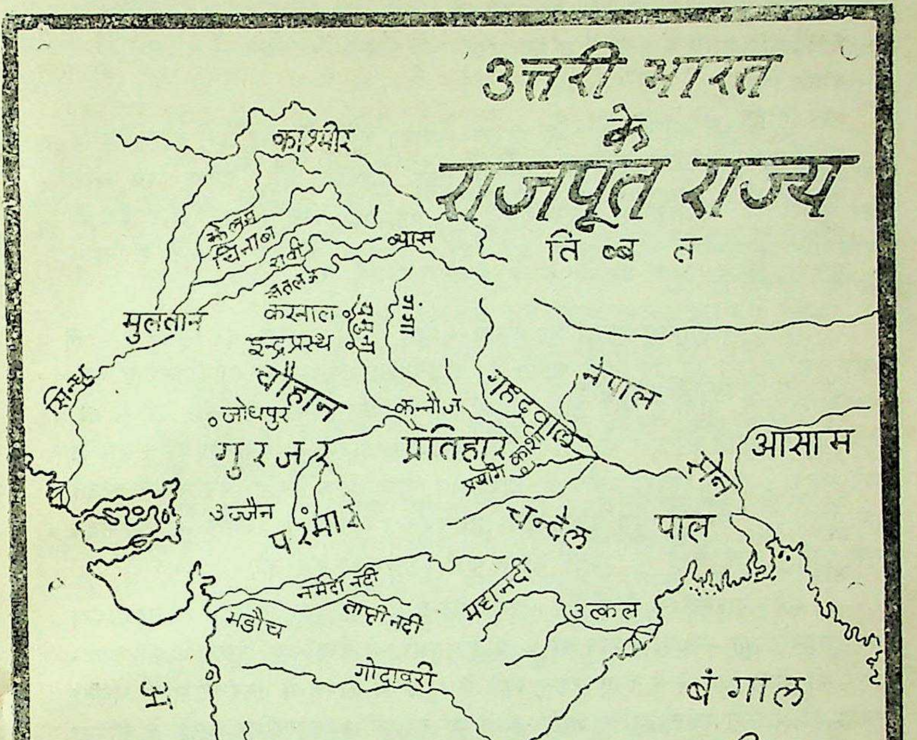
उत्तरी भारत के राजपूत राज्य
तिब्बत
काश्मीर
झेलम
चिनाब
रावी
व्यास
सतलज
मुलतान
करनाल
यमुना
गंगा
इन्द्रप्रस्थ
सिन्धु
चौहान
जोधपुर
गुरजर
कन्नौज
गहड़वाल
नेपाल
प्रतिहार
काशी
प्रयाग
आसाम
उज्जैन
परमार
चन्देल
पाल
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
महानदी
भड़ौच
उत्कल
गोदावरी
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
कृष्णा
कावेरी
चेर
चोल
पाण्ड्य
हिन्द महासागर

आसाम तथा कलिंग पर भी उसने अधिकार जमा लिया। विजयसेन के बाद उसका पुत्र बल्लालसेन शासक हुआ। वह भी बड़ा वीर तथा साहसी शासक था। वह उच्चकोटि का विद्वान् तथा लेखक भी था। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक लक्ष्मणसेन था। उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में आन्तरिक उपद्रव के कारण दक्षिण तथा पूर्वी बङ्गाल में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। तुर्कों

के आक्रमणों ने भी सेन-वंश की जड़ को हिला दिया। लगभग १२६० ई० तक लक्ष्मणसेन के वंशज बङ्गाल में शासन करते रहे। अन्त में मुसलमानों ने इस वंश का अन्त कर दिया।

राजपूतों की पराजय के कारण—भारत की सबसे वीर तथा साहसी जाति राजपूतों की थी, जो बड़ी ही रणप्रिय तथा युद्धकुशल थी। परन्तु जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए तब वह उन्हें रोक न सकी और देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सकी। राजपूतों की इस विफलता के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) **राजनीतिक एकता का अभाव**—जिन दिनों भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए उन दिनों भारत में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। देश के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई थी और देश में कोई ऐसी प्रबल केन्द्रीय शक्ति न थी, जो विदेशी आक्रमणकारियों का सफलता पूर्वक सामना कर सकती। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "सम्पूर्ण देश अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था, जो सदैव एक दूसरे से लड़ा करते थे···उनमें एकता और संगठन की कमी थी।"[1]

(२) **पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष**—इन छोटे-छोटे राजपूत राज्यों में सद्भावना तथा सहयोग का सर्वथा अभाव था। ये एक दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए उद्यत रहते थे। इनमें आपस में निरंतर संघर्ष चलता रहता था, जिससे उनकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी। आन्तरिक कलह के कारण वे आपत्ति-काल में भी शत्रु के विरुद्ध कभी संयुक्त मोर्चा उपस्थित न कर सके और एक-एक करके शत्रु के समक्ष धराशायी हो गये। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है।"[2] "हिन्दुओं की राजनीतिक व्यवस्था प्राचीन आदर्शों से गिर चुकी थी और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा झगड़ों से इनकी शक्ति क्षीण हो गई थी···गर्व तथा विद्वेष के कारण वे एक नेता की आज्ञा का पालन नहीं कर पाते थे और संकट-काल

---

1. "The whole country was split up into numerous independent principalities always at war with one another...... They lacked unity and organization." —Dr. Ishwari Prasad.

2, "The Hindu political system had fallen from its ancient ideals, and its vigour had been undermined by mutual jealousies and dissensions......pride and prejudice alike forbade obedience to a common leader and in critical moments when concentrated action was essential to victory, they pursued their individual plans and thus neutralised the advantages they possessed over their enemies." —Dr. Ishwari Prasad.

में भी जब विजय प्राप्त करने के लिए संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता पड़ती थी, वे अपनी व्यक्तिगत योजनाओं को कार्यान्वित करते रहते थे। शत्रु के विरुद्ध जो सुविधाएँ उन्हें प्राप्त रहती थीं उनसे कोई लाभ नहीं उठा पाते थे।

(३) **सीमा-नीति का अभाव**—राजपूतों ने बहुत बड़ी भूल यह की थी कि उन्होंने सीमा की सुरक्षा की कोई व्यवस्था न की थी। इसका परिणाम यह होता था कि देश में प्रवेश करने में शत्रु को कोई कठिनाई नहीं पड़ती थी। न तो उत्तरी-पश्चिमी सीमा की कोई किलेबन्दी की गई थी और न वहाँ पर कोई सेना ही रक्खी गई थी। सीमान्त-प्रदेश में जो छोटे-छोटे राज्य थे, वे मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना न कर सके। राजपूतों की इस उदासीनता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राज्यों का कोई सतर्क विदेशी कार्यालय न था और न उन्होंने सीमा की सुरक्षा की कोई व्यवस्था ही की और न हिन्दूकुश के उस पार जो राज्य थे उनकी शक्ति, साधन अथवा राज्य-विस्तार को जानने का प्रयत्न ही किया गया।"[१]

(४) **राजपूतों का रक्षात्मक युद्ध**—सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न होने के कारण शत्रु सरलता से देश में प्रवेश कर जाते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि राजपूतों को रक्षात्मक युद्ध करना पड़ता था और सभी युद्ध भारत-भूमि पर ही होते थे। इसका परिणाम यह होता था कि विजय चाहे जिस दल की हो, क्षति भारतीयों को ही उठानी पड़ती थी। उनकी कृषि तथा सम्पत्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जाती थी।

(५) **राजपूतों की सैनिक दुर्बलताएँ**—राजपूतों में अनेक सैनिक दुर्बलताएँ थीं, जिससे वे मुसलमानों के विरुद्ध सफल न हो सके। राजपूतों की सैनिक दुर्बलताओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है,[२] "राजपूतों को सैनिक व्यवस्था पुराने ढंग की थी। जब उन्हें भयानक तथा सुशिक्षित घुड़सवारों के नेताओं

---

1. "It does not appear that the Indian states maintained vigilant foreign offices nor did they take steps to safeguard the frontiers or acquire knowledge of the power, resources and extent of the kingdoms beyond the Hindukush."

—Dr. Ishwari Prasad.

2. "The military system of the Hindus was out of date and old-fashioned. Their too much dependence upon elephants was dangerous when they had to fight against fierce and well trained cavalry leaders. Experience furnished ample warning but it was constantly disregarded by the Hindu fighting men, who adhered with great tenacity to their conservative methods of warfare."

—Dr. Ishwari Prasad.

से लड़ना पड़ा तब उनका हाथियों पर निर्भर रहना उनके लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। यद्यपि हिन्दुओं को उनके अनुभव ने अनेक बार चेतावनी दी, परन्तु हिन्दू सैनिकों ने निरन्तर इसकी उपेक्षा की और अपने पुराने ढंग से ही युद्ध करते रहे।" उनकी पहली दुर्बलता यह थी कि उनकी सेना में पैदल सैनिकों की संख्या अत्यधिक होती थी, जिससे उसका तीव्र गति से संचालन करना कठिन ही जाता था और व ह मुस्लिम अश्वारोहियों के सामने ठहर नहीं पाती थी। राजपूत लोग तलवार, भाले आदि से लड़ते थे, जो मुस्लिम तीरन्दाजों के सामने ठहर नहीं पाते थे। राजपूत लोग अपने हाथियों को प्राय: अपनी सेना के आगे रखते थे। यदि यह हाथी कभी बिगड़ कर घूम पड़ते थे तो अपनी ही सेना को रौंद डालते थे। विदेशों के साथ कोई सम्बन्ध रखने के कारण राजपूत लोग नई-नई रण-पद्धतियों से भी अनभिज्ञ थे। राजपूत सेनापति केवल सेना का संचालन ही नहीं करते थे वरन् वे स्वयं लड़ते भी थे और अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं करते थे। इससे कभी-कभी सेनापति के घायल हो जाने पर सारी सेना भाग खड़ी होती थी। राजपूत लोगों ने एक और भूल की थी। वे अपनी सारी सेना को एक साथ जमा दिया करते थे। इससे सुरक्षा की कोई दूसरी पंक्ति नहीं रह जाती थी। इससे एक बार में ही युद्ध का निर्णय हो जाता था।

(६) **कूटनीति का अभाव**—राजपूतों में कूटनीतिज्ञता भी न थी। वे सदैव धर्म-युद्ध करने के लिए उद्यत रहते थे और छल-बल का प्रयोग नहीं करते थे। उनके युद्ध के आदर्श ऐसे थे, जो उनके लिए बड़े घातक सिद्ध हुए। वे सङ्कट में पड़ने पर पीठ नहीं दिखाते थे और युद्ध करके मर जाते थे। इससे राजपूतों को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी। चूँकि राजपूत लोग छल-छिद्र में विश्वास नहीं करते थे, अतएव वे प्राय: अपने शत्रुओं के जाल में फँस जाते थे।

(७) **सैनिकों का सीमित निर्वाचन क्षेत्र**—भारत में केवल राजपूत ही सैनिक-वृत्ति धारण करते थे। अन्य जातियाँ इससे वंचित थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूतों की युद्ध में निरन्तर क्षति होती जाती थी जिससे उनकी संख्या में उत्तरोत्तर कमी होती गई। राजपूत नवयुवकों के विनाश की पूर्ति अन्य जातियों के नवयुवकों से न की जा सकी और राजपूत सेना दुर्बल हो गई। इस सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "हिन्दुओं की राजनीतिक व्यवस्था में सैनिक-सेवा एक ही वर्ग तक सीमित थी, जिसके फलस्वरूप साधारण जनता या तो सैनिक-सेवा के अयोग्य हो गयी या उन राजनीतिक क्रान्तियों की ओर से उदासीन हो गई, जिन्होने भारतीय समाज की ज़ड़ को हिला दिया।"[1]

---

[1] "The political system of the Hindus restricted military duties to a particular class so that great mass of the people were either unfit for military service or indifferent to the political revolution which shook Indian society to its base."

—Dr. Ishwari Prasad.

(८) मुसलमानों की सैनिक सबलता—कई दृष्टिकोणों से मुसलमानों में भारतीयों से अधिक सैनिक गुण थे। मुसलमानों की सेना में अश्वारोहियों की अधिकता रहती थी, जो बड़ी तीव्र-गति के आक्रमण करते थे। ये अश्वारोही बड़े कुशल तीरंदाज होते थे और अपनी बाण-वर्षा से भारतीय हाथियों की सेना को खदेड़ देते थे। मुसलमानों की व्यूह-रचना भी अधिक उत्तम होती थी। उसमें नेतृत्व की कमी न थी। उनके सेनापति बड़े ही रण-कुशल थे और अपनी सेना का संचालन बड़ी कुशलता से करते थे। वे बहुत बड़े कूटनीतिक भी होते थे और छल-बल का प्रायः प्रयोग किया करते थे। मुसलमान अपने धर्म के प्रचार तथा लूट के लिए लड़ते थे। अतएव उनमें उत्साह भी अधिक रहता था।

राजपूतकालीन भारत—राजपूत-काल का भारत के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। राजपूतों की वीर जाति ने लगभग पाँच शताब्दियो तक अदम्य उत्साह के साथ मुस्लिम आक्रमणकारियों से देश की रक्षा की। यद्यपि वे अन्त में अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सके, परन्तु उनके त्याग, उनके देश-प्रेम, उनके साहस तथा उनके उच्चादर्श की कहानियाँ अमर हो गई हैं। अतएव तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

राजनीतिक दशा—राजपूत-काल भारत की राजनीतिक विच्छिन्नता का युग था। देश के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राजपूत राज्यों की स्थापना हो गई थी। इनमें सन्देह नहीं कि इन राजपूत-राज्यों में अनेक ऐसे थे, जो बड़े ही शक्तिशाली थे, परन्तु देश में कोई ऐसी सार्वभौम-सत्ता न थी जो सबको एक सूत्र में बाँध सकती और संकट-काल में विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा उपस्थित कर सकती। इस राजनीतिक एकता के अभाव में भारत अशक्त होता जा रहा था। इस काल को राजनीतिक विच्छिन्नता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है,[1] "भारतवर्ष में जिस चीज की कमी थी वह राजनीतिक एकता और सामाजिक संगठन की कमी थी। उसके सैकड़ों नेता थे और आपस के छोटे-छोटे झगड़ों में वह अपनी शक्ति को नष्ट कर रहा था। वस्तुतः इस काल में वह केवल भौगोलिक

---

[1] "What India lacked was political unity and social solidarity. Her leaders counted by hundreds, her energy was frittered away in petty squabbles between the various states. She may correctly be described during this period as merely a geographical expression—a lamentable feature which made her helpless, when she was engaged in a death grapple with the foreigners who invaded her fair and fertile lands from time to time in ever increasing numbers." —Dr. Ishwari Prasad.

अभिव्यंजना रह गया था। यह बड़ी ही दुःखद स्थिति थी, जिसमें वह उस समय असहाय हो गया, जब उसे विदेशियों के साथ जीवन-मरण का युद्ध करना पड़ा, जिन्होंने बढ़ती हुई संख्या में उसकी सुन्दर और उपजाऊ भूमि पर आक्रमण किया।''

राजपूत-काल में न केवल भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई थी वरन् पारस्परिक कलह तथा ईर्ष्या-द्वेष भी बहुत बढ़ गया था। प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी राज्य के साथ संघर्ष किया करता था और उसे नीचा दिखाना चाहता था। इस पारम्परिक संघर्ष के फलस्वरूप इनकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। इनका संघर्ष प्रायः आनुवंशिक हो जाता था और वह कई पीढ़ियों तक चलता रहता था। इस आन्तरिक कलह के कारण विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा उपस्थित करना सम्भव न हो सका। इस काल की राजनीतिक दशा का चित्रण करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, ''नेतृत्व के लिए एक राज्य दूसरे से लड़ रहा था और कोई ऐसी सार्वभौम सत्ता न थी, जो उन्हें एकता के सिद्धान्त द्वारा संगठित रख सकती।''[1]

राजपूत-कालीन राज-संस्था राजतन्त्रात्मक तथा आनुवंशिक थी। इससे प्रायः बड़े ही अयोग्य तथा निर्बल शासक सिंहासन पर आ जाते थे, जो न अपने पूर्वजों के राज्य को सुसंगठित रख पाते थे और न उनमें विदेशी आक्रमणकारियों से सफलतापूर्वक लोहा लेने की क्षमता रहती थी। ऐसी दशा में उनका विध्वंस हो जाना अनिवार्य हो जाता था। राजपूतकालीन शासन-व्यवस्था स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश थी। अतएव जनसाधारण की राजनीति में कोई विशेष रुचि न थी। जनता की यह राजनीतिक उदासीनता राज्य के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई।

राजपूत युग में सामन्तीय प्रथा का भी प्रचलन था। प्रायः जब शक्तिशाली राज्य अपने पड़ोसी राज्यों पर विजय प्राप्त कर लेते थे तब वे उन्हें समाप्त नहीं कर देते थे वरन् उन्हें अपना सामन्त बनाकर छोड़ देते थे। यह सामन्त अपने राजा की अधीनता में शासन करते थे और युद्ध के समय धन तथा सेना से उसकी सहायता किया करते। परन्तु इन सामन्तों की स्वामिभक्ति बड़ी संदिग्ध रहती थी और वे प्रायः अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया करते थे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त प्राचीन काल से उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय भागों से भारत पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे, परन्तु कभी भी उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं की गई। राजपूत-युग में भी सीमान्त प्रदेश की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न किया गया। न तो उस प्रदेश की किलेबन्दी की गई और न वहाँ पर स्थायी सेनाएँ रक्खी गईं। इसके विपरीत पश्चिमोत्तर प्रदेश में

---

[1] "State fought against state for leadership and there was no paramount power which could effectively hold them together by any principle of unity or cohesion."

—Dr. Ishwari Prasad.

अनेक छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे, जो विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण की बाढ़ को रोकने में सर्वथा अशक्त थे। इसका परिणाम यह होता था कि विदेशी आक्रमणकारियों को पर्वतीय मार्गों को पार कर भारत में प्रवेश करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती थी और एक बार जब वे देश में घुस आते थे तब उनका मार्ग साफ हो जाता था।

राजपूतों की सेना का संगठन भी पुराने ढंग का था। उसमें पैदल सैनिकों की संख्या अत्यधिक रहती थी। इससे सेना का संचालन सुचारु-रूप से नहीं हो पाता था। राजपूतों की सेना में अच्छी नस्ल के घोड़ों का अभाव था। राजपूत प्रायः भाले, बल्लम, तलवार आदि से युद्ध करते थे। वे उतने कुशल तीरन्दाज नहीं होते थे, जितने कुशल उनके मुसलमान शत्रु होते थे। राजपूत लोग प्रायः अपनी हस्ति-सेना को सबसे आगे रखते थे जो बिगड़ जाने पर कभी-कभी अपनी ही सेना को रौंद डालती थी। राजपूतों ने विदेशों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा, इससे वे नई-नई रण-पद्धतियों से अनभिज्ञ रहे और विदेशी आक्रमणकारियों का सामना न कर सके।

राजपूतों के रण-सम्बन्धी आदर्श बड़े ऊँचे थे। वे कूटनीति तथा छल-छिद्र में विश्वास नहीं करते थे वरन् धर्म-युद्ध में विश्वास करते थे। वे निरस्त्र अथवा भागते हुए शत्रु पर कभी प्रहार नहीं करते थे और न किसी के साथ विश्वासघात करते थे। स्त्रियों तथा बच्चों पर वे कभी शस्त्र नहीं चलाते थे। राजपूत सदैव शरणागत की रक्षा करते थे। कभी-कभी अपने इन उच्चादर्शों के कारण राजपूतों को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी, परन्तु वे अपनी आन को नहीं छोड़ते थे।

सामाजिक दशा—राजपूतकालीन समाज भी स्वस्थ नहीं रह गया था और उसमें विभिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये थे। अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गई थीं और जाति-प्रथा के बन्धन अत्यन्त कठोर हो गये थे। अब ऊँच-नीच का भेद-भाव बहुत बढ़ गया था और अस्पृश्यता का प्रकोप भी बहुत बढ़ गया था। शूद्रों की दशा बड़ी ही शोचनीय हो गई थी और वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण हुए और उनके पैर यहाँ पर जम गये तब बहुत बड़ी संख्या में निम्न-वर्ण के हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया, क्योंकि इस्लाम-धर्म में ऊँच-नीच तथा छुआ-छूत की भावना बहुत कम थी।

अब हिन्दुओं का दृष्टिकोण उतना व्यापक तथा उदार न था, जितना पहले था और विदेशियों को आत्मसात् करने की उनकी क्षमता समाप्त-सी हो रही थी। राजपूत-युग के पूर्व यूनानी, शक, कुषाण, हूण आदि जितनी जातियाँ भारत में प्रविष्ट हुई थीं, उन सबको भारतीयों ने अपने में आत्मसात् कर लिया था। वे सब कालान्तर में भारतीयों में घुल-मिल गई थीं और अपने अस्तित्व को खो बैठी थीं। परन्तु मुसलमानों को हिन्दू आत्मसात् न कर सके। इसका कारण यह था कि मुसलमानों के पूर्व जो जातियाँ भारत में आई थीं उनका एक मात्र उद्देश्य भारत पर विजय प्राप्त

कर यहाँ पर शासन करना था। न उनकी कोई उत्कृष्ट सभ्यता तथा संस्कृति थी और न वे उसका यहाँ प्रचार करना चाहते थे। अतएव वे भारतवर्ष की सभ्यता तथा संस्कृति से आकृष्ट हुए और उसके रंग में रँग गये। राजनीतिक सत्ता समाप्त हो जाने पर वे भारतीयों में घुल-मिल गये और अपने अस्तित्व को खो बैठे। परन्तु मुसलमानों में यह बात न थी। उनकी अपनी उत्कृष्ट सभ्यता तथा संस्कृति थी और वे उसका प्रचार करने के लिए दृढ़-संकल्प थे। मुसलमान आक्रमणकारियों का अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ धर्म-प्रचार भी एक प्रधान लक्ष्य था। अतएव मुसलमानों के आत्मसात् हो जाने का कोई प्रश्न ही न था। यहाँ तो हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-सभ्यता स्वयं बहुत बड़े संकट में पड़ी थी और उसे अपनी रक्षा का उपाय ढूँढ़ निकालना था। फलतः हिन्दुओं ने अपनी जाति-प्रथा के बन्धनों को अत्यन्त जटिल बना दिया और अपनी शुद्धता तथा पवित्रता पर बल देना आरम्भ किया। उन्होंने मुसलमानों को म्लेच्छ कहा और उनको स्पर्श करना भी महापाप बतलाया। हिन्दुओं की यह संकीर्णता अपनी परिस्थितियों के अनुकूल थी और अपने धर्म तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए की गई थी; परन्तु इसके भावी परिणाम अच्छे न हुए; क्योंकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच एक ऐसी खाईं पैदा हो गई जो कभी पाटी न जा सकी और ये दोनों जातियाँ एक न हो सकीं और इनमें सहानुभूति तथा सहयोग की भावना उत्पन्न न हो सकी।

राजपूत-युग के भारतीय समाज में राजपूत-जाति का एक विशिष्ट स्थान है। जिस प्रदेश में वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए चले गये और निवास करने लगे; उसका नाम राजपूताना पड़ गया। राजपूत-जाति अपने विशिष्ट गुणों तथा उच्च आदर्शों के कारण समाज में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। राजपूतों में उच्चकोटि का आत्माभिमान था और वे अपनी आन पर सहर्ष अपनी जान दे देते थे। उनमें कुलाभिमान भी उच्चकोटि का था और अपने कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए वे अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए उद्यत रहते थे। राजपूत लोग अपने वचन के बड़े पक्के होते थे और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते थे। रणप्रिय होते हुए भी वे उदार होते थे और तन-मन-धन से वे अपने शरणागत की रक्षा करते थे। दान-दक्षिणा देने में उनकी उदारता तथा सहृदयता सीमा का उल्लंघन कर जाती थी। राजपूतों के गुणों की प्रशंसा करते हुए टॉड महोदय ने लिखा है, "उच्चकोटि का साहस, देशभक्ति, स्वामिभक्ति, आत्मसम्मान, अतिथिसत्कार तथा सरलता के गुण राजपूतों में पाये जाते हैं।"[1]

इस सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "परन्तु राजपूत सामाजिक जीवन में कम ऊँचे न थे। वीर तथा रणप्रिय व सम्राट् आर्थर के गोल-मेज

---

[1] "High courage, patriotism, loyalty, honour hospitality and simplicity are qualities which must at once be conceded to them." —Tod

वीरों की भाँति उच्चादर्शों की रक्षा के लिए उद्यत रहते थे।"[1]

राजपूत-काल में स्त्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। राजपूत-रमणियों की प्रशंसा करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "राजपूत लोग अपनी स्त्रियों का आदर करते थे और यद्यपि जन्म से मृत्यु तक उनका जीवन भयंकर कठिनाइयों का होता था। संकट-काल में वे अद्भुत साहस तथा दृढ़-संकल्प का प्रदर्शन करती थीं और ऐसी वीरता का कार्य सम्पन्न करती थीं जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय हैं।"[2] राजपूत युद्ध-काल में भी कभी स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाता था और वह उसके सतीत्व को आदर की दृष्टि से देखता था। इस युग में पर्दे की प्रथा न थी और स्त्रियों को बाहर जाने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु मुसलमानों के आगमन से पर्दा आरम्भ हो गया। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। इस काल की राजपूत स्त्रियों के आदर्श पुरुषों की भाँति बड़े ऊँचे थे। उनका पातिव्रत धर्म प्रशंसनीय था। ये अपने पति के मृत शरीर के साथ चिता में सहर्ष जलकर भस्म हो जाती थीं। इससे सती-प्रथा का प्रचलन इस युग में बहुत बढ़ गया था। राजपूतों में स्वयंवर की भी प्रथा थी परन्तु अन्य जातियों में माता-पिता ही कन्यादान करते थे। राजवंशों में भी बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था, यद्यपि स्वजातीय विवाह अच्छे समझे जाते थे, परन्तु यदा-कदा अन्तर्जातीय विवाह भी हो जाया करते थे।

राजपूत-काल में राजपूतों में 'जौहर' की प्रथा का प्रचलन था। जब राजपूत लोग अपने दुर्गों में अपने शत्रुओं से घिर जाते थे और बचने की कोई आशा नहीं रह जाती थी तब वे केसरिया वस्त्र पहन कर और नङ्गी तलवार लेकर निकल पड़ते थे और शत्रु से लड़कर अपने प्राण खो देते थे। उनकी स्त्रियाँ चिता में बैठ कर अपने को अग्नि में समर्पित कर देती थीं और इस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा करती थीं।

धार्मिक दशा—राजपूत लोग युद्धप्रिय थे। अतएव उनका ब्राह्मण-धर्म में पूर्ण विश्वास था और अधिकांश राजपूत-राजवंशों ने इसी धर्म को अपना आश्रय प्रदान किया। इस काल में कुमारिल, शंकराचार्य, रामानुज आदि आचार्यों ने ब्राह्मण-धर्म का खूब प्रचार किया। कुमारिल भट्ट ने वेदों की प्रामाणिकता को न मानने

---

[1] "...But the Rajputs were no less high in social scale. Brave and warlike, the Rajput was like the knight of King Arthur's Round Table ever devoted to the championship of noble careers." —Dr. Ishwari Prasad.

[2] "The Rajput honoured his women and although their lot was one of 'appalling hardship' from the cradle to the crematorium, they showed wonderful courage and determination in times of difficulty and performed deeds of valour which are unparallelled in the history of world." —Dr. Ishwari Prasad.

वाले बौद्ध धर्म का खण्डन किया। श्री शङ्कराचार्य जी ने अद्वैतवाद अर्थात् 'जीवात्मा तथा परमात्मा एक है', के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शङ्कराचार्य ने उपनिषदों को आधार बना कर वैदिक-धर्म का खूब प्रचार किया और बौद्ध-धर्म के प्रभाव को समाप्त-सा कर दिया। शङ्कराचार्य ने अपने चार मठ भारत के चारों कोनों अर्थात् बद्रीनाथ, द्वारिका, रामेश्वरम् तथा पुरी में स्थापित किये। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन किया, जिसका यह तात्पर्य है कि ब्रह्म, जीव तथा जगत् मूलतः एक होने पर भी क्रियात्मक रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हैं। इस युग के प्रमुख देवता विष्णु तथा शिव थे और इस युग में वैष्णव तथा शैव-धर्म का खूब प्रचार हुआ। दक्षिण-भारत में लिंगायत सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। यह लोग शिव-लिंग की पूजा किया करते थे। शक्ति की भी पूजा इस काल में प्रचलित थी। शक्ति के पूजक दुर्गा तथा काली की पूजा किया करते थे। तान्त्रिक सम्प्रदाय की भी इस युग में अभिवृद्धि हुई। यह लोग जादू-टोना, भूत-प्रेत तथा मन्त्र-तन्त्र में विश्वास करते थे। इस प्रकार अन्ध-विश्वास का प्रकोप बढ़ रहा था।

राजपूत-काल बौद्ध-धर्म के पतन का काल था। इस धर्म का तान्त्रिक-धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इसका भिक्षुओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुमारिल तथा शंकराचार्य ने भी बौद्ध-धर्म का खण्डन करके उसे बड़ी क्षति पहुँचाई। विदेशी आक्रमणकारियों ने तो बौद्ध-धर्म को बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वह अपनी जन्मभूमि में उन्मूलित-सा हो गया।

राजपूत-काल में जैन-धर्म बड़ी ही अवनत दशा में था। इसका प्रचार दक्षिण-भारत में सबसे अधिक था। इसे पश्चिम में चालुक्य राजाओं का संरक्षण प्राप्त था परन्तु बारहवीं शताब्दी में लिंगायत-सम्प्रदाय का प्रचार हो जाने से जैन-धर्म को बड़ी क्षति पहुँची। परन्तु जैन-धर्म का समूल विनाश न हुआ। वह धीरे-धीरे ब्राह्मण-धर्म के सन्निकट आता गया और आज भी अपने अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

साहित्य—राजपूत काल में साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इस काल में संस्कृत की बड़ी उन्नति हुई क्योंकि वही साहित्यिक भाषा थी। परन्तु संस्कृत के साथ-साथ प्रान्तीय भाषाओं का भी विकास होता जा रहा था और हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं का भी विकास होता जा रहा था। अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना भी इस युग में हुई। विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय का विकास इसी युग में हुआ।

राजपूत-राजा बड़े ही साहित्यानुरागी थे और वे साहित्यकारों के आश्रयदाता भी थे। कवियों तथा विद्वानों को दान तथा पुरस्कार देने में वे बड़े उदार तथा सहृदय थे। ऐसे अनेक राजा इस युग में हुए, जो स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् तथा कवि थे। इनमें वाक्पतिराज, मुंज, भोज, विग्रहराज आदि प्रधान हैं। राजपूत राजाओं के दरबार में अनेक कवियों को आश्रय प्राप्त था। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के दरबार में राजशेखर नामक कवि था, जिसने प्राकृत भाषा में 'कर्पूर-मंजरी' नामक ग्रन्थ लिखा

था। बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव नामक कवि को आश्रय प्राप्त था, जिसने 'गीतगोविन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की। काश्मीर में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की और सोमदेव ने 'कथा-सरित्-सागर' की रचना की। चारण कवियों में चन्दवरदाई का नाम अग्रगण्य है, जो राजा पृथ्वीराज चौहान के दरबार में रहते थे और जिन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भवभूति इस काल के सबसे प्रसिद्ध नाटककार थे, जिन्होंने 'महावीर-चरित', 'उत्तर-रामचरित' तथा 'मालती-माधव' नामक नाटकों की रचना की। कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य इस काल के प्रसिद्ध दार्शनिक थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं में दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना की। इस प्रकार राजपूत-युग यद्यपि प्रधानतः संघर्ष तथा युद्धों का युग था, परन्तु उसमें साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई।

कला—राजपूत राजा कला-प्रेमी भी थे। राजपूत-काल प्रधानतः युद्ध तथा संघर्ष का काल था अतएव राजपूत राजाओं ने आत्म-रक्षा के लिए अनेक सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया। रणथम्भौर, चित्तौड़, ग्वालियर आदि के दुर्ग इसी काल में बने थे। राजपूत राजाओं को सुन्दर-सुन्दर भवन बनवाने का भी बड़ा शौक था। इन राजभवनों में ग्वालियर के मानसिंह का राजमहल, उदयपुर का हवामहल तथा जयपुर के भव्य महल अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार इस युग में वस्तुकला की बड़ी उन्नति हुई।

राजपूत-काल में मन्दिरों का खूब निर्माण हुआ। इस काल में उत्तरी भारत में जो मन्दिर बने उसके शिखर बड़े ऊँचे तथा नुकीले हैं। इनमें अलंकार तथा सजावट की अधिकता है, परन्तु सुदूर दक्षिण में रथ तथा विमान के आकार के मन्दिर बने हैं। ये अपेक्षाकृत सरल हैं। इस काल के बने हुए मन्दिरों में खजुराहो के मन्दिर, उड़ीसा में भुवनेश्वर का मन्दिर, कश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर, अजन्ता के गुहा-मन्दिर, एलोरा का कैलाश मन्दिर, आबू पर्वत पर स्थित जैन-मन्दिर, तंजौर, कांची, मथुरा आदि के मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ इस काल में मूर्ति-निर्माण कला की भी उन्नति हुई। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों ने शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि की मूर्तियों का, बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियों का और जैनियों ने तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण कराया। चित्रकारी का भी कार्य उन्नत दशा में था। गायन, वादन, अभिनय तथा नृत्य-कला का भी इस युग में विकास हुआ।

अध्याय २०

दक्षिण-भारत के राज्य

"Southern India remained for long a dark land to the Vedic Aryans owing to the almost impassable barrier of the Vindhya mountains and the extensive forest called Mahakantara."

—Dt. R. S Tripathi.

दक्षिण-भारत का तात्पर्य—भारतवर्ष के मध्य भाग में विन्ध्याचल पर्वत पूर्व से पश्चिम में फैला हुआ है। प्राचीन काल में यह भू-भाग घने वनों से भरा पड़ा था, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन कार्य था। विन्ध्याचल पर्वत तथा इस वन प्रदेश के उत्तर में जो भू-भाग स्थित था वह उत्तरापथ कहलाता था और जो भू-भाग दक्षिण में स्थित था, वह दक्षिणापथ कहलाता था। दक्षिणापथ अथवा दक्षिण-भारत उस सम्पूर्ण भू-भाग को कहते थे, जो नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित है और जिसके पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर विद्यमान हैं। प्राचीन काल में जब यातायात के साधनों की बड़ी कमी थी और मार्ग बड़े ही दुर्गम थे तब उत्तर से दक्षिण जाना बहुत कठिन था। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य लोग अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार उत्तर भारत में और अनार्य लोग अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास दक्षिण भारत में करते रहे। परन्तु जब आर्य लोग सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में अपनी सभ्यता तथा संकृति का प्रचार कर चुके, तब उन्होंने दक्षिण-भारत में भी प्रवेश किया और वहाँ पर भी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इस कार्य को ऋषियों-मुनियों ने आरम्भ किया था, परन्तु कालान्तर में बहुत से महत्त्वाकांक्षी राजकुमार तथा अन्य लोग भी दक्षिण भारत में गये और वहाँ पर अपनी राज-संस्था स्थापित कर ली। गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त जब उत्तरी-भारत में विश्रृंखलता आरम्भ हुई, ठीक उसी समय दक्षिण-भारत में भी छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। अब इनमें से प्रमुख राज्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

चालुक्य-वंश—चालुक्य लोग प्राचीन क्षत्रियों के वंशज थे। ये लोग पहले उत्तर-भारत में निवास करते थे, परन्तु कालान्तर में यह लोग दक्षिण-भारत चले गये और वहीं पर शासन करने लगे। दक्षिण-भारत में इन लोगों ने पाँचवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक शासन किया और बहुत बड़ी ख्याति प्राप्त की।

चालुक्यों की तीन प्रमुख शाखाएँ थीं अर्थात् वातापी के चालुक्य, कल्याणी के चालुक्य तथा गुजरात अथवा अन्हिलवाड़ा के चालुक्य। गुजरात के चालुक्यों अर्थात्

सोलंकियों का परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। अतएव यहाँ पर केवल वातापी तथा कल्याणी के चालुक्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

वातापी के चालुक्य—जिन चालुक्यों ने बीजापुर जिले में स्थित वातापी को अपनी राजधानी बनाकर शासन किया वे वातापी के चालुक्य कहलाते हैं। इस वंश का पहला राजा जयसिंह था। वह बड़ा ही वीर तथा साहसी था और उसने राष्ट्रकूटों से महाराष्ट्र छीन लिया था। जयसिंह के बाद रणराज, पुलकेशिन् प्रथम, कीर्तिवर्मन, मंगलेश आदि कई राजा हुए परन्तु इस वंश का सबसे प्रतापी राजा पुलकेशिन् द्वितीय था, जिसने ६०९ ई० से ६४२ ई० तक बड़ी सफलतापूर्वक शासन किया। वह बहुत ही महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने राष्ट्रकूटों के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया और कदम्बों के राज्य पर आक्रमण कर उनकी राजधानी वनवासी को लूटा। उसके प्रताप से आतंकित होकर कई पड़ोसी राज्यों ने उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया परन्तु पुलकेशिन की सबसे बड़ी विजय कन्नौज के राजा हर्षवर्धन पर हुई थी। इससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो गई थी। पल्लवों के साथ भी उसने युद्ध किया था। चोलों के राज्य पर भी उसने आक्रमण किया था और पाण्ड्य तथा केरल राज्य के राजाओं को भी अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। विदेशी राज्यों के साथ भी पुलकेशिन् ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने फारस के शासक के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। पुलकेशिन के अन्तिम दिन बड़े कष्ट से बीते। पल्लव राजा नरसिंह वर्मन ने कई बार उसके राज्य पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी वातापी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सम्भवतः इसी में पुलकेशिन् की मृत्यु भी हो गई। पुलकेशिन् द्वितीय के बाद इस वंश में कई निर्बल शासक हुए, जो इसे नष्ट होने से बचा न सके। अन्त में राष्ट्रकूटों ने इस वंश का अन्त कर दिया।

कल्याणी के चालुक्य—जिस वंश ने निजाम-राज्य में स्थित कल्याणी को अपनी राजधानी बनाकर शासन किया, वह कल्याणी का चालुक्य-वंश कहलाता है। इस वंश का संस्थापक तैलप नामक व्यक्ति था। वह पहले राष्ट्रकूटों का सामन्त था। जिस समय परमार-सेनाओं ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण कर दिया उसी सुअवसर से लाभ उठाकर तैलप ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसने बड़ी सफलतापूर्वक शासन किया। ९९७ ई० में तैलप की मृत्यु हो गई। तैलप के बाद सत्याश्रय, विक्रमादित्य पंचम, जयसिंह आदि कई राजा हुए। परन्तु इस वंश का सबसे प्रतापी शासक विक्रमादित्य षष्ठ था। सिंहासन पर बैठते ही उसने दक्षिण में चोल, होयसल तथा वनवासी के राजाओं को परास्त किया। उत्तर में परमारों से उसकी मैत्री थी परन्तु सुराष्ट्र के चालुक्यों के साथ उसका निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। विक्रमादित्य बड़ा विद्यानुरागी भी था। 'विक्रमाङ्कदेव चरित' के रचयिता विल्हण को उसका आश्रय प्राप्त था। उसने बहुत से भवनों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया था। विक्रमादित्य के बाद इस वंश

में कई निर्बल राजा हुए, जो इसे पतनोन्मुख होने से बचा न सके। अन्त में देवगिरि के यादवों ने इस वंश का अन्त कर दिया।

राष्ट्रकूट-वंश—राष्ट्रकूट लोग यदुवंशी क्षत्रियों की संतान माने जाते हैं। यह लोग रट्ट नामक व्यक्ति के वंशज माने जाते हैं, जिसके पुत्र का नाम राष्ट्रकूट था। इसी से इस वंश का नाम राष्ट्रकूट-वंश पड़ा है। आरम्भ में राष्ट्रकूट लोग वातापी के चालुक्यों के सामन्त के रूप में शासन करते थे। परन्तु जब चालुक्य-साम्राज्य जीर्ण-क्षीण हो गया तब राष्ट्रकूट-सामन्त दन्तिदुर्ग ने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन् को परास्त कर चालुक्य राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। दन्तिदुर्ग के बाद उसका चाचा कृष्णराज प्रथम शासक हुआ। एलोरा का विख्यात कैलाश-मन्दिर उसी के शासन-काल में बना था। ध्रुवराज इस वंश का एक दूसरा प्रतापी शासक था, जिसने ७८० से ७९३ ई० तक शासन किया। ध्रुवराज का पुत्र गोविन्दराज तृतीय भी एक शक्तिशाली राजा था, जिसने गङ्ग शासक की सत्ता को समाप्त किया और काँची के राजा को भी युद्ध में परास्त किया। इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा इन्द्र था, जिसने ८८० ई० से ९१४ ई० तक शासन किया। उसने अपने प्रभाव को उत्तर में गङ्गा नदी से दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला दिया था। उसने कन्नौज के प्रतिहार राजा महिपाल को युद्ध में परास्त किया था। उसने 'परम-माहेश्वर' की उपाधि धारण की थी, जिससे स्पष्ट है कि वह शैव-धर्म का अनुयायी था। कृष्ण तृतीय इस वंश का अन्तिम प्रतापी शासक था। उसके बाद इस वंश का पतन आरम्भ हो गया। ९७३ ई० में पश्चिम के चालुक्य राजा तैलप ने राष्ट्रकूट-वंश का अन्त कर दिया और अपने नये राज-वंश की स्थापना की, जिसे कल्याणी का परवर्ती चालुक्य-वंश कहते हैं।

पल्लव-वंश—सुदूर-दक्षिण के राज्यों में पल्लव-वंश का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस वंश का उदय लगभग ३५० ई० में चोड अथवा चोल देश के पूर्वी समुद्र-तट पर हुआ। एक मत के अनुसार इस वंश का प्रथम शासक चोल राजा का पुत्र था और उसकी माता नाग-राजकुमारी थी। कहा जाता है नाग-राजकुमारी की जन्मभूमि अर्थात् मणिपल्लवम् के ही नाम पर इस वंश का नाम पल्लव पड़ा है। इन लोगों ने कांची अथवा कांजीवरम् को अपनी राजधानी बना लिया और वहीं से शासन करने लगे। जिस समय गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिण-भारत पर आक्रमण किया था उन दिनों कांची में विष्णुगोप नामक राजा शासन कर रहा था। उसे समुद्रगुप्त ने युद्ध में परास्त कर दिया था। इस वंश के प्रारम्भिक इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है परन्तु सिंहविष्णु के शासन-काल से, जो ५७५ ई० में सिंहासन पर बैठा था, इस वंश के निश्चित इतिहास का पता चलता है। सिंहविष्णु बड़ा ही शक्तिशाली सम्राट् था। उसने अपने पड़ोसी राज्यों पर विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने सम्भवतः श्रीलंका के राजा पर भी विजय प्राप्त की थी। सिंहविष्णु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय ने उसके राज्य पर आक्रमण करके उसे परास्त कर

दिया। इससे पल्लवों की प्रतिष्ठा पर बहुत बड़ा धक्का लगा। महेन्द्रवर्मन प्रारम्भ में जैन-धर्म का अनुयायी था परन्तु बाद में यह शैव हो गया था। उसने बहुत-से मन्दिरों का भी निर्माण करवाया था।

महेन्द्रवर्मन के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मन शासक हुआ। उसने ६२५ ई० से ६४५ ई० तक शासन किया। वह बड़ा ही प्रतापी शासक हुआ। उसने चालुक्यों पर आक्रमण कर उनकी राजधानी वातापी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार उसने चालुक्यों से अपने पिता की पराजय का बदला ले लिया। इस विजय से पल्लवों की प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हो गई और दक्षिण के राज्यों में सबसे अधिक शक्तिशाली समझे जाने लगे। नरसिंहवर्मन के ही शासन-काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग कांची गया था, जिसके विषय में उसने लिखा है कि वह एक विशाल नगर था और उसमें हजारों बौद्ध-भिक्षु रहते थे।

नरसिंहवर्मन के बाद महेन्द्रवर्मन द्वितीय शासक हुआ, परन्तु उसके राज्य-काल की घटनाओ के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। उसके बाद परमेश्वरवर्मन सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में ६५५ ई० में चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लव राज्य पर आक्रमण कर उसकी राजधानी कांची पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। परमेश्वरवर्मन के बाद नरसिंहवर्मन द्वितीय शासक हुआ। उसने राजसिंह की उपाधि धारण की। वह अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल हो सका। कांची के कैलासनाथ के मन्दिर का निर्माण उसी ने करवाया था। वह साहित्य-प्रेमी था।

पल्लव-वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक नन्दिवर्मन् था। उसने चालुक्यों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया और कांचो पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने राष्ट्रकूटों तथा पाण्ड्यों के साथ भी युद्ध किया था। वह वैष्णव-धर्म का अनुयायी था और उसने कई वैष्णव-मन्दिर बनवाये थे। नन्दिवर्मन के बाद पल्लव वंश में कोई शक्तिशाली शासक न हुआ। इस वंश का अंतिम शासक अपराजितवर्मन था, जिसने ८७६ ई० से ८९५ ई० तक शासन किया। अन्त में चोलों ने उसे युद्ध में परास्त कर दिया और पल्लव-वश का अन्त कर दिया।

चोल-वंश—चोल तमिल भाषा के 'चुल' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है घूमना। चूंकि यह लोग पर्यटनशील थे अतएव यह चोल कहलाये। चोल लोग अपने को सूर्य-वंशीय क्षत्रिय बतलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग पहले उत्तर-भारत के निवासी थे, परन्तु घूमते-फिरते दक्षिण भारत में पहुँच गये और आधुनिक तजोर तथा त्रिचनापल्ली के जिलों में अपनी राज-सत्ता स्थापित कर और तंजोर को अपनी राजधानी बनाकर वहीं पर शासन करने लगे। धीरे-धीरे इन लोगों ने अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ा ली और वे कालान्तर में दक्षिण-भारत के बड़े ही शक्तिशाली शासक बन गये। प्रारम्भ में चोल लोग आंध्र तथा पल्लव-वंशों की अधीनता में शासन करते थे; परन्तु जब पल्लवों की शक्ति का ह्रास होने लगा,

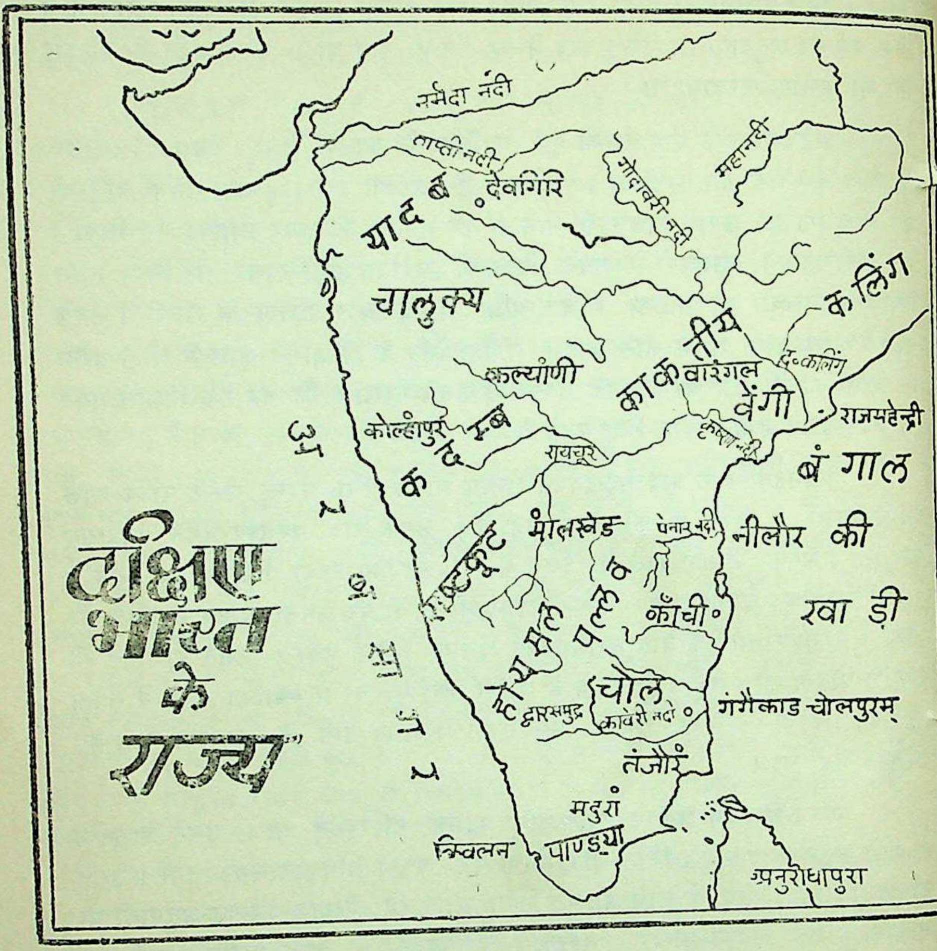
दक्षिण भारत के राज्य
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
देवगिरि
यादव
महानदी
गोदावरी नदी
चालुक्य
कलिंग
काकतीय
कल्याणी
वारंगल
वेंगी
द० कलिंग
राजमहेन्द्री
कोल्हापुर
कदम्ब
रायचूर
कृष्णा नदी
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
मालखेड
पेनार नदी
राष्ट्रकूट
होयसल
पल्लव
काँची
चोल
द्वारसमुद्र
कावेरी नदी
गंगैकोंड-चोलपुरम्
तंजौर
मदुरा
क्विलन
पाण्ड्य
अनुराधापुरा

तब इन लोगों ने पल्लव-राज्य को समाप्त कर दिया और स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे।

चोलों का इतिहास यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु इसके प्रारम्भिक शासकों के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। इस वंश का प्रथम शक्तिशाली विख्यात शासक राजराज प्रथम था, जिसने ९८५ ई० से १०१४ ई० तक शासन किया। राजराज एक महान् विजेता तथा योग्य शासक था। सबसे पहले उसका संघर्ष चेर राजा के साथ हुआ। उसने चेरों के जहाजी बेड़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके बाद उसने पाण्ड्य-राज्य पर आक्रमण कर दिया और मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने कोल्लम तथा कुर्ग पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। उसने सिंहल-द्वीप पर भी आक्रमण कर दिया और उसके उत्तरी भाग पर विजय प्राप्त कर उसे अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। उसने कुछ अन्य पड़ोसियों पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इसके बाद राजराज का चालुक्यों के

साथ भीषण संग्राम आरम्भ हो गया । यह संग्राम बहुत दिनों तक चलता रहा, परन्तु अन्त में विजय राजराज की ही हुई । राजराज ने कलिंग पर भी विजय प्राप्त कर ली थी । यद्यपि राजराज शैव था, परन्तु उसमें उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और उसने कई वैष्णव-मन्दिर भी बनवाये थे । उसने चक्र बौद्ध-विहार को भी एक गाँव दान में दिया था । तंजोर का राजराजेश्वर नामक शिव-मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है । वास्तव में राजराज चोल-वंश का महान् शासक था ।

राजराज के बाद उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम शासक हुआ । उसने १०१५ ई० से १०४२ ई० तक शासन किया । यह चोल-वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक था । उसने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया । सबसे पहले उसने दक्षिण के राज्यों पर विजय प्राप्त करके इन्हें नत-मस्तक किया । इसके बाद उसने उत्तर की ओर प्रस्थान कर दिया । उसने बङ्गाल तथा मगध को जीत लिया । अपनी विशाल सेना के बल से उसने अण्डमन, निकोबार तथा बर्मा के अराकान तथा पीगू प्रदेश को भी जीत लिया । इसके बाद उसने अपनी जल-सेना के साथ पूर्वी द्वीप-समूह की ओर प्रस्थान कर दिया और मलाया, सुमात्रा, जावा तथा अन्य कई द्वीपों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । राजेन्द्र प्रथम की इन विजयों से भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ । राजेन्द्र प्रथम कला-प्रेमी भी था और उसने बहुत से नगरों, भवनों, मन्दिरों आदि का निर्माण करवाया था ।

राजेन्द्र प्रथम के बाद भी चोल-वंश में कई योग्य राजा हुए, जिन्होंने अपने पूर्वजों से राज्य को सुरक्षित तथा सुसंगठित रक्खा, परन्तु बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही चोल-साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया । पड़ोसी राज्यों के साथ निरन्तर संघर्ष करने तथा सामन्तों के विद्रोहों के कारण चोल-साम्राज्य धीरे-धीरे निर्बल होता गया और अन्त में पाण्ड्यों ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया ।

अध्याय २१

भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध

> "It may be noted that the growth of this Greater India was ultimately governed by a principle of cultural comprehension and synthesis by which different and foreign elements could be reconciled and accommodated within the breadth of the parent system... Thus Indian societies multiplied in foreign countries in Indonesia, and other countries on the mainland, and overseas."
>
> —Dr. R. K. Mukerji.

भारत की अनुकूल स्थिति—भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसका उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाना स्वाभाविक था। भारतवर्ष एशिया महाद्वीप के दक्षिण भाग के मध्य में स्थित है, अतएव एशिया के विभिन्न देशों के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन-काल से ही चला आ रहा है। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह पूर्व तथा पश्चिम के देशों को जोड़ने में कड़ी का काम करता है। हिन्द-महासागर के मध्य में स्थित होने के कारण यह प्राचीन संसार के सभ्य देशों के सामुद्रिक मार्ग के मध्य में पड़ता था। अतएव अपनी अनुकूल स्थिति के कारण अत्यन्त प्राचीन-काल से ही भारत का पूर्व तथा पश्चिम के देशों के साथ जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों द्वारा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध—सबसे पहले हमें इस बात पर विचार कर लेना है कि भारत का विदेशों के साथ किनके द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया था और उन्होंने किस उद्देश्य से यह सम्बन्ध स्थापित किया था। जिन भारतीयों ने भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, उन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—अर्थात् व्यापारी, उपनिवेशक तथा धर्म-प्रचारक। किस उद्देश्य से ये लोग विदेशों में जाते थे यह बिल्कुल स्पष्ट है। व्यापारी लोग व्यापार करने तथा धन कमाने के उद्देश्य से विदेशों में जाया करते थे। उपनिवेशक लोग उपनिवेश तथा अपनी राज-संस्था स्थापित करने और शासन करने के ध्येय से विदेशों में जाया करते थे। धर्म-प्रचारक लोग धर्म-प्रचार तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करने के लिए विदेशों में जाया करते थे। भारत का विदेशों के साथ एक और प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हुआ। कुछ विदेशी जातियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया

और यहाँ पर अपनी राज-संस्था स्थापित कर ली। इससे उनकी मातृभूमि से भारत का घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया।

भारत का पूर्व तथा पश्चिम के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन-काल में ही स्थापित हो गया था। भारतीय व्यापारी पश्चिम में सिकन्दरिया और पूर्व में चीन के समुद्र-तट तक व्यापार करने के लिए जाया करते थे। उन दिनों लोगों का ऐसा विश्वास था कि बर्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा आदि सोने की खानों से भरे पड़े हैं। इसी से इन दिनों बर्मा को सुवर्ण-भूमि और मलाया, सुमात्रा आदि द्वीपों को सुवर्ण-द्वीप के नाम से पुकारा जाता था। अतएव इन समृद्धिशाली देशों में जाकर भारतीय व्यापारी धन कमाते थे। परन्तु अपनी इस व्यापार-यात्राओं में वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार का भी कार्य किया करते थे। पश्चिम में रोम-राज्य के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था, जो उस समय यूरोप का सबसे बड़ा राज्य था।

विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का कार्य क्षत्रिय राजकुमारों द्वारा किया गया। विदेशी आक्रमण अथवा अन्य प्रकार की आपत्तियों के कारण के राजकुमार देश छोड़ कर विदेशों में चले गये और वहाँ पर स्थायी रूप से निवास करने लगे और वहाँ के लोगों पर शासन करने लगे। इन राजकुमारों ने अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार उन नये देशों में किया, जहाँ उन्होंने अपनी राजसंस्था स्थापित की।

भारतीय धर्माचार्यों तथा धर्मपरायण भारतीय सम्राटों ने धर्म-प्रचार की भावना तथा लोक-कल्याण की कामना से विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया था। ब्राह्मण-ऋषि तथा बौद्ध-भिक्षु भयानक आपत्तियों का सामना कर विदेशों में गये और वहाँ पर अदम्य उत्साह के साथ अपने धर्म का प्रचार किया। अशोक, कनिष्क आदि धर्मपरायण सम्राटों ने एशिया के विभिन्न भागों में धर्मोपदेशक भेज कर बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। यह इन्हीं महात्माओं के परिश्रम का परिणाम है कि यद्यपि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि में विनष्ट-सा हो गया है परन्तु तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा आदि देशों में वह अब भी जीवित है। अब भारत का प्राचीन-काल में जिन राज्यों के साथ व्यापारिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध था, उनका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

फारस भारत के साथ सम्बन्ध—भारत का फारस के साथ बड़ा पुराना सम्बन्ध रहा है। इन दोनों देशों के निवासी एक ही आर्य-जाति की दो शाखाएँ हैं। भारत तथा फारस में बस जाने के पूर्व ये लोग एक ही स्थान पर निवास करते थे। कुछ विद्वानों के विचार में जब आर्य लोग अपने मूल स्थान से चले तब उनकी एक शाखा फारस में आकर बस गई। इन्हीं में से कुछ लोग आगे बढ़ गये और भारतवर्ष में पहुँच गये। जिन लोगों का यह विचार है कि आर्य लोग भारत के मूल निवासी हैं, उनका कहना है कि फारस के लोग पहले भारतवर्ष में ही रहते थे। कुछ कारण-वश भारतीय आर्यों में लड़ाई हो गई। अतएव कुछ लोग भारत को छोड़ कर फारस

चले गये और वहीं पर स्थायी रूप से निवास करने लगे। इस प्रकार भारत तथा फारस का सम्बन्ध बड़ा ही पुराना है। फारस भारत से अधिक दूर नहीं है। अतएव इन दोनों में बराबर सम्बन्ध बना रहा। प्रारम्भ में यह सम्बन्ध व्यापारिक था, परन्तु धीरे-धीरे इन दोनों देशों में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। छठीं शताब्दी ई० पू० के मध्य में फारस के कुछ शासकों ने भारत पर आक्रमण कर दिया और उसके पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। बाद में चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की तब वह भी भारत की प्राकृतिक सीमाओं को पार कर आगे बढ़ गया था और अफगानिस्तान आदि पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। आगे चलकर भारत तथा फारस के शासकों में राजदूत तथा उपहार आदि का आदान-प्रदान होता रहा। फारस तथा भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी बड़ा घनिष्ठ था। अलबेरूनी से हमें पता लगता है कि इस्लाम-धर्म के प्रचार के पूर्व फारस, खुरासान, ईराक, सीरिया आदि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य अशोक तथा कनिष्क द्वारा किया गया था। फारस के प्राचीन निवासी अग्नि-पूजक थे। भारत के भी प्राचीन आर्य अग्नि की पूजा किया करते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में भारत का फारस के साथ बड़ा घनिष्ठ व्यापारिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध था।

यूनान के साथ सम्बन्ध —भारत का यूनान के साथ उस समय से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जब ३२६ ई० पू० में यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् ने भारत पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर कई महीनों तक अपने सैनिकों के साथ भारत में रहा और अनेक भारतीय नरेशों के साथ उसने अपनी मैत्री स्थापित की। सिकन्दर लुटेरा न था। अपनी विजय-यात्रा में उसने जिन राज्यों को जीता उनके साथ उसने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया। फलतः भारतीयों के साथ भी यूनानियों का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। चूंकि सिकन्दर के भारत आने तथा वापस लौट जाने से नये-नये मार्गों का पता लगा, इससे भारत का पश्चिम के देशों के साथ पहले से भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया और व्यापार में पहले से भी अधिक वृद्धि हो गई।

सिकन्दर के चले जाने के बाद और उसकी मृत्यु हो जाने पर भारत के उस भाग पर, जिसे उसने जीता था, उसके सेनापति सिल्यूकस निकेटर का प्रभुत्व स्थापित हो गया। जब मौर्य-साम्राज्य का विकास आरम्भ हुआ तब चन्द्रगुप्त मौर्य का सिल्यूकस के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में सिल्यूकस परास्त हो गया और उसे पश्चिमोत्तर के प्रदेश चन्द्रगुप्त को देने पड़े, परन्तु दोनों नरेशों में मैत्री स्थापित हो गई। सिल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया और मेगस्थनीज नामक अपना एक राजदूत चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा, जो कई वर्षों तक पाटलिपुत्र में रहा और जिसने उस नगर तथा भारत की तत्कालीन दशा का अपनी पुस्तक में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को भारत से निकाल बाहर कर दिया था परन्तु वे भारत की सीमा के बाहर बैक्ट्रिया में स्थायी रूप से बस गये थे। वे सदैव भारत पर अपनी दृष्टि लगाये रहते थे और यहाँ की राजनीतिक स्थिति से अपने को अवगत रखते थे। इनका भारतीयों के साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहा। जब अशोक की मृत्यु के उपरान्त भारत में राजनीतिक उथल-पुथल आरम्भ हुई तब बैक्ट्रिया के यूनानियों ने इस कुव्यवस्था से लाभ उठाया। उन्होंने भारत पर आक्रमण कर दिया और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में अपनी राज-संस्था स्थापित कर ली। इस प्रकार भारत का यूनानियों के साथ बड़ा घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और भारतीयों तथा यूनानियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी चलता रहा।

चौथी शताब्दी में जब गुप्त-साम्राज्य का उत्थान आरम्भ हुआ तब पश्चिमोत्तर प्रदेश के यूनानी राज्यों का अन्त हो गया और जो यूनानी भारत में बस गये थे वे भारतीयों में घुल-मिल गये और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के रङ्ग में इस प्रकार रँग गये कि उनका अलग अस्तित्व बिल्कुल समाप्त हो गया।

न केवल भारत तथा भारत की सीमा के निकट निवास करने वाले यूनानियों के साथ भारतीयों का घनिष्ठ सम्बन्ध था वरन् उनकी जन्म-भूमि यूनान के साथ भी भारत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बम्ध था। पहली शताब्दी ई० में एक यूनानी नाविक, जो मिस्र में रहता था, लाल-सागर तथा अरब-सागर के किनारे-किनारे भारत आया था। इस नाविक के विवरण से यह पता चलता है कि भारत का पश्चिमी देशों के साथ अच्छा व्यापार होता था। भारतीय बंदरगाहों से मोती, बहुमूल्य रत्न, मसाले, अच्छे सूती कपड़े तथा अन्य वस्तुएँ विदेशों को भेजी जाती थीं। यूनानियों ने बहुत-कुछ भारतीयों से और भारतीयों ने बहुत-कुछ यूनानियों से सीखा क्योंकि भारत तथा यूनान दोनों ही बड़े सभ्य तथा सुसंस्कृत देश थे।

रोम के साथ सम्बन्ध—रोम यूरोप के इटली प्रदेश का एक नगर है। प्राचीन काल में यह अत्यन्त विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, जिसे रोम कहते थे। यह साम्राज्य न केवल यूरोप के बहुत बड़े भाग में वरन् एशिया माइनर में भी फैला था। यह साम्राज्य बड़ा ही समृद्धिशाली था और उसमें मूल्यवान् वस्तुओं की बड़ी माँग थी। भारतीय व्यापारियों ने, जो पश्चिम के देशों के साथ व्यापार करते थे, रोम-साम्राज्य के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिया और विलास की मूल्यवान् वस्तुएँ ले जाने लगे। यह व्यापार जल-मार्ग से होता था। भारतीय व्यापारियों ने अरब-सागर के द्वीपों में अपने उपनिवेश बना लिये थे और इन्हीं उपनिवेशों से भारतीय माल रोम-साम्राज्य में पहुँचाया करते थे। प्लिनी ने लिखा है कि रोम की मुद्राएँ विलास की वस्तुओं के बदले में भारत चली जाती थीं। दक्षिण भारत में रोम की मुद्राएँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतवासी रोम की मुद्राओं के बदले में अपना सामान दिया करते थे। भारतीय नरेशों ने रोम के सम्राटों के पास अपने राजदूत भी भेजे थे। लगभग २६ ई० पू० में पाण्ड्य राजा

ने रोम के सम्राट् आगस्तस के पास अपना राजदूत भेजा था। रोम के साथ भारत का न केवल व्यापारिक तथा कूटनीतिक सम्बन्ध था वरन् उसके साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। रोम की कला तथा मुद्रा का प्रभाव भारतीय कला तथा मुद्रा पर बहुत अधिक पड़ा था। ज्योतिष से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी बातें भारतीयों ने रोम वालों से सीखी थीं। भारतीय औषधियों तथा दशमलव भिन्न का ज्ञान रोम वालों ने भारतीयों से प्राप्त किया था। भारत का यह सम्बन्ध रोम के साथ उस समय समाप्त हुआ जब रोम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और अरब वालों का विकास आरम्भ हो गया।

मध्य-एशिया के साथ सम्बन्ध – भारत का सम्बन्ध मध्य-एशिया के साथ भी अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि भारत के प्राचीन आर्य मध्य-एशिया के ही मूल निवासी थे। आर्यों के बाद जो शक, कुषाण, हूण आदि जातियाँ भारत में आईं वे सब मध्य-एशिया से ही भारत में आई थीं। इन सभी जातियों ने कालान्तर में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया और वे भारतीयों में घुल-मिल गईं। अशोक के शासन-काल में भारत से धर्मोपदेशक धर्म का प्रचार करने के लिए मध्य-एशिया की ओर गये थे। कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल में बौद्ध-धर्म का प्रचार मध्य-एशिया में बड़ी तेजी के साथ बढ़ा। इसका कारण यह था कि कनिष्क का प्रभुत्व मध्य-एशिया के एक बड़े भाग में व्याप्त था। सम्राट् कनिष्क से प्रोत्साहन पाकर बौद्ध-भिक्षु बहुत बड़ी संख्या में मध्य-एशिया में पहुँचे और बड़े उत्साह तथा बड़ी लगन के साथ धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कैस्पियन-सागर से लेकर चीन की दीवार तक के सम्पूर्ण प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया और आधुनिक खोतन के आस-पास बहुत बड़ी संख्या में भारतीय लोग भी बस गये। तीसरी शताब्दी तक खोतन बौद्ध-धर्म का प्रधान केन्द्र बन गया। यहाँ पर इतने अधिक भारतीय आ कर बस गये कि यहाँ की राज-भाषा प्राकृत और वहाँ की लिपि खरोष्ठी बन गई। यहाँ के राजा-महाराजा देवपुत्र, प्रियदर्शन आदि नामों से पुकारे जाते थे। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि मध्य-एशिया में भारतीयों के उपनिवेश स्थापित हो गये थे। मध्य-एशिया के उत्तरी भाग में कूचा नामक स्थान बौद्ध-धर्म का केन्द्र था। यहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रचार कुमारजीव नामक एक बौद्ध-भिक्षु ने किया था, जो काश्मीर से यहाँ आया था। चौथी शताब्दी में कूचा में बौद्ध-मन्दिरों की संख्या लगभग दस हजार थी। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने भी मध्य-एशिया में बौद्ध-धर्म का बड़ा जोर देखा था। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से ही मध्य-एशिया में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हो गया था।

चीन के साथ सम्बन्ध—भारत का चीन के साथ भी व्यापारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल में स्थापित हो गया था। चीन तथा भारत प्राचीन काल से ही अत्यन्त समृद्धिशाली देश थे। अतएव उनमें व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाना स्वाभाविक ही था। चीन में बौद्ध-धर्म का सन्देश ले जाने

वाले कश्यप मातंग तथा धर्मरत्न नामक बौद्ध-भिक्षु थे, जो पहली शताब्दी में चीन पहुँचे थे। चीन के राजा ने उनका स्वागत किया और उनके रहने के लिए अपनी राजधानी में एक विहार बनवा दिया। भारत से जो धर्माचार्य चीन गये, उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के साथ-साथ बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में रूपान्तर करना भी आरम्भ किया और २१४ ई० तक लगभग ३५० ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद हो गया। तीसरी शताब्दी के मध्य तक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार धीरे-धीरे हुआ था, परन्तु उसके बाद इसका प्रचार बड़ी तेजी से होने लगा। ३८३ ई० में चीनियों ने कूचा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इससे कूचा से अनेक बौद्ध-भिक्षु चीन पहुँचे। इनमें कुमारजीव भी था। वह अपनी प्रतिभा तथा धर्मनिष्ठा के कारण चीन के राजा का कृपा-पात्र बन गया। वह लगभग १२ वर्ष तक चीन में रहा और उसने ३८ संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद किया। ग्रन्थों का अनुवाद करने के साथ-साथ वह बौद्ध-धर्म का प्रचार भी करता रहा। चीन में धर्म-प्रचार का कार्य न केवल धर्माचार्यों वरन् रामकुमारों ने भी किया था। काश्मीर का राजकुमार गुणवर्मन तथा कांची के पल्लव राजपुत्र यशोबोधिवर्मन चीन गये थे और वहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। छठीं शताब्दी तक चीन में बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार हुआ और वह चीन का प्रधान धर्म बन गया।

जब बौद्ध-धर्म का प्रचार चीन में तेजी से बढ़ने लगा तब चीन के लोगों में भी बौद्ध-ग्रन्थों के प्राप्त करने, बुद्ध की जन्मभूमि के देखने तथा उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों के दर्शन करने की लालसा बढ़ी और बहुत से चीनी यात्री भारतवर्ष आये, जो यहाँ पर कई वर्षों तक रहे और भारत की तत्कालीन दशा का वर्णन अपने यात्रा-विवरण में लिखा। इन यात्रियों में फाहियान तथा ह्वेनसांग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फाहियान गुप्त-काल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के और ह्वेनसांग हर्षवर्धन के शासन-काल में आया था। यह दोनों यात्री कई वर्षों तक भारत में रहे। उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में जाकर भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा का अध्ययन किया और भारत के विषय में पूरा ज्ञान प्राप्त कर तथा बहुत से ग्रन्थ, उपहार, भेंट आदि लेकर अपने देश को लौट गये और जो ग्रन्थ अपने साथ ले गये थे, उनका अपनी भाषा में अनुवाद किया।

व्यापारिक तथा धार्मिक सम्बन्ध के साथ-साथ भारत का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भी चलता रहा है। इस कार्य को सर्वप्रथम कुषाण राजा कनिष्क ने प्रारम्भ किया था। उसने अपना एक राजदूत यह प्रस्ताव लेकर भेजा कि चीन का राजा अपनी कन्या का विवाह कनिष्क के साथ कर दे। चूँकि चीन का राजा इस प्रस्ताव से बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने राजदूत को बन्दी बना लिया अतएव कनिष्क तथा चीन के राजा में युद्ध हो गया। चीन के राजा के उत्तराधिकारी के शासन-काल में फिर कनिष्क का चीन के साथ संघर्ष हुआ, जिसमें कनिष्क को सफलता मिली और वह दो चीनी राजकुमारों को अपनी राजधानी में ले आया। कनिष्क के बाद भारत

के साथ चीन का मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया और दोनों राज्यों में निरन्तर राजदूतों का आदान-प्रदान होता रहा। गुप्त-वंश के राजा ने परमार्थ नामक व्यक्ति को अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा था। इसके बाद सम्राट् हर्षवर्धन ने भी चीन के राजा के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। काश्मीर तथा गान्धार के शासकों ने भी अपने राजदूत चीन भेजे थे और चीनी राजदूतों का अपने दरबार में स्वागत किया था। न केवल उत्तरी भारत के सम्राटों ने वरन् दक्षिणी भारत के राजाओं ने भी चीन के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। आठवीं शताब्दी में कांची के पल्लव-राजा ने अपने दो राजदूत चीन के राजा के पास उपहार, भेंट आदि के साथ भेजे थे। चीन के राजा ने भी अपना एक दूत-मंडल कांची भेजा था। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से भारत तथा चीन के बीच राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था और विचारों का आदान-प्रादान चल रहा था।

चीन से बौद्ध-धर्म का प्रचार कोरिया में हो गया। यह कार्य चौथी शताब्दी के आरम्भ में किया गया था और छठी शताब्दी तक सम्पूर्ण कोरिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया। कोरिया से ही बौद्ध-धर्म जापान पहुँचा। कोरिया के राजा ने जापान के राजा से मैत्री कर वहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रचार करवाया था।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया से सम्बन्ध—प्राचीन काल के भारतीय बड़े कुशल नाविक भी थे और बंगाल की खाड़ी को पार कर वे वर्मा, इण्डोचीन तथा पूर्वी द्वीप-समूहों में जाया करते थे। इन देशों में खनिज-पदार्थों तथा मसालों की बड़ी अधिकता थी। यह देश इतने धन-सम्पन्न थे कि इन्हें सुवर्ण-भूमि तथा सुवर्ण-द्वीप के नाम से पुकारा जाता था। इन देशों की धन-सम्पन्नता से आकृष्ट होकर भारतवासी वहाँ जाने लगे और उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अनेक भारतीय राजकुमारों ने, जो सम्भवतः अपने शत्रुओं से पराजित हो गये थे, इन द्वीपों में अपने अनुयायियों के साथ जाकर अपनी राज-संस्था स्थापित कर ली और वहाँ पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया। जिन द्वीपों में भारतीय राजकुमारों ने अपने राज्य स्थापित किये, उनमें उन्होंने संस्कृत भाषा, भारतीय लिपि तथा वैदिक-धर्म और विशेषकर शैव-धर्म का प्रचार किया। बौद्ध-धर्म का भी इन द्वीपों में थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ था।

वर्मा में सोने की खानों की इतनी अधिकता थी कि प्राचीन काल के भारतीय इसे सुवर्ण-भूमि कहते थे। इसका दक्षिणी भाग श्रीक्षेत्र कहलाता था। वर्मा में बौद्ध-धर्म का प्रचार सर्वप्रथम सम्राट् अशोक ने करवाया था। वर्मा के बहुसंख्यक लोग आज भी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। इनकी भाषा, लिपि तथा धर्म पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है।

इण्डोचीन में भारतीयों ने दूसरी शताब्दी ई० में ही अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इण्डोचीन में भारतीयों के दो राज्य थे। एक का नाम था चम्पा और दूसरे का नाम था कम्बुज। चम्पा में श्रीमार नामक भारतीय ने दूसरी शताब्दी ई० में अपना राज्य स्थापित किया था। इस वंश के प्रारम्भिक शासकों के विषय

में अधिक ज्ञात नहीं है। चम्पा के राजाओं में भद्रवर्मा सबसे शक्तिशाली था, जो ३८० ई० में सिंहासन पर बैठा था। वह शिव का उपासक था और उसने कई शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया था। चम्पा में अनेक हिन्दू-राजवंशों ने कई शताब्दियों तक शासन किया। अन्त में १२८२ ई० में अनामियों ने स्थायी रूप से चम्पा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और तब से चम्पा उन्हीं के अधिकार में है।

कम्बुज अथवा कम्बोडिया में हिन्दू राज्य की स्थापना दूसरी शताब्दी ई० में दक्षिण भारत के कौडिल्य नामक एक ब्राह्मण ने की थी। उसने सोमा नामक एक नाग-कन्या के साथ अपना विवाह कर लिया था। अतएव इस वंश का नाम सोमवंश पड़ गया। धीरे-धीरे यह राज्य बड़ा शक्तिशाली हो गया और उसके विस्तार में भी वृद्धि हो गई। यशोवर्मन प्रथम तथा सूर्यवर्मन द्वितीय इस राज्य के सबसे अधिक शक्तिशाली शासक थे। कम्बुज पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ पर सबसे पहले शैव-धर्म का प्रचार हुआ। शिव की पूजा शिव-मूर्ति तथा शिव-लिंग दोनों रूपों में की जाती थी। शिव के साथ-साथ उनकी पत्नी की भी पूजा की जाती थी जिन्हें उमा, भवानी, गौरी आदि नामों से पुकारा जाता था। शैव-धर्म के साथ-साथ वैष्णव-धर्म का कम्बुज में प्रचार था और विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी, सरस्वती, चण्डी आदि की भी पूजा होती थी। बौद्ध-धर्म का भी कम्बुज में प्रचार था परन्तु प्रधानता वैदिक-धर्म की ही थी।

मलाया प्रायद्वीप में हिन्दू राज्य की स्थापना शैलेन्द्र नामक व्यक्ति ने की थी। इस साम्राज्य के अन्तर्गत सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, बाली आदि के द्वीप भी सम्मिलित थे। इस राज्य के शासक महाराज की उपाधि धारण किया करते थे। इनके पास एक प्रबल नौ-सेना थी, जिसकी सहायता से वे चम्पा तथा कम्बुज के राज्यों पर छापा मारा करते थे। शैलेन्द्र-वंश के शासक बौद्ध-धर्म की हीनयान शाखा के अनुयायी थे। इन लोगों ने बहुत से स्तूपों, मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण करवाया था। तेरहवीं शताब्दी में इस हिन्दू-राज्य का अन्त हो गया और वहाँ पर इस्लाम-धर्म का प्रचार आरम्भ हो गया।

जावा में हिन्दू राज्य की स्थापना चौथी शताब्दी ई० में हो गई थी, परन्तु कालान्तर में मलाया के शैलेन्द्र-वंश ने जावा पर विजय प्राप्त कर उसे अपने-अधीन कर लिया। नवीं शताब्दी ई० में जावा ने फिर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। तेरहवीं शताब्दी ई० के अन्तिम भाग में विजय नामक एक व्यक्ति ने जावा में एक नये राज-वंश की स्थापना की। जावा में कई सौ वर्षों तक हिन्दू-राज्य बना रहा। अन्त में जावा में इस्लाम-धर्म का प्रचार हो गया और हिन्दू राज्य समाप्त हो गया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में मलक्का में एक हिन्दू सामन्त ने जो जावा से भाग कर आया था, हिन्दू-राज्य की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में यह एक शक्तिशाली राज्य बन गया और मलक्का बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया। परन्तु मलक्का का हिन्दू राजवंश बहुत दिनों तक चल न सका। इस वंश के दूसरे राजा

ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया और धीरे-धीरे मलक्का में इस्लाम-धर्म का प्रचार हो गया ।

बाली द्वीप में, जो जावा के सन्निकट है, अत्यन्त प्राचीन काल में हिन्दू-राज्य की स्थापना तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया था । यह राज्य प्रायः जावा राज्य के अधीन ही था । जब जावा में इस्लाम-धर्म की स्थापना हो गई तब जावा के राजा बाली-द्वीप में भाग गये और वहीं पर शासन करने लगे । बाली में अब भी हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार है ।

बोर्नियो द्वीप में हिन्दू-राज्य की स्थापना चौथी शताब्दी ई० में हो गई थी । बोर्नियो में अब भी हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार है । वहाँ के मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा अब भी होती है ।

सिंहल द्वीप के साथ सम्बन्ध—श्रीलंका को सिंहल-द्वीप कहते थे । यह भारत के अत्यन्त सन्निकट स्थित है । अत्यन्त प्राचीन काल से सिंहल-द्वीप का भारत के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है । कहा जाता है कि सर्वप्रथम मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी ने सिंहल-द्वीप में आर्य-सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया था । परन्तु सिंहल-द्वीप में भारतीय उपनिवेश की स्थापना छठी शताब्दी ई० पू० में काठियावाड़ के राजा विजय के नेतृत्व में की गई थी । तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में सम्राट् अशोक ने सिंहल-द्वीप में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र तथा अपनी कन्या संघमित्रा को भेजा था । इसके फलस्वरूप सिंहल-द्वीप में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ और कालान्तर में वह राज-धर्म बन गया । भारत ने सिंहल-द्वीप को पाली भाषा तथा ब्राह्मी-लिपि प्रदान की और वहाँ पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हो गया ।

अध्याय २२

इस्लाम का उत्कर्ष

> "Islam as preached by the Prophet Muhammad was not an innovation, but a movement of reform and renovation directed to the regeneration of a people whose political, social and moral life seemed to him to call for and urgent upliftment"
>
> —Dr. P. Saran.

इस्लाम का अर्थ —इस्लाम अरबी भाषा के 'सलम' शब्द से निकला है। सलम का अर्थ होता है हुक्म मानना अर्थात् आज्ञा का पालन करना और इस्लाम का अर्थ है हुक्म मानने वाला अर्थात् आज्ञा का पालन करने वाला। इस्लाम का वास्तविक अर्थ है खुदा के हुक्म पर गर्दन रखने वाला। व्यापक अर्थ में इस्लाम एक धर्म का नाम है, जिसका उदय सातवीं शताब्दी में अरब में हुआ था। इस धर्म के मानने वाले 'मुसलमान' कहलाते हैं। मुसलमान शब्द मुसल्लम-ईमान का बिगड़ा हुआ स्वरूप है। मुसल्लम का अर्थ है पूरा और ईमान का अर्थ है दीन या धर्म। अतएव मुसलमान उन लोगों को कहते हैं जिनका दीन इस्लाम में पूरा विश्वास है। इस्लाम धर्म के उदय का वर्णन करने के पूर्व अरब की उस पुरानी धार्मिक व्यवस्था को जान लेना आवश्यक है, जिसे समाप्त कर इस्लाम-धर्म की स्थापना की गई थी।

अरब का प्राचीन धर्म—इस्लाम-धर्म के जन्म के पूर्व अरब वालों के धार्मिक विचार लगभग उसी प्रकार के थे जिस प्रकार के प्राचीन काल में हिन्दुओं के थे। हिन्दुओं की भाँति वे भी मूर्ति-पूजक थे और अनेक देवी-देवताओं में उनका विश्वास था। जिस प्रकार हिन्दू लोग कुल-देवता, ग्राम-देवता आदि में विश्वास करते थे उसी प्रकार इन लोगों के भी प्रत्येक कबीले (गिरोह) का एक देवता होता था, जो उसकी रक्षा किया करता था। अरब वालों में अन्ध-विश्वास भी कूट-कूट कर भरा था और वे भूत-प्रेत में विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि भूत-प्रेत वृक्षों तथा पत्थरों में निवास करते हैं और मनुष्य को विभिन्न प्रकार के कष्ट देने की शक्ति रखते हैं। मक्का में काबा इनका अत्यन्त पवित्र स्थान था; जहाँ ३६० मूर्तियों की पूजा हुआ करती थी। काबा में एक काला पत्थर है, जो बड़ा ही पुराना है। इन लोगों का विश्वास था कि इस पत्थर को ईश्वर ने आसमान से गिरा दिया था। अतएव वे लोग इसे बड़ा पवित्र मानत थे और इसके दर्शन तथा पूजा के लिए काबा जाया करते थे। यह पत्थर आज भी बडे आदर की दृष्टि से देखा जाता है। काबा की रक्षा का भार कुरेश नामक कबीले के ऊपर था, जो बडे आदर की दृष्टि से देखा जाता था। कुरेश

एक नगर का नाम था जहाँ के लोग कुरेशी कहलाते थे। इन्हीं लोगों का गिरोह कुरेश कहलाने लगा। कबीला अरबी के कबील शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है एक ही आदमी की औलाद या सन्तान और कबीला उस गिरोह को कहते हैं, जिसके सब लोग एक ही आदमी की सन्तान हों। इसी कुरेश कबीले में एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ, जिसने अरब की प्राचीन धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध एक बहुत बड़ी क्रान्ति की और एक नये धर्म को जन्म दिया, जो इस्लाम-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह महापुरुष मुहम्मद साहब थे।

मुहम्मद साहब का परिचय—मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में मक्का में एक साधारण परिवार में हुआ था। वे बाल्यकाल से ही बड़े मननशील थे। वे बड़ा ही सरल जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे एक ईश्वर तथा प्रार्थना में उनका विश्वास बढ़ता गया। परन्तु चालीस वर्ष की अवस्था तक मुहम्मद साहब के जीवन में कोई विशेष घटना न घटी। इसके बाद एक दिन उन्हें फरिश्ता जिबराइल के दर्शन हुए, जो उनके पास ईश्वर का पैगाम अर्थात् संदेश लेकर आया था। यह संदेश था, "अल्लाह का नाम लो, जिसने सब वस्तुओं की रचना की है।' इसके बाद मुहम्मद साहब को प्रत्यक्ष रूप मे ईश्वर के दर्शन हुए और यह संदेश मिला, "अल्लाह के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।"

अब मुहम्मद साहब ने अपने मत का प्रचार करना आरम्भ किया। परन्तु जैसा प्रायः सुधारकों के जीवन में देखा गया है, उनके देशवासियों ने प्रारम्भ में उनके विचारों का स्वागत नहीं किया और उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया। विवश होकर ६२२ ई० में उन्हें अपनी जन्मभूमि मक्का को छोड़ देना पड़ा और वे मदीना चले गये। यही से मुसलमानों का हिजरी संवत् आरम्भ होता है। हिजरी अरबी के हिज्र शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है जुदा या अलग हो जाना। चूंकि मुहम्मद साहब मक्का से अलग होकर मदीना चले गये अतएव इस घटना को 'हिजरत' कहते हैं। मदीना में मुहम्मद साहब का बड़ा ही स्वागत हुआ और वहाँ पर वे नौ वर्ष तक रहे। उनके अनुयायियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती ही गई। ६३१ ई० में मुहम्मद साहब अपनी जन्मभूमि मक्का लौट आये और वहीं पर दूसरे वर्ष उनका परलोकवास हो गया।

मुहम्मद साहब के उपदेश—मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का प्रचार किया वह बड़ा ही सरल है। उनके उपदेश एक ग्रन्थ में संकलित कर दिये गये हैं, जिसे 'कुरान' कहते हैं। कुरान अरबी के 'किरन' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है पास या समीप। कुरान वह ग्रन्थ है, जो लोगों को ईश्वर के पास या समीप ले जाता है। कुरान को मुसलमान लोग उतना ही पवित्र मानते हैं, जितना हिन्दू लोग गीता को और ईसाई लोग बाइबिल को। मुहम्मद साहब का एक ईश्वर में विश्वास था, जिसका न आदि है और न अन्त, अर्थात् न वह जन्म लेता है और न मरता है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वद्रष्टा तथा अत्यन्त दयावान है। मुहम्मद साहब का कहना था कि चूंकि सभी को अल्लाह ने बनाया है अतएव

सभी समान हैं। इस प्रकार इस्लाम-धर्म मानव के भ्रातृत्व अथवा बंधुत्व को स्वीकार करता है और संसार का सबसे अधिक लोकतन्त्रात्मक धर्म है। मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों से कहा था, "सच्चे धर्म का यह तात्पर्य है कि तुम अल्लाह, कयामत, फरिश्तों, कुरान तथा पैगम्बर में विश्वास करते हो और अपनी सम्पत्ति को दीन-दुखियों को खैरात कर देते हो।" अल्लाह अरबी के 'अलह' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है पाक या पवित्र जीव, जिसकी पूजा करनी चाहिए। कमायत अरबी के 'कयम' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है खड़ा होना। कयामत अर्थात् प्रलय के दिन मुर्दों को अपनी कब्रों से निकल कर खड़ा होना पड़ेगा। कयामत का वास्तविक अर्थ है दुनिया का मिट जाना। फरिश्ता का शाब्दिक अर्थ होता है मिलाप या एक चीज का दूसरी चीज से मेल। खुदा के पास से पैगाम लेकर जो फरिश्ता हजरत मुहम्मद के पास उतरा था, उसका नाम जिबराइल था। फरिश्ता वह पवित्र आत्माएँ हैं, जो ईश्वर तथा मनुष्य में सामीप्य स्थापित करती हैं। कुरान में मुहम्मद साहब के उपदेशों का संग्रह है। चूंकि मुहम्मद साहब ने ईश्वर का पैगाम या संदेश लोगों को दिया अतएव वे पैगम्बर कहलाते हैं। कुरान के अनुसार प्रत्येक मुसलमान के पाँच कर्त्तव्य हैं अर्थात् कलमा, नमाज, जकात, रमजान तथा हज। कलमा अरबी के 'कलम' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है शब्द। कलमा का अर्थ होता है ईश्वर-वाक्य अर्थात् जो कुछ ईश्वर की ओर से लिखकर आया है वह कलमा है। नमाज का अर्थ खिदमत या बंदगी करना है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् नम तथा आज। नम का अर्थ होता है ठण्डा करने वाली या मिटाने वाली और आज का अर्थ होता है वासनाएँ अथवा बुरी इच्छाएँ। नमाज अर्थात् प्रार्थना या पूजा-पाठ से मनुष्य की बुरी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। नमाज प्रतिदिन पाँच बार पढ़ी जाती है अर्थात् प्रातःकाल, दोपहर, तीसरे पहर, संध्या समय तथा रात्रि में। शुक्रवार को सभी लोग इकट्ठे नमाज पढ़ते हैं। जकात का शाब्दिक अर्थ होता है ज्यादा होना या बढ़ना। परन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ होता है भीख या दान देना। चूँकि भीख या दान देने से धन बढता है अतएव जो धन दान दे दिया जाता है उसे 'जकात' कहते हैं। प्रत्येक मुसलमान को अपनी आय का चालीसवाँ हिस्सा खुदा की राह में, अर्थात् दान में दे देना चाहिए। रमजान चाँद का नवाँ महीना होता है। रमजान अरबी में 'रमज' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है शरीर के किसी अंग को जलाना। चूंकि इस महीने में रोजा या व्रत रखकर शरीर को जलाया जाता है अतएव इसका नाम 'रमजान' रक्खा गया है। रोजा का अर्थ होता है सारे दिन न कुछ खाना न कुछ पीना। इस व्रत में सूर्य निकलने के बाद और सूर्यास्त के पहले खाया-पिया नहीं जाता। इस व्रत के रखने से बरकत (वृद्धि) होती है और कमाई बढ़ती है। हज का शाब्दिक अर्थ होता है इरादा; परन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ होता है कि मक्के में जाकर बन्दगी करना। प्रत्येक मुसलमान का यह धार्मिक कर्त्तव्य है कि अपने जीवन में कम-से-कम एक बार मक्का जाकर बन्दगी कर आये।

इस्लाम-धर्म के अनुयायी दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं अर्थात् शिया और सुन्नी।

शिया का शाब्दिक अर्थ होता है गिरोह। परन्तु व्यापक अर्थ में शिया उस सम्प्रदाय को कहते हैं जो केवल अली को मुहम्मद साहब का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता है, पहले तीन खलीफाओं को नहीं। सुन्नी शब्द अरबी के 'सुनत' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है मुहम्मद के कामों की नकल करना। सुन्नी उस सम्प्रदाय को कहते हैं, जो प्रथम तीन खलीफाओं को ही मुहम्मद साहब का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता है, मुहम्मद साहब के दामाद अली को नहीं। शिया सम्प्रदाय का झण्डा काला होता है और सुन्नी सम्प्रदाय का सफेद।

खलीफाओं का उत्कर्ष—खलीफा अरबी के 'खलफ' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है लायक बेटा अर्थात् योग्य पुत्र। परन्तु खलीफा अर्थ है जाँ-नशीन या उत्तराधिकारी। मुहम्मद साहब की मृत्यु के उपरान्त जो उनके उत्तराधिकारी हुए, वे लोग खलीफा कहलाये। खलीफा का प्रारम्भ में चुनाव होता था, परन्तु बाद में यह पद आनुवंशिक हो गया। मुहम्मद साहब के मरने के बाद अबूबकर, जो कुटुम्ब में सबसे अधिक बूढ़े तथा मुहम्मद साहब के ससुर थे, प्रथम खलीफा चुन लिए गये। वे बड़े ही धर्मपरायण व्यक्ति थे और उनके प्रयास से मेसोपोटामिया तथा सीरिया में इस्लाम-धर्म का प्रचार हो गया। अबूबकर के मर जाने पर ६३४ ई० में उमर निर्विरोध चुन लिये गये। उन्होंने इस्लाम-धर्म के प्रचार में जितनी सफलता प्राप्त की उतनी सम्भवतः अन्य किसी खलीफा ने न की। उन्होंने इस्लाम धर्म के अनुयायियों की एक विशाल तथा योग्य सेना संगठित की और साम्राज्य-विस्तार तथा धर्म-प्रचार का कार्य साथ-साथ आरम्भ किया। जिन देशों पर उनकी सेना विजय प्राप्त करती थी वहाँ के लोगों को मुसलमान बना लेती थी और वहाँ पर इस्लाम-धर्म का प्रचार आरम्भ हो जाता था। इस प्रकार थोड़े ही समय में फारस, मिस्र आदि देशों में इस्लाम-धर्म का प्रचार आरम्भ हो गया। उमर के बाद उसमान खलीफा हुए। परन्तु थोड़े ही दिन बाद उनकी विलास-प्रियता के कारण उनकी हत्या कर दी गई और उनके स्थान पर अली खलीफा चुन लिये गये। परन्तु कुछ लोगों ने इसका विरोध किया। इस प्रकार गृह-युद्ध आरम्भ हो गया और इस्लाम-धर्म के प्रचार में भी शिथिलता आ गई। अन्त में अली का वध कर दिया गया। अली के बाद उनका पुत्र हसन खलीफा चुना गया, परन्तु उसमें इस पद को ग्रहण करने की योग्यता न थी। अतएव उसने इस पद को त्याग दिया। अब सीरिया का गवर्नर मुआविया, जो खलीफा उमर के वंश का था, खलीफा चुन लिया गया। हसन ने मुआविया के पक्ष में खलीफा का पद इस शर्त पर त्यागा था कि खलीफा का पद निर्वाचित होगा, आनुवंशिक नहीं। परन्तु खलीफा हो जाने पर मुआविया के मन में कुभाव उत्पन्न हो गया और वह अपने वंश की जड़ जमाने में लग गया। उसने मदीना से हटकर दमिश्क को खलीफा की राजधानी बना दिया। चूंकि वह उमर के वंश का था, अतएव दमिश्क के खलीफा उमैयद कहलाये। मुआविया लगभग बीस वर्ष तक खलीफा के पद पर रहा और इस बीच में उसने अपने वंश की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ बना ली। हसन के साथ उसने जो वादा किया था उसे उसने तोड़ दिया और अपने पुत्र यजीद को अपना उत्तराधिकारी

नियुक्त किया। इससे बड़ा असंतोष फैला और इस असंतोष का नेतृत्व अली के पुत्र तथा हसन के भाई इमाम हुसेन ने ग्रहण किया। उन्होंने अपने थोड़े से साथियों के साथ फरात नदी के पश्चिमी किनारे के मैदान में उमैयद खलीफा की विशाल सेना का बड़ी वीरता तथा साहस के साथ सामना किया। वे अपने साथियों के साथ तलवार के घाट उतार दिये गये और मुहर्रम महीने की दसवीं तारीख को शहीद हो गये। जिस मैदान में इमाम हुसेन ने अपने प्राणों की आहुति दी, वह कर्बला कहलाता है। कर्बला दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् कर्ब तथा बला। कर्ब का अर्थ होता है मुसीबत और बला का अर्थ होता है दुःख। चूंकि इस मैदान में मुहम्मद साहब की कन्या के पुत्र का वध किया गया था अतएव इस मुसीबत और दुःख की घटना के कारण इसका नाम कर्बला पड़ गया। मुहर्रम मुसलमानों के वर्ष का पहला महीना है। चूंकि इस महीने की दसवीं तारीख को इमाम हुसेन की हत्या की गई थी अतएव यह शोक और रंज का महीना माना जाता है और मुसलमान लोग मुहर्रम का त्योहार मनाते हैं। यद्यपि इमाम हुसेन साहब इस दुनिया से चले गये, परन्तु जिस लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के लिये वे लड़े थे, उसकी लड़ाई समाप्त नहीं हुई। अब्दुल अब्बास नामक व्यक्ति ने इस लड़ाई को जारी रखा। अन्त में वह सफल हुआ और उसने उमैयद वंश के एक-एक व्यक्ति का वध करा दिया। अब्बास के वंशज अब्बासीद कहलाये। इन लोगों ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। बगदाद के खलीफाओं में हारूँ रशीद का नाम बहुत विख्यात है, जो अपनी न्याय-प्रियता के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। अन्त में तुर्कों ने बगदाद के खलीफाओं का अन्त कर दिया, जो मिस्र भाग गये और वहीं शरण पा गये। खलीफाओं ने इस्लाम-धर्म की एक बहुत बड़ी सेवा यह की है कि उन्होंने इसका दूर-दूर तक प्रचार किया। इन्हीं लोगों ने भारत में भी इसका प्रचार किया।

●

अध्याय २३

अरबवालों का भारत पर आक्रमण

> The Arab conquest of Sindh lead to nothin g and left scarcely a vestige save in the names of certain Arab families and in the ruins of the buildings they destroyed. The Arab cities have perished, but the wrecks of the castles and cities of their predecessors which formed as usual the quarries for their conquerors, buildings still bear witness to the civilization which they uprooted."
>
> —Stanley Lane-Poole.

अरबवासियों का परिचय—अरब एशिया का एक प्रायद्वीप है, जो उसके दक्षिण-पश्चिमी भाग में है । अरब के दक्षिण में हिन्द महासागर, पश्चिम में लालसागर और पूर्व में फारस की खाड़ी स्थित है । अतएव इसके समुद्र-तट के निवासी अत्यन्त प्राचीन काल से बड़े कुशल नाविक रहे हैं और विदेशों से व्यापार करने की उनकी बड़ी रुचि रही है । अरब एक रेगिस्तान है, परन्तु स्थान-स्थान पर उपजाऊ भूमि भी है, जहाँ पानी मिल जाता है । इन्हीं उपजाऊ स्थानों में इस देश के लोग निवास करते हैं । ये लोग कबीले बनाकर रहते थे और प्रत्येक कबीले का एक सरदार होता था, जिसकी आज्ञानुसार यह कार्य किया करते थे । अपने कबीले के प्रति इनकी बड़ी भक्ति होती थी और ये उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार रहते थे । ये लोग तम्बू में निवास करते थे और खानाबदोशों का जीवन व्यतीत किया करते थे । ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा करते थे और लूट-खसोट किया करते थे । ऊँट इनकी मुख्य सवारी और खजूर इनका मुख्य भोजन था । ये लोग बड़े ही साहसी, स्वाभिमानी तथा रण-कुशल होते थे ।

अरबवालों का भारत के साथ सम्बन्ध—अत्यन्त प्राचीन काल में ही अरबवालों का भारत के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया था । भारत का पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार अरब-नाविकों द्वारा ही होता था । धीरे-धीरे भारत के साथ अरबवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने लगा और वे भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर बसने लगे । कुछ भारतीय राजा, जिन्हें नाविकों की आवश्यकता थी, इन्हें अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहित करने लगे । इस प्रकार इनकी संख्या बढ़ने लगी । जब अरब में इस्लाम-धर्म का प्रचार हो गया तब भारत में आने वाले व्यापारियों ने व्यापार करने के साथ-साथ अपने धर्म का प्रचार करना भी आरम्भ कर दिया और

बहुत से नीच जाति के लोगों ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अरब वालों का भारतीयों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया।

सातवीं शताब्दी के मध्य में जब अरब में खलीफाओं का उत्थान आरम्भ हुआ तब उन्होंने साम्राज्यवादी नीति को अपनाया और अपने साम्राज्य का विस्तार आरम्भ किया। चूंकि खलीफा राज्य का प्रधान होने के साथ-साथ धर्म का भी प्रधान होता था, अतएव साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ धर्म-प्रचार का भी कार्य चलने लगा। भारत में आने वाले व्यापारियों से खलीफा को भारत की अपार सम्पत्ति का पता लग गया था। उसे यह भी मालूम हो गया था कि भारत के लोग मूर्ति-पूजक हैं। अरब के लोगों ने अपने देश में मूर्ति-पूजा को समाप्त कर दिया था और अब वे अन्य देशों से इसे समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे, अतएव भारत जैसे मूर्ति-पूजकों के देश पर आक्रमण करने का उन्होंने निश्चय कर लिया।

अरबवासियों के भारत पर आक्रमण करने के लक्ष्य—अरबवालों के भारत पर आक्रमण करने के तीन प्रमुख लक्ष्य प्रतीत होते हैं। उनका पहला लक्ष्य भारत की अपार सम्पत्ति को लूटना था। उनका दूसरा लक्ष्य भारत में इस्लाम-धर्म का प्रचार करना तथा मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ना था और उनका तीसरा लक्ष्य भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना था।. अपने इस ध्येय की पूर्ति करने के लिए उन्हें भारत पर आक्रमण करने का कारण भी मिल गया। अरब के व्यापारियों के एक जहाज को सिन्ध के लुटेरों ने लूट लिया। ईरान के गवर्नर हज्जाज को, जो खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ शासन करता था, भारत पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। उसने खलीफा की आज्ञा लेकर अपने भतीजे तथा दामाद मुहम्मद बिन कासिम की अध्यक्षता में एक सेना सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेज दी।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण—इन दिनों सिन्ध में दाहिर नामक राजा शासन कर रहा था। मुहम्मद बिन कासिम अपनी विशाल सेना के साथ आगे बढ़ता गया और ७११ ई० में सबसे पहले उसने देबुल नगर पर आक्रमण कर दिया। नगर-निवासी अत्यन्त भयभीत हो गये और वे कुछ न कर सके। अतएव बड़ी सरलता से देबुल पर मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। देबुल में मुहम्मद बिन कासिम ने बड़ी कठोरता की नीति का अनुसरण किया। उसने नगर-निवासियों को मुसलमान बन जाने की आज्ञा दी और जब लोगों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तब उसने उनकी हत्या की आज्ञा दे दी। कहा जाता है कि सत्रह वर्ष से ऊपर की आयु के सभी पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया गया और स्त्रियों तथा बच्चों को दास बना लिया गया। नगर को खूब लूटा गया और लूट का माल सैनिकों में बाँट दिया गया।

देबुल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद मुहम्मद बिन कासिम की विजयी सेना आगे बढ़ी और नीरून, सेहयान आदि नगरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त वह दाहिर की राजधानी ब्राह्मणाबाद में पहुँची। यहाँ पर दाहिर उनका सामना करने के लिए पहले से ही तैयार था। उसने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ शत्रु का सामना किया, परन्तु वह परास्त हो गया और रणक्षेत्र में ही उसको

मृत्यु हो गई। उसकी रानी ने अन्य स्त्रियों के साथ चिता में बैठकर अपने को अग्नि को सर्मपित कर दिया और इस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा की।

ब्राह्मणाबाद पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद मुहम्मद बिन कासिम ने मुल्तान की ओर प्रस्थान कर दिया। यद्यपि मुल्तान के शासक ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ शत्रु का सामना किया, परन्तु जल के अभाव के कारण उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। भारतीय सैनिकों की हत्या करवा दी गई और उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बना लिया गया। परन्तु जन-साधारण के साथ अधिक कठोरता का व्यवहार नहीं किया गया। जिन लोगों ने जज़िया कर देना स्वीकार कर लिया उन्हें मुसलमान नहीं बनाया गया। यहाँ पर हिन्दुओं के मन्दिरों को भी नहीं तोड़ा गया परन्तु उनकी सम्पत्ति लूट ली गई।

मुल्तान-विजय के बाद मुहम्मद बिन कासिम अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। खलीफा उससे अप्रसन्न हो गया। अतएव उसने उसे वापस बुला कर उसकी हत्या करवा दी।

सिन्ध में मुहम्मद बिन कासिम की सफलता के कारण—सिन्ध को जीतने में मोहम्मद बिन कासिम को विशेष कठिनाई न हुई। बहुत ही थोड़े समय में उसने सिंध तथा मुल्तान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और किसी भी युद्ध में उसकी पराजय न हुई। मुहम्मद बिन कासिम की इस विजय के अनेक कारण थे।

सिन्ध में मुहम्मद बिन कासिम की सफलता का सबसे बड़ा कारण उसकी अपनी योग्यता थी। वह ही बड़ा वीर, साहसी तथा कुशल सेनापति था। उसमें सैन्य-संगठन तथा सैन्य-संचालन की अद्भुत प्रतिभा थी।

मुहम्मद बिन कासिम की सफलता का दूसरा कारण उसकी सेना की विशालता तथा रण-कुशलता थी। कासिम की सेना सिन्ध के शासक की सेना से कहीं अधिक विशाल तथा रण-कुशल थी। कासिम की सेना में चुने हुए अनुभवी सैनिक थे, जो बड़े ही रण-कुशल थे। दाहिर की सेना इतनी सुसज्जित तथा रण-कुशल न थी। कासिम के सैनिक धार्मिक-भावना से भी ओत-प्रोत थे और इस्लाम के प्रचार के लिए वे सहर्ष अपने प्राणों को त्यागने के लिए उद्यत रहते थे। भारतीय सैनिक किसी प्रकार की भावना से प्रेरित न थे। सिन्ध में प्रवेश करते ही मुहम्मद बिन कासिम को सफलता प्राप्त होनी आरम्भ हुई और निरन्तर उसे सफलता मिलती गई। अतएव उसके सैनिकों का उत्साह बढ़ता गया। इसके विपरीत निरन्तर पराजित होने के कारण भारतीय सैनिकों का उत्साह घटता जा रहा था।

मुहम्मद बिन कासिम की विजय का तीसरा कारण उसकी नीति-निपुणता थी। देबुल में उसने बड़ी कठोर नीति का अनुसरण किया था। इससे भारतीय अत्यन्त भयभीत हो उठे। विजय प्राप्त करने के लिए भारतीयों को आतङ्कित कर देना आवश्यक था। बाद में मुहम्मद बिन कासिम ने उदारता की नीति का अनुसरण किया। इससे भारतीय समाज का जो वर्ग असन्तुष्ट था वह मुसलमानों से मिल गया और उनकी सहायता करने लगा।

कासिम की सफलता का चौथा कारण दाहिर की दुर्बलता थी। न वह वीर सैनिक था और न कुशल शासक। उसका शासन बड़ा अलोकप्रिय था और उसकी प्रजा बड़ी असन्तुष्ट थी। अतएव युद्ध के संकट-काल में उसे अपनी प्रजा से पूरा सहयोग न मिल सका। दाहिर में दूरदर्शिता बिल्कुल न थी। यद्यपि उसका राज्य समुद्र-तट को स्पर्श करता था और सामुद्रिक मार्ग से आक्रमण की सदैव सम्भावना रहती थी, परन्तु उसने जल-सेना की कोई व्यवस्था न की थी। यह जानते हुए भी कि उनके राज्य के पश्चिम में भयंकर लड़ाकू जातियाँ निवास करती हैं, उसने अपने राज्य की सीमा की सुरक्षा की कोई व्यवस्था न की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़ी सरलता से मुहम्मद बिन कासिम उसके राज्य में घुस आया और आगे बढ़ने लगा। प्रारम्भ में दाहिर ने उसको रोकने का कोई प्रयत्न न किया और अपनी राजधानी ब्राह्मणाबाद में ही पड़ा रहा। उसे देबुल में ही शत्रु का सामना करना चाहिये था। इस विलम्ब का परिणाम बहुत बुरा हुआ। इससे आक्रमणकारियों का उत्साह बढ़ गया और भारतीय सैनिकों का उत्साह घट गया। दाहिर ने एक बहुत बड़ी भूल यह की थी कि सैन्य-संचालन करने के स्थान पर वह एक साधारण सैनिक की भाँति स्वयं युद्ध में कूद पड़ा था। इससे सेना का ठीक से संचालन न हो सका और वह पराजित हो गई।

सिन्ध की भौगोलिक स्थिति भी कासिम को सफलता दिलाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। बहुत दिनों से सिन्ध शेष भारत से अलग हो गया था। अतएव इस संकट के काल में उसे भारत के अन्य राज्यों से कोई सहायता न मिल सकी। सिन्ध एक रेगिस्तानी प्रदेश है, अतएव उसके साधन अत्यन्त सीमित हैं। इस आर्थिक दरिद्रता के कारण वह केवल अपने पैरों पर खड़ा होकर बहुत दिनों तक युद्ध नहीं कर सकता था।

कासिम की सफलता का अन्तिम कारण सिन्ध की आन्तरिक दुर्बलता थी। इन दिनों सिन्ध में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि विभिन्न सम्प्रदायों के लोग निवास करते थे, जिनमें पारस्परिक वैमनस्य चल रहा था। इस आन्तरिक फूट से आक्रमणकारियों ने पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। सिन्ध में निम्न वर्ग के लोगों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार होता था और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। अतएव इन लोगों ने आक्रमणकारियों का स्वागत किया और सहर्ष इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया। इन्हीं दिनों ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि भारत पर विदेशियों का शासन होगा। इस भविष्यवाणी ने भी भारतीयों को हतोत्साहित कर दिया, जो बड़े ही भाग्यवादी थे।

सिन्ध में अरबी शासन-व्यवस्था—सिन्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त अरबी-आक्रमणकारियों को वहाँ के शासन की व्यवस्था करनी पड़ी। चूंकि मुसलमान लोग विजेता थे अतएव कृषि करना उनकी शान के खिलाफ था। फलतः कृषि का कार्य हिन्दुओं के हाथ में रहा। इन किसानों को नये विजेताओं को भूमि-कर देना पड़ता था। यदि वे सिंचाई के लिये सरकारी नहरों का प्रयोग करते थे

तो उन्हें ४० प्रतिशत और यदि सरकारी नहरों का प्रयोग नहीं करते थे तो केवल २५ प्रतिशत कर देना पड़ता था। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, उन्हें जजिया नामक कर देना पड़ता था। जन-साधारण की स्थिति अच्छी न थी और उन्हें अनेक प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। न वे अच्छे वस्त्र पहन सकते थे और न घोड़े की सवारी कर सकते थे। न्याय का कार्य काजी लोगों के हाथ में था, जो कुरान के नियमों के अनुसार न्याय किया करते थे। अतएव हिन्दुओं के साथ प्रायः अत्याचार हो जाया करता था। यद्यपि प्रारम्भ में विजेताओं ने बड़ी कठोर नीति का अनुसरण किया था, परन्तु धीरे-धीरे उनमें उदारता आने लगी और भारतीयों के साथ उनकी कठोरता में बहुत-कुछ कमी हो गई। परन्तु अरब वाले बहुत दिनों तक सिन्ध में अपनी प्रभुता स्थापित न रख सके और उनका शासन अस्थायी सिद्ध हुआ।

सिन्ध में अरब-शासन अस्थायी क्यों ?—सिन्ध में अरब शासन-व्यवस्था स्थायी न सिद्ध हुई। लेन-पूल महोदय ने लिखा है, "अरबों द्वारा सिन्ध की विजय भारतीय और इस्लाम के इतिहास में एक घटना मात्र थी, वह परिणामहीन विजय थी।"[1] थोड़े ही समय में सिन्ध में अरब-सत्ता के समाप्त हो जाने के अनेक कारण थे। इसका सबसे बड़ा कारण सिन्ध की भौगोलिक परिस्थितियाँ थीं। सिन्ध एक मरुस्थल तथा निर्धन प्रदेश है। इसके साधन इतने कम हैं कि कोई भी विदेशी इसकी सीमित आय से शासन नहीं चला सकता। सिन्ध की भौगोलिक स्थिति अरब-आक्रमणकारियों के विरुद्ध थी। सिन्ध के पूर्व में राजपूताने का रेगिस्तान है, जहाँ राजपूतों के प्रबल राज्य थे और जिन पर विजय प्राप्त करना बड़ा दुष्कर कार्य था। सिन्ध के उत्तर में भी राजपूतों के अत्यन्त प्रबल राज्य थे। अतएव अरब-आक्रमणकारी एक गलत रास्ते से आकर सिन्ध के दरिद्र प्रदेश में फँस गये। सिन्ध का प्रदेश अरब से इतनी दूर था कि खलीफा इस पर अपना नियन्त्रण नहीं रख सकता था। सिन्ध तथा अरब के बीच की राजनीति सदैव बदलती रही थी। अतएव खलीफा प्रारम्भ से ही सिन्ध की ओर से उदासीन रहा और उसने वहाँ कोई सहायता न दी। चूँकि मुहम्मद बिन कासिम के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले, अतएव बिना खलीफा की सहायता के वे सिन्ध में अधिक दिनों तक टिक न सके। ऐसा प्रतीत होता है कि खलीफा सिन्ध में अपना स्थायी शासन नहीं स्थापित करना चाहता था, वरन् वह केवल सिन्ध के लुटेरों को दण्ड देना चाहता था। अरब-आक्रमणकारियों में शासन करने की भी क्षमता न थी, अतएव वे सिन्ध में अपनी शक्ति को प्रबल न बना सके और जब तुर्कों के आक्रमण भारत पर आरम्भ हुए तब वे उनके सामने धराशायी हो गये और सिन्ध में अरबी शासन का अन्त हो गया। इस प्रकार जिस तेजी से अरब-आक्रमणकारियों ने सिन्ध को जीता था, उसी तेजी से उनका अन्त भी हो गया।

---

[1] 'The Arab conqeust of Sindh was only an episode in the history of India and of Islam, a triumph without result.'

—Lane-Poole.

अरब-आक्रमण का प्रभाव—भारत पर अरब-आक्रमण का क्या प्रभाव पड़ा ? इस प्रश्न पर हम दो दृष्टिकोणों से विचार करेंगे अर्थात् राजनीतिक तथा सांस्कृतिक। राजनीतिक दृष्टिकोण से अरब-आक्रमण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसी से लेन-पूल महोदय ने इस आक्रमण को भारत के इतिहास में एक घटना मात्र कहा है, जिसका भारत के इतिहास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस समय से मध्य-युग के अन्त तक निरन्तर सिन्ध पर मुसलमानों की राज-सत्ता स्थापित रही। अरब यात्री तथा साधु-महात्मा निरन्तर भारत आते रहे और भारत के विषय में लिखते-पढ़ते रहे। इससे आगे चलकर तुर्कों को भारत पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिली।

अरब-आक्रमण का राजनीतिक प्रभाव चाहे नगण्य ही रहा हो परन्तु इसका सांस्कृतिक प्रभाव बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इस आक्रमण के फलस्वरूप मुसलमान लोग सिन्ध के नगरों में बस गये। इन लोगों ने हिन्दू स्त्रियों के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार अरब-रक्त का भारतीय रक्त में सम्मिश्रण हो गया। अरब आक्रमणकारियों ने सिन्ध में अपने धर्म का खूब प्रचार किया। इससे भारत में एक ऐसे धर्म का खूब प्रचार हुआ, जो अत्यन्त लोकतन्त्रात्मक था और अपनी सरलता तथा बन्धुत्व के सिद्धान्त द्वारा भारत की निम्न-जातियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका, जिन्होंने सहर्ष इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया। जब अरब-आक्रमणकारी भारतीयों के निकट तथा घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये, तब वे भारतीयों की उत्कृष्ट संस्कृति से आकृष्ट हुए और भारतीय ज्योतिष, चिकित्सा, रसायन, दर्शन आदि को सीखने का अरब वालों ने प्रयत्न किया। बगदाद के खलीफाओं और विशेषकर खलीफा हारूँ रशीद ने इस कार्य में बड़ी रुचि ली। उन्होंने भारतीय विद्वानों तथा वैद्यों को बगदाद बुलाया और उनका आदर-सम्मान कर उनसे बहुत कुछ सीखा। कहा जाता है कि शतरंज का खेल अरब वालों ने भारतीयों से सीखा था। गणित के अनेक सिद्धान्तों को भी अरब वालों ने भारतीयों से सीखा था। शून्य से नौ तक के अंक तथा दशमलव-प्रणाली को अरब वालों ने भारतीयों से सीखा था। औषधि-विज्ञान की अनेक बातें भी अरब वालों ने भारतीयों से सीखीं। इस प्रकार अरब-आक्रमण का सांस्कृतिक प्रभाव स्थायी तथा अमिट सिद्ध हुआ।

अध्याय २४

तुर्कों का उत्थान

"The Arab invasion was a failure. It attacked from the wrong quarter, entered on the least productive province, and was too feebly supported to spread further. We hear no more of the Arabs as conquerors in India. The role devolved upon the Turks and when we speak of the Mohammedan empire in India we mean the rule of the Turks." —Stanley Lane-Poole.

तुर्क कौन थे ?—तुर्क किसी जाति का नाम न था वरन् तुर्की एक भाषा थी और इस भाषा के बोलने वाले लोग तुर्क कहलाते थे। ये लोग आर्य-जाति के थे, अतएव यह गोर-वर्ण के बड़े ही सुन्दर तथा सजीले जवान होते थे। ये बड़ो ही सामरिक प्रवृत्ति के होते थे और कालान्तर में युद्ध तथा लूट-मार करना इनका व्यवसाय हो गया। इनका आदि-स्थान साइबेरिया के दक्षिण में गोबी रेगिस्तान के पास था। ये वड़े पर्यटनशील थे और इधर-उधर घूमा करते थे। धीरे-धीरे राजनीतिक व भौगोलिक कारणों से ये पश्चिम की ओर बढ़े। ५६० ई० में ये लोग आक्सस नदी के तट पर पहुँच गये। ७०५ ई० में ये लोग अरब-आक्रमण-कारियों के सम्पर्क में आये और इन लोगों ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया। ये लोग अपने नये धर्म के कट्टर अनुयायी हो गये और इन लोगों ने अदम्य उत्साह के साथ उसके प्रचार का प्रयत्न किया। ये लोग खलीफा की सेना में भर्ती हो गये और अङ्ग-रक्षक के रूप के प्रायः काम करने लगे। इनके सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है,[1] "तुर्की अंग-रक्षक जिन्हें खलीफा ने अपने शरीर की रक्षा के लिए

---

1. "The Turkish guards whom the Khalifas employed to protect their person, were a barbarian race, who soon relegated the Arab Chiefs to the background, and dominated their masters. So great became their power that Khalifas became a mere tool in their hands and the Arabs, who had once been a fine and gallant race, fell from their high estate and lost their old virtues. The Khalifa's forces also consisted of the Turks, a fact which greatly increased the strength and insolence of these praetorians." —Dr. Ishwari Prasad.

नियुक्त किया था, बर्बर जाति के थे, जिन्होंने अरब-सामन्तों को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया और अपने स्वामी पर अपना प्रभाव जमा लिया। उनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि खलीफा उनके हाथ की कठपुतली बन गया और अरब लोग, जो किसी समय के बड़े ही वीर तथा अच्छी प्रजाति के समझे जाते थे, अपने उच्च-पद से गिर गये और अपने पुराने गुणों को खो दिया। खलीफा की सेना भी तुर्कों की ही सेना थी। इससे उनकी शक्ति तथा उद्दण्डता और बढ़ गई।''

तुर्कों की शाखाएँ—अपने पर्यटन-काल में तुर्क लोग कई शाखाओं में विभक्त हो गये। इनकी एक शाखा सेल्जुक नामक व्यक्ति के नेतृत्व में पश्चिम की ओर बढ़ी। अपने नेता के नाम पर ये लोग सेल्जुक तुर्क कहलाये। ये लोग बगदाद के खलीफा की सेना में भरती हो गये। जब धीरे-धीरे खलीफा की शक्ति घटने लगी तब ये लोग अपनी शक्ति को बढ़ाने में लग गये और अन्त में बगदाद पर अपना अधिकार जमा लिया। इनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही गई। १०७६ ई० में इन लोगों ने ईसाइयों के पवित्र स्थान जेरुसलम पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यहीं से तुर्कों तथा ईसाइयों के बीच जेरुसलम पर अधिकार स्थापित करने के लिए युद्ध आरम्भ हो गये जो 'क्रूसेड' अर्थात् धर्म-युद्ध कहलाये। ईसाइयों ने जेरुसलम पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये निरन्तर युद्ध किया और यह युद्ध कई शताब्दियों तक चलता रहा। परन्तु १९१८ तक जेरुसलम पर तुर्कों का ही अधिकार रहा।

तुर्कों की एक दूसरी शाखा उस्मानी तुर्क के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा का विकास उस्मान नामक व्यक्ति के नेतृत्व में हुआ था। इसी से इस शाखा का नाम उस्मानी तुर्क पड़ा है। यूरोपीय इतिहासकारों ने उस्मान को बिगाड़ कर 'ऑटोमन' कर दिया और इस शाखा को 'ऑटोमन' कहने लगे। इन तुर्कों ने १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, जो उन दिनों व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस विजय का यूरोप के इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। इससे यूरोप वालों का पूर्व का स्थल-मार्ग बन्द हो गया, जिससे उन लोगों ने जल-मार्ग की खोज आरम्भ की। फलतः कोलम्बस, वास्कोडिगामा, आदि नाविकों ने नये-नये मार्गों तथा देशों की खोज की, जिनका विश्व के आगे आने वाले इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उस्मानी तुर्कों ने यूनान पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इससे यूनानी विद्वानों ने भाग कर यूरोप के अन्य देशों में शरण ली और वहाँ के लोगों के सांस्कृतिक जीवन में भी बहुत बड़ी क्रान्ति पैदा कर दी। इन लोगों ने लैटिन भाषा के अध्ययन में लोगों की रुचि उत्पन्न कर दी, जिससे आगे चल कर यूरोप में धार्मिक सुधार के आन्दोलन आरम्भ हुए। उस्मानी तुर्कों की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई और उन्होंने दक्षिणी यूरोप के बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मिस्र भी उनके अधिकार में आ गया। इस प्रकार उस्मानी तुर्कों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो कई शताब्दियों तक चलता रहा। उस्मानी तुर्कों के शासकों में सुलेमान अथवा सोलोमन सबसे अधिक शक्तिशाली था, जो न केवल अपने पौरुष वरन् बुद्धिमत्ता के लिए भी दूर-दूर तक विख्यात था। उसने १५२० ई० से १५६६ ई० तक

शासन किया । उस्मानी तुर्कों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि अब उनका शासक सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् का शासक माना जाने लगा और उसने अपने को 'खलीफा' की उपाधि से विभूषित किया । यह उपाधि १९२२ ई० तक चलती रही । अन्त में कमाल अतातुर्क ने खलीफा के पद को समाप्त कर दिया ।

तुर्कों की एक तीसरी शाखा पूर्व की ओर बढ़ी और अफगानिस्तान की ओर चली गई । इन दिनों समनी-राजवंश शक्तिशाली हो रहा था । इस वंश की स्थापना इस्लाम ने की थी, जो समन का निवासी था । इसी से इस वंश का नाम समनी-वंश पड़ा । समनी-वंश के शासक तुर्कों की वीरता, उनके साहस तथा उनकी रणप्रियता से आकृष्ट हुए और उन्हें अपनी सेना में भर्ती करना आरम्भ किया । ये तुर्क न केवल कुशल सैनिक थे वरन् इनमें प्रशासकीय प्रतिभा भी होती थी । अतएव जो तुर्क पकड़ लिये जाते थे अथवा मुसलमान बना लिये जाते थे वे या तो सेना में भर्ती कर लिये जाते थे या प्रशासकीय पदों पर नियुक्त कर दिये जाते थे । यद्यपि ये तुर्क गुलाम कहलाते थे, परन्तु गुलाम शब्द उनकी उत्पत्ति का द्योतक था, उनकी सामाजिक स्थिति का नहीं । समनी-राज्य का विस्तार फारस, मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के बहुत बड़े भाग पर हो गया । परन्तु जिस तेजी से समनी-वंश का विकास हुआ था, उसी तेजी से उसका विनाश भी होने लगा । उसके पतन-काल में उसके तुर्की अफसरों की शक्ति बढ़ने लगी । ९६२ ई० में अलप्तगीन नामक उनके एक तुर्की अफसर ने अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेश में गजनी नामक स्थान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया । पहले यह राज्य समनी-वंश के अधीन ही था परन्तु ज्यों-ज्यों समनी-वंश शक्तिहीन होता गया त्यों-त्यों गजनी की शक्ति बढ़ती गई और ९७६ ई० में सुबुक्तगीन, जो अलप्तगीन का तुर्की गुलाम था, गजनी का स्वतन्त्र शासक बन गया । अब इस वंश के इतिहास का परिचय आगामी अध्याय में दिया जायगा ।

⁂

अध्याय २५

गजनवी वंश

> "The Ghaznavite invasion in the last quarter of the 10th century of the Christian Era revealed a state of affairs in the political sphere of India which was the direct result of the dominance of the culture and socio-religious ideals and outlook of the post Gupta new-Brahmanic ascendancy over the mind of indian humanity. The war between Jaipal and Subuktgin and more emphatically still the campaigns of Mahmud of Ghazni unmistakably manifested that there was something radically wrong with the Indian political system and that it was thoroughly rotten and worn out to the core."
>
> —D. P. Saran

गजनवी-वंश का परिचय—दसवीं शताब्दी के मध्य में एक नये तुर्क राज-वंश का उदय गजनी नगर में हुआ। गजनी नगर में इस वंश का उदय होने के कारण ही इस राज-वंश का नाम गजनवी पड़ा। गजनी अफगानिस्तान के पर्वतीय-प्रदेश में स्थित एक नगर है। पहाड़ी देश में स्थित होने के कारण यह नगर बड़ा ही सुरक्षित समझा जाता था। ९६२ ई० में अलप्तगीन नामक एक तुर्की गुलाम ने गजनी में अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया। अलप्तगीन समनी वंश के शासक का एक गुलाम था और समनी-वंश की राजधानी बुखारा से भाग कर उसने यहाँ पर अपनी राज-संस्था स्थापित कर ली। परन्तु वह स्वतन्त्र शासक न था वरन् वह अपने स्वामी के वंशजों की अधीनता में ही शासन करता था। अलप्तगीन के बाद दो और शासक इस वंश में हुए, परन्तु वे बड़े निर्बल सिद्ध हुए और गजनी राज्य की शक्ति में कोई वृद्धि न कर सके।

इसके बाद ९७६ ई० में गजनी में एक नये राज-वंश की स्थापना हुई। इसका संस्थापक सुबुक्तगीन था, जो अलप्तगीन का तुर्की गुलाम था और जिसके साथ अलप्तगीन ने अपनी कन्या का विवाह कर दिया था। सुबुक्तगीन बड़ा ही वीर तथा साहसी व्यक्ति था। वह गजनी में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा और अपनी शक्ति को बढ़ाने में संलग्न हो गया। परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल थीं। इन दिनों अब्बासीद खलीफाओं की शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी और समनी-राज्य पर सेल्जुक तुर्कों का दबाव बढ़ता जा रहा था। पश्चिमी एशिया की इस गड़बड़ी से सुबुक्तगीन ने पूरा लाभ उठाया। उसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करना आरम्भ किया। सबसे पहले उसने

काबुल की घाटी में लमगान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने सीस्तान को जीत लिया और शाही वंश के हिन्दू राजा जयपाल के भी राज्य का कुछ हिस्सा जीत लिया। थोड़े ही दिन बाद उसने खुरासान को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार उसका राज्य अत्यन्त सुसंगठित तथा सुदृढ़ बन गया। लमगान जीतने से सुबुक्तगीन भारत के सम्पर्क में आ गया और शाही वंश के हिन्दू राजा जयपाल के साथ उसका संघर्ष आरम्भ हो गया। राजा जयपाल पंजाब का शासक था और उसका राज्य भटिण्डा से काबुल तक फैला था। सुबुक्तगीन ने थोड़े ही दिनों में काबुल को जीत लिया और पेशावर पर भी अधिकार स्थापित कर लिया।

इस प्रकार तुर्कों का भारत में प्रवेश हो गया। भारत के इतिहास में यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसका भारत के भावी इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। तुर्क लोग बड़े ही बर्बर तथा लुटेरे थे। वे बड़े ही कट्टरपन्थी थे और धार्मिक सहिष्णुता उनमें बिलकुल न थी। इस्लाम-धर्म के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी और उसके प्रचार का वे यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे थे। तुर्कों ने न केवल भारत की अपार सम्पत्ति को लूटा और यहाँ पर अपना राज्य स्थापित कर कई सौ वर्षों तक शासन किया वरन् उन्होंने हिन्दुओं के मन्दिर और मूर्तियों का विध्वंस किया और भारत में इस्लाम-धर्म तथा इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इससे भारत के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हुआ जो 'मुस्लिम-युग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

९९७ ई० में सुबुक्तगीन का परलोकवास हो गया। उसने अपने जीवन-काल में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था, अतएव उसके दो पुत्रों इस्लाम तथा महमूद गजनवी में प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई। अन्त में महमूद को ही सफलता प्राप्त हुई और अपने पिता की मृत्यु के एक वर्ष उपरान्त वह गजनी के सिंहासन पर बैठ गया।

महमूद गजनवी—महमूद बड़ा ही वीर तथा महत्त्वकांक्षी व्यक्ति था। उसने गजनी में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करना आरम्भ किया और बगदाद के खलीफा की अधीनता स्वीकार नहीं की। उसका लक्ष्य उस सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित करना था, जो उन दिनों समनी-वंश तथा खलीफा के अधिकार में था। भारत पर विजय प्राप्त कर उस पर शासन करना महमूद का लक्ष्य न था। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि पश्चिम की ओर उसका विशाल-साम्राज्य टाइग्रिस नदी तक फैला था और उसकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक था। उसके राज्य के उत्तर में तुर्कों के कबीले बन गये थे जो उसके राज्य पर आक्रमण किया करते थे और जिनके साथ उसका निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। अतएव महमूद केवल पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था और उत्तर की ओर वह अपने साम्राज्य की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था करना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भारत जैसे सम्पन्न देश से केवल युद्ध के साधन प्राप्त करना चाहता

था, क्योंकि यदि वह भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करता तो यह सम्भव था कि वह अपने पूर्वजों के साम्राज्य को खो देता। भारत में महमूद ने दो कारणों से अपना स्थायी राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। पहला कारण तो यह था कि भारत अत्यन्त विशाल देश था और उसको जीत कर गजनी से उस पर शासन करना सरल कार्य न था और दूसरा कारण यह था कि भारत की गर्म तथा नम जलवायु तुर्कों के अनुकूल न थी, जो ठण्डे तथा शुष्क प्रदेश के रहने वाले थे। भारत के राजाओं में जो पारस्परिक वैमनस्य तथा ईर्ष्या-द्वेष चल रहा था और उनमें एकता की जो कमी थी उससे कोई भी आक्रमणकारी उनके राज्यों को लूट तो सकता था, परन्तु भारत पर स्थायी विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। यद्यपि महमूद भारत पर अपना स्थायी राज्य स्थापित नहीं करना चाहता था, परन्तु भारत की सम्पत्ति को लूटने तथा मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ने के लिए उसने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये और उन सभी आक्रमणों में वह सफल रहा। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजपूतों की वीर तथा साहसी जाति, जो शताब्दियों से भारत की रक्षा का कार्य करती चली आ रही थी और युद्ध करना जिसका जातीय कर्त्तव्य था, तुर्कों के सामने ठहर न सकी। इस रहस्य का पता लगाने के लिए भारत को तत्कालीन स्थिति का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

महमूद के आक्रमण के समय भारत की दशा—जिस समय महमूद ने भारत पर आक्रमण किया, उन दिनों भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा बड़ी ही शोचनीय थी और भारत छिन्न-भिन्न होता जा रहा था। उन दिनों भारत की राजनीतिक एकता पूर्ण-रूप से समाप्त हो गई थी। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। सिन्ध तथा मुल्तान में मुसलमानों का राज्य था, जिनकी सहानुभूति परधर्मी हिन्दुओं के साथ न होकर स्वधर्मी तुर्कों के साथ ही हो सकती थी। पंजाब में शाह-वंश का राजा जयपाल शासन कर रहा था, जो अकेले तुर्क आक्रमणकारियों का सामना करने की क्षमता न रखता था। पंजाब के उत्तर में काश्मीर का छोटा-सा राज्य था। इन दिनों काश्मीर में भयानक क्रान्ति मची थी और वहाँ के शासन की बागडोर एक स्त्री के हाथ में थी। अतएव इस संकट-काल में काश्मीर किसी भी आक्रमणकारी का शिकार बन सकता था। तीसरा हिन्दू राज्य कन्नौज का था, जहाँ प्रतिहार-वंश शासन कर रहा था। इन दिनों कन्नौज में राज्यपाल शासन कर रहा था, जो बड़ा ही अयोग्य तथा निर्बल शासक था। उसमें तुर्कों के आक्रमणों का सामना करने की बिल्कुल क्षमता न थी। बंगाल में इन दिनों पाल वंश का राजा महिपाल शासन कर रहा था, जिसका कन्नौज के राजा के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। इस प्रकार यह दोनों राज्य लड़कर अपनी शक्ति का विनाश करते थे। चूंकि बंगाल सुदूर-पूर्व में स्थित था अतएव उसके तुर्कों के आक्रमणों के प्रहार से बचे रहने की सम्भावना थी। फलतः बंगाल के शासकों की पश्चिमोत्तर प्रदेश की राजनीति में कोई विशेष रुचि न थी। दक्षिण में चोलों का शक्तिशाली राज्य था। परन्तु इसके शासक बंगाल-राज्य पर आक्रमण कर उसे

निर्बल बना रहे थे। चोल-राजाओं का कल्याणी के चालुक्य-राजाओं के साथ भी निरन्तर संघर्ष चल रहा था। इस प्रकार यह दोनों राज्य एक दूसरे की शक्ति का विनष्ट कर रहे थे। गुजरात में चालुक्य-वंश, बुन्देलखण्ड में चन्देल-वंश तथा मालवा में परमार-वंश शासन कर रहा था। इन सभी राज्यों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की राजनीतिक एकता बिलकुल विनष्ट हो गई थी और उत्तरी भारत में कोई ऐसा सबल राज्य न था, जो सफलतापूर्वक तुर्कों के आक्रमण का सामना कर सकता। विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध मिलकर एक संयुक्त मोर्चा उपस्थित करना भी सम्भव न था, क्योंकि ये राज्य एक दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और इनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था, जो प्रायः पुश्तैनी हो जाता था। ये राज्य एक दूसरे को विवष्ट कर देने के प्रयत्न में संलग्न थे और इसी प्रकार अपनी शक्ति का स्वयं विनाश कर रहे थे। ये राजपूत बड़े ही स्वाभिमानी थे और कोई भी राजा किसी अन्य राजा के नेतृत्व में युद्ध करने के लिए उद्यत न था। इन राजाओं में शक्ति का ऐसा संतुलन हो गया था कि कोई भी राजा इतना अधिक प्रबल न था कि वह अन्य राजाओं को एक सूत्र में बाँधकर और उनका नेतृत्व ग्रहण कर तुर्कों के सामने एक प्रबल मोर्चा उपस्थित कर सकता। इसके विपरीत तुर्कों में बड़ी एकता थी। इस्लाम-धर्म ने उन्हें एकता तथा बन्धुत्व के प्रबल सूत्र में बाँध दिया था और वे एक व्यक्ति के नेतृत्व में लड़ने के लिये सदैव उद्यत रहते थे।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी भारत इन दिनों छिन्न-भिन्न हो रहा था। जाति प्रथा के बन्धन अत्यन्त जटिल हो गये थे और छुआ-छूत की भावना इतनी बढ़ गई थी कि शूद्रों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। उसकी उन्नति का मार्ग बन्द हो गया था और वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। अतएव किसी भी लोकतन्त्रात्मक धर्म की ओर, जिसमें उन्हें समानता का स्थान प्राप्त हो सकता था, उनका आकृष्ट हो जाना तथा उसे स्वीकार कर लेना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रायः इतिहासकारों की यह धारणा रही है कि इस काल के हिन्दुओं में संकीर्णता आ गई थी और उनमें विदेशियों को आत्मसात् करने अर्थात् अपने में मिला लेने की क्षमता न थी। परन्तु यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता। हिन्दू-धर्म सदैव उदार तथा सहिष्णु था, परन्तु मुसलमान आत्मसात् होने के लिए उद्यत न थे। तुर्कों के आक्रमण के बहुत पहले इस्लाम-धर्म का भारत में प्रवेश हो चुका था और भारतवासी इस बात को समझ गये थे कि वे मुसलमानों को अपने में मिला नहीं सकते क्योंकि मुसलमान अपने अस्तित्व को बनाये रखने और हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए दृढ़-संकल्प थे। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं को अपनी रक्षा का मार्ग ढूँढ़ निकालना था। फलतः उन लोगों ने अपनी पवित्रता तथा शुद्धता पर बल देना आरम्भ किया। उन्होंने मुसलमानों को म्लेच्छ कहा और उनको अछूत बतलाया। उनसे दूर रह कर ही हिन्दू अपनी रक्षा कर सकते थे। यदि हिन्दू इस नीति का अनुसरण न किये होते

तो हिन्दू-धर्म को बहुत बड़ी क्षति पहुंची होती और आज हिन्दुओं का इतना बड़ा बहुमत इस देश में न रहा होता। अपनी सभ्यता तथा संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का एकमात्र उपाय उन्हें यही दिखाई दिया कि अपनी जाति-प्रथा के बन्धनों को कड़ा बनाकर वे नवागंतुकों से अलग रहें। भारतीय समाज में एक बहुत बड़ा दोष यह था कि सेना में भर्ती होने तथा देश की रक्षा करने का एकाधिकार राजपूतों को प्राप्त था। इससे भारत की अन्य जातियाँ राजनीति में कोई विशेष रुचि नहीं लेती थीं। इसका परिणाम देश के लिए बहुत बुरा हुआ। इससे सैनिकों के चुनाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया और भारत की अन्य जातियाँ देश की सैनिक-सेवा करने से वंचित रह गयीं। इसके विपरीत प्रत्येक तुर्क सैनिक होता था और प्रत्येक बच्चे को सैनिक शिक्षा दी जाती थी और उसका सारा जीवन युद्ध तथा लूट-मार करने में व्यतीत होता था।

अब भारतीयों के धार्मिक जीवन में बड़ी शिथिलता आ गई थी। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन-धर्म वाले साथ-साथ निवास कर रहे थे; परन्तु उनमें कोई धार्मिक उत्साह अथवा उत्तेजना न थी वे धर्म के नाम पर कोई युद्ध न करते। वास्तव में भारत में कभी भी धर्म के नाम पर कोई युद्ध न हुआ। इसके विपरीत तुर्क लोग इस्लाम-धर्म का प्रचार करने के लिए प्राण-प्रण से तैयार थे। वे हिन्दुओं के विरुद्ध, जो मूर्ति-पूजक थे, 'जेहाद' करने को उद्यत रहते थे। 'जेहाद' को वे पवित्र युद्ध मानते थे और उनका विश्वास था कि ऐसे युद्ध में प्राण दे देने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे उनमें बड़ी उत्तेजना रहती थी। भारत में बहुत दिनों से मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण बड़े जोरों के साथ चल रहा था। इन मन्दिरों में अपार सम्पत्ति भरी पड़ी थी। इन मन्दिरों की मूर्तियाँ भी बड़ी मूल्यवान् होती थीं, क्योंकि प्राय: वे बड़ी ही मूल्यवान् धातु की बनी तथा रत्न-जटित हुआ करती थीं। ऐसी स्थिति में इन मन्दिरों तथा मूर्तियों का तुर्कों के आक्रमण का प्रधान लक्ष्य बन जाना स्वाभाविक था। इससे उनके दो उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती थी। मन्दिरों तथा मूर्तियों को विध्वंस करने से उनके धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति होती थी और उनकी सम्पत्ति के लूटने से उन्हें आर्थिक लाभ भी होता था अतएव तुर्कों के प्रारम्भिक आक्रमणों के दो प्रधान लक्ष्य बन गये। पहला लक्ष्य था भारत की अपार सम्पत्ति को लूटना और दूसरा लक्ष्य था मूर्ति-पूजकों को विनष्ट करना अथवा उन्हें मुसलमान बनाना और उनके मन्दिरों तथा उनकी मूर्तियों को विनष्ट करना।

यद्यपि राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से भारत निर्बल हो गया था, परन्तु उसकी आर्थिक दशा बड़ी ही सन्तोषजनक थी। भारत बड़ा ही धन-सम्पन्न देश था और विदेशों में वह 'सोने की चिड़िया' के नाम से पुकारा जाता था। गजनी-साम्राज्य की सीमा पर स्थित होने के कारण वह उसकी दृष्टि से बच न सका। गजनी के शासक महमूद गजनवी ने इस बात का अनुभव किया कि भारत की अतुल सम्पत्ति को लूट कर वह अपने साम्राज्य के धनाभाव की पूर्ति और उसकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था कर सकता था। उस धन की सहायता से वह पश्चिम की ओर

अपने साम्राज्य का विस्तार भी कर सकता था । फलतः उसने प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया । महमूद यह भी जानता था कि मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध 'जेहाद' (धर्म-युद्ध) करने में उसे अपने तुर्क अनुयायियों से बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध युद्ध करना वे अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे । अब महमूद के भारतीय आक्रमणों का संक्षिप्त परिचय देने के पूर्व इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि महमूद का भारत पर आक्रमण करने का क्या उद्देश्य था ।

महमूद के भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्य—महमूद एक ऐसे प्रदेश का शासक था जो बड़ा ही निर्धन था, अतएव अपने नये साम्राज्य के शासन को सुचारु रीति से चलाने, उसे सुरक्षित बनाये रखने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए धन तथा युद्ध के अन्य साधनों की बड़ी आवश्यकता थी । इस आवश्यकता की पूर्ति भारत पर आक्रमण करके अत्यन्त सरलता से की जा सकती थी, क्योंकि उन दिनों भारतीयों में लुटेरों का सामना करने की क्षमता न थी । अतएव महमूद का भारत पर आक्रमण करने का प्रथम उद्देश्य धन तथा युद्ध की अन्य सामग्री प्राप्त करना था । भारत की अपार सम्पत्ति के विषय में वह लोगों से सुन चुका था । इस धन से वह अपने राज्य को सम्पन्न बना सकता था, अपनी राजधानी गजनी को अलंकृत कर अपने राज्य को बढ़ा सकता था, उत्तर से होने वाले तुर्क-कबीलों के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा कर सकता था और पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार भी कर सकता था । महमूद ने अपने मध्य-एशिया के युद्धों में हाथियों का भी प्रयोग किया था । अतएव भारत पर आक्रमण करने का उसका एक अभिप्राय हाथियों को प्राप्त करना भी था ।

महमूद का दूसरा उद्देश्य हिन्दुओं के मन्दिरों तथा उनकी मूर्तियों को विनष्ट करना और उन्हें लूटना था । महमूद ने भारतीय राजाओं की राजधानियों तथा उनके सुदृढ़ दुर्गों को अपने आक्रमण का लक्ष्य नहीं बनाया, जिससे स्पष्ट है कि वह भारत में अपना राज्य स्थापित नहीं करना चाहता था । इसके विपरीत उसने सम्पन्न नगरों तथा मन्दिरों को ही, जिनमें अपार सम्पत्ति भरी पड़ी थी, अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया । मन्दिरों तथा मूर्तियों को विध्वंस करने से धन मिलने के साथ-साथ मूर्ति-पूजा के विरुद्ध धर्मयुद्ध करने की उसकी इच्छा की पूर्ति भी हो जाती थी और उसके अनुयायियों को उत्तेजना भी मिल जाती थी । मूर्तियों को तोड़ने के कारण ही वह अपने को 'बुत-शिकन' कहता था । बुत का अर्थ होता है मूर्ति और शिकन का अथ होता है तोड़ने वाला । अतएव 'बुत-शिकन' का अर्थ हुआ 'मूर्तियों को तोड़ने वाला' ।

भारत पर आक्रमण करने में महमूद सम्भवतः 'जेहाद' (धर्म-युद्ध) की भावना से प्रेरित हुआ था । यह सम्भव नहीं है कि अन्य तुर्कों की भाँति वह भी इस्लाम-धर्म के प्रचार के लिए उत्सुक रहा हो । इसमें संदेह नहीं कि उसने हिन्दुओं को मुसलमान बनाया और उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों को विनष्ट किया और

उनके तीर्थ-स्थानों को रौंद डाला। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत पर आक्रमण करने का महमूद का चाहे प्रधान लक्ष्य धन प्राप्त करना ही रहा हो, परन्तु इस्लाम-धर्म का प्रचार करना भी उसका एक उद्देश्य था। अब महमूद के प्रमुख भारतीय आक्रमणों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

महमूद के भारतीय आक्रमण—महमूद ने भारत पर कुल सत्रह बार आक्रमण किये और इन सभी आक्रमणों में उसे सफलता प्राप्त हुई। यहाँ पर महमूद के केवल महत्वपूर्ण आक्रमणों की व्याख्या की जायगी।

महमूद का प्रथम महत्त्वपूर्ण आक्रमण पंजाब के शासक जयपाल के विरुद्ध हुआ। जयपाल बड़ा ही वीर, साहसी तथा स्वाभिमानी शासक था। वह बहुत दिनों से तुर्कों के आक्रमणों का सामना अदम्य उत्साह से करता चला आ रहा था। १००१ ई० में महमूद दस हजार अश्वारोहियों की सेना के साथ पंजाब में घुस आया। जयपाल ने बारह हजार अश्वारोहियों, तीस हजार पैदल सैनिकों और तीन सौ हाथियों की सेना के साथ शत्रु का सामना किया। ऐसी विशाल सेना का सुचारु रीति से संचालन करना एक दुष्कर कार्य था। यद्यपि तुर्कों की सेना छोटी थी, परन्तु वह बड़ी ही फुर्तीली तथा रण-कुशल थी और उसमें बड़ा उत्साह था। फलत: जयपाल की वीरता तथा उसकी सेना की विशालता काम न कर सकी। वह परास्त हो गया और उसे महमूद की सन्धि की शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। महमूद को लूट का अपार धन मिल गया और वह अपने देश को लौट गया। जयपाल एक सच्चा राजपूत था। वह इस पराजय तथा अपमान को सहन न कर सका। उसके स्वाभिमान को ऐसी चोट लगी कि उसने अपने जीवन को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। उसने चिता बनाकर अपने को अग्नि में समर्पित कर दिया और अपने अपमानजनक जीवन को सदैव के लिए समाप्त कर दिया।

जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने भी तुर्कों के साथ संघर्ष जारी रक्खा। उसने तुर्कों के विरुद्ध मुलतान के मुसलमान शासक की सहायता की। इससे महमूद के क्रोध की सीमा न रही और आनन्दपाल को दण्ड देने के लिए १००८ ई० में एक विशाल सेना के साथ वह चढ़ आया। आनन्दपाल को पहले से ही इस आक्रमण की आशंका हो गई थी, अतएव उसने भी पूरी तैयारी कर ली थी। इस बार वह दिल्ली, अजमेर, कन्नोज, कालिंजर तथा ग्वालियर के राजाओं की भी सहायता प्राप्त कर सका। कहा जाता है कि धनी घरों की स्त्रियों ने अपने आभूषण बेच कर और गरीब घरों की स्त्रियों ने दिन-दिन भर चरखे चलाकर तथा मजदूरी करके देश की रक्षा के लिए आनन्दपाल की सहायता की। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी भारत का देश-प्रेम इस समय जाग उठा था। तुर्कों से घमासान युद्ध आरम्भ हुआ। खोखरों की सेना ने ऐसी भयकरता के साथ आक्रमण किया कि सहस्रों तुर्कों को तलवार के घाट उतार दिया और उन्हें हताश कर दिया। इस प्रकार जब आनन्दपाल की सेना विजयी होने ही वाली थी कि सहसा उसका हाथी बिगड़ गया और रणक्षेत्र से भाग निकला। परिणाम यह हुआ कि उसकी सेना में भगदड़ मच गई और तुर्कों ने उसका संहार करना आरम्भ कर

दिया। महमूद नगरकोट तक चढ़ आया, जहाँ आनन्दपाल का खजाना तथा अपार सम्पत्ति रक्खी थी। यह सब सम्पत्ति महमूद के हाथ लग गई, जिसको लेकर वह गजनी लौट गया।

निरन्तर विजय प्राप्त करने से महमूद तथा उसके अनुयायियों का उत्साह बढ़ता जा रहा था और वे धीरे-धीरे लूट-मार करने के लिए आगे बढ़ते जा रहे थे। १०१० ई० में महमूद एक विशाल सेना के साथ तराइन तक चला आया जो दिल्ली के पास स्थित था। हिन्दुओं ने भी शत्रु का सामना करने के लिए एक विशाल सेना एकत्रित कर ली थी, परन्तु हिन्दुओं की रण-पद्धति इतनी दोषपूर्ण थी कि परिणाम पराजय तथा भीषण हत्याकाण्ड ही हुआ। महमूद की सेना विजयी रही और बहुत-सा धन लेकर वह गजनी को लौट गया।

महमूद की धन-पिपासा तथा रक्त-पिपासा शान्त न हुई। मूर्तियों तथा मन्दिरों को तोड़ने, मूर्ति-पूजकों की हत्या करने तथा उन्हें गुलाम बनाने और भारत की सम्पत्ति को लूटने का क्रम निरन्तर चलता रहा। १०१३ ई० में महमूद एक विशाल सेना लेकर फिर आगे बढ़ा। इन दिनों पंजाब में आनन्दपाल का पुत्र जयपाल द्वितीय शासन कर रहा था। उसमें महमूद का सामना करने की क्षमता न थी। अतएव वह शासन का भार अपने पुत्र भीमपाल को सौंप कर पर्वतों की शरण में चला गया। महमूद ने खूब लूट-मार की और असंख्य व्यक्तियों को गुलाम बनाकर ले गया, जिससे अफगानिस्तान तथा उसके समीप के देशों के बाजार गुलामों से भर गये।

अब महमूद ने भारत के मध्य-भाग में प्रवेश करने का निश्चय किया। १०१८ ई० में एक लाख अश्वारोहियों की सेना के साथ उसने गजनी से प्रस्थान कर दिया। वह निर्विरोध यमुना नदी तक पहुँच गया। उसने नदी को पार किया और कई सम्पन्न नगरों को लूटने के बाद उसने मथुरा पर आक्रमण कर दिया, जिसे प्राचीन काल में यूनानियों ने देवताओं की 'दुहिता' कहा था। मथुरा अपने मनोरम मन्दिरों तथा भव्य भवनों के लिए विख्यात था। मुसलमान इतिहासकारों ने भी इस नगर के सौन्दर्य की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है और उसे स्वर्ग-नगरी बतलाया है। परन्तु बर्बर महमूद के हाथों से उसकी रक्षा न हो सकी। उसने मथुरा तथा वृन्दावन के मन्दिरों तथा मूर्तियों को विध्वंस किया और अपार सम्पत्ति उसके हाथ लगी।

इसके बाद १०१९ ई० के प्रारम्भ में ही उसने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। कन्नौज का सैनिक दृष्टिकोण से उतना बड़ा महत्व न था, जितना धार्मिक दृष्टिकोण से। इन दिनों कन्नौज में लगभग दस हजार मन्दिर थे, जो धन से भरे पड़े थे। इन दिनों कन्नौज में प्रतिहार-वंश का राजा राज्यपाल शासन कर रहा था। सम्भवतः उसने महमूद से लोहा लेना निरर्थक समझा। अतएव या तो उसने आत्म-समर्पण कर दिया और या वह भाग गया। महमूद ने नगर को खूब लूटा, मूर्तियों तथा मन्दिरों को तोड़ा, हिन्दुओं को गुलाम बनाया और कई सौ हाथी अपने साथ ले गया। इन हाथियों का प्रयोग उसने अपने साम्राज्य के पश्चिम तथा उत्तर में स्थित शत्रुओं के विरुद्ध किया था। कहा जाता है कि राज्यपाल की कायरता

से अन्य राजपूत राजाओं की क्रोधाग्नि भड़क उठी। कालिंजर के चन्देल राजा गण्ड ने अन्य राजाओं की सहायता से उसको परास्त कर उसकी हत्या कर दी।

जब राज्यपाल के वध की सूचना महमूद को मिली तब उसके क्रोध की सीमा न रही और उसने चन्देल राजा गण्ड को दण्ड देने का निश्चय कर लिया। फलतः १०१९ ई० में एक विशाल सेना के साथ वह चन्देल राज्य पर टूट पड़ा। गण्ड अत्यन्त भयभीत हो गया और मध्य-भारत की पहाड़ियों की ओर भाग गया। परन्तु महमूद उसे दण्ड देने के लिए दृढ़-संकल्प था, अतएव १०२१-२२ ई० में उसने फिर कालिंजर पर आक्रमण कर दिया। इस बार गण्ड ने आत्म-समर्पण कर दिया और महमूद ने कन्नौज को खूब लूटा।

महमूद का सबसे अधिक प्रसिद्ध आक्रमण १०२५-२६ ई० में सोमनाथ के विख्यात मन्दिर पर हुआ। यह मन्दिर अपनी धन-सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध था। इस मन्दिर को दस हजार गाँवों की आय प्राप्त थी और उसमें प्रतिदिन एक हजार ब्राह्मण पूजा किया करते थे। इस मन्दिर को लूटने के लिए महमूद मुल्तान तथा अजमेर के मार्ग से चला। इन दोनों नगरों को उसने जीत लिया और गुजरात होता हुआ सोमनाथ के मन्दिर पर पहुँच गया। पुजारी लोगों ने मन्दिर की सुरक्षा की कोई व्यवस्था न की और अपने इष्टदेव की शक्ति का भरोसा किये रहे। परन्तु राजपूत लोग मंदिर की रक्षा के लिए आ गये। राजपूतों ने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ तुर्कों का सामना किया और प्रथम आक्रमण में उन्हें पीछे ढकेल दिया। महमूद ने अपने सैनिकों की धार्मिक भावना को उत्तेजित किया, जिससे उन लोगों ने नये उत्साह के साथ मंदिर पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि इस युद्ध में लगभग पाँच हजार हिन्दू मारे गये। अन्त में विजय महमूद की ही हुई। उसने मन्दिर में प्रवेश किया। पुजारियों ने विनय की कि वह मूर्ति को न तोड़े और वे उसे मुँह-माँगा धन देंगे। परन्तु महमूद ने उत्तर दिया, "मैं मूर्ति को तोड़ने वाला हूँ, बेचने वाला नहीं।" मुसलमान इतिहासकारों का कहना है कि महमूद ने अपनी तलवार से मूर्ति के दो टुकड़े कर दिये। परन्तु यह सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह 'पाषाण लिंगम्' किसी भी तलवार से तोड़ा नहीं जा सकता था। महमूद को मन्दिर में अपार सम्पत्ति मिली जिसे लेकर उसने गजनी के लिए प्रस्थान कर दिया। वह सिन्ध के मार्ग से लौटा, परन्तु उसकी यह यात्रा निरापद न सिद्ध हुई। नमक की पहाड़ियों के जाटों ने उसे बड़ा तंग किया।

जाटों को दण्ड देने के लिए महमूद ने १०२७ ई० में फिर भारत पर आक्रमण कर दिया। यह उसका अन्तिम आक्रमण था। उसने जाटों को परास्त किया और उन्हें बड़ा कठोर दण्ड दिया।

महमूद गजनवी के कार्यों का मूल्यांकन-- महमूद गजनवी के कार्यों का मूल्यांकन दो दृष्टिकोणों से करना चाहिये अर्थात् गजनी के शासक के रूप में तथा भारत पर आक्रमणकारी के रूप में। गजनी के शासक के रूप में महमूद के कार्य बड़े ही प्रशंसनीय हैं। उसने अपने पिता से प्राप्त एक छोटे-से राज्य को एक विशाल साम्राज्य में बदल दिया। उसने पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ायी

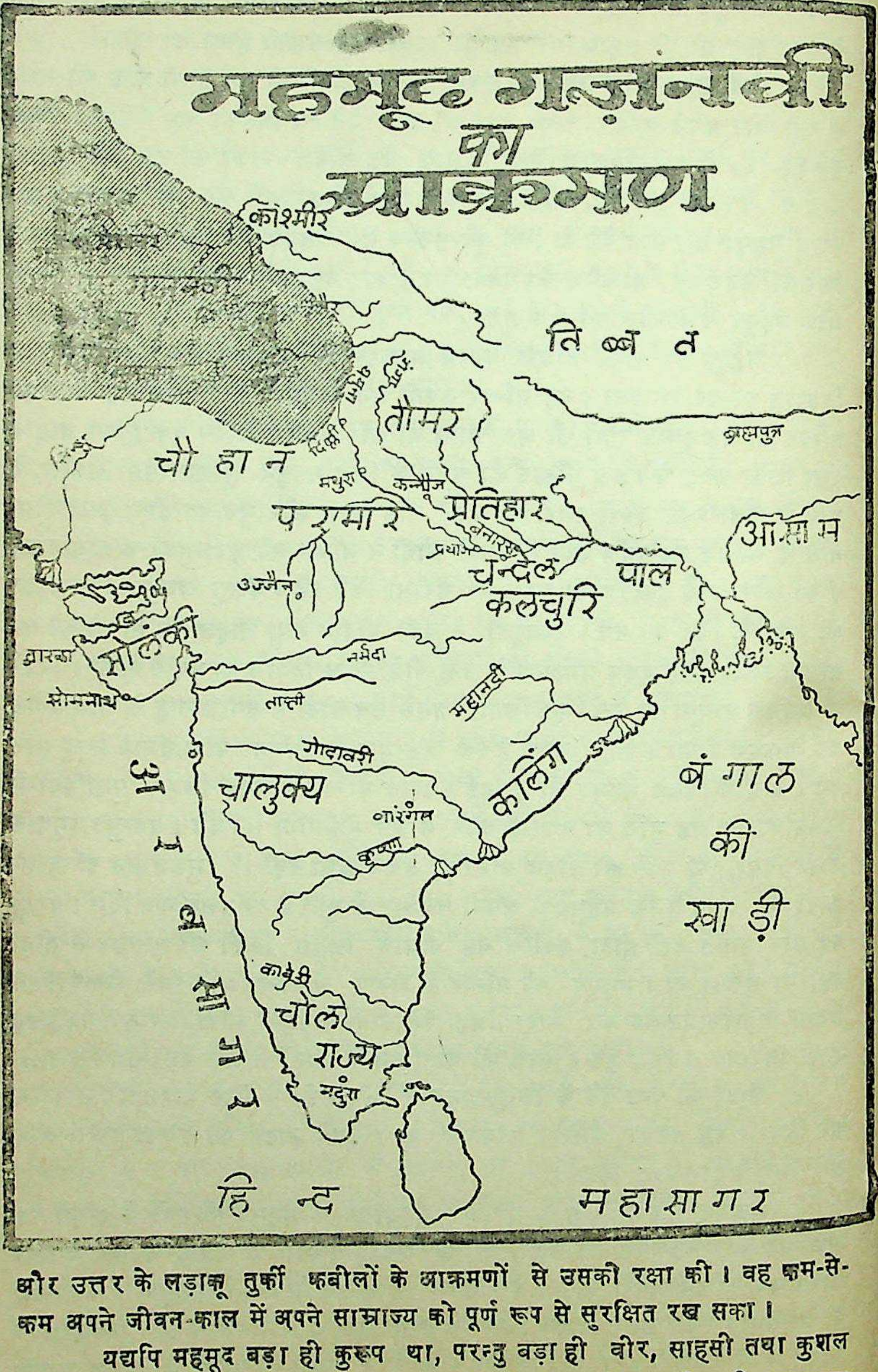
महमूद गज़नवी का आक्रमण
काश्मीर
तिब्बत
तोमर
ब्रह्मपुत्र
चौहान
दिल्ली
मथुरा
कन्नौज
परमार
प्रतिहार
बनारस
प्रयाग
आसाम
उज्जैन
चन्देल
कलचुरि
पाल
द्वारका
सोलंकी
सोमनाथ
नर्मदा
ताप्ती
महानदी
गोदावरी
चालुक्य
वारंगल
कलिंग
कृष्णा
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
कांची
चोल राज्य
मदुरा
हिन्द महासागर

और उत्तर के लड़ाकू तुर्की कबीलों के आक्रमणों से उसकी रक्षा की। वह कम-से-कम अपने जीवन-काल में अपने साम्राज्य को पूर्ण रूप से सुरक्षित रख सका।

यद्यपि महमूद बड़ा ही कुरूप था, परन्तु बड़ा ही वीर, साहसी तथा कुशल सेनानायक था। वह भयंकर से भयंकर आपत्ति के आ जाने पर भी कभी घबड़ाता

न था । उसके सैनिकों की उसमें अपार भक्ति थी और नेतृत्व ग्रहण करने की उसमें उच्चकोटि की प्रतिभा थी । यह उसकी असाधारण सैनिक योग्यता का प्रमाण है कि वह किसी भी युद्ध में परास्त नहीं हुआ ।

महमूद में न्याय-प्रियता भी उच्चकोटि की थी । वह अपराधियों को बड़े कठोर दण्ड दिया करता था । दंड देते समय वह किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता था और उसके सम्बन्धी भी दंड से बच नहीं पाते थे । वह अपनी प्रजा के सुख का सदैव ध्यान रखता था । उसने न कभी अपनी प्रजा को लूटा और न उसके साथ किसी प्रकार का अत्याचार किया ।

जब महमूद को भारत के आक्रमणकारी के रूप में देखते हैं, तो उसके चरित्र का एक दूसरा ही चित्र हमारे सामने आता है । महमूद भारत पर विजय प्राप्त कर यहाँ पर अपना स्थायी राज्य स्थापित करना नहीं चाहता था । वह जानता था कि ऐसा करने से वह अपने पूर्वजों का राज्य भी खो देगा, क्योंकि हिन्दूकुश के उस पार से भारत पर शासन करना सम्भव न था । यह भविष्य में भी कभी सम्भव न हो सका । अतएव महमूद ने अपनी शक्ति तथा अपने साधनों के बढ़ाने के लिए भारत पर आक्रमण किया था, जिससे वह अपने साम्राज्य को सुरक्षित तथा सम्पन्न बना सके और पश्चिम की ओर उसका विस्तार कर सके । वह भारत की अपार सम्पत्ति को लूटना चाहता था और अपने इस कार्य में वह पूर्ण रूप से सफल रहा । भारतीयों के दृष्टिकोण में वह लुटेरे तथा हत्यारे के अतिरिक्त और कुछ न था । उसने निरपराध तथा शान्तिप्रिय व्यक्तियों को लूटा तथा उनकी हत्या की । परन्तु इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि महमूद एक तुर्क था, जिसके पूर्वजों का व्यवसाय लूट-मार तथा युद्ध करना था । महमूद निर्धन देश का शासक था, जिसके साधन अत्यन्त सीमित थे । यदि भारत को लूट कर वह अपने साधनों में वृद्धि न कर लेता, तो उस उथल-पुथल के समय में उसके अपने अस्तित्व के समाप्त हो जाने की सम्भावना थी । इसके अतिरिक्त वह मुसलमान था । यद्यपि कोई भी धर्म अत्याचार तथा अन्याय की शिक्षा नहीं देता, परन्तु उन दिनों तलवार के बल से इस्लाम का प्रचार करना इस्लामी जगत् में बुरा नहीं समझा जाता था । मुहम्मद साहब ने स्वयं मक्का पर चढ़ाई कर लोगों को मुसलमान बनाया था । खलीफाओं ने तलवार के बल से इस्लाम-धर्म का प्रचार किया था । मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध 'जेहाद' (अल्लाह की राह में युद्ध करना) उन दिनों इस्लाम की सेवा समझा जाता था । अतएव हिन्दुओं के मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़कर वह अपने विचार से इस्लाम धर्म की सेवा ही कर रहा था । इतना तो सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि महमूद ने न तो स्त्रियों तथा बच्चों का हत्याकाण्ड करवाया और न उसने कभी किसी स्त्री के सतीत्व को नष्ट किया । स्त्रियों तथा बच्चों को वह केवल गुलाम बना लेता था । हत्याकाण्ड भी वह केवल युद्ध तथा विरोध करने वालों का करवाता था, निरपराध तथा शान्तिप्रिय जनता का नहीं । तैमूर तथा नादिरशाह की भाँति वह रक्त-पिपासु न था ।

वास्तव में महमूद निरा असभ्य तथा लुटेरा न था, वरन् साहित्य तथा कला

से उसे बड़ा प्रेम था। जो लूट का माल उसे मिला, उसे उसने भोग-विलास में नहीं व्यय किया वरन् उससे अपनी राजधानी गजनी को सुन्दर भवनों, मस्जिदों, विद्यालयों तथा अन्य प्रकार से अलंकृत किया, जिससे गजनी अपने सौन्दर्य तथा वैभव के लिए एशिया में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। वह दान-पुण्य में भी बहुत-सा धन व्यय कर देता था। यद्यपि महमूद स्वयं पढ़ा-लिखा न था, परन्तु वह विद्वानों का आदर करता था और उन्हें आश्रय प्रदान करता था। उसके दरबार को अलबेरूनी, उतबी, उन्सूरी आदि विद्वानों ने सुशोभित किया था। अलबेरूनी को महमूद खीवा से पकड़ लाया था। वह एक उच्चकोटि का गणितज्ञ, खगोल-विद्या-विशारद तथा इतिहासकार था। महमूद के आक्रमण के साथ वह भी भारत आया था। उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और फिर भारतीयों के ग्रन्थों का अध्ययन कर तथा उनकी दशा को देखकर भारत के विषय में लिखा। उसके कथनानुसार भारतवासी बड़े स्वाभिमानी होते थे। वे विदेशियों को म्लेच्छ समझते थे और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। यद्यपि वे एकेश्वरवादी थे। परन्तु मूर्ति-पूजा सारे देश में प्रचलित थी। बाल विवाह तथा दहेज की प्रथा थी। विधवा-विवाह का प्रचलन न था। सती की प्रथा थी। अलबेरूनी ने और भी बहुत-सी बातें भारत के सम्बन्ध में लिखी हैं। उतबी एक बहुत बड़ा इतिहासकार और उन्सूरी बहुत बड़ा कवि था। परन्तु इन सबका सिरमौर फिरदौसी था, जिसने जगद्विख्यात ग्रन्थ 'शाहनामा' की रचना की थी। कहा जाता है कि महमूद ने इस ग्रन्थ की रचना के लिए फिरदौसी को साठ हजार स्वर्ण-मुद्राएँ देने का वादा किया था, परन्तु जब ग्रन्थ तैयार हो गया तब उसने स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर चाँदी की मुद्राएं देनी चाहीं। कवि की क्रोधाग्नि जल उठी। उसने गजनी छोड़ दिया और महमूद की निन्दा में बहुत कुछ लिख डाला। अन्त में महमूद को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने साठ हजार स्वर्ण-मुद्राएँ फिरदौसी के घर भिजवा दीं। परन्तु कवि इस पुरस्कार को देख न सका, क्योंकि जब यह धन उसके घर पहुँचा तब वह मर चुका था और उसका मृतक शरीर घर के बाहर निकाला जा रहा था।

सारांश यह है कि महमूद अपनी प्रजा की दृष्टि में न्यायशील शासक, विद्या-प्रेमी, दानशील तथा धर्मनिष्ठ व्यक्ति था। उसने मूर्ति-पूजक हिन्दुओं के साथ जो कुछ अत्याचार किया, वह उस युग के अनुकूल था, जिसमें वह पैदा हुआ था। सी० वी० वैद्य ने महमूद की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है, "महमूद उन महान् व्यक्तियों में से था, जिन्हें प्रकृति समय-समय पर पैदा करती है। अनुपम गुणों और अद्वितीय योग्यता के व्यक्ति, जो अकबर या शिवाजी, नेपोलियन या पीटर महान् की भाँति विश्व-इतिहास में नवयुग का निर्माण करते हैं और राष्ट्र के भाग्य को बदल देते हैं।"[1] यद्यपि महमूद एक वीर विजेता था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. "Mahamud was one of those great men, whom nature produces at intervals, man of exceptional qualities and

उसमें साम्राज्य को संगठित करने की प्रतिभा न थी। इसी से लेन-पूल महोदय ने लिखा है, "एक महान् सैनिक, असीम साहसी और अथक शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का व्यक्ति महमूद सृजनकारी या दूरदर्शी न था। हम किसी ऐसे कानून या संस्था अथवा शासन-विधि से अवगत नहीं हैं जो उसके द्वारा आरम्भ की गई हो।"[1] उसकी विजय व्यक्तिगत सिद्ध हुई और उसके आँखें बन्द करते ही उसका साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया।

गजनवी-वंश का अन्त—१०३० ई० में महमूद का परलोकवास हो गया। उसके बाद उसका पुत्र मसऊद गजनी का शासक हुआ। गजनी साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर से सेल्जुक तुर्कों के आक्रमण आरम्भ हो गये। मसऊद तथा उसके उत्तराधिकारी इन आक्रमणों को रोक न सके और सेल्जुक सुल्तान ने गजनी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु महमूद के वंशज अब भी नाम-मात्र के लिए गजनी में शासन करते रहे। अन्त में गोरी-वंश के लोगों ने गजनी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार गजनी में एक नये राज-वंश का आरम्भ हुआ।

---

*unparallelled capacities, men who like Akbar or Shivaji, Napoleon or Peter the Great create new epochs in the history of the world and change destinies of the nation." —C. V. Vaidya.

[1] "A great soldier, a man of infinite courage and indefatigable energy of mind and body Mahamud was no constructive or far-seeing statesman. We hear of no laws or institutions or methods of government that sprang from his initiative." —Lane-Poole.

अध्याय २६

गोरी-वंश

> "The Rajput rulers of the land had, by their utter incapacity to protect and hold it, as it were, created a vacuum in the political firmament."
>
> —P. Saran.

गोरी-वंश का परिचय—गोर नाम का एक छोटा-सा राज्य था, जो गजनी तथा हिरात के मध्य में स्थित था। जिस वंश का यहाँ पर उदय हुआ, उसे गोरी-वंश कहते हैं। महमूद गजनवी ने अपने विजय-काल में गोर-राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, परन्तु वहाँ का शासन वहीं के वीर तथा साहसी अफगानों के हाथ में छोड़ दिया था। जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया, तब गोर के वीर अफगान बहुत बड़ी संख्या में उसकी सेना में भर्ती हो गये और मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध बड़े उत्साह तथा साहस के साथ युद्ध किया। परन्तु महमूद की मृत्यु के उपरान्त उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन-काल में गोर के शासक स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने गजनी पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। सूरी-वंश का प्रथम व्यक्ति सैफुद्दीन था, जिसने गजनी पर अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु वह स्थायी रूप से वहाँ पर अपनी सत्ता स्थापित न कर सका। सैफुद्दीन के बाद उसके भाई अलाउद्दीन हसन ने गजनी पर आक्रमण कर दिया और इस सुन्दर नगर को, जिसे महमूद गजनवी ने लूट की सम्पत्ति से अलंकृत किया था, जला कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। गजनी का सारा गौरव समाप्त हो गया। सात दिन तक गजनी में भीषण हत्या-काण्ड चलता रहा। सहस्रों व्यक्तियों को तलवार के घाट उतार दिया गया। यहाँ तक कि स्त्रियों तथा बच्चों की भी या तो हत्या कर दी गई, या उन्हें गुलाम बना लिया गया। अपनी क्रूरता तथा बर्बरता का पूरा परिचय देने के उपरान्त अलाउद्दीन गजनी से वापस लौट आया। ११६३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका भतीजा गयासुद्दीन महमूद गोर का शासक हुआ। ११७३ ई० में उसने गजनी पर आक्रमण कर दिया और उस पर स्थायी रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने अपने भाई मुहम्मद गोरी को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया और स्वयं गोर में शासन करने लगा। इन दोनों भाइयों में सदैव सद्भावना बनी रही और सबल हो जाने पर भी मुहम्मद गोरी ने सदैव अपने भाई को आदर की दृष्टि से देखा और उसी की अधीनता में शासन करता रहा। गजनी में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना कर मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की दशा—मुहम्मद गोरी के भारतीय आक्रमणों का वर्णन करने के पूर्व भारत की तत्कालीन स्थिति का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। इन दिनों पंजाब में महमूद गजनवी के वंशज शासन कर रहे थे। ११७३ ई० में जब सूरी-वंश ने गजनी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब गजनी-वंश वाले पंजाब भाग आये और लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर वहीं पर शासन करने लगे। मुल्तान में इस्माइलिया शियाओं का राज्य था। इन दोनों ही मुसलमान राज्यों के साधन अत्यन्त सीमित थे और हिन्दू-जनता का सहयोग उन्हें प्राप्त न था। ऐसी स्थिति में विदेशी आक्रमणकारियों को रोकने की क्षमता उनमें न थी।

इन दिनों उत्तरी-भारत में चार प्रधान राजाओं के राज्य थे। दिल्ली तथा अजमेर में चौहान-वंश का राजा पृथ्वीराज, कन्नौज में राठौर-वंश का राजा जयचन्द-बिहार में पाल-वंश और बंगाल में सेन-वंश का राजा लक्ष्मणसेन शासन कर रहा था। इन राज्यों में बड़ा वैमनस्य था और उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। विशेष कर पृथ्वीराज चौहान तथा जयचन्द में भीषण प्रतिद्वन्द्विता तथा मनमुटाव चल रहा था और वे एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे थे। उत्तरी-भारत के ये सभी राजा बड़े गर्व-शील थे और वे किसी एक के नेतृत्व में संगठित होकर शत्रु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा उपस्थित करने के लिये उद्यत न थे। ऐसी दशा में उन्हें विदेशी आक्रमणकारियों से अलग-अलग युद्ध करना पड़ा।

दक्षिण-भारत भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। देवगिरि में यादव-वंश, वारंगल में काकतीय-वंश, द्वारसमुद्र में होयसल-वंश तथा मदुरा में पांड्य-वंश शासन कर रहा था। इन राज्यों में भी एकता न थी और पारस्परिक संघर्ष चल रहा था।

एकता तथा संगठन के अभाव के साथ-साथ राजपूतों की रण-पद्धति में भी अनेक प्रकार के दोष थे। उनकी रण-पद्धति पुराने ढङ्ग की थी, जो तुर्कों की नई रण-पद्धति के सामने बेकार सिद्ध हो जाती थी। राजपूत लोग अपने हाथियों पर अधिक विश्वास करते थे और उन्हें अपनी सेना के आगे रखते थे। यह हाथी तुर्क अश्वारोहियों के वाणों के सामने ठहर नहीं पाते थे और बिगड़ जाने पर ये हाथी अपने ही पैदल सैनिकों को रौंद डालते थे। राजपूतों की पैदल सेना बड़ी विशाल होती था, जिसका सुचारु रीति से संचालन करना कठिन हो जाता था। राजपूत बड़े स्वाभिमानी तथा गर्वशील होते थे और वे किसी अन्य राजा के नेतृत्व में युद्ध करने के लिए उद्यत नहीं रहते थे। उन्हें अपने वंश का बड़ा गर्व रहता था, जिससे उनकी राष्ट्रीयता की भावना मन्द पड़ गई थी। फलतः उनमें संगठन तथा सहयोग का बड़ा अभाव था। देश की रक्षा का भार केवल राजपूतों पर ही था। अतएव अन्य जाति वाले देश की सैनिक-सेवा करने से वंचित हो गये और इससे राष्ट्र को बहुत बड़ी क्षति पहुँची।

मुहम्मद गोरी के भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्य—मुहम्मद गोरी

के भारत पर आक्रमण करने के कई उद्देश्य थे। उसका सर्व-प्रथम उद्देश्य अपने साम्राज्य की वृद्धि करना था। गजनी पर अपना अधिकार स्थापित करते ही उसने भारत की ओर और उसके भाई ने गोर के पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया।

मुहम्मद गोरी का दूसरा उद्देश्य अपने राज्य को सुरक्षित बनाना था। गजनवी-वंश वाले गजनी से पंजाब भाग आये थे और वहीं पर अपनी जड़ें जमा रहे थे यह लोग किसी भी समय अवसर पाने पर गजनी पर फिर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न कर सकते थे। अतएव उन्हें वहाँ से उखाड़ कर फेंक देना आवश्यक था। इसी प्रकार वह मुल्तान के इस्लामिया मुसलमानों से भी भयभीत था और उन्हें विनष्ट करना चाहता था।

मुहम्मद गोरी ने धन-प्राप्ति की आशा से भी भारत पर आक्रमण किया था। महमूद गजनवी के आक्रमणों ने भारत की दुर्बलता तथा उसकी धन-सम्पन्नता का पुरा परिचय दे दिया था। महमूद गजनवी की भाँति उसने भी भारत की सम्पत्ति को लूट कर अपने देश को सम्पन्न बनाने तथा अपने यश को बढ़ाने का निश्चय किया।

इस्लाम-धर्म की सेवा भी उसका एक लक्ष्य प्रतीत होता है, परन्तु वह उसका प्रधान लक्ष्य न था। उसमें उस प्रकार की धार्मिक प्रेरणा न थी, जिस प्रकार महमूद गजनवी में थी, अतएव उसका लक्ष्य राजनीतिक ही था।

मुहम्मद गोरी के भारतीय आक्रमण—अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए मुहम्मद गोरी ने भारत पर ११७५ ई० से १२०५ ई० तक अनेक आक्रमण किए। उसके इन आक्रमणों का क्रम निम्नांकित था :—

सीमान्त प्रदेश पर आक्रमण—मुहम्मद गोरी का पहला आक्रमण ११७५ ई० में मुल्तान पर हुआ। उसने वहाँ के इस्माइलिया शियाओं को परास्त कर दिया और वहाँ अपना एक सुन्नी गवर्नर नियुक्त कर दिया। इसके बाद उसने पेशावर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, जो उन दिनों पंजाब का फाटक समझा जाता था। उसने गुजरात पर भी आक्रमण किया, परन्तु मरुभूमि की कठोर यात्रा तथा राजपूतों के भयंकर विरोध के कारण उसे सफलता न मिल सकी और बड़ी क्षति उठानी पड़ी। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उसने सिन्ध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने पंजाब पर आक्रमण कर दिया और ११७८ ई० में उसने लाहौर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गजनवी-वंश के अन्तिम शासक खुसरो मलिक को उसके पुत्र के साथ बन्दी बना लिया गया और १२०२ ई० में इन दोनों का वध कर दिया गया। इस प्रकार गजनवी-वंश का अन्त हो गया और मुहम्मद गोरी का मार्ग स्वच्छ हो गया।

उत्तरी भारत की विजय—सिन्ध तथा पंजाब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त मुहम्मद गोरी ने उत्तरी भारत को जीतने का निश्चय कर लिया। फलतः उसने एक विशाल सेना के साथ प्रस्थान कर दिया और सरहिन्द के पास आ डटा, जो हिन्दूओं का एक सुदृढ़ दुर्ग था। पृथ्वीराज चौहान, जो दिल्ली तथा अजमेर

का शासक था, एक विशाल सेना के साथ शत्रु का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। कन्नौज के राजा जयचन्द को छोड़कर शेष सभी पड़ोसी राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जयचन्द ने मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था। ११९१ ई० में तराइन के मैदान में पृथ्वीराज चौहान तथा मुहम्मद गोरी की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ। मुहम्मद गोरी की सेना परास्त हो गई और मैदान से भाग खड़ी हुई। मुहम्मद गोरी स्वयं घायल हो गया और यदि उसका एक स्वामिभक्त अनुयायी उसे अपने साथ लेकर भाग न जाता तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता। यद्यपि राजपूतों ने उसका पीछा किया, परन्तु वह सुरक्षित गजनी पहुँच गया।

मुहम्मद गोरी अपनी पराजय को भूला नहीं। वह गजनी पहुँचते ही अपनी सेना को संगठित करने में लग गया उसने चुने हुए घुड़सवारों की एक विशाल सेना तैयार की और एक बार फिर तराइन के मैदान में आ डटा। इस बार फिर जयचन्द को छोड़कर शेष सभी राजपूत राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया। राजपूतों की सेना इतनी बड़ी थी कि उसका सुचारु रीति से संचालन न हो सका। तुर्क अश्वारोही बड़ी तेजी से धावा बोलते थे और बाण-वर्षा कर राजपूतों की सेना को छिन्न-भिन्न कर देते थे। परिणाम यह हुआ कि राजपूत हार गये। पृथ्वीराज स्वयं कैद कर लिया गया और उसकी हत्या कर दी गई। हाँसी तथा अजमेर पर मुहम्मद गोरी ने बड़ी सरलता से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अजमेर में चौहान राजाओं के बनाये हुए मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया गया और मुहम्मद गोरी के स्वामिभक्त गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने वहाँ पर एक मस्जिद बनवाई, जिसे 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' कहते हैं। इसके बाद मुहम्मद गोरी अपनी विजय के संगठन का कार्य ऐबक को सौंप कर स्वयं अपने देश को लौट आया। ऐबक ने दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वहाँ के मन्दिरों को विनष्ट कर वहाँ पर एक मस्जिद का निर्माण करवाना आरम्भ कर दिया, जिसे 'कुव्वत-उल-इस्लाम' अर्थात् 'इस्लाम की शक्ति' कहते हैं।

११९४ ई० में मुहम्मद गोरी फिर एक विशाल सेना के साथ भारत आया और कन्नौज के राजा जयचन्द पर आक्रमण कर दिया। चन्दवर नामक स्थान पर जयचन्द ने शत्रु का सामना किया, परन्तु वह परास्त हो गया और युद्ध में मारा गया। मुहम्मद गोरी ने बनारस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहाँ के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके बाद वह अपने देश को वापस लौट गया।

अपने स्वामी के चले जाने के बाद ऐबक उसकी विजय को संगठित करने में लग गया। राजपूतों ने अजमेर पर फिर से अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल न हो सके। ऐबक ने ग्वालियर पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। १२०२ ई० में ऐबक ने महोबा के चन्देल राजा परमार्दी पर आक्रमण कर दिया और कालिंजर के प्रसिद्ध दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

जिन दिनों ऐबक अपने स्वामी की विजय को दोआब तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में संगठित कर रहा था, उन्हीं दिनों मुहम्मद गोरी का दूसरा स्वामिभक्त गुलाम बख्तियार उत्तरी भारत के पूर्वी भाग में विजय का कार्य कर रहा था। ११९७ ई० में उसने बिहार पर आक्रमण कर दिया और उदन्तिपुर के बौद्ध-मठों तथा उसके विशाल पुस्तकालयों को नष्ट कर दिया। १२०२ ई० में उसने बंगाल पर आक्रमण कर दिया। इन दिनों बङ्गाल में लक्ष्मणसेन शासन कर रहा था। वह अपनी राजधानी लखनौती (नदिया) से भाग खड़ा हुआ और बख्तियार ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार १२०२ ई० तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर तुर्कों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

मुहम्मद गोरी की मृत्यु—१२०३ ई० में मुहम्मद गोरी के भाई का परलोकवास हो गया और वह गजनी तथा गोर दोनों ही का स्वतन्त्र शासक बन गया। परन्तु वह अपने विशाल साम्राज्य को सुरक्षित न रख सका और उसके विभिन्न भागों में विद्रोह होने आरम्भ हो गये। पंजाब में खोखरों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। १२०६ ई० में जब वह खोखरों के विद्रोह को दबाकर गजनी लौट रहा था, तब सिन्धु नदी के तट पर उसके शिविर में कुछ इस्माइलिया मुसलमानों ने उसका वध कर दिया। मुहम्मद गोरी के कोई पुत्र न था, अतएव उसका विशाल साम्राज्य उसके तुर्की गुलामों में विभक्त हो गया।

मुहम्मद गोरी के कार्यों का मूल्यांकन—मुसलमान इतिहासकारों ने मुहम्मद गोरी की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे बड़ा ही उदार तथा दयावान् शासक बतलाया है, जो अपनी प्रजा के कल्याण की सदैव चिन्ता किया करता था। इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद गोरी में उच्चकोटि का पारिवारिक प्रेम था। उसने अपने बड़े भाई गयासुद्दीन को जीवन पर्यन्त आदर की दृष्टि से देखा और जब तक वह जीवित रहा, तब तक उसी की अधीनता में शासन किया। शक्ति-सम्पन्न हो जाने पर भी न उसने कभी उसके साथ विश्वासघात किया और न कभी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, वरन् संकट आ जाने पर सदैव उसकी सहायता ही करता रहा।

मुहम्मद गोरी में व्यक्तियों को समझने की बहुत बड़ी परख थी। उसने कुतुबुद्दीन ऐबक, बख्तियार आदि जिन तुर्की गुलामों को अपना सेवक बनाया, वह सब बड़े ही योग्य सिद्ध हुए और जीवन पर्यन्त उन लोगों ने बड़ी संलग्नता तथा स्वामिभक्ति के साथ उसकी सेवा की। उसके किसी भी अनुचर ने न तो कभी उसके साथ विश्वासघात किया और न कभी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया।

मुहम्मद गोरी एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। वह पहला मुसलमान था; जिसने भारत में मुसलमानों का स्थायी साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। अरब वालों ने सिन्ध के डाकुओं को दण्ड देने के लिए सिन्ध पर आक्रमण किया था। महमूद गजनवी ने भारत की अपार सम्पत्ति को लूटने के लिए भारत पर अनेक बार आक्रमण किये थे, परन्तु मुहम्मद गोरी ने भारत में मुसलमानों का स्थायी साम्राज्य स्थापित करने के लिए आक्रमण किया था और उसने एक निश्चित योजना के अनु-

सार कार्य किया। जब वह विजय प्राप्त करके अपने देश को लौट जाता था, तब वह अपने सेनापतियों को उस विजय को संगठित करने का आदेश दे जाता था। इसी से भारत में उसे इतनी अधिक सफलता मिली और वह भारत में मुसलमानों का स्थायी साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

यद्यपि मुहम्मद गोरी भारत में मुसलमानों का स्थायी राज्य स्थापित करने में सफल रहा, परन्तु वह उतना कुशल सेनानायक न था, जितना महमूद गजनवी था। पृथ्वीराज चौहान ने उसे तराइन के प्रथम युद्ध में बुरी तरह परास्त किया था और अपने भाई की मृत्यु के उपरान्त वह अपने विशाल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा न सका। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उसकी भारतीय विजय केवल अपने बाहुबल की विजय न थी, वरन् यह कार्य कुतुबुद्दीन ऐबक, बख्तियार तथा गयासुद्दीन के सहयोग से सम्पन्न हो सका था। परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह बड़े ही दृढ़-सकल्प का व्यक्ति था और पराजय से निराश नहीं होता था। पृथ्वीराज चौहान से पराजित होने पर भी वह निराश नहीं हुआ और दूसरे ही वर्ष उसने अपनी पराजय का बदला ले लिया था। यदि वह अपने सेनापतियों की समय-समय पर सहायता न करता रहता, तो सम्भवतः उसके पैर भारत में न जम पाते और वह इतनी तेजी के साथ मुस्लिम-साम्राज्य को फैला न सकता।

मुहम्मद गोरी कोरा सैनिक ही न था, वरन् वह साहित्य तथा कला का भी प्रेमी था। फखरुद्दीन तथा निजामी जैसे उच्च-कोटि के विद्वानों को उसका आश्रय प्राप्त था। यद्यपि महमूद गजनवी की भाँति उसने भी हिन्दुओं के मन्दिरों तथा उनकी मूर्तियों को विनष्ट किया परन्तु उसमें उतनी धार्मिक कट्टरता न थी, जितनी महमूद गजनवी में थी। उसका प्रधान लक्ष्य भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित करना था और उसी को उसने सदैव प्रधानता दी और इस लक्ष्य को पूरा करने में वह पूर्णरूप से सफल रहा। उसके जीवन-काल में ही सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में मुसलमानों की राज-सत्ता स्थापित हो गयी। अब इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि इतनी तेजी से राजपूतों की पराजय और मुसलमानों की विजय के क्या कारण थे।

मुसलमानों की विजय तथा राजपूतों की पराजय के कारण—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत जैसे विशाल तथा सम्पन्न देश के वीर तथा साहसी राजपूत, जो शताब्दियों से सैनिकों का कार्य करते चले आ रहे थे, उजाड़ तथा निर्धन देश के मुसलमानों से पराजित कैसे हो गये। राजपूतों की पराजय ऐसे समय में हुई, जब उनमें अदम्य उत्साह, अपार शक्ति तथा असीम तेज विद्यमान था और उनके आदर्श अत्यन्त ऊँचे थे। इसका तात्पर्य यह है कि उनमें कुछ ऐसी दुर्बलताएँ भी थीं, जिनके कारण वे विदेशी आक्रमणकारियों के सामने ठहर न सके और उनकी वीरता तथा उनका साहस निष्फल सिद्ध हुआ। मुसलमानों की विजय तथा राजपूतों की पराजय के निम्नलिखित कारण प्रतीत होते हैं :—

(१) **सीमा की सुरक्षा का अभाव**—यद्यपि अत्यन्त प्राचीन काल से ही उत्तर-

पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से विदेशियों के आक्रमण होते चले आ रहे थे, परन्तु भारतीयों ने सीमान्त प्रदेशों की सुरक्षा की कभी भी समुचित व्यवस्था न की। इसका परिणाम यह हुआ कि तुर्क आक्रमणकारी बड़ी सरलता से पर्वतीय मार्गों को पार कर भारत में घुस आते थे और एक बार जब वे भारत-भूमि में पैर जमा लेते थे, तब उनको हटाना बड़ा कठिन काम हो जाता था।

(२) भारत में राजनीतिक एकता का अभाव—जिन दिनों तुर्कों ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया, उन दिनों भारत में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "सोलहवीं शताब्दी के जर्मनी की भाँति भारत राज्यों का संग्रह बन गया था, जो वस्तुतः एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे।"[१] सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जो एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखते थे, और निरंतर एक दूसरे से युद्ध कर अपनी शक्ति को विनष्ट कर रहे थे। भारतवर्ष में इन दिनों कोई ऐसा विशाल तथा सबल राज्य न था, जो अन्य छोटे-छोटे राज्यों को अपने झण्डे के नीचे लाकर शत्रुओं के विरुद्ध एक प्रबल मोर्चा उपस्थित करता। इस काल की राजनीतिक स्थिति का चित्रण करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "एक राज्य दूसरे से नेतृत्व के लिए लड़ रहा था और कोई ऐसी सार्वभौम शक्ति न थी जो किसी एकता के सिद्धान्त द्वारा उन्हें संगठित रख सकती।"[२] इन दिनों राजपूतों की शक्ति में कुछ ऐसा सन्तुलन हो गया था कि कोई भी राजा किसी अन्य राजा के नेतृत्व में युद्ध करने के लिए उद्यत न था। सभी राजा बड़े स्वाभिमानी हो गये थे और अपने ही वंश के गौरव को बढ़ाने में संलग्न थे। ये राजा अपनी सुरक्षा की चिन्ता अवश्य करते, परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र की सुरक्षा की इन्हें चिन्ता न थी। राजपूतों की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि राजपूत राजाओं के आपसी झगड़ों ने उनके (मुसलमानों के) कार्य को सरल बना दिया और यद्यपि हिन्दू अपने आक्रमणकारियों से संख्या में अधिक थे परन्तु चूँकि वे संगठित होकर शत्रु का सामना न कर सके, अतएव उनके सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए और वे शत्रु को रोक न सके। राष्ट्र-प्रेम की भावना बिल्कुल न थी। प्रत्येक राजकुमार को अपनी ही सुरक्षा के लिए लड़ना पड़ता था और यदि कोई संगठित मोर्चा बनाया भी जाता, तो उसके सदस्य आपस में ही लड़ने लगते और अनुशासन के सभी नियमों को भंग कर देते। परिणाम यह हुआ कि प्रायः उन्हें अकेले लड़ना पड़ा और वे प्रबल शत्रुओं के सामने ठहर न सके और उनकी अद्भुत वीरता तथा

---

1. "India became like Germany in the 16th century, a bundle of states which were to all intents and purposes independent."
—Dr. Ishwari Prasad.

2: "State fought against state for leadership and there was no paramount power which could effectively hold them together by any principle of unity or cohesion." —Dr. Ishwari Prasad.

उनके अदम्य उत्साह निष्फल हुए।

(३) **मुसलमानों में एकता की प्रबलता**—राजपूतों की भाँति तुर्कों में एकता की कमी न थी। उनका एक राज्य था, वे एक राज्य की प्रजा थे और उनकी एक जाति थी। उनमें ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था और सभी मुसलमान समान थे। सभी के लिए उन्नति का द्वार खुला था और सभी लोग अपनी योग्यता के बल से ऊँचे-से-ऊँचे पद पर जा सकते थे। यहाँ तक कि गुलाम लोग भी सेनापति का पद पा सकते थे और शासन के कार्य में भी ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँच सकते थे। इससे प्रत्येक मुसलमान में महत्त्वाकांक्षा रहती थी और उसमें असीम उत्साह रहता था। तुर्कों में बड़ी स्वामिभक्ति थी और एक व्यक्ति के नेतृत्व में संगठित होकर युद्ध करने की उनको आदत थी। इस राजनीतिक तथा सैनिक एकता के साथ-साथ उनमें लक्ष्य की भी एकता थी। मुसलमानों ने अपने एक निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए भारत पर आक्रमण किया था। उसका लक्ष्य था, भारत की अपार सम्पत्ति को लूटना, इस्लाम धर्म का प्रचार करना और अन्त में यहाँ पर अपना राज्य स्थापित करना। राजपूतों में कोई इस प्रकार के लक्ष्य की एकता न थी और प्रत्येक राजपूत राजा अपने स्वार्थ के लिए लड़ता था। अपने इसी राजनीतिक, सामाजिक, सैनिक तथा धार्मिक लक्ष्य की एकता के कारण तुर्कों को सफलता मिली थी।

(४) **मुसलमानों में धार्मिक उत्तेजना**—मुसलमानों में अपने धर्म के प्रचार के लिए अदम्य उत्साह था। मुहम्मद साहब ने स्वयं अपने धर्म का प्रचार करने के लिए सैनिक-बल का सहारा लिया था। मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफाओं ने भी सैनिक-बल से इस्लाम-धर्म का प्रचार किया था। अतएव सैनिक-बल से इस्लाम धर्म का प्रचार करने की परम्परा-सी चल पड़ी थी। जहाँ कहीं खलीफाओं की सेनाएँ राज्य-विजय करती थीं, वहाँ पर इस्लाम का प्रचार भी किया जाता था। उन दिनों धर्म के नाम पर लोग अपना सब कुछ न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते थे। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपने भारतीय आक्रमणों को 'जेहाद' के नाम से पुकारा। इससे उनके सैनिकों में बड़ी उत्तेजना तथा उत्साह बना रहता था। वे समझते थे कि वे ईश्वर की राह में युद्ध कर रहे हैं। यदि वे विजयी हो जायेंगे तो इस्लाम-धर्म के प्रचार के साथ-साथ उन्हें धन तथा राज्य भी प्राप्त होगा और यदि युद्ध में मारे गये तो इस्लाम की सेवा में प्राण देने के कारण स्वर्ग में जायेंगे। उन्हें उत्तेजित करने के लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है,[१] "मुसलमानों को, जो सम्पत्ति की प्राप्ति और मूर्ति-पूजा को ध्वस्त करने के लिए उत्सुक थे, धार्मिक उत्तेजना के कारण जिसे वे सरलता से उद्वेलित कर सकते थे, नये सैनिकों के

---

[1] "The Muslims eager to obtain wealth and destroy idolatory never experienced dearth of recruits on account of the religious passion which they could excite."

—Dr. Ishwari Prasad.

अभाव का कभी अनुभव न करना पड़ा।" राजपूतों को उत्तेजित करने वाली कोई इस प्रकार की बात न थी। भारत में कभी भी धर्म के नाम पर युद्ध न हुआ। अहिंसा-धर्म के प्रचार ने तो धर्म के नाम पर युद्ध करने की भावना को बिल्कुल समाप्त कर दिया था। राजपूत तो केवल रक्षात्मक युद्ध कर रहे थे। अतएव उनमें उतनी उत्तेजना न थी, जितनी राज्य-लोलुप तथा धर्म-परायण मुसलमानों में थी।

(५) **राजपूतों की दोषपूर्ण रण-पद्धति**—राजपूतों की पराजय का वास्तविक कारण उनकी दोषपूर्ण रण-पद्धति प्रतीत होती है, जिसे सुधारने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। इसी से डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "हिन्दुओं की रण-पद्धति पुराने ढंग की थी। जब उन्हें भयानक तथा सुशिक्षित अश्वारोही सेना-समूह के विरुद्ध लड़ना पड़ा, तब उनका हस्ति-सेना पर अत्यधिक निर्भर रहना उनके लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। अनुभव से उन्हें काफी चेतावनी मिली, परन्तु हिन्दू-सेनापतियों ने निरन्तर इसकी उपेक्षा की और पुरानी ही रण-पद्धति को अपनाये रहे।"[१] उनकी लड़ाई का ढंग पुराना था और नई रण-पद्धति से वे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत तुर्क लोग नई-नई रण पद्धति से पूर्णतया परिचित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूतों की पुरानी रण-पद्धति तुर्कों के विरुद्ध उपयोगी सिद्ध न हुई।

राजपूतों की सेना का एक बहुत बड़ा दोष यह था कि उनकी सेना इतनी अधिक विशाल हो जाती थी कि उसका सुचारु-रीति से संचालन करना अत्यन्त कठिन हो जाता था। विशालता के कारण उनकी गति बड़ी मन्द हो जाती थी। न वह तेजी से आक्रमण कर पाती थी और न संकट पड़ने पर तेजी से भाग ही सकती थी। इसके विपरीत मुसलमानों की सेना छोटी होती थी अतएव वह द्रुतगति से आक्रमण करती थी और किसी मौके पर यदि वह घिर भी जाती थी तो तेजी से भाग निकलती थी। छोटी होने के कारण उसका बहुत अच्छी तरह से संचालन किया जा सकता था।

राजपूतों की रण-पद्धति में दूसरा बड़ा दोष यह था कि वे अपनी सारी सेना को एक साथ युद्ध में लगा देते थे और सुरक्षा की दूसरी पंक्ति नहीं रखते थे। इसका परिणाम यह होता था कि यदि किसी कारण-वश एक बार सेना के पैर उखड़ गये, तो उसमें भगदड़ मच जाती थी और शत्रु पीछे से बाण-वर्षा कर उसका भीषण संहार

---

1. "The military system of the Hindus was out of date and old fashioned. Their too much dependence upon the elephants was dangerous when they had to fight against fierce and well trained cavalry leaders. Experience furnished ample warning, but it was constantly disregarded by Hindu generals who adhered with great tenacity to their old methods of warfare."

—Dr. Ishwari Prasad.

कर देते थे। इसके विपरीत तुर्क लोग अपनी एक संरक्षित सेना रखते थे। जब वे देखते थे कि राजपूतों की सेना थक गई है और अस्त-व्यस्त हो रही है तब वे अपनी संरक्षित सेना को उनके विरुद्ध लगा देते थे, जो नई उत्तेजना तथा स्फूर्ति के साथ आक्रमण कर देती और राजपूत-सेनाओं को सरलता से परास्त कर देती थी।

राजपूतों की सेना के संगठन में तीसरा दोष यह था कि उनकी सेना में पैदल सैनिकों, अश्वारोहियों तथा हाथियों का सम्मिश्रण रहता था। पैदल सैनिकों की संख्या सबसे अधिक होती थी और वे सेना के सबसे पिछले भाग में रहते थे। यह सैनिक लाभदायक सिद्ध होने के स्थान पर प्रायः बाधक सिद्ध हो जाते थे। इनमें न अधिक पैंतरेबाजी संभव थी और न इनका सुचारु रीति से से संचालन ही हो पाता था। राजपूत घुड़सवारों की सेना भी अधिक प्रबल न थी, क्योंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़ों का मिलना कठिन था। राजपूत लोग हाथियों को अपनी सेना में सबसे आगे रखते थे। यह हाथी बिगड़ जाने पर अपने ही सैनिकों को और विशेष कर सेना के पिछले भाग के पैदल सैनिकों को रौंद डालते थे और सेना में भगदड़ मच जाती थी। इसके विपरीत मुसलमानों की सेना प्रधानतः अश्वारोहियों की सेना होती थी। चूंकि अरब, फारस, अफगानिस्तान आदि देशों में बड़ी ही अच्छी नस्ल के घोड़े पाये जाते हैं, अतएव इन अश्वारोहियों की सेना बड़ी ही रण-कुशल होती थी। यह सेना बड़ी ही द्रुत-गति से आक्रमण कर सकती थी और उसमें उच्च-कोटि की पैंतरेबाजी थी।

राजपूत लोग जिन शस्त्रों का प्रयोग करते थे, वे तुर्कों के विरुद्ध लाभदायक न सिद्ध हुए। राजपूत लोग प्रायः बल्लम, बर्छे तथा तलवार का प्रयोग करते थे। जिनकी उपयोगिता घमासान युद्ध में हो सकती थी। परन्तु तुर्क अश्वारोही धनुष-बाण का अधिक प्रयोग करते थे। वे दूर से ही बाण-वर्षा करके राजपूत सेनाओं को अस्त-व्यस्त कर देते थे। वे घमासान युद्ध से बचने का प्रयत्न किया करते थे। तुर्क लोग राजपूतों से कहीं अधिक अच्छे तीरंदाज होते थे। उनका निशाना अचूक पड़ता था। अपनी बाण-वर्षा से वे प्रायः हाथियों को खदेड़ देते थे, जो अपने ही सैनिकों को रौंद डालते थे।

राजपूतों की रण-पद्धति में एक बहुत बड़ा दोष यह था कि वे एक ही नेता पर निर्भर रहते थे और यदि वह नेता किसी प्रकार घायल हो जाता था तो सारी सेना तितर-बितर हो जाती थी और उसमें भगदड़ मच जाती थी। मुसलमानों में यह बात न थी। वे कभी भी एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहते थे। इसके अतिरिक्त राजपूत सेनापति सैन्य-संचालन करने के स्थान पर प्रायः स्वयं भी अपनी वीरता तथा साहस दिखाने के लिए साधारण सैनिकों की भाँति युद्ध करने लगते थे। इससे सेना का संचालन सुचारु रीति से नहीं हो पाता था और उनका जीवन भी प्रायः संकट में पड़ जाता था। इसके विपरीत मुसलमान सेनापति सैन्य-संचालन में ही संलग्न रहते थे और अपनी सुरक्षा की भी व्यवस्था रखते थे। राजपूत सेनापति अपने को इतना अलंकृत रखते थे कि शत्रु सरलता से उनका पता लगा लेते थे और उन्हीं को अपना प्रधान लक्ष्य बना लेते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उनके घायल हो जाने अथवा

उनके हाथी के बिगड़ जाने पर उनकी सेना में भगदड़ मच जायेगी। अनेक बार ऐसी दुर्घटनाएँ घटीं, परन्तु राजपूतों ने इसका सुधार न किया। अतएव डॉ० ईश्वरी प्रसाद जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, "इन दोनों जातियों का संघर्ष वास्तव में दो भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं का संघर्ष था। एक पुरानी और पतनोन्मुख थी और दूसरी यौवनपूर्ण तथा साहस से परिपूर्ण।"[१]

(६) **मुसलमानों का उच्चतर नेतृत्व**—मुसलमानों की विजय का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उनमें योग्य नेताओं की कमी न थी। महमूद गजनवी मुहम्मद गोरी, कुतुबुद्दीन ऐबक, बख्तियार आदि बड़े ही उच्च कोटि के सेनानायक थे। इनको युद्ध का बड़ा व्यापक अनुभव था; क्योंकि ये विभिन्न क्षेत्रों में युद्ध कर चुके थे। यद्यपि हिन्दुओं में भी जयपाल, पृथ्वीराज, जयचन्द आदि बड़े ही वीर तथा साहसी सेनापति थे, परन्तु तुर्क सेनापतियों की अपेक्षा वे कम अनुभवी तथा कम कुशल सेनापति थे। महमूद गजनवी की समानता कोई भी राजपूत सेनापति नहीं कर सकता था।

(७) **भारतीय सैनिकों के चुनाव का सीमित क्षेत्र**—भारतीय सेना में केवल राजपूत ही भर्ती हो सकते थे, क्योंकि सेना में भर्ती होने का एकाधिकार राजपूतों को ही था। इसके परिणाम बड़े बुरे हुए। देश की अन्य जातियाँ युद्ध तथा राजनीति की ओर से उदासीन हो गयीं। इससे कोई भी युद्ध राष्ट्रीय युद्ध न हो सका और अन्य जातियों की सैनिक सेवाओं से देश वंचित रहा। निरन्तर युद्ध में अपार क्षति होने के कारण राजपूतों का सैनिक ह्रास होता गया, जिसे सुधारने का कोई प्रयत्न न किया गया। इसके विपरीत मुसलमानों का सैनिक भर्ती करने का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। प्रत्येक मुसलमान सेना में भर्ती हो सकता था। इतना ही नहीं, प्रत्येक मुसलमान के लिए उन दिनों सैनिक-शिक्षा अनिवार्य थी। मुसलमान ऐसे देश के निवासी थे जहाँ अपनी जीविका के लिए प्रकृति के साथ भीषण संघर्ष करना पड़ता था। अतएव ये लोग स्वभाव से ही सामरिक प्रवृत्ति के होते थे और बचपन से ही लड़ना-भिड़ना इनका व्यवसाय हो जाता था। इन परिस्थितियों में योग्य-से-योय सैनिकों को प्राप्त करना मुसलमानों के लिए सरल था। इसी से डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है,[२] "मुसलमानों को अफगान पहाड़ियों के उस पार के देशों में सैनिक-चयन

---

1. "The war between two peoples was really a struggle between two different social systems, the one old and decadent, and the other full of youthful vigour and enterprise."

—Dr. Ishwari Prasad.

2. "The Muslims had an excellent recruiting ground in the countires beyond the Afghan hills from where they could constantly bring fresh levies to fight against the Hindu hosts."

—Dr. Ishwari Prasad.

का बढ़िया क्षेत्र प्राप्त था, जहाँ से वे निरन्तर नई सेनाएँ हिन्दुओं से लड़ने के लिए ला सकते थे।" जिस आसानी से मुसलमानों की छोटी सेनाएँ राजपूतों की विशाल सेनाओं पर विजय प्राप्त कर लेती थीं, उससे हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि मुसलमान सैनिक राजपूत सैनिकों से कहीं अधिक रण-कुशल थे।

(८) विदेशों की राजनीति के प्रति राजपूतों की उदासीनता—राजपूतों ने एक बहुत बड़ी भूल यह की थी कि उन्होंने विदेशों की राजनीति को जानने का कोई प्रयत्न न किया। इससे विदेशों में जिन नई-नई रण-पद्धतियों का प्रचलन हो रहा था, उससे वे बिल्कुल अपरिचित रहे और उसके अनुकूल अपने को न बना सके। इसके विपरीत मुसलमान लोग विदेशों के और विशेषकर पाश्चात्य देशों के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे, जिससे वे नई-नई रण-पद्धतियों से परिचित होते रहे और उनमें कुशलता प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे।

(९) तुर्कों की दास-प्रथा—मुसलमानों को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में अपने योग्य तथा प्रतिभावान् दासों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। तुर्की-गुलाम बड़े ही योग्य सैनिक होते थे। चूंकि उनकी उन्नति का द्वार सदैव खुला रहता था, अतएव ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँचने के लिए अनन्य भक्ति के साथ अपने स्वामी की सेवा करते थे। इससे प्रतिभा की खोज भी सरलता से हो जाती थी। मुहम्मद गोरी ने अपने स्वामिभक्त गुलामों को सदैव ऊँचे-ऊंचे पद देकर उन्हें प्रोत्साहित किया था। वास्तव में उत्तरी भारत की विजय का बहुत बड़ा श्रेय कुतुबुद्दीन ऐबक, मुहम्मद बख्तियार आदि तुर्की-गुलामों को ही मिलना चाहिए। इस प्रथा की प्रशंसा करते हुए लेन-पूल महोदय ने लिखा है, "जहाँ एक बड़े ही योग्य शासक का पुत्र असफल हो सकता है, वहाँ आदमियों के वास्तविक नेता का गुलाम प्रायः अपने को अपने स्वामी के समान ही योग्य सिद्ध कर देता है।"[1]

(१०) आकस्मिक कारण—मुसलमानों की विजय तथा राजपूतों की पराजय के अनेक आकस्मिक कारण भी थे। ९८६ ई० में जब जयपाल ने सुबुक्तगीन के राज्य पर आक्रमण किया, तब इतनी अधिक बर्फ गिरी कि उसकी सेना को बहुत क्षति पहुँची। इसी प्रकार आनन्दपाल के पुत्र के हाथी के बिगड़ जाने से उसकी सेना में भगदड़ मच गई थी। जयचन्द की आँख में सहसा तीर लग जाने उसकी सेना भाग खड़ी हुई। इस प्रकार की अन्य बहुत-सी आकस्मिक घटनाएँ हैं जिनसे मुसलमानों को विजय प्राप्त हुई और राजपूतों को पराजय का आलिंगन करना पड़ा।

●

---

[1] "While a brilliant ruler's son is apt to be a failure the slaves of a leader of men have often proved the equals of their master."
—Stanley Lane-Poole.

अध्याय २७

दिल्ली-सल्तनत का युग

"The dynasty of Ghor relapsed into the insignificance of a highland chiefdom after its great Sultan's death but the dominion it had conquered in India was not lost to Islam. It was consolidated under other rulers and from the days of Mohammad Ghori to the catastrophe of the Indian mutiny there was always a Mohammedan king upon the throne of Delhi.

—Stanley Lane-Poole.

दिल्ली-सल्तनत का तात्पर्य—सल्तनत शब्द अरबी भाषा के 'सलत' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है दबदबा। सल्तनत का शाब्दिक अर्थ होता है हुकूमत या बादशाहत, परन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ होता है राज्य। दिल्ली-सल्तनत का तात्पर्य उस राज्य से है, जिसकी स्थापना १२०६ ई० में मुहम्मद गोरी की मृत्यू के उपरान्त उसके स्वामिभक्त तुर्की गुलाम तथा सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में की थी जिसका विनाश १५२६ ई० में बाबर ने इब्राहिम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में परास्त करके किया था, जिसका पुनरुद्धार शेरशाह सूरी ने १५४० ई० में हुमायूँ को परास्त करके किया था और जिसका अन्त अकबर ने मुहम्मद शाह आदिल के सेनापति हेमू को १५५६ ई० में पानीपत के दूसरे युद्ध में परास्त करके किया था। इस प्रकार यह राज्य लगभग ३२० वर्षों तक निरन्तर चलता रहा और पन्द्रह-सोलह वर्षों तक विलुप्त होने के उपरान्त फिर पन्द्रह-सोलह वर्षों तक चलता रहा। यह मुसलमानों का भारत में प्रथम साम्राज्य था। यद्यपि मुसलमानों ने ७१२ ई० में ही सिन्ध पर आक्रमण कर वहाँ पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। परन्तु न तो यह शासन स्वतन्त्र था और न यह स्थायी ही सिद्ध हुआ। इसके बाद महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया और उसने पंजाब को अपने राज्य का एक अंग बना लिया, परन्तु उसने पंजाब पर गजनी से ही शासन किया। भारत में उसने अपना कोई अलग राज्य स्थापित न किया। जब महमूद गजनवी के उत्तराधिकारी गजनी से उन्मूलित कर दिये गये तब वे पंजाब भाग आये और लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने लगे। परन्तु उनका शासन बड़ा ही क्षणिक सिद्ध हुआ। मुहम्मद गोरी ने शीघ्र ही उन्हे उन्मूलित कर दिया और अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक तथा मुहम्मद बख्तियार की सहायता से सारे उत्तरी

हिन्दुस्तान को रौंद डाला। परन्तु उसने भी भारत में अपना कोई अलग राज्य स्थापित न किया। वह अपनी भारतीय विजय के संगठन का कार्य अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंप कर स्वयं गजनी चला गया था। १२०६ ई० में जब मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गई, तब कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। चूंकि उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बना लिया और निरन्तर दिल्ली ही इस राज्य की राजधानी बनी रही, अतएव इसे दिल्ली-सल्तनत के नाम से पुकारा गया है। इतिहासकारों ने इस राज्य को मुगल-साम्राज्य से अलग करके इसका नाम दिल्ली-सल्तनत रक्खा है।

दिल्ली-सल्तनत का संक्षिप्त परिचय—दिल्ली-सल्तनत में किसी एक राज-वंश ने शासन नहीं किया, वरन् इस राज्य में क्रम से छह राज-वंशों ने शासन किया, जो न एक वंश के थे और न एक जाति के ही। इस राज्य का पहला राज-वंश गुलाम-वंश कहलाता है, क्योंकि इस वंश का संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक सुल्तान बनने के पहले मुहम्मद गोरी का गुलाम रह चुका था। वास्तव में जिसे इतिहासकारों ने गुलाम-वंश कहा है उसमें तीन राज-वंशों ने शासन किया। पहला राज-वंश कुतुबुद्दीन ऐबक का, दूसरा इल्तुतमिश का और तीसरा बलबन का था। यह तीनों व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भ में गुलाम रह चुके थे। अतएव इन तीनों के राज-वंशों को गुलाम-वंशों के नाम से पुकारा गया है। गुलाम वंश का राज्य-काल १२०६ ई० से १२९० ई० तक माना गया है। इस वंश के लोग तुर्क जाति के थे, जो तुर्की गुलाम कहलाते थे। दिल्ली-सल्तनत का दूसरा राज-वंश खिलजी-वंश कहलाता है। इस राज-वंश ने १२९० ई० से १३२० ई० तक शासन किया। खिलजी लोग अफगानिस्तान के निवासी थे, अतएव तुर्कों की अपेक्षा उनमें अफगान-रक्त अधिक था। तीसरा राज-वंश करौना का था, जो तुगलक वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस राज-वंश ने १३२० ई० से १४१४ ई० तक शासन किया। चौथा राज-वंश सैयद-वंश कहलाता है। ये लोग अपने को अरबवासी तथा मुहम्मद साहब का वंशज मानते थे। इस राज-वंश ने १४१४ ई० से १४५१ ई० तक शासन किया। पाँचवाँ राज-वंश लोदी कहलाता है। ये लोग अफगान थे। इस राज-वंश ने १४५१ ई० से १५२६ ई० तक शासन किया। इसका उन्मूलन बाबर ने किया था, जो मुगल था। इस प्रकार ३२० वर्षों के उपरान्त दिल्ली-सल्तनत का अन्त हो गया, परन्तु १५४० ई० में शेरशाह सूरी ने फिर से दिल्ली-सल्तनत का उद्धार किया और सूरी-वंश के शासन की व्यवस्था की। इस राज-वंश ने १५४० ई० से १५५६ ई० तक शासन किया। इस प्रकार १५५६ ई० में दिल्ली-सल्तनत का सदैव के लिए अन्त हो गया और मुगल-साम्राज्य की सुदृढ़ता के साथ स्थापना हो गई। दिल्ली सल्तनत के विकास तथा पतन का क्रम इस प्रकार था। मुगल तथा खिलजी-वंश का शासन-काल विजय का काल था, तुगलक-वंश का काल साम्राज्य-स्थापना का काल था, सैयद तथा लोदी-वंश का काल पतन का काल और सूरी-वंश का काल पुनरुद्धार तथा अन्तिम विनाश का काल था।

राज-वंशों में तेजी से परिवर्तन के कारण—दिल्ली-सल्तनत के उत्थान

तथा पतन का इतिहास पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में राज-वंशों का बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के निम्नलिखित कारण बतलाये जाते हैं :—

(१) **उत्तराधिकार के नियम का अभाव**—मुसलमानों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था। कभी सुल्तान का पुत्र अथवा उसके परिवार का अन्य कोई निकटवर्ती सम्बन्धी शासक बन जाता था, सुल्तान अपने जीवन-काल में ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर जाता था, कभी तो अमीर लोग सुल्तान को निर्वाचित कर लेते थे और कभी कोई महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अपने बाहुबल से सिंहासन को छीन लेता था। चूंकि कोई भी योग्य व्यक्ति सिंहासन पर बैठ सकता था, अतएव सल्तनत के सभी योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्ति सिंहासन पर अपनी दृष्टि लगाये रहते थे और अपने को प्रबल बनाने का प्रयत्न किया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सिंहासन के लिए निरन्तर षड्यन्त्र तथा कुचक्र चला करते थे और जब कोई महत्त्वाकांक्षी तथा शक्तिशाली व्यक्ति सुअवसर पाता था तब वह सिंहासन को हड़प लेता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खिलजी, गयासुद्दीन तुगलक, बहलोल लोदी, शेरशाह आदि इसी प्रकार सिंहासन पर बैठे थे। न तो वे राज-वंश के थे और न सिंहासन पर उनका कोई अधिकार ही था, वरन् अपने बाहु-बल से ये लोग शासक बने थे।

(२) **अमीरों का षड्यन्त्र**—सम्पूर्ण सल्तनत काल में अमीरों का एक प्रबल गुट विद्यमान रहा है। प्रबल सुल्तानों के शासन-काल में तो ये उनके अनन्य भक्त तथा समर्थक बने रहते थे और उनकी चाटुकारी किया करते थे, परन्तु सुल्तान की आँख बन्द होते ही ये लोग षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर देते थे और ऐसे व्यक्ति को सिंहासन पर लाने का प्रयत्न करते थे जो निर्बल हो और इन अमीरों के हाथ की कठपुतली बना रहे। कुतुबुद्दीन ऐबक के बाद आरामशाह को और इल्तुतमिश के बाद रुकनुद्दीन को अमीरों ने सिंहासन पर बैठा दिया था। ये दोनों अयोग्य व्यक्ति थे। इन अयोग्य व्यक्तियों को अमीरों ने इसी ध्येय से सुल्तान बनाया था कि राज्य की वास्तविक शक्ति को अपने हाथ में रख सकें।

(३) **सुल्तानों की स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली**—दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों ने स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन की स्थापना की थी। स्वेच्छाचारी शासन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि राज्य की सुदृढ़ता तथा सुरक्षा शासक के चरित्र तथा उसकी योग्यता पर निर्भर रहती है। जहाँ शासक के चरित्र में कोई दुर्बलता आई अथवा वह अयोग्य सिद्ध हुआ कि राज-वंश का परिवर्तन निश्चित हो जाता है। यद्यपि दिल्ली-सल्तनत में इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी आदि बड़े ही योग्य तथा प्रतिभावान शासक हुए, परन्तु उनके उत्तराधिकारी बड़े ही निर्बल तथा अयोग्य थे, जो अपने पूर्वजों के विशाल तथा केन्द्रीभूत शासन को सँभाल न सके और सल्तनत नये राज-वंशों के हाथ में चली गई।

(४) **सुल्तानों की दुर्बलता**—सुल्तानों की दुर्बलता के कारण भी सल्तनत-काल में राज-वंशों का बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन हुआ था। कुतुबुद्दीन ऐबक के पुत्र

आरामशाह की दुर्बलता से लाभ उठाकर इल्तुतमिश ने दिल्ली के सिंहासन को हड़प लिया था। बलबन के निकम्मे तथा विलासी पौत्र कैकुबाद का वध कर जलालुद्दीन खिलजी ने अपने नये राज-वंश की स्थापना की थी। अलाउद्दीन खिलजी के निकम्मे उत्तराधिकारियों के कारण ही तुगलक-वंश का शासन स्थापित हो सका था। तुगलक वंश तथा सैयद-वंश का अन्त भी इन राजवंशों के अन्तिम शासकों की अयोग्यता तथा निकम्मेपन के कारण हुआ था।

(५) **सैनिक-बल पर आधारित शासन**—दिल्ली-सल्तनत का मूलाधार सैनिक-बल था। इस राज्य की स्थापना तलवार के बल से की गई थी और तलवार के बल से ही इसे सुरक्षित तथा सुसंगठित रक्खा जा सकता था। जब तक सैन्य बल सुल्तान के हाथ में रहता था, तब तक सल्तनत सुरक्षित रहती थी, परन्तु जब सैन्य-बल में कमी आ जाती थी, तब विद्रोह का प्रकोप फैल जाता था। प्रायः महत्त्वाकांक्षी सेना-पति सेना के बल से राज-वंश का अन्त कर अपने राज-वंश की स्थापना कर लेते थे। खिलजी-वंश का अन्त इसी प्रकार किया गया था।

(६) **प्रान्तीय शासकों का विश्वासघात**—दिल्ली-सल्तनत का धीरे-धीरे इतना अधिक विकास हो गया कि केन्द्र से उसका शासन चलाना कठिन हो गया। अतएव दिल्ली के सुल्तानों ने अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों का शासन अपने प्रान्तपतियों को सौंप दिया। यद्यपि योग्य तथा शक्तिशाली शासकों के शासन-काल में यह प्रान्तपति बड़े ही स्वामिभक्त बने रहते थे, परन्तु अयोग्य सुल्तानों के शासन-काल में ये लोग विद्रोह का झंडा खड़ा कर देते थे और अपने स्वतन्त्र राज वंशों की स्थापना कर लेते थे। जौनपुर, बंगाल आदि में स्वतन्त्र राज-वंशों की स्थापना इसी प्रकार हुई थी।

(७) **दास-प्रथा के दुष्परिणाम**—यद्यपि आरम्भ में दास-प्रथा से दिल्ली-सल्तनत की स्थापना करने तथा उसको सुदृढ़ बनाने में बड़ी सहायता मिली थी परन्तु कालान्तर में इसके परिणाम सल्तनत के लिए बड़े हानिकारक सिद्ध हुए। इन गुलामों का एक सुदृढ़ गुट बन गया, जो निरन्तर षड्यन्त्र रचा करता था। प्रायः यह गुलाम अपने स्वामी के साथ विश्वासघात कर दिया करते थे। मलिक काफूर तथा मलिक खुसरो ने खिलजी-वंश के साथ विश्वासघात करके उस राज-वंश का अन्त किया था।

अब दिल्ली-सल्तनत के विभिन्न राज-वंशों का विस्तृत वर्णन आगामी अध्यायों में किया जायगा।

❁

अध्याय २८

गुलाम–वश

(१२०६-१२९०)

While a briliant ruler's son apt to be a failure, the slaves of a real leader of men have often proved the equals of their master. The reason of course is that the son is a mere speculation. He may or may not inherit his father's talents...On the other hand, the slave is 'the survival of the fittest'; he is chosen for physical and mental abilities, and he can hope to retain his position in his master's favour only by vigilant effort and hard service. Should he be found wanting, his fate is sealed."

—Lane-Poole.

गुलाम कौन थे—मुसलमानों में गुलाम-प्रथा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था। मुसलमान शासक युद्ध में पकड़े गये कैदियों को गुलाम बना लेते थे और उनमें से प्रतिभावान् तथा योग्य व्यक्तियों को सेना में भर्ती कर लेते थे और उन्हें शासन का भी भार सौंप दिया करते थे। युद्ध के कैदियों के अतिरिक्त गुलामों के बाजार भी लगते थे और इन बाजारों से अमीर लोग गुलामों को खरीद कर उन्हें अपना सेवक बना लेते थे। ये गुलाम प्रायः बड़े कुलीन-वश के होते थे और बड़े ही स्वामिभक्ति तथा कार्य-कुशल हुआ करते थे। तुर्की-गुलाम अपनी योग्यता तथा स्वामिभक्ति के लिए बड़े ही प्रसिद्ध थे। तुर्की गुलाम बहुत बडी संख्या में मुसलमान शासकों की सेना में भर्ती हो गये और अनन्य भक्ति तथा सेवा से उनके बड़े विश्वासपात्र बन गये। प्रशासकीय विभाग में भी ये तुर्की-गुलाम ऊँचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त किये जाने लगे।

चूंकि इस्लाम-धर्म बड़ा ही लोकतन्त्रात्मक है और उसमें ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है, अतएव गुलाम होना कोई असम्मान की बात न थी और योग्य तथा प्रतिभावान गुलाम मुस्लिम-समाज में बड़े आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। उनकी उन्नति का मार्ग सदैव खुला रहता था और अपनी योग्यता के बल पर वे ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँच सकते थे। प्रायः सुल्तानों की सन्तान अयोग्य तथा निकम्मी निकल जाती थी। परन्तु तुर्की-गुलाम प्रायः बड़े ही योग्य और प्रतिभावान् निकलते थे और उनकी योग्यता से प्रसन्न होकर सुल्तान लोग प्रायः अपनी कन्याओं का विवाह भी इनके साथ कर दिया करते थे। इस प्रकार गुलाम लोग राज-पद के भी अधिकारी

बन जाते थे। निर्वाचन की पद्धति द्वारा भी यह गुलाम राज-पद को प्राप्त कर सकते थे और मुस्लिम-समाज उनका स्वागत करने के लिए उद्यत रहता था।

मुहम्मद गोरी के सहस्रों ऐसे तुर्की-गुलाम थे, जो अपनी स्वामिभक्ति तथा सेवा के लिए प्रसिद्ध थे। मुहम्मद गोरी की अपनी कोई सन्तान न थी, परन्तु वह अपने इन स्वामिभक्त गुलामों को अपनी सन्तान समझता था और उनके साथ बड़ी उदारता का व्यवहार करता था। वह उन पर बड़ा विश्वास करता था और उन्हें उत्तरदायी पदों पर नियुक्त किया करता था। भारत पर विजय प्राप्त करने में उसे अपने तुर्की-गुलामों से बड़ी सहायता मिली थी। वह गुलामों पर इतना अधिक विश्वास करता था कि भारत में विजय प्राप्त करने के उपरान्त वह अपनी विजय के संगठन का कार्य इन गुलामों को सौंप कर स्वयं गजनी लौट जाया करता था। इन स्वामिभक्त गुलामों ने कभी भी उसके साथ किसी प्रकार का विश्वासघात नहीं किया और सदैव उसके अनन्य-भक्त बने रहे। उसके चार गुलाम अर्थात् यल्दूज, कुबाचा, मुहम्मद बख्तियार तथा कुतुबुद्दीन ऐबक इतिहास में बड़े प्रसिद्ध हैं। चूंकि मुहम्मद गोरी के कोई पुत्र न था, अतएव उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका साम्राज्य उसके चार तुर्की-गुलामों में विभक्त हो गया था। यल्दूज ने गजनी में, कुबाचा ने सिन्ध में, मुहम्मद बख्तियार ने बंगाल में और कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में जिस राज-वंश की स्थापना की, वह भारतीय इतिहास में गुलाम-वंश के नाम से प्रसिद्ध है।

गुलाम-वंश का परिचय—जिस राज-वंश के इतिहासकारों ने गुलाम-वंश के नाम से पुकारा है, उसमें वास्तव में तीन राज-वंश सम्मिलित हैं। पहला राज-वंश कुतुबुद्दीन ऐबक का था, दूसरा इल्तुतमिश का और तीसरा बलबन का। परन्तु इन तीनों राज-वंशों को एक ही राजवंश कहा गया है और तीनों को मिला कर गुलाम-वंश कहा गया है। इसे गुलाम-वंश कहने का कारण यह है कि इन तीनों राज-वंशों के संस्थापक अर्थात् कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन अपने जीवन के प्रारम्भ में गुलाम रह चुके थे। कुतुबुद्दीन ऐबक मुहम्मद गोरी का, इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन का और बलबन इल्तुतमिश का गुलाम रह चुका था। परन्तु सिंहासन पर बैठने के समय इनमें से कोई गुलाम न था, वरन् ये सभी स्वतन्त्र हो चुके थे और राज्य में ऊँचे-ऊँचे पदों पर विद्यमान थे। ऐबक मुहम्मद गोरी के भारतीय राज्य का गवर्नर था। इनके उत्तराधिकारी तो जन्म से ही स्वतन्त्र थे। इसी से अनेक इतिहासकारों की यह धारणा है कि इन राज-वंशों को गुलाम-वंश कहना उचित नहीं है। न तो इसे एक वंश कहना उचित है और न गुलाम-वंश ही।

कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१२१० ई०)—गुलाम-वंश तथा दिल्ली-सल्तनत का संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक था। यह भारतवर्ष का प्रथम मुसलमान शासक था, जिसने भारत में मुसलमानों का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। उसका जन्म तुर्किस्तान में एक कुलीन-वंश में हुआ था, परन्तु बाल्य-काल में ही वह खुरासान में एक

गुलाम के रूप में बेच दिया गया और नीशापुर के काजी ने उसे खरीद लिया। उसके गुणों तथा स्वभाव से प्रसन्न होकर काजी ने उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी, परन्तु काजी की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन को गजनी ले आये और उसे मुहम्मद गोरी के हाथ बेच दिया। थोड़े ही दिनों में कुतुबुद्दीन ने अपने नये स्वामी को भी अपने गुणों से मुग्ध कर लिया और वह उसका बड़ा ही स्वामिभक्त तथा विश्वास-पात्र सेवक बन गया। यद्यपि कुतुबुद्दीन बड़ा ही कुरूप था, परन्तु उसके आन्तरिक गुणों से प्रसन्न होकर उसके स्वामी ने उसे ऐबक की उपाधि दे दी, जिसका अर्थ होता है, 'चन्द्रमुखी'। जिन दिनों मुहम्मद गोरी ने अपनी भारतीय विजय आरम्भ की, उन दिनों ऐबक भी उसके साथ आया। भारतीय युद्ध में उसे अपने स्वामी को अपने सैनिक गुणों का परिचय देने का सुअवसर प्राप्त हो गया। उसने अपनी वीरता, साहस तथा अन्य सैनिक गुणों से अपने स्वामी को इतना प्रसन्न कर लिया और उसका इतना विश्वास-पात्र बन गया कि वह अपनी विजय के संगठन का कार्य उसी को सौंप कर स्वयं गजनी चला जाता था। ऐबक ने अनन्य-भक्ति के साथ अपने स्वामी की सेवा की और उसके भारतीय विजय के कार्य को पूरा कर दिखाया। अपने स्वामी के जीवन-काल में उसने उसके गवर्नर के रूप में भारत में शासन किया। परन्तु जब मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गई, तब उसने दिल्ली पर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया; जो दिल्ली-सल्तनत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सिंहासन पर बैठने के बाद ऐबक को किसी विशेष विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। बंगाल तथा बिहार के शासक मुहम्मद बख्तियार ने उसकी अधीनता में शासन करना स्वीकार कर लिया। सिन्ध के शासक कुबाचा के साथ ऐबक ने अपनी बहन का विवाह कर दिया था। अतएव कुबाचा ने भी उसका विरोध नहीं किया। बदायूँ के शासक इल्तुतमिश के साथ उसने अपनी कन्या का विवाह कर दिया था। अतएव वह भी उसका स्वामिभक्त बना रहा। यद्यपि ऐबक ने गजनी के शासक यल्दूज की कन्या के साथ अपना विवाह कर लिया था, परन्तु यल्दूज ने अपने को पंजाब का अधिकारी घोषित कर दिया। ऐबक के लिए यह असह्य था। उसने गजनी पर आक्रमण कर दिया और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यल्दूज गजनी से भाग खड़ा हुआ। परन्तु ऐबक गजनी में लोकप्रिय न बन सका। उसका गजनी के लोगों के साथ अच्छा व्यवहार न था। अपनी विजय को संगठित करने के स्थान पर ऐबक अपने अमीरों के साथ आमोद-प्रमोद में लग गया। इसका परिणाम यह हुआ कि गजनी के लोगों ने फिर यल्दूज को बुलाया और ऐबक को गजनी से मार भगाया। इसके बाद न तो यल्दूज ने भारत पर और न ऐबक ने ही कभी गजनी पर आक्रमण करने का प्रयास किया।

कहा जाता है कि ऐबक बड़ा ही उदार तथा दयालु शासक था और अपनी हिन्दू-प्रजा के साथ भी वह उदारता का व्यवहार किया करता था। परन्तु युद्ध-काल में उसने सहस्रों हिन्दुओं का वध करवाया था और उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों को भी

तुड़वाया था। वह बड़ा ही दान-शील व्यक्ति था और लाखों का दान किया करता था। इसी से वह 'लाख बख्श' कहलाता था। इमारतों को बनवाने का भी उसे बड़ा शौक था। उसने अजमेर में एक मस्जिद बनवाई थी, जिसे 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' कहते हैं। कहा जाता है कि ऐबक ने इस मस्जिद का निर्माण केवल अढ़ाई दिन में करवाया था। वहाँ पर अढ़ाई दिन का मेला लगा करता था। अपनी दिल्ली-विजय के उपलक्ष्य में ऐबक ने दिल्ली में एक मस्जिद का निर्माण करवाया था, जिसे 'कुव्वत-उल-इस्लाम' अर्थात् इस्लाम की शक्ति कहते हैं। महात्मा ख्वाजा, कुतुबुद्दीन की याद में ऐबक ने एक लाट का बनवाना भी आरम्भ किया था, जिसे 'कुतुब-मीनार' कहते हैं, परन्तु इसे वह पूरा न करा सका। आगे चलकर इल्तुतमिश ने इसे पूरा कराया। ऐबक केवल चार वर्ष तक शासन कर सका। १२१० ई० में जब वह पोलो खेल रहा था तब अपने घोड़े से गिरकर घायल हो गया और मर गया। ऐबक के बाद उसका पुत्र आरामशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, परन्तु वह बड़ा ही अयोग्य था और परिस्थिति को सँभाल न सका। अतएव अमीरों ने इल्तुतमिश को सुल्तान निर्वाचित कर लिया।

इल्तुतमिश (१२११-१२३६)—इल्तुतमिश ने जो सिंहासन प्राप्त किया, वहाँ फूलों की शय्या न था वरन् बड़ा ही कंटकाकीर्ण था। अभी यह दिल्ली-सल्तनत का शैशव काल था। केवल चार ही वर्ष तक स्वतन्त्र-शासन करने के उपरान्त ऐबक का अकस्मात् परलोकवास हो गया था। अतएव वह सल्तनत को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित न कर सका था। यह सम्भव था कि यदि इल्तुतमिश जैसा योग्य तथा प्रतिभावान् व्यक्ति दिल्ली के सिंहासन पर बैठा न होता, तो आरामशाह जैसे निर्बल तथा अयोग्य शासक के हाथ से सल्तनत निकल गई होती। परन्तु इल्तुतमिश में सल्तनत को सुरक्षित रखने तथा उसे सुदृढ़ बनाने की पूर्ण क्षमता थी और वह इसमें सफल भी हुआ। इसी से अनेक विद्वान् ऐबक को दिल्ली-सल्तनत का केवल नाम-मात्र का संस्थापक मानते हैं, परन्तु इल्तुतमिश को वे दिल्ली-सल्तनत का वास्तविक संस्थापक मानते हैं। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "इल्तुतमिश निस्सन्देह गुलाम-वंश का वास्तविक संस्थापक है। उसी ने अपने स्वामी द्वारा की गई विजय को संगठित किया।"[1]

इल्तुतमिश की कठिनाइयाँ—जिस समय इल्तुतमिश ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली, उस समय उसे अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित थीं :—

गुलाम होने की समस्या—उसकी पहली समस्या यह थी कि वह एक गुलाम का गुलाम था। अतएव कुलीन तथा प्रभावशाली अमीर उसे सुल्तान मानने के लिए उद्यत न थे। यद्यपि इल्तुतमिश का जन्म इलबरी कबीले के एक कुलीन

---

[1] "Iltutmish is undoubtedly the real founder of the slave dynasty. It was he who consolidated the conquest that had been made by his master Qutubuddin." —Dr. Ishwari Prasad.

तुर्क-वंश में हुआ था, परन्तु अपने पिता का विशेष रूप से स्नेह-पात्र होने के कारण वह अपने भाइयों तथा अन्य सम्बन्धियों का कोप-भाजन बन गया, जिन्होंने बहकाकर बुखारा जाने वाले सौदागरों के काफिले के हाथ उसे बेच दिया। कई जगह बिकने के उपरान्त वह गजनी लाया गया जहाँ ऐबक ने उसे खरीद लिया। अपनी योग्यता तथा गुणों के कारण वह ऐबक का बड़ा ही विश्वास-पात्र बन गया। ऐबक उसके गुणों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया और 'अमीर-शिकार' के पद पर नियुक्त कर दिया। थोड़े ही दिनों बाद वह ग्वालियर का और फिर बदायूँ का गवर्नर बना दिया गया। इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन में गुलाम होने तथा छोटे पद से सुल्तान के ऊँचे पद पर पहुँच जाने के कारण वह अनेक प्रतिष्ठित अमीरों की आँख में खटक रहा था और वे दिल्ली में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे।

(२) प्रतिद्वन्द्वियों की समस्या—इल्तुतमिश की दूसरी समस्या प्रतिद्वन्द्विता की थी। उसका पहला प्रतिद्वन्द्वी आरामशाह था, जो इन दिनों लाहौर में था। वह राज-वंश का तथा ऐबक का वास्तविक उत्तराधिकारी था। अतएव जो लोग इल्तुतमिश को अनधिकारी तथा अपहर्ता समझते थे वे उसे अपना अस्त्र बनाकर फिर से दिल्ली के सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न कर सकते थे। इल्तुतमिश का दूसरा प्रतिद्वन्दी यल्दूज था जो गजनी में शासन कर रहा था। वह पंजाब पर अपनी दृष्टि जमाये था। इतना ही नहीं चूँकि वह गजनी में मुहम्मद गोरी के उत्तराधिकारी के रूप में शासन कर रहा था, अतएव वह अपने को सम्पूर्ण दिल्ली-सल्तनत का अधिकारी समझता था और उसको हड़पने की ताक में था। इल्तुतमिश का तीसरा प्रतिद्वन्द्वी कुबाचा था, जो सिन्ध तथा मुलतान में अपना प्रभुत्व स्थापित किये था। वह न केवल पंजाब पर वरन् ऐबक का सम्बन्धी होने के कारण दिल्ली पर भी दृष्टि लगाये था। इन प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों के अतिरिक्त बिहार में खिलजी मलिकों ने और बंगाल में अली-मर्दान खाँ ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। इल्तुतमिश को इन्हें नत-मस्तक कर दिल्ली-सल्तनत के अधीन लाना था।

(३) राजपूतों की समस्या—इल्तुतमिश की तीसरी समस्या राजपूतों की थी। राजपूत लोग अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को भूले न थे और विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयास कर रहे थे। जालौन, कालिंजर, रणथम्भौर, ग्वालियर तथा अन्य कई राज्यों के राजपूत राजाओं ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और अन्य राजा भी उनका अनुकरण कर रहे थे। इल्तुतमिश को इन सब विद्रोही राज-पूत राजाओं को नत-मस्तक कर फिर से अपने अधीन लाना था और सल्तनत की खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करना था।

(४) मुगलों के आक्रमण की समस्या—इल्तुतमिश की चौथी समस्या मुगलों के आक्रमण की थी। मुगल लोग बड़े खूंखार तथा निर्दयी समझे जाते थे। इन दिनों यह लोग अपने नेता चंगेज खाँ के नेतृत्व में सम्पूर्ण मध्य एशिया को उजाड़ते हुए आगे बढ़ते चले आ रहे थे। यह लोग ख्वारिज्म के शाह अलाउद्दीन पर टूट पड़े, जो

अपने पुत्र जलालुद्दीन के साथ भाग खड़ा हुआ। जलालुद्दीन गजनी पर टूट पड़ा और यल्दूज को वहाँ से मार भगाया। यल्दूज पंजाब भाग आया और लाहौर में उसने शरण ली। मुगलों ने जलालुद्दीन का पीछा न छोड़ा। इससे वह गजनी से भी भाग खड़ा हुआ और भारत की ओर चल पड़ा। पंजाब में आकर उसने सिन्धु नदी के किनारे अपना पड़ाव डाल दिया और अपना एक दूत दिल्ली में इल्तुतमिश से शरण की याचना के लिए भेज दिया। इल्तुतमिश को इस समस्या का भी सामना करना पड़ा।

समस्याओं का सुलझाना—यद्यपि इल्तुतमिश की समस्याएँ बड़ी भयंकर थीं परन्तु उसने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ उनका सामना किया। उसने इन समस्याओं को निम्नलिखित ढङ्ग से सुलझाया :

(१) दिल्ली के विद्रोही अमीरों का दमन—सबसे पहले उसने उन विद्रोही अमीरों का दमन किया, जो दिल्ली में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। सौभाग्य से इल्तुतमिश को सेना का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त था। इससे दिल्ली में अपने विरोधियों का दमन कर वहाँ पर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

(२) आरामशाह का दमन—दिल्ली में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाते ही इल्तुतमिश को यह सूचना मिली कि आरामशाह एक सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहा है। इल्तुतमिश ने एक प्रबल सेना के साथ दिल्ली के निकट उसका सामना किया और उसे बुरी तरह परास्त किया। आरामशाह मैदान से भाग खड़ा हुआ और फिर उसका कुछ पता न लगा।

(३) यल्दूज की पराजय—आरामशाह को समाप्त करने के बाद इल्तुतमिश को यल्दूज का सामना करना पड़ा, जो लाहौर से अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहा था। इल्तुतमिश उसका सामना करने के लिए पहले से ही तैयार था। १२१५ ई० में तराइन के मैदान में इल्तुतमिश तथा यल्दूज की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ। यल्दूज परास्त हो गया और कैद कर बदायूँ लाया गया, जहाँ उसकी हत्या करवा दी गई।

(४) कुबाचा की पराजय—यल्दूज का विनाश करने के उपरान्त इल्तुतमिश का ध्यान अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वी कुबाचा की ओर गया, जिसने लाहौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इल्तुतमिश ने एक सेना के साथ लाहौर की ओर प्रस्थान कर दिया और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने उत्तर की ओर प्रस्थान कर दिया। इन्हीं दिनों ख्वारिज्म के राजकुमार जलालुद्दीन ने कुबाचा के राज्य पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इससे इल्तुतमिश को कुबाचा को विनष्ट करने में बड़ी आसानी हुई। कुबाचा इल्तुतमिश का सामना करने में असमर्थ हो चुका था, अतएव वह भाग खड़ा हुआ और जब वह एक नाव में सिन्धु नदी को पार करने का प्रयत्न कर रहा था, तब वह नदी में डूब कर मर गया। इस प्रकार इल्तुतमिश के एक अत्यन्त प्रबल प्रतिद्वन्द्वी का स्वतः अन्त हो गया।

(५) मुगलों की समस्या का समाधान—मुगलों की समस्या का भी इल्तुतमिश ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ सामना किया। उसने जलालुद्दीन को, जिसने शरण की याचना की थी, यह कहला भेजा कि दिल्ली की जलवायु उसके अनुकूल न होगी, अतएव उसका दिल्ली आना उचित न होगा। मुगलों ने पंजाब में भी जलालुद्दीन का पीछा किया। अतएव वह कुबाचा के राज्य पर टूट पड़ा और उसे लूटता हुआ फारस की ओर चल दिया परन्तु मार्ग में ही उसकी हत्या कर दी गई। मुगल सरदार चंगेज खाँ भी पजाब में अधिक दिनों तक न रहा। पंजाब की जलवायु उसके अनुकूल न थी, अतएव लूट-मार करके वह भी भारत से वापस लौट गया। इस प्रकार जलालुद्दीन तथा चंगेज खाँ दोनों ही के आक्रमणों से दिल्ली-सल्तनत की रक्षा हो गई।

(६) गयासुद्दीन खिलजी के बिद्रोह का दमन—पश्चिमोत्तर प्रदेश से निश्चित हो जाने के बाद इल्तुतमिश ने पूर्व की ओर ध्यान दिया। इन दिनों गयासुद्दीन खिलजी ने बंगाल तथा बिहार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। १२२५ ई० में इल्तुतमिश ने गयासुद्दीन के राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसे अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए विवश किया। परन्तु इल्तुतमिश के लौटते ही उसने फिर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। जब इल्तुतमिश को इसकी सूचना मिली, तब उसने अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को बङ्गाल पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। १२२६ ई० में नासिरुद्दीन ने बङ्गाल की राजधानी लखनौती पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वह स्वयं बंगाल तथा बिहार का गवर्नर बन गया। अभाग्यवश १२२९ ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी और बंगाल में फिर विद्रोह की अग्नि भड़क उठी १२३० ई० में इल्तुतमिश स्वयं एक सेना के साथ बंगाल पहुँचा और विद्रोह का दमन कर यहाँ पर अपना गवर्नर नियुक्त कर दिल्ली लौट आया। इस प्रकार बङ्गाल तथा बिहार पर उसने फिर दिल्ली-सल्तनत की प्रभुता स्थापित कर दी।

(७) राजपूतों का दमन—अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों तथा मुगलों से छुटकारा पाने के उपरान्त इल्तुतमिश ने राजपूतों की ओर ध्यान दिया। १२२६ ई० में उसने राजस्थान की ओर प्रस्थान कर दिया। उसने रणथम्भौर का घेरा डाल दिया और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने परमार राजाओं की राजधानी मन्दौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। १२२८ ई० में इल्तुतमिश ने जालौर पर आक्रमण कर दिया। चूंकि जालौर के राजा उदयसिंह ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, अतएव उसका राज्य उसे लौटा दिया। १२३२ ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर के राजा मंगलदेव को परास्त किया। १२३४ ई० में उसने मालवा पर आक्रमण किया और यहाँ के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया कई अन्य राजपूतों को भी इल्तुतमिश ने परास्त किया और इस प्रकार दिल्ली-सल्तनत सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित किया।

इल्तुतमिश के कार्यों का मूल्यांकन—इल्तुतमिश ने दिल्ली-सल्तनत को न केवल सैनिक-बल प्रदान किया, वरन् उसने उसे नैतिक-बल भी दिया। १२२९ ई०

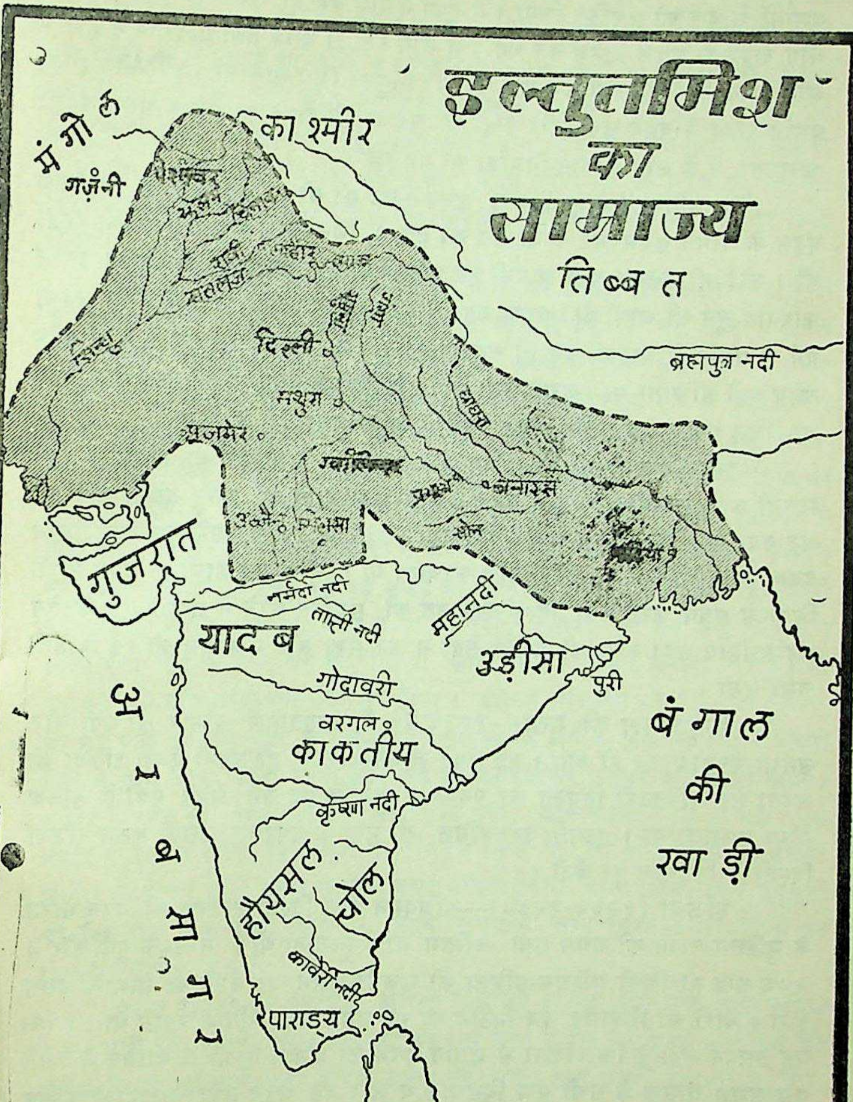
इल्तुतमिश
का
साम्राज्य
मंगोल
गज़नी
काश्मीर
पेशावर
मुल्तान
रावी
लाहौर
सतलज
सिन्धु
दिल्ली
मथुरा
अजमेर
ग्वालियर
उज्जैन
भिलसा
बनारस
सोन
तिब्बत
ब्रह्मपुत्र नदी
गुजरात
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
महानदी
यादव
उड़ीसा
पुरी
गोदावरी
वरंगल
काकतीय
कृष्णा नदी
होयसल
चोल
कावेरी नदी
पाराड्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर

में बगदाद के खलीफा ने दिल्ली में अपना एक दूत भेज कर उसे 'सुल्तान-ए-हिन्द' स्वीकार कर लिया । इस उपाधि को प्राप्त कर लेने से अब इल्तुतमिश को कोई अपहर्त्ता अथवा अनधिकारी नहीं कह सकता था । इसके बाद इल्तुतमिश ने अपनी मुद्राओं में अपना तथा खलीफा दोनों ही का नाम अंकित करवाना आरम्भ कर दिया ।

इल्तुतमिश ने अपने राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए चालीस तुर्की

गुलामों के दल को संगठित किया। ये तुर्की गुलाम बड़े ही राज-भक्त होते थे और ये लोग राज्य के प्रबल स्तम्भ बन गये। ये लोग बड़े ही योग्य तथा प्रतिभावान् होते थे और राज्य में ये ही लोग ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाने लगे। धीरे-धीरे इनका प्रभाव राज्य में बढ़ने लगा और इन्हीं के परामर्श से राज्य का शासन चलने लगा। कालान्तर में ये लोग सुल्तान-निर्माता भी बन गये।

इल्तुतमिश में न्याय-प्रियता उच्च-कोटि की थी। कहा जाता है कि उसके महल के सामने संगमरमर के दो शेर बने हुए थे, जिनके गले में घंटियाँ लटकी रहती थीं। कोई भी सताया हुआ आदमी इन घंटियों को बजा सकता था और तुरन्त उसकी फरियाद सुन ली जाती थी। परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि इल्तुतमिश उलेमा वर्ग के प्रभाव में था, जो बड़े ही कट्टर-पन्थी होते थे। अतएव हिन्दुओं के साथ सदैव न्याय नहीं हो पाता था। उसने उसी प्रकार हिन्दुओं के देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया था, जिस प्रकार ऐबक तथा उसके पहले के आक्रमणकारियों ने किया।

इल्तुतमिश कला-प्रेमी भी था और इमारतों के बनवाने का उसे शौक था। दिल्ली का कुतुब-मीनार, जिसे ऐबक ने आरम्भ करवाया था, परन्तु अधूरा छोड़ कर मर गया था, इल्तुतमिश ने पूरा करवाया। १२३० ई० में उसके पुत्र रुकनुद्दीन ने बदायूं में शम्सी मस्जिद का निर्माण करवाया था। चूंकि वह आजीवन अपने विरोधियों से संघर्ष करने तथा दिल्ली-सल्तनत को संगठित करने में लगा रहा, अतएव वह साहित्य तथा कला की अधिक सेवा न कर सका और न शासन की नई विधियाँ चला सका।

इल्तुतमिश की मृत्यु—१२३६ ई० में इल्तुतमिश बीमार हो गया और उसका परलोकवास हो गया। वह अपने जीवन-काल में ही अपनी कन्या रजिया को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गया था, क्योंकि वह उसे अपने पुत्रों से अधिक योग्य समझता था। फलतः इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरान्त उसकी कन्या रजिया दिल्ली के सिंहासन पर बैठी।

रजिया (१२३६-१२४०)—रजिया न केवल दिल्ली-सल्तनत की, वरन् भारत के मुस्लिम राज्य की प्रथम तथा अन्तिम नारी-सुल्ताना थी। न उसके पूर्व और न उसके बाद ही किसी मुस्लिम-महिला को राज-सिंहासन पर बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। नारी को सिंहासन पर बिठाने का यह प्रथम तथा अन्तिम प्रयास था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रजिया में शासन करने की क्षमता न थी। वास्तव में उसमें एक कुशल शासक के सभी गुण विद्यमान थे और वह अपने सभी भाइयों से अधिक योग्य थी, परन्तु स्त्री होना ही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी और इससे भी बड़ी दुर्बलता यह थी कि वह अविवाहिता थी। उसका अविवाहित स्त्री होना, उसके मार्ग में सबसे अधिक बाधक और अन्त में उसके पतन का कारण सिद्ध हुआ। रजिया के राज्यारोहण ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि उस काल की राजनीति में स्त्री के लिए कोई स्थान न था।

यद्यपि इल्तुतमिश ने अपने जीवन-काल में ही रजिया को अपना उत्तरा-

धिकारी नियुक्त कर दिया था परन्तु स्वाभिमानी तथा गर्वशील तुर्क एक स्त्री की अधीनता में कार्य करने के लिये उद्यत न थे, क्योंकि इससे उनके पुरुषत्व को बहुत ठेस लगती थी। अतएव इन लोगों ने इल्तुतमिश के पुत्र रुकनुद्दीन फीरोज को सुल्तान बना दिया। परन्तु उन्हें शीघ्र ही अपनी गलती का पता लग गया। रुकनुद्दीन बिल्कुल निकम्मा निकला और वह शासन को संभाल न सका। अतएव जिन अमीरों ने प्रारम्भ में रजिया का विरोध किया था, उन्हीं लोगों ने रुकनुद्दीन का वध कर दिया और ९ नवम्बर, १२३६ ई० को रजिया को दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया।

यद्यपि रजिया ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त कर लिया, परन्तु उसके विरोधियों की संख्या कम न थी। उसका नारी होना भी बहुत से अमीरों की आंख में खटक रहा था और वे उसके आधिपत्य को स्वीकार करने के लिये उद्यत न थे। सबसे अधिक विरोध प्रान्तों के शासकों ने किया था। स्त्री के अनुशासन में रहना और उसकी आज्ञाओं का पालन करना स्वाभिमानी पुरुष-शासकों के लिये सर्वथा असह्य था; फलतः बदायूँ, मुल्तान, लाहौर तथा झाँसी के गवर्नरों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। रुकनुद्दीन के वजीर मुहम्मद जुनैदी ने भी इन प्रान्तीय शासकों के साथ गठबन्धन कर लिया। इन लोगों ने अपनी सेना के साथ दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। रजिया के लिए वह बड़े संकट का काल था, क्योंकि इन प्रबल विरोधियों का सामना करना आसान काम न था। परन्तु रजिया का धैर्य भङ्ग न हुआ। उसने सैन्य-बल के स्थान पर कूटनीति से काम लिया। उसने अमीरों में फूट तथा एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमीरों का गुट भङ्ग हो गया और वे एक-एक करके भागने लगे। अब रजिया ने अपनी सेना के साथ उनका पीछा किया और कई को पकड़वाकर उनका वध करवा दिया। जुनैदा सिरमूर की पहाड़ियों की ओर भाग गया, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार रजिया ने अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर ली और दिल्ली में उसकी स्थिति सुदृढ़ बन गई। उसने विरोधी तथा अविश्वसनीय प्रान्तपतियों तथा अफसरों को हटा दिया और उनके स्थान पर अपने समर्थकों तथा विश्वास-पात्र लोगों को नियुक्त किया।

परन्तु रजिया की सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। वह कभी लोक-प्रिय शासक न बन सकी और उसके विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र तथा कुचक्र चलते रहे। रजिया की अलोक-प्रियता का सबसे बड़ा कारण उसका स्त्री होना तथा उसकी स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ थीं। स्वाभिमानी तुर्की अमीर न तो कभी इस अपमान को भूल सके और न क्षमा ही कर सके कि वे एक स्त्री के अनुशासन में थे। यह इतिहास में एक नई बात थी और इससे उनके आत्म-सम्मान को जो धक्का लगा, वह उनके लिए असह्य था। अतएव इस स्त्री-शासन से मुक्ति पाने के लिये वे सदैव प्रयत्नशील रहे। रजिया की अलोक-प्रियता का दूसरा कारण उसका स्वेच्छाचारी शासन था। दिल्ली में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद ही वह मनमाना शासन करने लगी और अमीरों की उपेक्षा

करने लगी। इससे अमीरों के आत्म-सम्मान को बहुत बड़ी चोट लगी। इल्तुतमिश ने अमीरों के जिस दल को संगठित किया था, वह सल्तनत में बड़ा प्रभावशाली हो गया था और अपनी उपेक्षा को वह किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता था। वह वास्तव में सुल्तान को मुट्ठी में रखना चाहता था और स्वयं राज्य का वास्तविक शासक बनना चाहता था। अतएव महत्त्वाकांक्षी अमीर रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते रहे। रजिया की अलोक-प्रियता का तीसरा कारण यह था कि उसने सिंहासन पर बैठते ही मुस्लिम-परम्पराओं तथा रूढ़ियों की उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी। उसने पर्दे को त्याग दिया और पुरुषों के वस्त्र धारण कर दरबार में आने लगी। वह घोड़े पर सवार होकर रणक्षेत्र में जाने लगी और स्वयं सेना का संचालन करने लगी। यदि रजिया अपने योग्य तथा विश्वास-पात्र मन्त्रियों तथा सेनापतियों से यह कार्य कराती और स्वयं पर्दे की आड में रहती तो सम्भवतः उसका विरोध न होता। कट्टर-पंथी मुसलमान अमीर रजिया की इस निर्लज्जता तथा दुस्साहस को सहन न कर सके और उससे मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगे। रजिया की अलोक-प्रियता का चौथा तथा अन्तिम कारण यह था कि उसने याकूत नामक एक हब्शी गुलाम को अपना विशेष कृपा-पात्र बना लिया था। जब रजिया घोड़े पर सवार होने लगती थी, तो याकूत अपना कन्धा लगा देता था। इससे यह अपवाद फैला कि रजिया याकूत से प्रेम करती है। रजिया की इस चारित्रिक दुर्बलता ने अमीरों की क्रोधाग्नि को प्रज्वलित कर दिया और उन लोगों ने इस लज्जाहीन तथा चरित्रहीन नारी के शासन को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया।

रजिया के अवांछनीय कार्यों तथा दुर्बलताओं के कारण अमीरों में जो असंतोष फैला, उसका नेतृत्व इख्तियारुद्दीन एतगीन ने किया। लाहौर का शासक कबीर खाँ तथा भटिण्डा का शासक अल्तूनिया भी इस गुट में सम्मिलित हो गया। सबसे पहले लाहौर के शासक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। सूचना पाते ही रजिया ने लाहौर के लिये प्रस्थान कर दिया और विद्रोहियों को परास्त कर वहाँ पर शान्ति स्थापित कर ली। परन्तु ज्यों ही वह दिल्ली लौट कर आई कि भटिण्डा के शासक अल्तूनिया ने विद्रोह कर दिया। रजिया ने विद्रोहियों का दमन करने के लिये एक सेना के साथ प्रस्थान कर दिया। परन्तु इस बार वह परास्त हो गई और बन्दी बना ली गई। याकूत का विद्रोहियों ने वध कर दिया। अब विद्रोही अमीर दिल्ली की ओर बढ़े और रजिया के भाई बहराम को दिल्ली का सुल्तान बना दिया। रजिया अब बिल्कुल असहाय थी परन्तु उसने अपने सौन्दर्य से अल्तूनिया को मुग्ध कर लिया। फलतः वह बन्दी-गृह से मुक्त कर दी गई और अल्तूनिया ने उसके साथ अपना विवाह कर लिया। अब अल्तूनिया तथा रजिया की सेनाओं ने दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। परन्तु भाग्य ने उसका साथ न दिया। बहराम की सेना ने उन्हें परास्त कर दिया और वे अपने प्राणों की रक्षा के लिये जंगलों में भाग गये। वहाँ पर हिन्दू डाकुओं ने उनकी हत्या कर दी। इस इस प्रकार १२४० ई० में रजिया के रहस्य-पूर्ण जीवन का अन्त हो गया।

बहराम (१२४०-४२ ई०)—बहराम का शासन-काल अत्यन्त क्षणिक सिद्ध हुआ। सिंहासन पर बैठते ही अमीरों के साथ उसका संघर्ष आरम्भ हो गया, जिसके फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। इसी समय मुगलों ने भी पंजाब पर आक्रमण कर लाहौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बहराम अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा, परन्तु अमीरों ने बहराम की इस संकटापन्न स्थिति से पूरा लाभ उठाया और सेना की सहायता से बहराम को बन्दी बना लिया और उसका वध कर दिया। अब अमीरों ने उसके भाई अलाउद्दीन मसऊद को सिंहासन पर बिठा दिया।

अलाउद्दीन मसऊदशाह (१२४२-४६ ई०)—सिंहासन पर बैठते ही मसऊद शाह को बंगाल में तुगरिल बेग के विद्रोह का सामना करना पड़ा। यद्यपि बिहार में कुछ हिन्दू राजाओं से युद्ध करना पड़ा, परन्तु बंगाल का विद्रोह बिना किसी रक्तपात के शान्त कर दिया गया। मुगलों के आक्रमण का भी मसऊद ने सफलतापूर्वक सामना किया, परन्तु इसके बाद उसमें बड़ा परिवर्तन आ गया। वह विलासी हो गया और अमीरों के साथ दुर्व्यवहार करने लगा। इससे अमीरों ने उसके चाचा नासिरुद्दीन को बहराइच से बुला भेजा। १२४६ ई० में मसऊद सिंहासन से उतार दिया गया और उसके स्थान पर नासिरुद्दीन को सुल्तान बना दिया गया।

नासिरुद्दीन (१२४६-१२६६ ई०)—नासिरुद्दीन बड़ी ही धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वह शासन की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं देता था, जितना धर्म की सेवा करने में कहा जाता है कि वह अपना अधिकांश समय कुरान की नकल करने में व्यतीत किया करता था। परन्तु नासिरुद्दीन ने बीस वर्ष तक शासन किया। इस उथल-पुथल के समय में, जब चारों ओर षड्यन्त्र तथा कुचक्र चला करता था, एक सरल स्वभाव तथा धर्म-परायण व्यक्ति के लिए इतने दिन तक शासन करना सम्भव न था। वह ऐसा युग था, जब सिंहासन के लिए प्रतिद्वन्द्विता चला करती थी, अमीर लोग अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे और हिन्दू-राजा विद्रोह कर अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया करते थे। इन आन्तरिक संकटों के साथ-साथ पश्चिमोत्तर प्रदेशों में मुगलों के आक्रमण भी हुआ करते थे। इन सब आपत्तियों का सामना करने के लिए बड़े ही धीर, वीर तथा दृढ़-प्रतिज्ञ व्यक्ति की आवश्यकता थी। सौभाग्य से नासिरुद्दीन को इस प्रकार के व्यक्ति की अनन्य भक्ति तथा सेवाएँ प्राप्त हो गईं। वह व्यक्ति था गयासुद्दीन बलबन, जिसके जीवन का यहाँ पर संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

बलबन का संक्षिप्त परिचय—बलबन का जन्म एक इलबरी तुर्क कबीले में हुआ था। उसका पिता दस हजार कुटुम्बों का खान था। खान फारसी का शब्द है और तुर्किस्तान में इस शब्द का प्रयोग बादशाह के अर्थ में किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि बलबन का जन्म एक ऊँचे प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। परन्तु उस लूट-मार के समय में सुरक्षा की कोई व्यवस्था न थी और अच्छे-अच्छे घरों के लड़के भी गायब कर दिये जाते थे और गुलाम बनाकर बाजारों में बेच दिये जाते थे। बलबन की भी यही दशा हुई। वह मुगलों के हाथ पड़ गया और बगदाद में ख्वाजा

जमालुद्दीन के हाथ बेच दिया गया। बगदाद से वह दिल्ली लाया गया जहाँ पर इल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया और उसे भिश्ती का काम सौंप दिया। परन्तु थोड़े ही दिनों में बलबन ने अपनी योग्यता तथा गुणों से अपने स्वामी को मुग्ध कर लिया और चालीस अमीरों के दल में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया। इल्तुतमिश उसकी योग्यता से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी कन्या के साथ बलबन का विवाह कर दिया। इस प्रकार दिल्ली के राज-परिवार के साथ बलबन का रक्त-सम्बन्ध स्थापित हो गया।

धीरे-धीरे बलबन उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता गया। सुल्ताना रजिया के शासन-काल में वह 'अमीर शिकार' के पद पर नियुक्त कर दिया गया। बहरामशाह के शासन-काल में उसे पंजाब में गुड़गाँव की जागीर मिल गई जिसका उसने अति सुन्दर प्रबन्ध कर अपनी प्रशासकीय प्रतिभा का परिचय दिया। उसकी वीरता तथा साहस से प्रभावित होकर मुगलों के आक्रमणों से सीमान्त प्रदेश की रक्षा का भार उसी को सौंपा गया। जब १२४५ ई० में मुगलों ने पंजाब पर आक्रमण किया, तब बलबन ने सफलतापूर्वक उनका सामना कर उन्हें पंजाब से मार भगाया। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसका नाम 'उलुग-खान' रख दिया, जिसका अर्थ होता है 'शक्तिशाली-शासक'।

नासिरुद्दीन को सुल्तान बनाने में बलबन का बहुत बड़ा हाथ था। अतएव सिहासन पर बैठते ही उसने उसे अपना विश्वास-पात्र सेवक बना लिया। स्वयं धार्मिक कार्यों में संलग्न रहने के कारण सुल्तान ने राज्य का सारा भार बलबन को सौंप दिया। बलबन ने बीस वर्ष तक अनन्य भक्ति के साथ अपने स्वामी की सेवा की। उस षड्यन्त्र, कुचक्र तथा विश्वासघात के युग में भी, जब व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता था, बलबन की स्वामि भक्ति पर्वत की भाँति अटल रही।

नासिरुद्दीन का काल बड़े संकट का काल था। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता से लाभ उठा कर सभी लोग अपना सिर उठा रहे थे। दोआब के हिन्दुओं ने मुसलमान गवर्नरों को मार भगाया था और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। मेवाती लोग दिल्ली के आस-पास उपद्रव कर रहे थे और लूट-मार मचा रहे थे। मुगल लोग पंजाब पर आक्रमण कर रहे थे और खोखर लोग इन आक्रमणों से लाभ उठाकर उपद्रव कर रहे थे। राजपूत लोग राजपूताना में अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने में लगे थे। बलबन में इन सभी आपत्तियों का सामना करने की क्षमता थी। उसने मेवातियों के उपद्रवों को समाप्त कर दिया, पजाब में खोखरों को दबाया, मुगलों को मार भगाया और रणथम्भौर पर आक्रमण कर राजपूतों की प्रगति को रोका। १२४६ ई० में बलबन का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन की कन्या के साथ हो गया। इस प्रकार बलबन का सम्बन्ध दिल्ली के राज-वंश के साथ स्थापित हो गया और वह सुल्तान का अत्यधिक कृपा-पात्र बन गया।

बलबन ने बड़ी भक्ति तथा संलग्नता के साथ अपने स्वामी की सेवा करनी आरम्भ की। उसने कछवाहा राजपूतों पर आक्रमण कर दिया और ग्वालियर तथा चंदेरी के दुर्गों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने मालवा पर भी चढ़ाई

कर दी। जहाँ कहीं वह गया, वहाँ पर उसे सफलता ही मिली। बलबन की इन सफलताओं से दरबारी अमीर उससे ईर्ष्या करने लगे और उसके विरुद्ध सुल्तान के कान भरना आरम्भ कर दिया। सुल्तान इन चाटुकारों की बात में आ गया। उसने बलबन को पदच्युत कर दिया और उसे हाँसी की जागीर पर चले जाने की आज्ञा दे दी। यह बलबन की स्वामिभक्ति की परीक्षा का काल था। वह इसमें सफल रहा और उसकी स्वामिभक्ति पहले की तरह अटल रही। उसने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया और वह चुपचाप हाँसी चला गया।

बलबन को अपनी स्वामिभक्ति की दृढ़ता का बदला शीघ्र ही मिल गया। उसके दरबार छोड़ते ही सर्वत्र अनुशासनहीनता बढ़ गयी और सल्तनत पर आपत्तियों के बादल मँडराने लगे। मेवातियों ने फिर लूट-मार करना आरम्भ किया। दोआब में भी विद्रोह का विस्फोट आरम्भ हो गया और मुगल लोग भी भारत के द्वार को खटखटाने लगे। अतएव विवश होकर सुल्तान ने फिर अपने स्वामिभक्त सेवक को बुला भेजा। बलबन ने बिना संकोच के अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया। वह दिल्ली लौट आया और फिर राज्य का भार अपने ऊपर ले लिया। उसने अपने स्वामी के जीवन के अन्त तक अनन्य भक्ति के साथ उसकी सेवा की और सभी उपद्रवों को दबाकर सल्तनत को सुरक्षित रक्खा। १२६६ ई० में सुल्तान नासिरुद्दीन का परलोकवास हो गया। चूँकि सुल्तान के कोई सन्तान न थी अतएव वह बलबन को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गया था। फलतः १२६६ ई० में बलबन दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया।

बलबन का स्वतन्त्र शासन (१२६६-८६ ई०)— वास्तव में नासिरुद्दीन का शासन-काल बलबन का ही शासन-काल था, क्योंकि राज्य का शासन वास्तव में बलबन के ही हाथ में था। अतएव बलबन सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना चुका था। इससे सिंहासन पर बैठने के समय न उसे कोई कठिनाई हुई और न उसे किसी प्रतिद्वन्द्वी का ही सामना करना पड़ा। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सिंहासन पर बैठने के समय उसके सामने कोई समस्या या कठिनाई ही नहीं थी। वास्तव में उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं, जिनका निराकरण किये बिना सल्तनत में शान्ति तथा सुव्यवस्था का स्थापित होना सम्भव न था।

बलबन की कठिनाइयाँ—बलबन को अपने शासन-काल में निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ा :—

(१) **चालीस तुर्की गुलामों की समस्या**—बलबन के मार्ग में सबसे अधिक बाधक चालीस तुर्की गुलामों का दल था, जिसका संगठन इल्तुतमिश ने अपने शासन-काल में किया था। इन गुलामों में बड़े ही स्वामिभक्त सेवक उत्पन्न हुए, जिन्होंने दिल्ली सल्तनत की सेवा की और उसे सुदृढ़ बनाने में बड़ी सहायता पहुँचाई। गुलामों का यह दल अपनी सेवाओं के कारण दिल्ली-सल्तनत का प्रधान स्तम्भ बन गया। परन्तु कालान्तर में यह दल इतना अधिक शक्तिशाली बन गया कि वह सुल्तान-निर्माता बन गया और निर्बल सुल्तान इसके हाथ की कठपुतली बन गये। यह दल

इतना स्वार्थी तथा षड्यन्त्रकारी बन गया कि राज्य में शान्ति का रहना कठिन हो गया। राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों पर ये ही लोग नियुक्त किये जाते थे, जिससे राज्य की राजनीति में इनका बहुत बड़ा प्रभाव रहता था। आरम्भ में लोग योग्यता के आधार पर नियुक्त किये जाते थे, परन्तु बाद में उनका पद आनुवंशिक हो गया, जिससे अयोग्य व्यक्ति भी ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँचने लगे। सिंहासन पर बैठते ही बलबन ने चालीस तुर्की गुलामों के इस दल को नष्ट करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि वह इसे सल्तनत के लिए बड़ा घातक समझता था। उसने इस दल के बाहर से कुलीन तथा योग्य अमीरों को, जो उसके समर्थक तथा स्वामिभक्त थे, ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त करना आरम्भ किया। चालीस गुलामों के दलवालों ने अगर उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया अथवा कोई अपराध किया, तो उसने उन्हें बड़े कठोर दण्ड दिये। इस प्रकार उसने एक नये स्वामिभक्त तथा योग्य अमीरों के दल का सङ्गठन किया। जिसने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने में बड़ी सहायता की।

(२) **विद्रोहों के विस्फोट की समस्या**—बलबन की दूसरी कठिनाई यह थी कि विद्रोहों का विस्फोट बन्द नहीं हो रहा था और जब तक इन विद्रोहों का विस्फोट बन्द न हो जाता तब तक न राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था का स्थापित होना सम्भव था और न सल्तनत की नींव ही सुदृढ़ हो सकती थी। यह विद्रोह दो प्रकार के थे। पहला तो हिन्दुओं का था और दूसरा मुसलमान प्रान्तपतियों का। हिन्दुओं के विद्रोह निम्नांकित थे :—

(क) **मेवातियों का विद्रोह**—हिन्दुओं में मेवातियों के विद्रोह बड़े भयानक सिद्ध हो रहे थे। मेवाती लोग दिल्ली तक धावा मारते थे और लूट-मार करके भाग खड़े होते थे। बलबन ने इनका पीछा किया। उसने उन गाँवों तथा नगरों को जलवा दिया, जिनमें मेवाती लोग रहते थे और जिन जङ्गलों में ये लोग जाकर छिपते थे, उनको भी बलबन ने कटवा कर साफ करा दिया। इससे मेवातियों का उपद्रव सदैव के लिए शान्त हो गया।

(ख) **दोआब के हिन्दुओं का विद्रोह**—मेवातियों का दमन करने के उपरान्त बलबन ने दोआब के विद्रोहियों की ओर ध्यान दिया। सम्पन्न प्रदेश होने के कारण दोआब के निवासी प्रायः विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देते थे और दोआब के शासकों को तंग किया करते थे। बलबन ने इन उपद्रवकारियों को बड़ी कठोरतापूर्वक दण्ड दिया, जिससे उपद्रवकारी इतने भयभीत हो गये कि फिर उनको सिर उठाने का साहस न हुआ।

(ग) **कटेहर के हिन्दुओं का विद्रोह**—परन्तु सबसे भयानक विद्रोह जिसका सामना बलबन को करना पड़ा, वह रुहेलखण्ड में कटेहर के हिन्दुओं का था। इन विद्रोहों का दमन करने में बलबन ने बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया। उसने उपद्रवकारियों की बस्तियों को जलवा दिया, नौ वर्ष से अधिक अवस्था वाले लोगों को तलवार के घाट उतरवा दिया और स्त्रियों तथा बच्चों को बन्दी बना लिया। यदि बलबन ने उपद्रवकारियों का इतनी कठोरता तथा निर्दयता के साथ दमन न

किया होता तो वह अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल न हुआ होता।

हिन्दुओं के उपद्रव के साथ-साथ बलबन को मुसलमान प्रान्तपतियों के विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा। ये विद्रोह निम्नलिखित थे :—

(क) शेर खाँ सुन्कर का विद्रोह—बलबन का सबसे अधिक शक्तिशाली प्रांतपति शेर खाँ सुन्कर था, जो सीमान्त-प्रदेश का शासक था। मुगलों के आक्रमणों की आशंका के कारण सीमान्त-प्रदेश की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करनी आवश्यक थी और इसके लिए सीमान्त-प्रदेश के शासक का स्वामिभक्त तथा आज्ञापालक होना आवश्यक था। परन्तु शेर खाँ ने दिल्ली सल्तनत की उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी। दिल्ली बुलाये जाने पर भी वह न आया। बलबन इस अनुशासनहीनता को सहन न कर सका। उसने शेर खाँ को विष दिलवाकर मरवा डाला और उसके स्थान पर बङ्गाल के गवर्नर तातार खाँ को सीमान्त-प्रदेश का गवर्नर नियुक्त कर दिया और बङ्गाल में तातार खाँ के स्थान पर तुग़रिल बेग को गवर्नर नियुक्त कर दिया गया।

(ख) तुगरिल बेग का विद्रोह—तुगरिल की स्वामिभक्ति तथा उसकी सेवाओं के कारण ही बलबन ने उसे बङ्गाल का गवर्नर नियुक्त किया था, परन्तु बंगाल का गवर्नर बनते ही उसके विचार तथा व्यवहार बदल गये। वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा और अपने नाम की मुद्राएँ चलाने लगा। जब बलबन को इन सब बातों की सूचना मिली तो उसने अपने एक प्रांतपति की अधीनता में एक सेना तुगरिल को दण्ड देने के लिए भेजी, परन्तु वह परास्त हो गई। सुल्तान ने एक दूसरी सेना भेजी, परन्तु वह भी सफल न हो सकी। अब सुल्तान के क्रोध की सीमा न रही। उसने अपने पुत्र बुगरा खाँ को साथ लेकर एक विशाल सेना के साथ बगाल के लिए प्रस्थान कर दिया। तुगरिल को जब बलबन के आने की सूचना मिली, तब वह अपने परिवार तथा साथियों के साथ जंगलों में भाग गया। अतएव तुगरिल की राजधानी लखनौती पर बलबन का अधिकार स्थापित हो गया। परन्तु बलबन इतने से ही सन्तुष्ट न हुआ। वह विद्रोहियों को सबक सिखाना चाहता था। अतएव उसने तुगरिल की खोज आरम्भ की। वह पकड़ा गया और उसका सिर कटवाकर नदी में फेंकवा दिया गया। उसके सम्बन्धियों तथा साथियों का निर्दयतापूर्वक वध करवा दिया गया और उनकी खालें खिचवा कर लखनौती की सड़कों के दोनों किनारों पर पेड़ों पर लटकवा दी गईं, जिससे अन्य लोगों को चेतावनी मिल जाय। लखनौती में कई दिन तक मार-काट चलती रही। उसके बाद बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खाँ को बंगाल का गवर्नर नियुक्त कर दिया और उसे यह चेतावनी दी कि यदि उसने कभी विद्रोह की कल्पना भी की तो उसकी भी वही सजा होगी, जो तुगरिल बेग की हुई थी।

(३) मुगलों के आक्रमण की समस्या—बलबन की तीसरी और सबसे बड़ी समस्या मुगलों के आक्रमण को रोकने की थी। यद्यपि मुगलों के आक्रमण इल्तुतमिश

के शासन-काल से ही आरम्भ हो गये थे और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में निरन्तर पंजाब पर मुगलों के आक्रमण होते रहे; परन्तु अभी तक किसी सुल्तान ने मुगलों के आक्रमण से सल्तनत के पश्चिमोत्तर प्रदेश को सुरक्षित रखने के लिए निश्चित सीमा-नीति को निर्धारित नहीं किया था। बलबन दिल्ली का पहला सुल्तान था, जिसने पश्चिमोत्तर प्रदेश की सीमा की सुरक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और एक निश्चित सीमा-नीति को निर्धारित किया, जिसका अनुसरण आगे चलकर अन्य सुल्तानों तथा मुगल-सम्राटों ने किया। बलबन ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के दुर्गों की मरम्मत करायी और लाहौर के दुर्ग को मजबूत बनाने का उसने विशेष रूप से प्रयत्न किया। यद्यपि आरम्भ में किसी एक योग्य व्यक्ति को वह सीमा की सुरक्षा का भार सौंप देता था, परन्तु बाद में उसने सुरक्षा के लिए सीमान्त प्रदेश को तीन भागों में विभक्त कर दिया। एक की सुरक्षा का भार उसने तातार खाँ को, दूसरे का बुगरा खाँ को और तीसरे का शाहजादा मुहम्मद को सौंप दिया। इन सेनापतियों की अध्यक्षता में बड़ी ही सुसज्जित तथा रण-कुशल सेनाएँ रक्खी गईं। इसके अतिरिक्त एक सेना दिल्ली में रक्खी गई, जो सीमान्त-प्रदेश के लिए प्रस्थान करने को सदैव उद्यत रहती थी। मुगलों ने पंजाब के पश्चिमी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। बलबन ने उनको निकाल भगाने का प्रयत्न न किया, वरन् उसने केवल उन्हें आगे बढ़ने से रोका। मुगलों ने कई बार आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, परन्तु शाहजादा मुहम्मद ने उनके सभी प्रयत्नों को विफल बना दिया। शाहजादा मुहम्मद बड़ा ही वीर, साहसी, शिष्ट, सभ्य, साहित्य-प्रेमी तथा रूपवान राजकुमार था, जो सुल्तान की आँख की पुतली और उसकी भावी आशाओं का दीपक था। १२८५ ई० में मुगलों ने फिर आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। यद्यपि शाहजादा मुहम्मद ने उन्हें परास्त कर पीछे खदेड़ दिया, परन्तु उसे अपने प्राण खो देने पड़े। शाहजादे की मृत्यु से बलबन के वंश का दीपक बुझ गया और बलबन के शोकाकुल हृदय पर ऐसा प्रहार लगा कि इसके एक वर्ष बाद उसने भी सदैव के लिए अपनी आँखें बन्द कर लीं।

बलबन के राजत्व सिद्धान्त—बलबन दिल्ली-सल्तनत का पहला सुल्तान था, जिसने अपने शासन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों तथा आदर्शों पर आधारित किया। उसने अपने इन सिद्धान्तों तथा आदर्शों की शिक्षा अपने परम-प्रिय पुत्र शाहजादा मुहम्मद को दी थी जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु बलबन कोरा आदर्शवादी ही न था। जिन आदर्शों तथा सिद्धान्तों का उसने निश्चय किया उन्हें उसने क्रियात्मक रूप में प्रयोग भी किया।

(१) **राजा के दैवी अधिकारों में विश्वास**—बलबन का विश्वास था कि रसूल (ईश्वर) के बाद राजा का ही पद है। वह राजा के दैवी अधिकार में विश्वास करता था और राजा को इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था।

(२) **राज-पद की पवित्रता तथा गौरव में विश्वास**—अपनी इस धारणा के कारण वह राज-पद को अत्यन्त पवित्र तथा गौरव-पूर्ण समझता था और उसकी

प्रतिष्ठा की रक्षा करना वह राजा का प्रधान कर्त्तव्य समझता था। बलबन ने अपने इस आदर्श को अपने जीवन-काल में प्रयोग करके दिखा दिया। राज-पद ग्रहण करते ही वह बहुत गम्भीर रहने लगा। न वह किसी से हँसी-मजाक करता था और न लोगों से ज्यादा मिलता-जुलता था। वह बड़ी सज-धज के साथ दरबार करता था। न वह कभी दरबार में हँसता था और न उसके अमीर ही कभी हंसने का दुस्साहस करते थे। वह अपने अमीरों पर पूरा नियन्त्रण तथा अनुशासन रखता था। कोई भी अमीर बिना सुन्दर कपड़े पहने उसके दरबार में नहीं आ सकता था। उसका दरबार इतना अलंकृत रहता था कि वह सम्पूर्ण एशिया में अपनी शान-शौकत के लिए विख्यात था। बलबन निम्न-वर्ग के लोगों को अपने राज्य में कभी ऊँचे पद नहीं देता था। इतना ही नहीं, वह निम्न-वर्ग के लोगों से भेंट-उपहार भी स्वीकार नहीं करता था। कहा जाता है कि दिल्ली का एक व्यापारी, जो बड़ा ही सम्पन्न परन्तु अकुलीन था, लाखों की भेंट लेकर सुल्तान के दर्शन करना चाहता था, परन्तु उसके अकुलीन होने के कारण सुल्तान ने उससे भेंट करने से इन्कार कर दिया।

(३) स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन में विश्वास—राजा के दैवी अधिकार में विश्वास होने के कारण बलबन का स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन में भी विश्वास था। बलबन सुल्तान को केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी समझता था, किसी मानवी शक्ति के प्रति नहीं। परन्तु स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन का तात्पर्य यह न था कि सुल्तान के कुछ कर्त्तव्य नहीं हैं, वरन् बलबन का यह विश्वास था, कि राजा को बड़ा ही कर्त्तव्य-परायण तथा सतर्क होना चाहिये। उसकी दृष्टि शासन के कोने-कोने पर रहनी चाहिये और उसे दिन-रात राज्य के कार्यों के करने में संलग्न रहना चाहिये।

सिंहासन पर बैठते ही बलबन ने अपने इस आदर्श को कार्यान्वित करना आरम्भ कर दिया। उसने चालीस तुर्की-अमीरों के गुट को भग करके और अपने प्रान्तपतियों तथा अन्य अफसरों पर नियन्त्रण रख कर अपना स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन स्थापित किया। वह बड़ा ही कर्त्तव्य-परायण सुल्तान था और अपने शत्रुओं तथा विरोधियों से वह सदैव सतर्क रहता था। यही कारण था कि वह अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने में सफल हो सका।

(४) शत्रुओं के साथ अनुदार नीति का अनुसरण—बलबन का अन्तिम सिद्धांत यह था कि सुल्तान को अपने शत्रुओं का दमन करने में उदारता न दिखलानी चाहिये वरन् उसे बड़ा क्रूर तथा कठोर होना चाहिये। उस युग में, जो षड्यन्त्रों तथा कुचक्रों का युग था, उदारता तथा सौजन्यता के लिये कोई स्थान न था। शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के लिये क्रूर बन जाना आवश्यक था।

बलबन ने अपने इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिये रक्त तथा लौह की नीति का अनुसरण किया। वह विद्रोही हिन्दुओं, कुचक्री तथा विद्रोही प्रान्तपतियों तथा चोरों और डाकुओं के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार करता था। कटेहर के

हिन्दुओं तथा बङ्गाल के विद्रोही प्रान्तपति तुगरिल बेग और उसके साथियों का जिस क्रूरता तथा निर्दयता के साथ उसने हत्याकाण्ड कराया, वह उसकी रक्त तथा लौह की नीति के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

बलबन का शासन-प्रबन्ध—बलबन का उद्देश्य सल्तनत का विस्तार करना न था, वरन् वह सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन की स्थापना कर अपने राज्य में शान्ति स्थापित करना चाहता था, जिससे उसकी जड़ मजबूत हो जाय और उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाय। इसी से बलबन ने अपना सम्पूर्ण जीवन विद्रोहों के दमन करने तथा मुगलों के आक्रमणों को रोकने में लगा दिया।

(१) उलेमा लोगों के प्रभाव की समाप्ति—बलबन ने शासन के क्षेत्र में पहला प्रशंसनीय तथा मौलिक कार्य यह किया कि उसने उलेमा लोगों के प्रभाव को शासन से समाप्त कर दिया। इस समय के उलेमा लोग स्वार्थी तथा कुचक्री हो गये थे और वे निरन्तर षड्यन्त्र रचा करते थे। अतएव बलबन ने शासन के मामले में उनका परामर्श लेना बन्द कर दिया। उलेमा लोगों को राजनीति से अलग कर बलबन ने धर्म-निरपेक्ष अथवा धर्म-अप्रभावित राज्य की नींव डाली, जिसका अनुसरण आगे चलकर अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह, अकबर आदि महान् शासकों ने किया। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बलबन उलेमा लोगों का आदर नहीं करता था, अथवा उसमें धार्मिक-सहिष्णुता थी। वास्तव में बलबन उलेमा लोगों का बड़ा आदर करता था और जब तक कम से कम एक दर्जन उलेमा उसके पास नहीं रहते थे, तब तक वह भोजन नहीं करता था, परन्तु वह अपने शासन को उलेमा लोगों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था और वह स्वयं अपना परामर्शदाता बनना चाहता था। बलबन में धार्मिक सहिष्णुता भी न थी, क्योंकि हिन्दुओं के साथ वह बड़ी कठोरता का व्यवहार करता था। अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह अपनी इच्छानुसार शासन करना चाहता था।

(२) केन्द्रीभूत, स्वेच्छाचारी, निरंकुश शासन—बलबन का शासन केन्द्रीभूत, स्वेच्छाचारी, निरंकुश शासन था। वह राज्य की सारी शक्ति अपने हाथ में रखता था और राज्य के सभी कर्मचारियों पर अपना पूरा नियन्त्रण रखता था। शासन का कोई ऐसा कोना न था, जिस पर उसकी दृष्टि न रहती थी। वह अपने अफसरों अथवा अपने पुत्रों पर कोई बात नहीं छोड़ता था, वरन् स्वयं भी उसका निरीक्षण किया करता था और प्रत्येक कार्य में सुल्तान की आज्ञा तथा स्वीकृति आवश्यक होती थी।

(३) गुप्तचर विभाग की व्यवस्था—अपने कर्मचारियों तथा अपनी प्रजा पर अपना पूरा नियन्त्रण रखने तथा उसके षड्यन्त्रों और कुचक्रों का पता लगाने के लिये बलबन ने एक बड़े ही कुशल गुप्तचर-विभाग का संगठन किया था। अपने गुप्तचरों की सहायता से वह अपराधों का पता लगा लेता था और अपराधी का पता लग जाने पर वह अपराधियों को बड़े कठोर दण्ड दिया करता था। कठोर दण्ड देने में बलबन का एक यह भी ध्येय था कि अन्य लोगों को चेतावनी मिल जाय, जिससे लोग उद्दण्डता

करने का दुस्साहस भविष्य में न करें और अपराधों की संख्या कम हो जाय।

(४) **निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था**—बलबन का न्याय बड़ा ही निष्पक्ष होता था और दण्ड देने में वह किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता था। अपने अफसरों को भी कठोर दण्ड देने में वह लेश-मात्र संकोच नहीं करता था। कहा जाता है कि एक बार बदायूँ के गवर्नर बारबक ने अपने एक सेवक को इतना पिटवाया कि उसकी मृत्यु हो गई। जब बलबन को इसकी सूचना मिली, तब उसने सबके सामने उस गवर्नर को कोड़े लगवाये। इसी प्रकार के अपराध के लिए सुल्तान ने अवध के गवर्नर हैबत खाँ को भी सैकड़ों कोड़े लगवाये थे। इन कठोर दण्डों का परिणाम यह हुआ कि बलबन अपने राज्य में शान्ति रख सका और उसकी प्रजा सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकी।

(५) **नैतिकता का प्रचार**—उसने अपनी प्रजा को सुख तथा शान्ति देने के साथ-साथ उनके नैतिक-स्तर को उठाने का भी प्रयत्न किया। उसने स्वयं मदिरा का सेवन बन्द कर दिया और बाजारों में मदिरा के क्रय-विक्रय का निषेध कर दिया। सुल्तान के इस उच्च-आदर्श का उसकी प्रजा पर निश्चित रूप से बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा होगा। भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार का दमन करके भी बलबन ने अपनी प्रजा के नैतिक-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया था।

(६) **साहित्य तथा कला की उन्नति**—बलबन साहित्य तथा कला का प्रेमी था। जगत्-विख्यात फारसी के कवि अमीर खुसरो को शाहजादा मुहम्मद का आश्रय तथा अनुराग प्राप्त था। मध्य एशिया से जो विद्वान तथा कलाकार मुगलों से भयभीत होकर भारत आते थे, उन्हें बलबन के दरबार में आश्रय मिलता था।

(७) **समुचित सैन्य-संगठन**—यद्यपि बलबन का उद्देश्य राज्य-विस्तार न था, परन्तु अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखने तथा मुगलों के आक्रमणों का सफलता-पूर्वक सामना करने के लिए उसे एक सुसज्जित तथा रण-कुशल सेना की व्यवस्था करनी पड़ी थी और सैन्य-विभाग में आवश्यक सुधार करने पड़े थे। बलबन के पूर्व सैनिकों को जागीरें दी जाती थीं। बलबन ने जागीरों के स्थान पर नकद वेतन देने की प्रथा आरम्भ की, परन्तु जागीर-प्रथा को वह पूर्णरूप से समाप्त न कर सका। सैनिक की भर्ती वह स्वयं योग्यता के आधार पर किया करता था और अपने सेनापतियों पर वह अपना पूरा नियन्त्रण रखता था। इस प्रकार बलबन ने एक अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की स्थापना की, जो भावी शासकों के लिए अनुकरणीय बन गई।

बलबन के कार्यों का मूल्यांकन—बलबन की गणना न केवल दास-वंश के वरन् दिल्ली सल्तनत के योग्य तथा सफल शासकों में होती है। बलबन के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है,[1] "बलबन का चालीस वर्षों का

---

[1] "Balban's career, full of strenuous activity, extending over a period of forty years, is unique in the annals of medieval*

क्रियाशील जीवन मध्य-कालीन भारत के इतिहास में अनूठा है। उसने राज-पद के गौरव को बढ़ाया और लौह तथा रक्त की नीति का अनुसरण कर शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की।'' भिश्ती के निम्न पद से सुल्तान के पद पर पहुँच जाना उसकी विलक्षण योग्यता तथा अलौकिक प्रतिभा का परिचय देता है। जिस अटल स्वामिभक्ति के साथ उसने सुल्तान नासिरुद्दीन की सेवा की वह उस षड्यन्त्र थता कुचक्र के युग में, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा था, सम्भव न था। यदि बलबन जैसा योग्य, कुशल तथा स्वामिभक्त मन्त्री नासिरुद्दीन को न मिला होता तो सल्तनत को सुदृढ़ तथा सुसंगठित रखना सम्भव न हुआ होता।

दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के बाद बलबन ने केवल तीन ध्येय अपने सामने रक्खे और तीनों में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। उसका पहला ध्येय सल्तनत को सुदृढ़ तथा सुसंगठित बना कर अपने राज्य में शान्ति स्थापित करना था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने गुप्तचर-विभाग का संगठन किया और विद्रोह तथा उपद्रव करने वालों को कठोर दण्ड देकर सर्वत्र शान्ति स्थापित कर दी।

उसका दूसरा ध्येय सुल्तान के पद को प्रतिष्ठित बनाना था। अपने शासन को ऊँचे सिद्धान्तों तथा आदर्शों पर आधारित कर, तथा उन्हें व्यवहार में लाकर कुलीनों तथा उलेमा लोगों की संगति में रह कर मद्य-पान त्याग कर हँसी-मजाक से दूर रह कर और गम्भीरता धारण कर, अपने दरबार को गौरव-पूर्ण बना कर तथा खलीफा से 'सुल्तान-ए-हिन्द' की उपाधि प्राप्त कर उसने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा तथा गौरव में वृद्धि की।

बलबन का तीसरा लक्ष्य मुगलों के आक्रमणों से सल्तनत की रक्षा करना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पश्चिमोत्तर प्रदेशों का दुर्गीकरण किया, योग्य सेनापतियों की अध्यक्षता में सुसज्जित तथा रण-कुशल सेनाएं रक्खीं। वह मुगलों की प्रगति को रोकने में पूर्ण-रूप से सफल रहा। सम्भवतः पश्चिमोत्तर प्रदेश की रक्षा में व्यस्त रहने के कारण ही वह दक्षिण की ओर सल्तनत का विस्तार न कर सका।

कैकुबाद (१२८७-९० ई०)—बलबन की मृत्यु के बाद बुगरा खाँ के पुत्र कैकुबाद को, जिसकी अवस्था उस समय केवल सत्रह वर्ष की थी, अमीरों ने सिंहासन पर बैठा दिया। वह बड़ा ही विलासी तथा निकम्मा निकला। वह मद्य-पान तथा दुर्व्यसनों में व्यस्त रहने लगा और राज्य के कार्यों की उपेक्षा करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि खिलजी-मलिकों ने जलालुद्दीन खिलजी के नेतृत्व में षड्यन्त्र रचकर कैकुबाद का वध कर दिया और जलालुद्दीन स्वयं दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार दिल्ली में एक नये राज-वंश का शासन आरम्भ हुआ, जो खिलजी, वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

•India. He enhanced the dignity of the kingly office, and eastablished peace and order by a policy of blood and iron.''

—Dr. Ishwari Prasad.

गुलाम-वंश का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान कौन ?—गुलाम-वंश में केवल तीन महान् शासक हुए, अर्थात् कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन। इस वंश के शेष सभी शासक नगण्य तथा गौरवहीन थे। ये तीनों शासक बड़े ही योग्य तथा प्रतिभावान व्यक्ति थे और अपनी योग्यता तथा गुणों के कारण ही, गुलाम के निम्न-पद से सुल्तान के ऊंचे पद पर पहुँचे थे। इन तीनों ही सुल्तानों ने अपने-अपने राज-वंशों की स्थापना की थी, और विभिन्न रूपों से सल्तनत की सेवा की थी। ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की स्थापना की थी, इल्तुतमिश ने अत्यन्त संकट-काल में उसकी सुरक्षा की थी और उसमें वृद्धि भी की थी और बलबन ने उसे सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करके सुदृढ़ बनाया था और उसकी जड़ को मजबूत किया था। ऐबक के विषय में कहा जा सकता है कि उसने केवल अपने ही बाहु-बल से सल्तनत की स्थापना नहीं की थी वरन् उसे अपने स्वामी मुहम्मद गोरी की भी सहायता प्राप्त थी। अपने स्वामी के मरने के बाद वह न कोई महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त कर सका और न अपने शासन को ही सुव्यवस्थित कर सका। अतएव उसे गुलाम-वंश का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान कहना उचित न होगा। इल्तुतमिश ने ऐसे संकट-काल में सल्तनत की रक्षा की थी, जब आरामशाह के निर्बल तथा निकम्मे शासन के कारण सल्तनत की नींव हिल रही थी। उसने न केवल सल्तनत की रक्षा की वरन् विजय-यात्राएँ कर उसकी सीमा को भी बढ़ाया। इल्तुतमिश की सेवाएँ यहीं समाप्त हो जाती हैं। बलबन की सेवाएँ इससे कहीं अधिक थीं। विजय का कार्य ऐबक तथा इल्तुतमिश कर चुके थे। अब उसमें और अधिक वृद्धि का प्रयत्न करना खतरे से खाली न था। उस समय सबसे बड़ी आवश्यकता उस विजय को संगठित करने की थी। बलबन ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की। उसने विद्रोहों का दमन कर और मुगलों के आक्रमणों को रोक कर सल्तनत की नींव को मजबूत किया जो आगे चलकर अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल में पुष्पित तथा फलवती हुई। बलबन की सेवाओं का यहीं अन्त नहीं होता। उसने राज्य में नये-नये सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रयोग किया, जो भावी शासकों के लिये अनुकरणीय बन गये। उसकी सीमा-नीति, धर्म-निरपेक्ष शासन की स्थापना, उसका गुप्तचर-विभाग, उसका अमीरों पर कड़ा नियन्त्रण, सभी अलाउद्दीन खिलजी के शासन की आधार-शिला बन गये। उसने अपनी गम्भीरता, अपने उन्नत नैतिक स्तर, अपनी धर्म-निष्ठा कर्त्तव्य-परायणता से सुल्तान के पद को प्रतिष्ठित तथा गौरवान्वित बना दिया। जो शान-शौकत उसके दरबार की थी, वह अन्य किसी गुलाम-वंश के शासक की न थी। अतएव बलबन को ही गुलाम-वंश का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान मानना चाहिए।

अध्याय २९

खिलजी-वंश

(१२९०-१३२१ ई०)

"The clan of Khiljis, named after the Afghan village of Khalj, though probably of Turkish origin, had become Afghan in character and between them and the Turks there was no love lost."

—Lane-Poole.

खिलजी कौन थे ?—खिलजी 'खलज' शब्द से बना है। खलज अफगानिस्तान में एक गाँव का नाम था। इस गाँव के निवासी खिलजी कहलाने लगे। खिलजी लोग वास्तव में तुर्क थे, परन्तु बहुत दिनों से अफगानिस्तान में रहने के कारण यह लोग अफगान या पठान समझे जाने लगे थे। इनके आचार-व्यवहार भी तुर्कों से कुछ भिन्न हो गये थे। इससे तुर्क लोग इन्हें तुच्छ समझते थे और इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। खिलजी लोग बड़े ही सजीले सैनिक होते थे। यह लोग भारत चले आये थे और बहुत बड़ी संख्या में दिल्ली सल्तनत की सेना में भर्ती हो गये। धीरे-धीरे इनका प्रभाव बढ़ने लगा और दरबार में इनका एक प्रबल दल बन गया। कैकुबाद के शासन-काल में इन लोगों ने जलालुद्दीन खिलजी के नेतृत्व में षड्यन्त्र रच कर कैकुबाद का वध कर दिया और नये राज-वंश की स्थापना की, जो खिलजी-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जलालुद्दीन खिलजी इस वंश का प्रथम शासक था।

जलालुद्दीन खिलजी (१२९०-९५ ई०)—सिंहासन पर बैठने के समय जलालुद्दीन की अवस्था ८० वर्ष की थी। वह बड़ा ही उदार तथा दयालु प्रकृति का व्यक्ति था। उसने बलबन की रक्त तथा लौह की नीति को त्याग दिया और उदारता की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। उसने बलबन के भतीजे मलिक छज्जू को, जो कड़ा का शासक था, विद्रोह करने पर भी क्षमा कर दिया। इतना ही नहीं, जब डाकू और ठग पकड़ कर उसके सामने लाये गये, तो उसने उन्हें उपदेश देकर बंगाल भेज दिया। यदि उसने दण्ड दिया, तो केवल एक फकीर को, जिसका नाम सीदी मौला था जिस दिन इस फकीर को दण्ड दिया गया, उस दिन बड़े जोरों की आँधी आयी और उस वर्ष पानी न बरसने से अकाल पड़ गया। सम्भवतः उस फकीर को दण्ड देने से ही ऐसा हुआ था।

जलालुद्दीन की विदेशी नीति भी उतनी ही दुर्बल थी, जितनी उसकी गृह-नीति। उसने रणथम्भौर के दुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु जब उसे वह न ले सका,

तब यह कह कर अपने को सन्तुष्ट किया कि वह मुसलमानों का हत्याकाण्ड नहीं चाहता था और उसके लिए मुसलमानों का एक-एक बाल सैकड़ों दुर्गों से अधिक मूल्यवान् था। मुगलों के साथ भी सुल्तान ने बड़ी दुर्बल नीति का अनुसरण किया। यद्यपि मुगलों को दिल्ली की सेना ने परास्त कर दिया, परन्तु सुल्तान ने उन्हें दिल्ली के निकट बस जाने की आज्ञा दे दी। मुगलों की यह बस्ती 'मुगलपुरा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन मुगलों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और नव-मुस्लिम कहलाने लगे। मुगलों का दिल्ली के निकट बस जाना सल्तनत के लिए खतरे से खाली न था। इतना ही नहीं, सुल्तान ने अपनी कन्या का विवाह भी मुगल सरदार के साथ कर दिया। इससे सल्तनत की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा धक्का लगा।

जलालुद्दीन जैसे उदार तथा अदूरदर्शी शासक की उस युग में आवश्यकता न थी। न वह सल्तनत को सुरक्षित रख सकता था और न उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकता था। अतएव थोड़े ही दिन बाद वह बड़ा अलोकप्रिय बन गया। उसके दामाद तथा भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने, जब वह उससे कड़ा में मिलने गया, तब उसका वध करवा दिया। अलाउद्दीन देवगिरि के राजा रामचन्द्र को परास्त कर वहाँ से अपार सम्पत्ति लेकर आया था। जलालुद्दीन उससे मिलने के लिए कड़ा गया। जब सुल्तान उससे मिलकर लौटा, तब अलाउद्दीन के एक आदमी ने उसके सिर को उसके धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार इस निकम्मे तथा मूर्ख सुल्तान का अन्त हो गया और उसके स्थान पर अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का सुल्तान बन गया।

अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०)—जलालुद्दीन की हत्या करवाने के उपरान्त अलाउद्दीन ने कड़ा से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। जलालुद्दीन की हत्या से अलाउद्दीन बड़ा ही अलोकप्रिय बन गया, क्योंकि यह बड़े विश्वासघात का कार्य था। जलालुद्दीन ने अलाउद्दीन पर सदैव बड़ा ही स्नेह रक्खा था और उसके साथ सदैव उदारता का व्यवहार किया था। उसने उसे कड़ा तथा अवध का सूबेदार बना दिया था और उसकी देवगिरि की विजय पर अपना हर्ष प्रकट करने के लिए वह बिना अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था किये स्वयं उससे मिलने के लिए कड़ा गया था। अलाउद्दीन ने इस उदार तथा सरल हृदय वाले सुल्तान की जिस प्रकार हत्या करवायी, वह बड़ा ही घृणित कार्य था और इससे अलाउद्दीन अनेक व्यक्तियों का कोपभाजन बन गया। अलाउद्दीन ने अपनी इस अलोकप्रियता को दूर करने के लिए देवगिरि से लायी हुई लूट की अपार सम्पत्ति को अपने अमीरों तथा सैनिकों में बाँटना आरम्भ किया। कहा जाता है कि उसने मार्ग में स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा कर दी। वह जहाँ कहीं रुकता था, वहीं पर मुक्त-हस्त होकर धन बाँटता था। इस प्रकार धन के बल से अलाउद्दीन ने लोगों के हृदय पर विजय प्राप्त कर ली और वे अपने पुराने स्वामी की हत्या का विस्मरण कर गये। दिल्ली के सिंहासन पर बैठने में अलाउद्दीन को कोई कठिनाई न हुई।

सिंहासन पर बैठने के उपरान्त अलाउद्दीन खिलजी ने पहला काम यह किया कि उसने अपने समर्थकों तथा सहायकों को राज्य में ऊंचे-ऊँचे पद दे दिये और जिन

पदाधिकारियों पर उसे सन्देह था, उन्हें उसने निकाल बाहर किया। उसका दूसरा काम यह था कि उसने जलालुद्दीन खिलजी के दोनों पुत्रों को बन्दी बनाकर उनकी आँखें निकलवा लीं और इन राजकुमारों की माँ को नजरबन्द करवा दिया। इसके बाद उसने जलाली अमीरों अर्थात् उन अमीरों का दमन आरम्भ किया, जो जलालुद्दीन के स्वामिभक्त थे। कुछ बन्दी-गृह में डाल दिये गये, कुछ की आँखें निकलवा ली गयीं और कुछ की हत्या करवा दी गयी। इस प्रकार दिल्ली में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लेने के उपरान्त उसने अपने उद्देश्यों को निश्चित करने तथा उनकी पूर्ति की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया।

अलाउद्दीन खिलजी के उद्देश्य तथा उनकी पूर्ति—अलाउद्दीन बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और उसकी सफलताओं ने उसकी अकांक्षाओं को और अधिक तीव्र बना दिया। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसके पास साधन भी थे। उसके पास एक विशाल सेना तथा बहुत बड़ा राज-कोष था। इसके अतिरिक्त उसे उलुग खाँ, जफर खाँ, नसरत खाँ, तथा अल्प खाँ जैसे वीर, साहसी तथा विलक्षण प्रतिभा के सेनापतियों की सेवाएँ प्राप्त थीं। फलत: उसने सिंहासन पर बैठने के उपरान्त अपने दो प्रधान उद्देश्य निर्धारित किये। उसका पहला उद्देश्य था, एक नये धर्म की स्थापना करना और एक दूमरा उद्देश्य था विश्व-विजय करना। पैगम्बर मुहम्मद की भाँति एक नये धर्म का प्रचार कर और सिकन्दर महान् की भाँति विश्व-विजय कर वह अपने नाम को अमर बनाना चाहता था। यद्यपि अलाउद्दीन बड़ा ही स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासक था, उसके चरित्र की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह किसी कार्य को करने के पूर्व अपने मित्रों तथा शुभ-चिन्तकों से परामर्श ले लिया करता था। अपने उद्देश्य को निश्चित करने के उपरान्त उसने अपने स्वामिभक्त काजी अला-उल-मुल्क का परामर्श लिया। दूरदर्शी काजी ने वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा कि नबी बनना अथवा नये धर्म का प्रचार करना राजाओं का काम नहीं है। यह काम पैगम्बरों का होता है, जो इसी काम के लिए ईश्वर द्वारा भेजे जाते हैं। विश्व-विजय के सम्बन्ध में काजी ने सुल्तान को परामर्श दिया कि अभी भारत में ही अनेक राजा ऐसे हैं, जो पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र हैं और सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न होने के कारण निरन्तर मुगलों के आक्रमण होते रहते हैं। अतएव विश्व-विजय की कल्पना करना भी परिस्थितियों के अनुकूल न था। काजी की ये दोनों बातें सुल्तान को बहुत पसन्द आयीं और उसने नये धर्म का प्रचार करने तथा विश्व-विजय की कामना को बिल्कुल त्याग दिया।

काजी के परामर्श के उपरान्त अलाउद्दीन खिलजी ने अपने दो प्रधान लक्ष्य बनाये, अर्थात् अपने राज्य का विस्तार कर सम्पूर्ण भारत में अपनी प्रभुत्व-शक्ति को स्थापित करना और सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर मुगलों के आक्रमण को रोकना। परन्तु इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनी रहे और सुल्तान के पास सुसज्जित तथा सुशि-

क्षित विशाल सेना हो। देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए विद्रोहों का दमन आवश्यक था और ऐसी व्यवस्था करनी थी, जिससे भविष्य में फिर कभी विद्रोहों का विस्फोट न हो। विशाल सेना का सङ्गठन करने के लिए धन की आवश्यकता थी और आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य को घटाना आवश्यक था, जिससे कम वेतन में ही सैनिक लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य को घटाने के लिए बाजारों में क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखना आवश्यक था।

अतएव अलाउद्दीन खिलजी के उद्देश्यों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं। उसका पहला उद्देश्य था देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करना। उसका दूसरा उद्देश्य था सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर मुगलों के आक्रमण को रोकना। उसका तीसरा लक्ष्य था विजय-यात्राएँ कर सम्पूर्ण भारत में अपनी विजय-पताका फहराना। उसका चौथा लक्ष्य था एक अत्यन्त सुसज्जित तथा सुशिक्षित सेना का संगठन करना। उसका पाँचवाँ उद्देश्य था आर्थिक तथा शासकीय व्यवस्था में अन्य प्रकार के आवश्यक सुधार करना, जिससे उसके अन्य उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। अब सुल्तान के इन उद्देश्यों की विस्तृत विवेचना कर यह बतला देना आवश्यक है कि वह अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने में कहाँ तक सफल हुआ।

शान्ति की स्थापना—अलाउद्दीन ने हत्या तथा विश्वासघात द्वारा दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया था। अतएव वह सदैव सशंकित रहता था और उसे विद्रोहों का भय लगा रहता था। उसे अपने राज्य में होने वाले विद्रोहों का न केवल दमन करना था वरन् इन विद्रोहों के कारणों का अन्वेषण कर उसे ऐसी व्यवस्था करनी थी, जिससे भविष्य में विद्रोहों का विस्फोट न हो।

विद्रोहों का दमन करने के लिए अलाउद्दीन खिलजी ने बलबन की कठोर नीति का अनुसरण किया। उसने विद्रोहियों, उनके साथियों तथा सम्बन्धियों की बड़ी क्रूरता के साथ हत्या करवायी और उनकी सम्पत्ति छीन ली। इसका परिणाम यह हुआ कि सुल्तान का आतंक सर्वत्र छा गया और विद्रोह करने का दुस्साहस बहुत कम लोगों को होता था, फिर भी सुल्तान को तीन-चार भीषण विद्रोहों का दमन करना पड़ा। पहला विद्रोह नव-मुसलमानों का था। जो मुगल जलालुद्दीन खिलजी के शासन-काल में भारत में बस गये थे, वे नव-मुस्लिम कहलाते थे। ये लोग भारत में बस जाने और सुल्तान की सेना में भर्ती हो जाने पर भी सदैव षड्यन्त्र रचा करते थे और कुचक्र चलाया करते थे। यहाँ तक कि इन लोगों ने सुल्तान के प्राण तक लेने का षड्यन्त्र रचा। जब सुल्तान को इसकी सूचना मिली तब उसने दिल्ली में निवास करने वाले नव-मुसलमानों की हत्या की आज्ञा दे दी। कहा जाता है कि इस आज्ञा के पाते ही तीन हजार नव-मुसलमान तलवार के घाट उतार दिये गये और उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी। इसके बाद फिर कभी दिल्ली की शान्ति भंग न हुई।

दूसरा विद्रोह अकत खाँ का था, जो सुल्तान का भतीजा था। जिस समय

सुल्तान रणथम्भौर का घेरा डालने के लिए जा रहा था, उस समय मार्ग में जब सुल्तान अपने शिविर में विश्राम कर रहा था, तब अकत खाँ ने सैनिकों के साथ उस पर आक्रमण कर दिया और उसे घायल कर दिया। परन्तु उसके प्राण बच गये। स्वस्थ होते ही सुल्तान ने अकत खाँ तथा उसके साथियों को पकड़वा कर बड़ी क्रूरता के साथ उनका वध करवा दिया।

तीसरा विद्रोह अमीर उमर तथा मंगू खाँ का था। यह दोनों ही सुल्तान के भानजे थे। जिन दिनों सुल्तान रणथम्भौर का घेरा डाले था, उन्हीं दिनों इन लोगों ने बदायूँ तथा अवध में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। परन्तु ये विद्रोह बड़ी क्रूरता के साथ दबा दिये गये। अमीर उमर तथा मंगू खाँ को कारागार में डाल दिया गया और उनकी आँखें निकलवा ली गयीं।

चौथा विद्रोह हाजी मौला का था, जो सुल्तान का एक असंतुष्ट अफसर था। काजी अला-उल-मुल्क की मृत्यु के उपरान्त वह दिल्ली का कोतवाल बनना चाहता था, परन्तु सुल्तान ने एक दूसरे व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त कर दिया। इससे हाजी मौला को बड़ी निराशा हुई और जिन दिनों सुल्तान रणथम्भौर का घेरा चला रहा था और बड़ी ही संकटापन्न स्थिति में था, उन्हीं दिनों उसने राजधानी में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने कोतवाल की हत्या कर दी और राज-कोष पर अधिकार स्थापित कर लिया। जब सुल्तान को इसकी सूचना मिली, तब उसने उलुग खाँ को इस विद्रोह को शान्त करने के लिए दिल्ली भेज दिया। परन्तु इसके दिल्ली पहुँचने के पहले ही सुल्तान के एक दूसरे राज-भक्त अफसर ने हाजी मौला को परास्त कर दिया और उसका तथा उसके साथियों तथा सम्बन्धियों का बड़ी नृशंसता पूर्वक वध करवा दिया।

यद्यपि सुल्तान ने सभी विद्रोहों का सफलतापूर्वक दमन कर दिया, परन्तु वह विद्रोहों के कारणों का पता लगाकर ऐसी व्यवस्था कर देना चाहता था, जिससे भविष्य में विद्रोहों का विस्फोट न हो और उसके राज्य में स्थायी शान्ति स्थापित हो सके। अपने अनुभवी तथा दूरदर्शी परामर्शदाताओं की सलाह लेने के उपरान्त सुल्तान इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विद्रोहों के पाँच प्रधान कारण होते हैं, अर्थात गुप्तचर विभाग की अयोग्यता, मद्य-पान, अमीरों की सामाजिक गोष्ठियाँ तथा उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध, लोगों के पास धन का बाहुल्य और सुल्तान तथा जनता में प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव। अब इन पाँचों की विस्तृत विवेचना कर देना आवश्यक है।

सुल्तान ने इस बात का अनुभव किया कि उसका गुप्तचर-विभाग ठीक से काम नहीं कर रहा है और इसी से अपने राज्य में होने वाले षड्यन्त्रों तथा कुचक्रों का उसे पहले से पता नहीं लग पाता। अतएव उसने गुप्तचर-विभाग का फिर से संगठन किया। उसने बड़े ही कुशल तथा योग्य व्यक्तियों को इस विभाग में नियुक्त किया और गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछा दिया कि अमीरों तथा अफसरों के घरों, सरकारी कार्यालयों, नगरों तथा गाँवों में, सभी जगह उसके गुप्तचर विद्यमान रहते थे। इससे

सुल्तान को अपने राज्य के कोने-कोने की बातों की सूचनाएँ गुप्त-रूप से मिला करती थीं और लोग इतना आतंकित रहते थे कि किसी को षड्यन्त्र रचने का दुस्साहस नहीं होता था और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी।

मद्यपान को भी सुल्तान विद्रोहों का कारण समझने लगा। उसकी यह धारणा बन गयी कि जब अमीर लोग शराब पीते हैं, तब वे एकत्र होते हैं और शराब पीने के बाद जब वे नशे में चूर हो जाते हैं, तब वे अनाप-शनाप बातें बकते और षड्यन्त्र तथा विद्रोह की बातें करते हैं। अपनी इसी धारणा के कारण सुल्तान ने मद्य पान का निषेध कर दिया। उसने स्वयं शराब पीना छोड़ दिया और अपने शराब पीने के मूल्यवान बर्तन तुड़वा दिये। उसने आज्ञा दे दी कि दिल्ली में जितनी शराब है, वह सब सड़कों पर फिकवा दी जाय। सुल्तान की आज्ञा का पालन किया गया और दिल्ली की सड़कें शराब से भर गयीं। सुल्तान ने यह आज्ञा निकलवा दी कि यदि कोई व्यक्ति शराब के नशे में मिले, तो उसे दिल्ली के बाहर बने गड्ढे में फिकवा दिया जाय। इस प्रकार के कठोर दण्ड के कारण लोग इतना भयभीत हो गये कि शराब पीना बन्द हो गया।

अमीरों की सामाजिक गोष्ठियों तथा उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों को भी सुल्तान षड्यन्त्रों तथा विद्रोहों का कारण समझता था। उसका ऐसा विश्वास हो गया था कि जब अमीर लोग सामाजिक गोष्ठियाँ करते हैं, तब उन्हें सुल्तान के विरुद्ध षडयन्त्र रचने तथा कुचक्र चलाने का अवसर मिल जाता है। इसी कारण जब इन अमीरों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब इनका संगठन हो जाता है और सुल्तान के विरुद्ध इनका प्रबल मोर्चा बन जाता है। अतएव जब कभी किसी अमीर के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है, तो अन्य अमीर भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देते हैं। अपनी इस धारणा के कारण सुल्तान ने अमीरों के इस प्रकार के संगठनों को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। उसने यह आज्ञा निकाल दी कि अमीर लोग सामाजिक गोष्ठियाँ न करें और वे एक-दूसरे के यहाँ दावत खाने न जायँ। उसने यह आज्ञा निकाल दी कि वे बिना सुल्तान की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त किये एक-दूसरे के यहाँ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न करें। सुल्तान अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले अमीरों को बड़े कड़े दण्ड देता था, अतएव सुल्तान के भय से अमीरों की गुटबन्दी समाप्त हो गयी।

धन के बाहुल्य को भी सुल्तान षड्यन्त्र तथा कुचक्र का कारण समझता था। उसकी यह धारणा बन गयी थी कि जब लोगों के पास धन की अधिकता हो जाती है, तब उन्हें अवकाश प्राप्त हो जाता है और उस अवकाश में वे षड्यन्त्र तथा विद्रोह की बातें सोचते हैं। अतएव उसने अमीरों की सम्पत्ति छीननी आरम्भ की। जिन लोगों को इनाम अथवा दान में भूमि मिली थी, उसे उसने छीन लिया। पेन्शन पाने वालों की पेन्शनें उसने बन्द करवा दीं। लोगों के पास जो कर-मुक्त भूमि थी, उन पर फिर से कर लगा दिया गया। सुल्तान को इन सब योजनाओं से बहुत अधिक धन मिल गया, जिसे उसने शासन को सुसंगठित करने में लगाया।

हिन्दुओं के विषय में तो सुल्तान की यह धारणा थी कि उनके षड्यन्त्रों या विद्रोहों को सदैव के लिए समाप्त करने के लिए उन्हें इतना निर्धन तथा दरिद्र बना दिया जाय कि वे दिन-रात अपनी जीविका कमाने में लगे रहें और कभी सिर न उठा सकें। दोआब के हिन्दू बड़ी विद्रोही प्रकृति के होते थे, अतएव सुल्तान ने उनके ऊपर पचास प्रतिशत कर लगा दिया। उन्हें जजिया-कर भी देना पड़ता था। भूमिकर तथा जजिया कर के अतिरिक्त हिन्दुओं का मकान तथा पशु पर भी कर देना पड़ता था। सुल्तान की इस कठोर नीति के कारण हिन्दुओं का जीवन बड़ा दुखी हो गया था। कहा जाता है कि चौधरी और मुकद्दम लोग न घोड़ों पर चढ़ सकते थे, न हथियार रख सकते थे, न अच्छे कपड़े पहन सकते थे और न पान खा सकते थे। वास्तव में हिन्दुओं का जीवन बड़ा विपन्न हो गया था।

अलाउद्दीन की यह भी धारणा थी कि जब सुल्तान का अपनी प्रजा के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब मध्यस्थ लोग प्रजा को सुल्तान के विरुद्ध भड़का देते हैं और उसकी सहायता से विद्रोह कर देते हैं। सुल्तान अपनी प्रजा के साथ सीधा सम्बन्ध रखता था। वह सैनिकों को स्वयं भरती करता था। अपने प्रान्तपतियों पर कड़ा नियन्त्रण रखता था और स्थानीय शासकों पर अपना पूरा अनुशासन रखता था।

उपर्युक्त योजनाओं का परिणाम यह हुआ कि सुल्तान अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने में पूर्ण-रूप से सफल रहा। अब वह अपने दूसरे उद्देश्य अर्थात् सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करने में संलग्न हो गया।

सीमा का सुरक्षा का व्यवस्था—अलाउद्दीन का दूसरा उद्देश्य सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था करना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने बलबन की सीमा-नीति का अनुसरण किया। उसने सीमान्त-प्रदेश की किलेबन्दी करवायी। पुराने दुर्गों का उसने जीर्णोद्धार करवाया और नये दुर्गों का भी निर्माण करवाया। इन दुर्गों में सुसज्जित तथा सुशिक्षित सेनाएँ बड़े ही योग्य, अनुभवी तथा रण-कुशल सेनापतियों की अध्यक्षता में रक्खी गयीं। नसरत खाँ तथा जफर खाँ अलाउद्दीन के बड़े ही वीर तथा विश्वसनीय सेनापति थे। उसने सीमा की सुरक्षा का भार इन्हीं दोनों सेनापतियों को सौंप दिया। सुल्तान ने समाना तथा दिपालपुर की भी किलेबन्दी करवायी और सीरी में एक नये दुर्ग का निर्माण करवाया। दिल्ली की सुरक्षा की भी उसने समुचित व्यवस्था की। वहाँ के पुराने दुर्ग की उसने मरम्मत करवायी और एक अत्यन्त विशाल सेना का संगठन किया। सुल्तान की इन सब योजनाओं का परिणाम यह हुआ कि मुगलों के जितने आक्रमण भारत पर हुए, वे सब विफल सिद्ध हुए। मुगलों ने छः-सात बार आक्रमण किये, परन्तु नसरत खाँ तथा जफर खाँ ने उन्हें प्रत्येक बार मार भगाया। इस प्रकार सुल्तान अपने दूसरे उद्देश्य में भी पूर्ण-रूप से सफल रहा। शान्ति स्थापित कर तथा सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था कर सुल्तान अपने तीसरे उद्देश्य अर्थात् राज्य-विस्तार में संलग्न हो गया।

राज्य-विस्तार—अलाउद्दीन खिलजी का प्रधान उद्देश्य अपने साम्राज्य का

विस्तार कर सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित करना था। अपने इस उद्देश्य में भी अलाउद्दीन खिलजी को प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई। अलाउद्दीन की विजयों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अर्थात् उत्तरी भारत की विजय तथा दक्षिण भारत की विजय। अपनी इन दोनों विजय-यात्राओं में अलाउद्दीन खिलजी ने एक ही प्रकार की नीति का अनुसरण नहीं किया, वरन् उसने दो भिन्न प्रकार की नीतियों को अपनाया। अब पहले उसकी उत्तर-भारत की विजय नीति की विवेचना की जायगी।

उत्तरी-भारत के जो राज्य दिल्ली-सल्तनत के बाहर थे और जिन्हें अलाउद्दीन जीतना चाहता था, वे दिल्ली से दूर न थे और वह अपनी राजधानी से उनका शासन कर सकता था और उन पर अपना कड़ा नियन्त्रण रख सकता था। अतएव इन राज्यों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित कर लेने की नीति का उसने अनुसरण किया। उत्तर के जिन राज्यों को सुल्तान ने जीता, उन्हें उसने अपने राज्य में मिला लिया और वहाँ पर अपने गवर्नर नियुक्त कर उन पर अपनी कड़ी दृष्टि रखने लगा। अब सुल्तान की उत्तरी-भारत की विजयों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

सर्वप्रथम १२९७ ई० में सुल्तान ने अपने सेनापतियों—उलुग खाँ तथा नसरत खाँ को गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। गुजरात का राजा कर्णसिंह अपनी पुत्री देवल देवी के साथ देवगिरि के राजा रामचन्द्र के पास भाग गया। परन्तु उसकी पत्नी कमला देवी मुसलमानों के हाथ पड़ी और अलाउद्दीन के हरम (रनिवास) में भेज दी गयी। यहीं पर मलिक काफूर जिसने आगे चल कर दक्षिण-भारत पर विजय प्राप्त करने में बड़ी सहायता पहुँचाई, एक हजार दीनार देकर खरीदा गया था। गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ा पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया और वहाँ पर एक मुसलमान गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। इस प्रकार गुजरात दिल्ली सल्तनत का एक अंग बन गया।

गुजरात पर अपना अधिकार जमा लेने के उपरान्त १२९९ ई० में सुल्तान ने फिर उलुग खाँ तथा नसरत खाँ को रणथम्भोर का दुर्ग जीतने के लिए भेज दिया। इन दिनों यह दुर्ग पृथ्वीराज चौहान के वंशज राणा हम्मीर देव के अधिकार में था। राजपूतों ने बड़ी वीरता के साथ मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना किया और उन्हें पीछे ढकेल दिया। जब अलाउद्दीन को इसकी सूचना मिली, तब उसने स्वयं एक सेना के साथ रणथम्भोर के लिए प्रस्थान कर दिया। सुल्तान के आ जाने से मुसलमानों का उत्साह बहुत बढ़ गया। जब दुर्ग की सुरक्षा की कोई आशा न रही, राजपूत केसरिया वस्त्र धारण कर अपनी नंगी तलवारें लेकर निकल पड़े और सब लड़कर मर गये। उनकी स्त्रियों ने 'जोहर' किया, अर्थात् वे धधकती हुई चिता में बैठ कर भस्म हो गयीं और मुसलमानों से अपने सतीत्व की रक्षा की। यद्यपि रणथम्भोर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया, परन्तु अलाउद्दीन खिलजी के प्रसिद्ध सेनापति नसरत खाँ की इस युद्ध से मृत्यु हो गयी। सुल्तान ने उलुग खाँ को रणथम्भोर का शासक

बना दिया और स्वयं दिल्ली लौट आया। थोड़े ही दिन बाद उलुग खाँ बीमार पड़ा और उसकी मृत्यु हो गयी।

१३०३ ई० में अलाउद्दीन ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। इन दिनों चित्तौड़ में राणा रत्नसिंह शासन कर रहा था, जिसकी पत्नी रानी पद्मिनी अपने अलौकिक सौन्दर्य के लिए विख्यात थी। चित्तौड़ पर विजय प्राप्त करने के साथ-साथ अलाउद्दीन पद्मिनी को भी प्राप्त करना चाहता था। वह पद्मिनी के रूप को देखने के लिए बड़ा आतुर हो रहा था। अतएव उसने राणा के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह अपनी पत्नी के प्रतिबिम्ब को दर्पण में दिखला दे तो वह सन्तुष्ट होकर दिल्ली लौट जायगा। रत्नसिंह ने भीषण नर-संहार को बचाने के लिए सुल्तान के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसे दर्पण में पद्मिनी के प्रतिबिम्ब को दिखला दिया। परन्तु जब राणा उसे पहुँचाने के लिए बाहर आये तो अलाउद्दीन ने उनके साथ बड़ा विश्वासघात किया और उन्हें कैद करवा लिया। अब अलाउद्दीन ने पद्मिनी के पास यह प्रस्ताव भेजा कि यदि वह उसकी पत्नी बनने के लिए तैयार हो जाय तो वह उसके पति को मुक्त कर देगा। पद्मिनी ने कूटनीति से काम लिया। उसने अलाउद्दीन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, परन्तु यह शर्त रक्खी कि वह अपनी दासियों के साथ पहले अपने पति से मिल लेगी तब दिल्ली जायगी। अलाउद्दीन पद्मिनी की योजना के उद्देश्य को न समझ सका। अतएव उसने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। पद्मिनी ने सात सौ डोलियों में चुने हुए वीर राजपूतों के साथ सुल्तान के शिविर के लिए प्रस्थान कर दिया। वीर राजपूत डोलियों से निकल पड़े और घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। पद्मिनी रत्नसिंह के साथ चित्तौड़ लौट आयी और सात सौ राजपूतों ने अपने राजा तथा रानी की रक्षा में अपने प्राण दे दिये। अलाउद्दीन के लिए यह अपमान असह्य था। उसने चित्तौड़ का घेरा डाल दिया। जब राजपूतों ने अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखा, तब वे केसरिया बाना पहन कर अपने हाथों में तलवारें लेकर निकल पड़े और शत्रु से लड़ कर वीर-गति को प्राप्त हुए। पद्मिनी दुर्ग की अन्य स्त्रियों के साथ जलती हुई चिता में बैठकर भस्मीभूत हो गयी। मेवाड़-राज्य पर अलाउद्दीन का अधिकार स्थापित हो गया और वह उसके राज्य का एक अंग बन गया।

चित्तौड़ पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरान्त अलाउद्दीन ने मालवा, मारवाड़, जालौर तथा अन्य राज्यों पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया और १३०५ ई० के अन्त तक उसने सम्पूर्ण उत्तरी-भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब उसने दक्षिण विजय की योजना बनायी।

अलाउद्दीन के पूर्व किसी अन्य सुल्तान का दक्षिण भारत को जीतने का दुस्साहस न हुआ था। इसका कारण यह था कि दक्षिण-भारत उत्तर-भारत से बहुत दूर था और उस युग में, जब गमनागमन के साधनों का बड़ा अभाव था, अपने उत्तरी साम्राज्य को छोड़कर दक्षिण-भारत की विजय-यात्रा करना खतरे से खाली न था। दक्षिण-भारत की भौगोलिक दशा भी अनुकूल न थी। परन्तु इन कठिनाइयों की

चिन्ता न करके अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी व्यक्ति था और सम्पूर्ण भारत का सुल्तान बनने की उसकी प्रबल इच्छा थी।

दक्षिण भारत की विजय में अलाउद्दीन ने उस नीति का अनुसरण नहीं किया, जिसका उसने उत्तरी-भारत में किया था, वरन् उसने भिन्न प्रकार की नीति का अनुसरण किया। उत्तरी-भारत के जिन राज्यों को उसने जीता, उन्हें उसने अपने राज्य में मिला लिया परन्तु दक्षिण के राज्यों को जीतने के बाद उसने पराजित राजाओं को उनका राज्य लौटा दिया। वह केवल इतना ही चाहता था कि ये राजा उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लें और उसे वार्षिक कर दिया करें। इस उदार नीति का अनुसरण करने के दो प्रधान कारण प्रतीत होते हैं। पहला तो यह कि दिल्ली से दक्षिण-भारत का शासन चलाना उस युग में सम्भव न था, जब यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था, और दूसरा यह कि पराजित राजाओं को उनका राज्य लौटा कर उन्हें मित्र बना लेने से दक्षिण के अविजित राजाओं पर विजय प्राप्त करने में उनसे सहायता मिल सकती थी। दक्षिण-भारत पर विजय प्राप्त करने का सुल्तान का एक यह भी ध्येय था कि उसे अपनी विशाल सेना का व्यय चलाने के लिए धन प्राप्त हो जाय और उसकी सेना युद्ध में संलग्न रहे, अन्यथा उसके विद्रोह कर देने की सम्भावना थी।

दक्षिण-भारत की विजय करने में अलाउद्दीन की नीति की दूसरी विशेषता यह थी कि उसने कभी दिल्ली छोड़ कर दक्षिण-भारत जाने का दुस्साहस नहीं किया वरन् उसने दक्षिण-विजय का कार्य अपने स्वामिभक्त तथा विश्वासपात्र गुलाम मलिक काफूर को सौंपा। इसका कारण यह था कि सीमान्त प्रदेश में निरन्तर मुगलों के आक्रमण हुआ करते थे और उत्तरी-भारत में सर्वत्र विद्रोहों के विस्फोट की सम्भावना बनी रहती थी। ऐसी परिस्थितियों में राजधानी को अरक्षित छोड़ कर दक्षिण भारत जाना खतरे से खाली न था। यह सम्भव था कि दक्षिण के पठार के लिए वह उत्तर के उपजाऊ मैदान को खो देता। अलाउद्दीन इतने बड़े खतरे को मोल लेने के लिए तैयार न था।

अलाउद्दीन की दक्षिण-भारत की नीति की तीसरी विशेषता यह थी कि यद्यपि वह मलिक काफूर पर पूरा विश्वास करता था, परन्तु वह उसे कभी अकेला नहीं भेजता था, वरन् उसके साथ अन्य अमीरों को भी भेज देता था, क्योंकि यह सम्भव था कि मलिक काफूर विद्रोह करके दक्षिण में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेता। सुल्तान जब मलिक काफूर को दक्षिण भेजता था, तब उसे वह निश्चित आदेश देकर भेजता था और अपने आदेशों का अक्षरशः पालन कराता था। अब काफूर की दक्षिण-विजयों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

इन दिनों दक्षिण में चार प्रधान हिन्दू-राज्य थे, जिनको सुल्तान नत-मस्तक करना चाहता था, जिससे उनकी सत्ता सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में स्थापित हो जाय। पहला राज्य यादवों का था, जिसकी राजधानी देवगिरि थी, दूसरा राज्य तेलगाना

का था, जहाँ काकतीय-वंश शासन कर रहा था और जिसकी राजधानी वारंगल थी, तीसरा राज्य होयसल-वंश का था, जिसकी राजधानी द्वारसमुद्र थी और चौथा राज्य पाण्ड्यों का था, जिसकी राजधानी मदुरा थी। सुल्तान के आदेशानुसार मलिक काफूर ने दक्षिण के इन राज्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रस्थान कर दिया।

सबसे पहले काफूर ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र पर १३०६ ई० में आक्रमण कर दिया। सुल्तान ने काफूर के साथ अल्प खाँ को भेज दिया था। देवगिरि पर अलाउद्दीन ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के पहले भी आक्रमण किया था, परन्तु रामचन्द्र ने दिल्ली-दरबार को कर भेजना बन्द कर दिया था। इसके अतिरिक्त गुजरात के राजा कर्णसिंह तथा उनकी पुत्री देवल देवी को रामचन्द्र ने अपने यहाँ आश्रय दिया था। इस प्रकार अलाउद्दीन को देवगिरि पर आक्रमण करने का बहाना भी मिल गया। यद्यपि राजपूत बड़ी वीरता के साथ लड़े, परन्तु वे मुसलमानों की विशाल सेना के सामने ठहर न सके। देवल देवी अल्प खाँ के हाथ पड़ी। वह दिल्ली के रनिवास में भेज दी गयी, जहाँ बाद में शाहजादा खिज्र खाँ के साथ उसका विवाह कर दिया गया। रामचन्द्र भी दिल्ली-दरबार में भेज दिया गया। वहाँ पर अलाउद्दीन ने उसके साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया। उसने उसे राय रय्यन की उपाधि देकर उसका राज्य उसे लौटा दिया। रामचन्द्र ने अलाउद्दीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और उसे वार्षिक कर देने का वचन दिया।

१३०९ ई० सुल्तान ने काफूर को वारंगल पर आक्रमण करने के लिए यह आदेश देकर भेजा कि यदि वहाँ का राजा प्रताप रुद्रदेव उसकी अधीनता स्वीकार कर ले और वार्षिक कर तथा धन देने के लिए तैयार हो जाय, तो वह उसके साथ युद्ध न करे वरन् सन्धि कर ले। पहले काफूर देवगिरि गया। वहाँ के राजा रामचन्द्र ने उसकी बड़ी सहायता की। काफूर ने वारंगल पर बड़े वेग के साथ आक्रमण कर दिया। राजपूत-सेनाओं ने बड़े साहस के साथ शत्रु का सामना किया, परन्तु जब प्रताप रुद्रदेव को सुल्तान के वास्तविक उद्देश्य का पता लगा, तब उसने उसके साथ सन्धि कर ली। उसने काफूर को बहुत-सा धन दिया और सुल्तान के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। उसने नियमित रूप से वार्षिक कर भी देने का वचन दिया। १३१० ई० में काफूर दिल्ली वापस लौट आया।

१३११ ई० में सुल्तान ने काफूर को द्वारसमुद्र पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इन दिनों द्वारसमुद्र में वीर बल्लाल तृतीय शासन कर रहा था, जो बड़ा ही वीर तथा प्रतापी था परन्तु वह काफूर की विशाल सेना के सामने ठहर न सका। विवश होकर उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर देने के लिए उद्यत हो गया। काफूर ने द्वारसमुद्र के मन्दिरों को जिनमें अपार सम्पत्ति भरी पड़ी थी, लूटा और बहुत-सा धन लेकर दिल्ली आया।

दक्षिण के राज्यों में अब केवल मदुरा ही ऐसा था, जिसने अलाउद्दीन के आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया था। इन दिनों मदुरा में सुन्दर पाण्ड्य तथा वीर पाण्ड्य नामक भाइयों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध चल रहा था और वीर पाण्ड्य

ने सुन्दर पाण्ड्य को मार भगाया था अलाउद्दीन के लिए यह स्वर्ण अवसर था। उसने तुरन्त काफूर को मदुरा पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। काफूर के आने का समाचार पाकर वीर पाण्ड्य इतना भयभीत हो गया कि वह राजधानी छोड़ कर भाग गया। काफूर ने मदुरा को खूब लूटा और बहुत-सा धन लेकर दिल्ली लौट आया।

मलिक काफूर की उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में अलाउद्दीन की सत्ता स्थापित हो गयी और सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उसका स्वप्न पूर्ण हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने, सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था रखने तथा सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य सुल्तान ने पूर्ण कर लिये। अपने इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति सुल्तान ने एक विशाल, सुसज्जित तथा सुशिक्षित सेना का संगठन करके की थी। अतएव उसके सैन्य सङ्गठन का विवेचन कर लेना आवश्यक है।

सेना का संगठन—अपने सैनिक-बल से अलाउद्दीन ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था और सैनिक-बल से ही इस साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा जा सकता था। अतएव सेना पर अलाउद्दीन अपना पूरा नियन्त्रण रखता था। वह सैनिकों की भरती स्वयं योग्यता के आधार पर करता था। केवल ऐसे ही लोग सेना में भरती किये जाते थे, जो घोड़े पर चढ़ना, अस्त्र-शास्त्र चलाना तथा युद्ध करना जानते थे। चूंकि सैनिकों को सुल्तान स्वयं भरती करता था, अतएव वे सुल्तान के बड़े स्वामिभक्त होते थे।

सुल्तान ने अपने सैनिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर रखा था। पहली श्रेणी में वे सैनिक आते थे, जो दो से अधिक घोड़े रख सकते थे। दूसरी श्रेणी में वे सैनिक आते थे, जो दो घोड़ रख सकते थे और तीसरी श्रेणी में वे सैनिक आते थे, जो केवल एक घोड़ा रख सकते थें। पहले सैनिकों को जागीरें मिला करती थीं, परन्तु अलाउद्दीन ने जागीर की प्रथा को बन्द कर दिया। वह अपने सैनिकों को नक़द वेतन दिया करता था।

अलाउद्दीन की सेना में घुड़सवारों की सेना की प्रधानता थी। अतएव सुल्तान ने अच्छी नस्ल के घोड़ों को प्राप्त करने की व्यवस्था की। वह व्यापारियों से अच्छी नस्ल के घोड़े विदेशों से मँगाता था। जब उसकी सेना मुगलों को परास्त कर देती थी, तब लूट में भी उसे बहुत से अच्छी नस्ल के घोड़े मिल जाते थे। इसके अतिरिक्त भारत में भी उसने अच्छी नस्ल के घोड़ों के पैदा करने की व्यवस्था की। सुल्तान ने घोड़ों के दाग लगाने की प्रथा भी चलायी थी। दाग लगाने की प्रथा के चलाने का यह अभिप्राय था कि लोग झूठे घोड़े दिखाकर राज्य को धोखा न दे सकें। घोड़ों को दाग लगाने की प्रथा के साथ-साथ सैनिकों को अपनी हुलिया लिखानी पड़ती थी। प्रायः लोग सेना के प्रदर्शन के समय घोड़े तथा सवार लाकर दिखला देते थे, परन्तु उतने घोड़े तथा सवार रखते नहीं थे। बेईमानी से बचने के लिए सैनिकों को अपनी

हुलिया लिखानी पड़ती थी । प्रत्येक सैनिक को सैन्य-विभाग के मंत्री के रजिस्टर में अपनी पूरी हुलिया लिखवानी पड़ती थी ।

सैनिकों को सुयोग्य बनाने के लिए उन्हें शस्त्र सज्जित तथा सुशिक्षित रखना आवश्यक था । अतएव सुल्तान बड़े ही अच्छे-अच्छे अस्त्र-शस्त्रों से अपने सैनिकों को सुसज्जित रखता था । उसने उत्तम हथियारों के निर्माण के लिए कारखाने खुलवाये थे और उनमें योग्य इजीनियरों को नियुक्त किया था । ऐसा प्रतीत होता है कि रणक्षेत्र ही सैनिक-शिक्षा का प्रधान स्थल था । अलाउद्दीन को विद्रोहों का दमन करने, मुगलों से लोहा लेने तथा राज्य-विस्तार के कार्य में निरन्तर संलग्न रहना पड़ता था, अतएव उसके सैनिकों को रणक्षेत्र में ही पर्याप्त शिक्षा मिल जाती थी और वे रणविद्या में बड़े कुशल तथा अनुभवी हो जाते थे ।

अलाउद्दीन दिल्ली-सल्तनत का पहला सुल्तान था, जिसने अपनी स्थायी सेना रखने की व्यवस्था की । दिल्ली में एक विशाल सेना सुल्तान की सेवा के लिए सदैव उपस्थित रहती थी । सुल्तान ने अपनी सेना के संचालन का कार्य बड़े ही योग्य तथा कुशल सेनापतियों को सौंप रक्खा था । उलुग खाँ, नसरत खाँ, जफर खाँ, अल्प खाँ तथा मलिक काफूर उसके सुविख्यात सेनापति थे, जिन्होंने राज्य में शान्ति स्थापित करने, मुगलों के आक्रमणों को रोकने तथा राज्य-विस्तार करने में सुल्तान की अद्वितीय सेवा की । सुल्तान ने अपनी सुसज्जित सेनाओं को सुयोग्य सेनापतियों की अध्यक्षता में सुदृढ़ दुर्गों में रखकर सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था की थी । अपनी इस विशाल सेना का व्यय चलाने के लिए सुल्तान को आर्थिक व्यवस्था में भी सुधार करने की आवश्यकता पड़ी थी । अतएव सुल्तान की आर्थिक योजनाओं की भी विवेचना कर लेना आवश्यक है ।

आर्थिक सुधार—अपने विशाल साम्राज्य के शासन को सुचारु रीति से चलाने तथा अपनी विशाल सेना के व्यय को चलाने के लिए सुल्तान को धन की बड़ी आवश्यकता थी । अतएव धन प्राप्त करने के उसने विभिन्न प्रकार के उपाय निकाले । उसने लोगों की सम्पत्ति को छीनना शुरू किया । जो भूमि इनाम अथवा दान में मिली थी, उसे उसने छीन लिया और लोगों के पास जो कर-मुक्त भूमि थी, उस पर उसने कर लगा दिये । अमीरों की सारी जागीरें छीन ली गयीं और लोग अपनी पेन्शनों से वंचित कर दिये गये ।

चूँकि भूमि-कर आय का सबसे बड़ा साधन था, अतएव सुल्तान ने इस ओर विशेष ध्यान दिया । उसने सारी भूमि को खालसा-भूमि बना दिया । खालसा-भूमि का यह तात्पर्य था कि सारी भूमि सीधे सरकार के अधिकार में थी और कर वसूल करने का प्रबन्ध सरकार स्वयं करती थी । सुल्तान ने सारी भूमि की नाप करवा डाली और भूमि-कर को निश्चित कर दिया । भूमि जितनी उपजाऊ होती थी, उसी के हिसाब से भूमि-कर देना पड़ता था । अधिक उपजाऊ भूमि का कर अधिक था और कम उपजाऊ भूमि का कम । यह कर तीन प्रकार से वसूल किया जाता था, अर्थात् कनकूत, बटाई तथा लंक-बटाई । कनकूत-प्रथा में जब फसल खड़ी रहती थीं,

तभी सरकारी लगान का अन्दाजा लगा लिया जाता था। बटाई-प्रथा में फसल पीटने के बाद जब अनाज तैयार हो जाता था, तब सरकारी हिस्से को निश्चित कर लिया जाता था और लंक-बटाई में फसल तैयार हो जाने पर बिना पीटे ही सरकारी हिस्से को निश्चित कर लिया जाता था। कहा जाता है कि सरकारी हिस्सा ५० प्रतिशत था, परन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह दर बहुत ऊँची थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ५० प्रतिशत केवल दोआब में लिया जाता था, जहाँ की भूमि उपजाऊ थी और जहाँ के लोग विद्रोही प्रवृत्ति के होते थे। दोआब में सुल्तान ने अनाज के रूप में भूमि-कर लेने की व्यवस्था की थी। यह अनाज सुल्तान सरकारी बखारों तथा खत्तियों में भर कर रखवा दिया करता था, जिससे अकाल के समय में अनाज की कमी न हो। यद्यपि लगान वसूल करने के लिए सुल्तान ने अपने सैनिक अफसर नियुक्त किये थे, परन्तु पुरानी व्यवस्था का पूर्ण-रूप से परित्याग नहीं किया गया और लगान वसूल करने का काम हिन्दू मुकद्दमों तथा चौधरियों के हाथ में ही था। इनके पुराने विशेषाधिकारों को छीन लिया गया था और उनका वेतन निश्चित कर दिया गया था। हिन्दुओं को भूमि-कर के अतिरिक्त मकान-कर, पशु-कर तथा जजिया भी देना पड़ता था। इस प्रकार अपने आर्थिक सुधारों से अलाउद्दीन ने अपने शासन तथा अपनी सेना के व्यय को चलाने के लिए बहुत-सा धन एकत्र कर लिया। परन्तु उसका साम्राज्य तथा उसकी सेना इतनी विशाल थी कि वह अपने कर्मचारियों तथा सैनिकों को अधिक वेतन नहीं दे सकता था। थोड़े से वेतन में अच्छा जीवन व्यतीत करने का एकमात्र उपाय यह था कि लोगों की आवश्यकता की वस्तुओं का मूल्य घटा कर उन्हें सस्ता कर दिया जाय, जिससे लोग थोड़े से वेतन में भी अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आवश्यकता की वस्तुओं को सस्ती करने के लिए यह आवश्यक था कि उनका मूल्य निश्चित कर दिया जाय। मूल्य निश्चित हो जाने के बाद यह आवश्यक था कि लोग उस निश्चित मूल्य पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय करें। इसके लिए बाजारों पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होना आवश्यक था। अतएव सुल्तान ने बाजारों के प्रबन्ध की भी समुचित व्यवस्था की।

बाजारों का प्रबन्ध—सुल्तान ने बाजारों का प्रबन्ध बड़े वैज्ञानिक ढंग से कराया। उसने प्रति-दिन की आवश्यकता की वस्तुओं की सूची तैयार करवायी। यह सूची बड़ी सावधानी से तैयार करवायी गयी थी, जिससे कोई चीज छूटने न पाये। आवश्यकता की वस्तुओं की सूची तैयार करा लेने के बाद सुल्तान ने उनका मूल्य निश्चित कर दिया।

सुल्तान इस बात को जानता था कि केवल वस्तुओं के मूल्य निश्चित कर देने से ही काम न चलेगा, वरन् आवश्यकता की सभी वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में बाजारों में रहनी भी चाहिए, जिससे लोगों को इन वस्तुओं को प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो। अतएव आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। जो वस्तुएं राज्य में पैदा की जा सकती थीं, उन्हें पैदा किया गया जो सुदूरस्थ प्रान्तों में मिल सकती थीं, उन्हें वहाँ से मँगाया गया और जो देश में नहीं

होती थीं, उन्हें विदेशों से मँगाया गया। इस प्रकार आवश्यकता की सभी वस्तुएँ बाजार में मिल सकती थीं।

आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था करने के उपरान्त सुल्तान ने उनके वितरण की भी समुचित व्यवस्था की। दिल्ली में तीन बाजारों की स्थापना की गई। इन बाजारों में आवश्यकता की विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ मिलती थीं। सम्भवतः खरीदने वालों को सरकारी आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था। बेचने वालों को उसी मात्रा में चीजें दी जाती थीं, जिसके लिए उनकी दूकान को आज्ञा-पत्र दिया जाता था।

सुल्तान यह जानता था कि बाजार की यह सब व्यवस्था तभी सफल हो सकती है, जब बाजार का प्रबन्ध करने के लिए योग्य तथा ईमानदार अफसर हों। यदि बाजार का निरीक्षण न होगा और उस पर कड़ा नियंत्रण न रक्खा जायगा, तो सारी योजना अस्त-व्यस्त हो जायगी। अतएव अपने बाजार के प्रबन्ध को सुचारु रीति से संचालित करने के लिए उसने बड़े ही योग्य तथा ईमानदार अफसरों को नियुक्त किया। बाजार का सर्वप्रधान पदाधिकारी 'दीवाने-रियासत' कहलाता था। उसे दिल्ली के तीनों बाजारों पर अपना नियंत्रण रखना पड़ता था। दीवाने-रियासत के नीचे प्रत्येक बाजार के लिए तीन अफसर अर्थात् निरीक्षक, लेखक तथा गुप्तचर होते थे, जो बाजार के प्रबन्ध में दीवाने-रियासत की सहायता किया करते थे।

इतनी व्यवस्था करने पर भी यह सम्भव था कि लोग बाजार के नियमों का उल्लंघन करें। बाजार के नियमों का उल्लंघन करने वालों को बड़े कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की गयी। कहा जाता है कि सुल्तान का यह आदेश था कि यदि कोई व्यापारी कम तौले, तो उतना मांस उसके शरीर से काट लिया जाय। परन्तु लोग सुल्तान से इतना अधिक भयभीत रहते थे कि उसकी आज्ञा के उल्लंघन करने का उन्हें कभी दुस्साहस नहीं होता था। अतएव कभी किसी दूकानदार के शरीर से मांस काटने की आवश्यकता न पड़ी।

सुल्तान के बाजार-प्रबन्ध का परिणाम यह हुआ कि आवश्यकता की सभी वस्तुएँ कम मूल्य में बाजार में मिलने लगीं। इससे सैनिक तथा अन्य कर्मचारी थोड़े से वेतन में अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकते थे और सुल्तान का यही उद्देश्य भी था, अतएव सुल्तान अपने उद्देश्यों में पूर्ण-रूप से सफल रहा। अब सुल्तान के शासन-प्रबन्ध का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

शासन-प्रबन्ध—अलाउद्दीन में न केवल उच्च-कोटि की सामरिक प्रतिभा थी, वरन् वह उच्च-कोटि का प्रबन्धक तथा शासनकर्त्ता भी था। इसी से डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "उसमें एक जन्मजात सेनानायक और शासनकर्त्ता के गुण विद्य-

---

1. "He possessed the qualities of a military commander and a civil administrator—a rare combination in medieval history."

—Dr. Ishwari Prasad.

मान थे—मध्यकालीन इतिहास में ऐसा संयोग बहुत विरल था।" अतएव एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने के साथ-साथ उसने उस साम्राज्य को सुरक्षित, सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रखने का प्रबन्ध भी किया। चूंकि सुल्तान ने अपने बाहुबल तथा अपनी सेना की सहायता से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, अतएव अपने बाहुबल तथा अपनी सेना की सहायता से उसने उसे सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रखने का प्रयत्न किया था। फलतः उसका शासन पूर्ण-रूप से स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश और विशुद्ध सैनिक शासन था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "अलाउद्दीन का शासन-काल मुस्लिम निरंकुशता के चूड़ान्त विकास का द्योतक है।"[1] उसका शासन शक्ति पर आधारित था। सुल्तान अपनी तथा अपनी सेना की शक्ति से इस शासन को चलाता था। राज्य की सारी शक्तियाँ सुल्तान के हाथ में थी और वह सभी अधिकारों का स्रोत था। राज्य का सारा कार्य उसी की आज्ञा तथा आदेश से होता था और शासन के प्रत्येक भाग पर उसकी अपनी दृष्टि तथा उसका अपना नियंत्रण रहता था। उसने एक ऐसे सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित गुप्तचर-विभाग का प्रबन्ध करवाया था कि राज्य के विभिन्न भागों में जो घटनाएँ घटती थीं उन सब की सूचनाएँ उसे मिला करती थीं। सुल्तान अपने अफसरों तथा कर्मचारियों पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण रखता था और उन्हें सुल्तान के निश्चित आदेशों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता था। इस प्रकार अलाउद्दीन का शासन एक केन्द्रीभूत सैनिक शासन था, जो शक्ति पर आधारित था और तभी तक चल सकता था जब तक सुल्तान के हाथ में शक्ति हो।

यद्यपि अलाउद्दीन का शासन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था और सुल्तान के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न था, परन्तु वह सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा योजनाओं में अपने अनुभवी तथा दूरदर्शी परामर्शदाताओं से परामर्श लिया करता था और उनके परामर्श को मान भी लेता था। सिंहासन प्राप्त करने के उपरान्त अपने उद्देश्यों को निर्धारित करते समय उसने अपने काजी का परामर्श लिया था और उसी के अनुसार सुल्तान ने अपने उद्देश्य निश्चित किये थे। इसी प्रकार विद्रोहों के कारणों का पता लगाने में भी उसने परामर्शदाताओं के परामर्श के अनुसार कार्य किया था। अतएव अलाउद्दीन का शासन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होते हुए भी अनुभवी तथा दूरदर्शी परामर्शदाताओं के परामर्श पर आधारित था।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उसने राजनीति को धर्म से बिल्कुल अलग कर दिया था। वह राजनीति के संबंध में उलेमा लोगों के परामर्श से काम नहीं लेता था। शासन के मामलों में मुल्ला-मौलवियों का कोई प्रभाव न था। सुल्तान वही करता था, जो वह राज्य के हित में ठीक समझता था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "उसे जो सामग्री उपलब्ध थी, उसी की सहायता

---

1. "The reign of Alauddin represents the high water-mark of Muslim despotism." —Dr. Ishwari Prasad.

से वह दृढ़तापूर्वक अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता जाता था और उसकी मैकियावेलियन राजनीति में नैतिकता अथवा धार्मिक निर्णय के लिए कोई स्थान न था ।'[1] इस प्रकार बलबन की भाँति अलाउद्दीन ने भी लौकिक शासन की स्थापना की, जिसका अनुसरण आगे चलकर शेरशाह सूरी तथा अकबर ने किया ।

अलाउद्दीन ने अपनी न्याय-व्यवस्था को भी लौकिक रूप प्रदान किया । उसके पूर्व की न्याय-व्यवस्था धर्म-ग्रन्थों पर आधारित थी, परन्तु अलाउद्दीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि परिस्थिति तथा लोककल्याण के विचार से जो नियम उपयुक्त हों, वही राज-नियम होने चाहिये । इस प्रकार अलाउद्दीन ने राज-नियमों को धर्म के चंगुल से मुक्त किया । अलाउद्दीन ने बड़े ही चरित्रवान्, कार्य-कुशल तथा नीति-निपुण न्यायाधीशों को न्याय करने के लिए नियुक्त किया । इन न्यायाधीशों की सहायता के लिए पुलिस तथा गुप्तचरों की भी नियुक्ति की गयी । प्रत्येक नगर में एक कोतवाल रहता था, जिसका मुख्य कार्य अपराधी का पता लगाना होता था । गुप्तचर लोग भी अपराधों का पता लगाने में सहायता किया करते थे । अलाउद्दीन का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था । न केवल अपराधियों को वरन् उनके साथियों तथा सम्बन्धियों को भी बिना किसी प्रमाण के केवल सन्देह मात्र पर ही मृत्युदण्ड दे दिया जाता था । अंग-भंग का दण्ड अपराधियों को प्रायः दे दिया जाता था । राजद्रोहियों को तो प्रायः प्राण-दण्ड अथवा अंग-भंग का ही दण्ड दिया जाता था । अपराधियों की प्रायः आँखें निकलवा ली जाती थीं और फिर कारागार में डाल कर हत्या करवा दी जाती थी । साधारण अपराधियों के लिए जुर्माना तथा कारागार का दण्ड दिया जाता था । वह अपने सम्बन्धियों को भी दण्डित करने में लेश-मात्र संकोच नहीं करता था । डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "वह भ्रातृ सम्बन्ध अथवा सन्तान-सम्बन्ध की चिन्ता नहीं करता था और बिना किसी भेद-भाव के दण्ड दिया करता था ।"[2] सुल्तान के सेना-सम्बन्धी तथा आर्थिक सुधारों पर पहले विचार किया जा चुका है ।

अलाउद्दीन के अन्तिम दिवस—अलाउद्दीन के शासन के अन्तिम चार वर्ष प्रतिक्रिया के वर्ष माने जाते हैं, जिनमें सुल्तान को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । सुल्तान ने जो व्यवस्थाएँ की थीं, वह सभी युद्ध-कालीन व्यवस्थाएँ थीं । अतएव शान्ति काल में वह लोकप्रिय न रह गयीं और उनके विरुद्ध असन्तोष आरम्भ हो गया

---

[1] "He steadily followed his goal of the instruments that were ready to his hand, and his Machiavellian statecraft excluded all conscientious scruples and ecclesiastical verdict."

—Dr. Ihswari Prasad.

[2] "He had no regard for the ties of brotherhood or filial relationship and inflicted punishments without distinction."

—Dr. Ishwari Prasad.

था। सुल्तान ने शक्ति-बल से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी उसे शक्ति-बल से ही सुरक्षित रक्खा जा सकता था। परन्तु अब सुल्तान वृद्ध हो गया था और उसके सभी अनुभवी तथा दूरदर्शी परामर्शदाता तथा सहायक मर चुके थे। अतएव अपने विशाल केन्द्रीभूत शासन को सँभालने की क्षमता उसमें न रह गयी थी। सुल्तान के अधिकारी भी बड़े अयोग्य थे। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों में मलिक काफूर ने राज-परिवार में फूट पैदा कर दी। उसने सुल्तान को समझाया कि शाहजादा खिज्र खाँ सुल्तान की हत्या करवाना चाहता है। इससे सुल्तान ने शाहजादे को ग्वालियर के दुर्ग में बन्द करवा दिया। १३१६ ई० में सुल्तान का परलोकवास हो गया। कहा जाता है कि काफूर ने सुल्तान को विष दिलवा दिया था।

अलाउद्दीन खिलजी के कार्यों का मूल्यांकन—अलाउद्दीन के शासन-काल की प्रधान घटनाओं का वर्णन कर देने के उपरान्त उसकी सफलताओं तथा विफलताओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अपने काजी के परामर्श से अलाउद्दीन ने अपने जीवन के तीन प्रधान लक्ष्य निर्धारित किये थे, अर्थात् सम्पूर्ण भारत में अपनी प्रभुत्व-शक्ति स्थापित करना, सीमा को सुरक्षित बनाना तथा अपने राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना। अपने इन तीनों उद्देश्यों में अलाउद्दीन पूर्ण-रूप से सफल रहा। उसने भारत में एक ऐसे विशाल मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना की कि किसी हिन्दू राजा के लिए यह सम्भव न रह गया कि मुसलमानों को भारत से बाहर निकाल सके। वह अपने दूसरे उद्देश्य अर्थात् सीमान्त-प्रदेश को सुरक्षित बनाने में भी पूर्ण-रूप से सफल रहा। उसने न केवल मुगलों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया, वरन् सीमान्त-प्रदेश के दुर्गों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कर उनमें योग्य तथा अनुभवी सेनापतियों की अध्यक्षता में सुसज्जित तथा रण-कुशल सेनाएँ रख कर सीमा की सुरक्षा की स्थायी व्यवस्था कर दी। सुल्तान अपने तीसरे उद्देश्य अर्थात् अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने में भी सफल रहा। वह न केवल विद्रोहों का दमन करने में सफल रहा, वरन् विद्रोहों के कारणों का पता लगा कर भविष्य में विद्रोहों की सम्भावनाओं को समाप्त कर देने की भी व्यवस्था की। एक अत्यन्त कुशल गुप्तचर-विभाग तथा अत्यन्त कठोर दण्ड-विधान की व्यवस्था कर अपराधों को समाप्त कर देने का प्रबन्ध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य में पूर्ण-रूप से शान्ति स्थापित हो गई। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति सुल्तान ने एक अत्यन्त विशाल सेना का संगठन करके की थी। इस सेना पर वह अपना पूरा नियंत्रण रख सका था और उसके व्यय को चलाने के लिए उसने जो व्यवस्थाएँ कीं, वे सभी सफल सिद्ध हुईं। उसका बाजार का प्रबन्ध पूर्ण-रूप से सफल रहा। वस्तुओं को मूल्य निश्चित हो जाने और बाजार पर सरकार का पूरा नियन्त्रण स्थापित हो जाने के कारण थोड़ी-सी आय में भी लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते थे।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन की सभी योजनाएँ सफल सिद्ध हुई परन्तु विवेचनात्मक दृष्टि से देखने पर उनकी दुर्बलताओं का पता

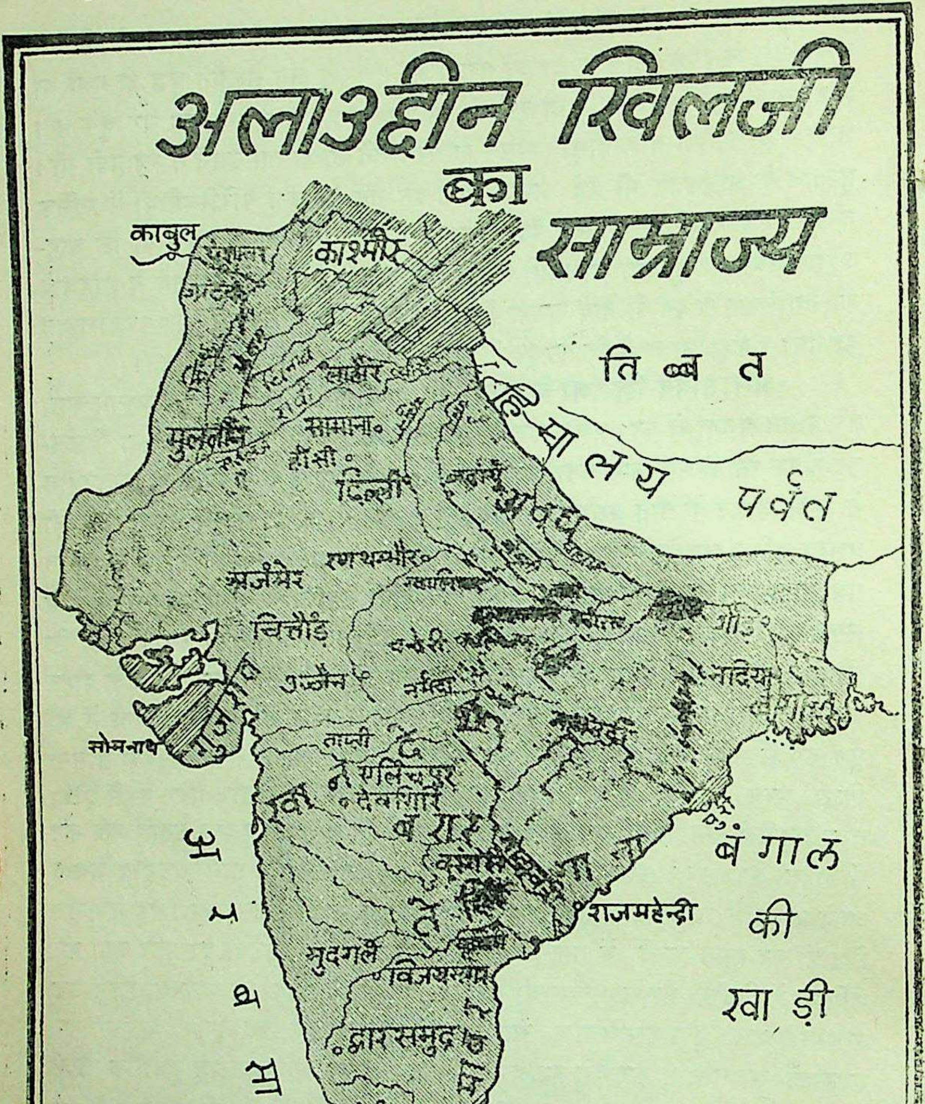
अलाउद्दीन खिलजी का साम्राज्य
काबुल
काश्मीर
लाहौर
मुलतान
सामाना
हाँसी
दिल्ली
अवध
रणथम्भौर
अजमेर
चित्तौड़
ग्वालियर
चंदेरी
उज्जैन
नर्मदा
गुजरात
सोमनाथ
ताप्ती
एलिचपुर
देवगिरि
बरार
तेलंगाना
राजमहेन्द्री
मुदगल
विजयनगर
द्वारसमुद्र
मैसूर
कावेरी
मदुरा
लंका
गौड़
नदिया
तिब्बत
हिमालय पर्वत
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
हिन्द महासागर
हिन्दू राज्य ▨
अलाउद्दीन का साम्राज्य ▨

लग जाता है । उसकी योजनाएँ स्थायी न सिद्ध हो सकीं । इसका कारण यह था कि वे तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए की गयीं थीं । उसकी योजनाएँ युद्ध-

कालीन थीं, शान्ति-कालीन नहीं। अतएव शान्ति-काल में उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी और सर्वत्र असन्तोष व्याप्त हो गया। अमीर लोग अपने विशेषाधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए तड़पने लगे। व्यापारी लोग बाजार के नियंत्रण को तोड़कर माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को कार्यान्वित करना चाहते थे। हिन्दू लोग अपनी दयनीय दशा से ऊँचा उठने के लिए तड़पने लगे। इस सब सुलगते हुए असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि सुल्तान के आँख बन्द करते ही असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और उसकी सभी कृत्रिम योजनाएं भस्मीभूत हो गयीं।

यद्यपि अलाउद्दीन स्वयं पढ़ा-लिखा न था, परन्तु उसके शासन-काल में कई उच्च-कोटि के विद्वान् हुए। अमीर खुसरो तथा हसन उस काल के बहुत बड़े विद्वान् थे, जिन्हें सुल्तान बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। सुल्तान ने बहुत-सी मस्जिदों, मीनारों तथा दुर्गों का भी निर्माण एवं जीर्णोद्धार करवाया था। इसकी सबके बड़ी कृति सीरी का दुर्ग था। कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा बनायी हुई कुव्वत-उल-इस्लाम नामक मस्जिद में उसने कुछ वृद्धि करवायी थी। १३११ ई० में उसने कुतुब मस्जिद के सहन में एक मीनार बनवाना आरम्भ किया था। प्रसिद्ध 'अलाई-दरवाजे' का निर्माण अलाउद्दीन खिलजी ने ही किया था। अलाउद्दीन के पुत्र शाहजादा खिज्र खाँ ने 'जमात-खाना मस्जिद' का निर्माण करवाया था। इस प्रकार निरक्षर तथा निर्दयी होते हुए भी अलाउद्दीन के शासन-काल में साहित्य तथा कला का सृजन हो सका।

अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान क्यों?—अलाउद्दीन खिलजी के कार्यों का मूल्यांकन कर देने के उपरान्त दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में उसका स्थान सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। कुछ विद्वान् उसके चरित्र तथा उसकी योजनाओं की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए उसके शासन-काल को अत्यन्त गौरवहीन बतलाते हैं, परन्तु अन्य विद्वान् उसकी सफलता की प्रशंसा करते हुए उसके शासन-काल को अत्यन्त गौरवपूर्ण बतलाते हैं और दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों में उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं।

विंसेण्ट स्मिथ ने अलाउद्दीन को बर्बर, निर्दयी तथा अत्याचारी बतलाते हुए उनके शासन-काल को अत्यन्त गौरवहीन बतलाया है। यह सत्य है कि सुल्तान में कुछ ऐसी चारित्रिक दुर्बलताएं थीं कि उसे सभ्य तथा सुसंस्कृत सुल्तान नहीं कहा जा सकता। वह बड़ा ही निर्दयी तथ हृदयहीन था। जिस बर्बरता तथा क्रूरता के साथ उसने नये मुसलमानों तथा हिन्दुओं का वध कराया, वह कदापि सराहनीय नहीं है। सुल्तान बड़ा ही स्वार्थी तथा दुश्चरित्र था। उसने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अपने निकटतम सम्बन्धियों का भी नृशंसतापूर्वक वध कराया था। वह स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक मैथुन का व्यसनी था। वह मध्य-काल का विशुद्ध बर्बर बिजेता था। न वह स्वयं पढ़ा-लिखा था और न किसी साहित्यकार अथवा कलाकार को उससे विशेष प्रोत्साहन मिला।

अलाउद्दीन का न केवल व्यक्तिगत जीवन बड़ा निकृष्ट तथा गौरवहीन था, वरन्

उसकी योजनाएँ भी निराधार थीं और स्थायी न सिद्ध हुईं। उसने जितनी व्यवस्थाएँ की थीं, वे सब युद्ध-कालीन थीं। और तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की गयीं थीं। अतएव शान्ति-काल में वे उपयोगी सिद्ध न हुईं और ध्वस्त हो गयीं। उसका शासन विशुद्ध स्वेच्छाचारी, निरंकुश, शक्ति पर आधारित सैनिक शासन था, जो उसके अशक्त उत्तराधिकारियों द्वारा सुरक्षित न रक्खा जा सकी और अन्त में खिलजी-वंश का शासन समाप्त हो गया। उसका शासन न तो लोकप्रिय बन सका और न उसे जनता का समर्थन प्राप्त हो सका। निम्न-कोटि के व्यक्तियों को ऊँचे पद देकर और अपने उत्तराधिकारियों की उचित शिक्षा की उपेक्षा कर उसने खिलजी-वंश की समाधि तैयार कर दी। अतएव उसे दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करना उचित नहीं हैं।

परन्तु एल्फिन्स्टन तथा कुछ अन्य इतिहासकारों के विचार में अलाउद्दीन का शासन बड़ा ही गौरवपूर्ण था और दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में कोई भी उसकी समानता नहीं कर सकता। दिल्ली-सल्तनत में अलाउद्दीन के अतिरिक्त तीन अन्य महान् शासक हुए अर्थात् इल्तुतमिश, वलवन तथा मुहम्मद विन तुगलक। परन्तु इनमें से कोई भी अलाउद्दीन की समानता नहीं कर सकता था। सैनिक तथा प्रशासकीय दोनों ही दृष्टिकोणों से अलाउद्दीन इल्तुतमिश तथा वलवन से बढ़कर था। अलाउद्दीन की समानता मुहम्मद तुगलक भी नहीं कर सकता, क्योंकि जहाँ अलाउद्दीन को अपने सभी उद्देश्यों में सफलता प्राप्त हुई, वहाँ मुहम्मद बिन तुगलक को अपने सभी उद्देश्यों में बिफलता ही प्राप्त हुई। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने वाहुबल से जितने बड़े साम्राज्य की स्थापना की, उतने बड़े साम्राज्य का निर्माण दिल्ली-सल्तनत के अन्य किसी सुल्तान ने नहीं किया और न उतने विशाल साम्राज्य पर शासन ही किया। वह दिल्ली-सल्तनत का पहला सुल्तान था, जिसकी सेनाओं ने दक्षिण भारत में प्रवेश किया और दक्षिण के राजाओं को नत-मस्तक किया। उसने न केवल एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, वरन् उसकी सुरक्षा तथा उसे संगठित रखने की पूरी व्यवस्था भी की। वह अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने में पूर्ण-रूप से सफल रहा। दक्षिण भारत की विजय तथा मुगलों के आक्रमणों से देश की सुरक्षा, ये दो ऐसे कार्य थे, जो अलाउद्दीन को दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। उसने अपने सामने जितने उद्देश्य रक्खे, उस सब में वह सफल रहा।

न केवल सैनिक, वरन् प्रशासकीय दृष्टिकोण से भी अलाउद्दीन दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में सर्वश्रेष्ठ था। उसके सेना सम्बन्धी सुधार, आर्थिक सुधार तथा बाजारों का प्रबन्ध उसकी विलक्षण प्रशासकीय प्रतिभा के प्रमाण हैं। उसने उस धार्मिक कट्टरता के युग में भी लौकिक राज्य की स्थापना कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। उसकी न्याय व्यवस्था भी लौकिक सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने न केवल विद्रोहों का दमन किया वरन् उनके मौलिक कारणों का पता लगा कर उनको समाप्त कर देने का भी प्रयत्न किया। उसकी अनेक प्रशासकीय व्यवस्थकाओं

अनुकरण शेरशाह तथा अकबर ने आगे चलकर किया। इससे स्पष्ट है कि प्रशासकीय दृष्टिकोण से भी दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों में अलाउद्दीन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी—१३१६ ई० में अलाउद्दीन खिलजी का परलोकवास हो गया। मलिक काफूर ने अमीरों को सुल्तान की एक वसीयत दिखलायी, जिसमें उसने अपने अल्प-वयस्क पुत्र उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। अमीरों ने इस वसीयत को स्वीकार कर लिया। फलतः उमर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा दिया गया और काफूर उसके संरक्षक के रूप में शासन करने लगा। परन्तु काफूर ने आरम्भ से ही इतना अत्याचार करना आरम्भ किया कि अमीर लोग उससे अप्रसन्न हो गये। केवल पैंतीस दिन के क्रूर शासन के उपरान्त काफूर की हत्या कर दी गयी और उमर के स्थान पर अलाउद्दीन का दूसरा पुत्र मुबारक शाह दिल्ली का सुल्तान बन गया। यद्यपि मुबारक ने प्रारम्भ में बड़ी अच्छी तरह शासन किया, परन्तु कालान्तर में वह चरित्रभ्रष्ट हो गया। कहा जाता है कि वह नारी के वेश में दरबार में उपस्थित होता था और भाँड़ों तथा वेश्याओं से अपने अमीरों को अपमानित कराया करता था। इससे अमीरों में बड़ा असन्तोष फैला। मुबारक की आदतों में कोई सुधार न हुआ, वरन् वह खुसरो नामक एक बड़े ही अवांछनीय व्यक्ति के प्रभाव में आकर बिगड़ता ही गया। अन्त में खुसरो ने ही उसकी हत्या कर दी और स्वयं नासिरुद्दीन खुसरो शाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार खिलजी वंश का अन्त हो गया। परन्तु खुसरो अधिक दिनों तक सिंहासन पर न रह सका। वह गुजरात का हिन्दू था और नीच वंश में उत्पन्न हुआ था। बाद में वह मुसलमान हो गया था। उच्च-वंशीय अमीर उसके शासन को सहन न कर सके और दिपालपुर के शासक गाजी मलिक के नेतृत्व में उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। गाजी मलिक तथा खुसरो की सेनाओं में भीषण संघर्ष हुआ। परन्तु विजय गाजी मलिक को ही प्राप्त हुई और वह दिल्ली का सुल्तान बन गया। इस प्रकार दिल्ली में एक नये राज-वंश की स्थापना हुई, जो तुगलक-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अध्याय ३०

तुगलक-वंश

(१३२०-१४१३ ई०)

"The king is of all men the one who must love to dispense gifts and to shed blood. His gateway is never free from a beggar whom he has relieved and a corpse which he has slain. Tales are spread abroad among the people of his generosity and courage as of his bloodshed and vindictiveness towards offenders. With all this he is the humblest of men and the most eager to show justice and truth. The rites of religion find full observance with him, and he is strict in the matter of prayer and in punishing its neglect............But what is pre-eminent in him is generosity.

—Ibn Batuta.

तुगलक कौन थे ?—तुगलक-वंश का संस्थापक गाजी मलिक था, जो दिपालपुर का शासक था । उसने खुसरो को, जिसने खिलजी-वंश से सिंहासन छीन लिया था, परास्त कर दिया था । पहले गाजी मलिक ने खिलजी-वंश वालों की खोज की परन्तु जब उस वंश का कोई व्यक्ति जीवित न मिला तब वह स्वयं गयासुद्दीन तुगलक के नाम से सिंहासन पर बैठ गया । चूंकि उसने तुगलक शाह की उपाधि धारण की थी, अतएव यह नया राज-वंश तुगलक-वंश कहलाया । तुगलक लोग भी तुर्क थे । परन्तु कुछ लोग इन्हें मुगलों से मिश्रित रक्त का मानते हैं । तुगलक लोगों के कबीले का नाम करौना था, जो सिन्धु तथा तुर्किस्तान के मध्य के पर्वतीय-प्रदेश में रहते थे । अतएव वह लोग करौना तुर्क कहलाते हैं ।

गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-२५ ई०)—गयासुद्दीन का पिता बलबन का एक गुलाम था और उसकी माता जाट स्त्री थी । उसने अलाउद्दीन खिलजी के यहाँ नौकरी कर ली थी और मुगलों के आक्रमणों का सामना करने में उसकी बड़ी सहायता की थी । उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सुल्तान ने उसे दिपालपुर का गवर्नर बना दिया था । सिंहासन पर बैठने के उपरान्त गयासुद्दीन को दो समस्याओं का सामना करना पड़ा । पहली समस्या आर्थिक थी और दूसरी साम्राज्य की विश्रृंखलता । राज-कोष खाली हो गया था और साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था । गयासुद्दीन ने इन दोनों ही समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया ।

राज्य की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए उसने उन लोगों को, जिन्होंने

राज्य को हड़प लिया था और विशेष कर जिन लोगों ने खुसरो से रिश्वत ली थी, उन्हें सारा धन राज्य को वापस करने के लिए बाध्य किया। अलाउद्दीन की कठोर नीति से कृषि को बड़ी हानि पहुँची थी और बहुत से किसान अपना खेत छोड़कर भाग गये थे। गयासुद्दीन ने किसानों के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया। कृषि की जाँच-पड़ताल कर उसने भूमि-कर को निश्चित किया। वह उपज का सातवाँ या दसवाँ भाग लेता था। किसानों की धन से सहायता की गयी और सिंचाई के लिए कुओं तथा नहरों की व्यवस्था की गयी।

आर्थिक समस्या को सुलझाने के बाद गयासुद्दीन ने साम्राज्य को सुसंगठित करने का प्रयत्न आरम्भ किया। १३२० ई० में उसने बारंगल के राजा प्रताप रुद्रदेव पर आक्रमण करने के लिए शाहजादा जूना खाँ को भेजा। प्रताप रुद्रदेव परास्त हो गया और बन्दी बना कर दिल्ली भेज दिया गया। उसका राज्य दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया।

उड़ीसा के राजा भानुदेव द्वितीय ने प्रताप रुद्रदेव की सहायता की थी, अतएव जूना खाँ ने उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया। भानुदेव हार गया, परन्तु उसका राज्य दिल्ली-सल्तनत में नहीं मिलाया गया। जूना खाँ लूट का बहुत-सा माल लेकर दिल्ली लौट गया।

इन्हीं दिनों सुल्तान को मुगलों के आक्रमण की सूचना मिली। उसने तुरन्त एक सेना समाना के हाकिम की सहायता के लिए भेज दी। मुगलों को दो बार परास्त किया गया और उन्हें भारत से निकाल बाहर किया गया।

१३२४ ई० में गयासुद्दीन को बंगाल में उत्तराधिकारी के झगड़े का निर्णय करने के गिए लखनौती जाना पड़ा। सुल्तान ने विद्रोह को दबा दिया और नासिरुद्दीन को यहाँ का शासक बना दिया। इसके बाद उसने दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया।

मार्ग में उसने तिरहुत के राजा को परास्त किया। तिरहुत का राज्य दिल्ली-सल्तनत में मिला लिया गया और वहाँ पर एक मुसलमान गवर्नर नियुक्त कर दिया गया।

गयासुद्दीन की मृत्यु (१३२५ ई०)—तिरहुत-विजय के उपरान्त जब सुल्तान दिल्ली लौट रहा था, तब शाहजादा जूना खाँ ने उसका स्वागत करने के लिए तुगलकाबाद में एक शामियाना बनवाया। कहा जाता है कि दावत के बाद जब बंगाल से लाये हुए हाथियों का प्रदर्शन किया जा रहा था, तब शामियाना गिर पड़ा और गयासुद्दीन तथा उसका एक छोटा पुत्र महमूद खाँ शामियाने के नीचे दब कर मर गये। विद्वानों की धारणा है कि गयासुद्दीन की इस हत्या में जूना खाँ का हाथ था। अपने पिता की मृत्यु के बाद जूना खाँ दिल्ली का सुल्तान हुआ।

मुहम्मद बिन तुगलक का सिंहासनारोहण— अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त शाहजादा जूना खाँ ने बड़ी सतर्कता से काम लिया, जिससे लोग इस बात का सन्देह न करें कि उसने जान-बूझ कर अपने पिता की हत्या करवा दी है। अतएव

चालीस दिन तक वह सिंहासन पर नहीं बैठा। इस बीच राज्य में बड़ा शोक मनाया गया और शाहजादा स्वयं काला वस्त्र पहन कर शोक मनाता रहा।

अपने पिता की मृत्यु के चालीस दिन बाद बड़ी सज-धज तथा बड़े समारोह के साथ जूना खाँ ने दिल्ली में प्रवेश किया और मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से सिंहासन पर बैठ गया। मुहम्मद तुगलक निर्विरोध सिंहासन पर बैठ गया। उसके सामने केवल यही समस्या थी कि लोग उसे पितृ-हंता न समझें। प्रजा के सन्देह को मिटाने के लिए सुल्तान ने साधारण जनता तथा अमीरों को मुग्ध करने का प्रयत्न किया। साधारण जनता को प्रसन्न करने के लिए सुल्तान ने अपने सिंहासनारोहण के समय सोने-चाँदी की मुद्राओं की वर्षा कर दी। उसके पिता का राजकोष भरा-पूरा था। इस धन को उसने खूब लुटाया। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण जनता सुल्तान से प्रसन्न हो गयी और उसके मन में कोई कुभाव नहीं पैदा हुआ। अमीरों को प्रसन्न करने के लिए सुल्तान ने उन्हें ऊँचे-ऊंचे पद, सम्मानपूर्ण पदवियाँ तथा बड़े-बड़े पुरस्कार दिये। इस प्रकार सुल्तान ने अमीरों के हृदय पर विजय प्राप्त कर ली और बड़ी ही अनुकूल परिस्थितियों में शासन करना आरम्भ किया। उसके शासन-काल को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अर्थात् आयोजनाओं का काल तथा विद्रोह का काल।

आयोजनाओं का काल (१३२५-१३३५ ई०)—सुल्तान के शासन के प्रथम दस वर्षों को आयोजनाओं का काल कहा जाता है। इस काल में सुल्तान ने अनेक योजनाएँ कीं, जिनमें उसे सफलता न प्राप्त हुई। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "उदारतापूर्ण सुधार-योजनाएँ कभी भी दुर्भाग्य द्वारा इतनी निर्दयतापूर्वक ध्वस्त नहीं की गयी थीं, जितनी मुहम्मद तुगलक के सम्बन्ध में।"[1] उसकी विफलता का मुख्य कारण सुल्तान का अपना चरित्र तथा उसकी परिस्थितियाँ थीं। सुल्तान की प्रधान योजनाएँ निम्नलिखित थीं।

(१) **दोआब-कर योजना**—यहाँ पर 'दो' का अर्थ है गंगा तथा यमुना और 'आब' का अर्थ है जल। दोआब उस प्रदेश को कहते हैं, जो गंगा-यमुना नदियों के बीच स्थित है। यह प्रदेश बड़ा ही उपजाऊ तथा सम्पन्न है और यहाँ के लोग बड़ी ही विद्रोही प्रवृत्ति के थे। सिंहासन पर बैठने के थोड़े ही दिन बाद सुल्तान ने दोआब में कर बढ़ा दिया। बरनी के कथनानुसार कर की दर पहले से ही दस-बीस गुना अधिक बढ़ा दी गयी थी। भूमि-कर के अतिरिक्त किसानों को गृह-कर तथा चरागाह-कर भी देना पड़ता था। दुर्भाग्यवश इन्हीं दिनों अकाल भी पड़ गया। इससे प्रजा का कष्ट इतना अधिक बढ़ गया कि लोग अपना घर छोड़कर जंगलों में भाग गये। अन्त में विवश होकर सुल्तान ने अपनी आज्ञा को वापस ले लिया, परन्तु यह

---

1. "Never were benevolent schemes of reform more cruelly frussrated by an evil fate than in the case of Muhammad Tughluq.

—**Dr. Ishwari Prasad.**

सब तब किया गया, जब किसानों का सर्वनाश हो चुका था।

सुल्तान की कर-वृद्धि की आयोजना बिल्कुल असफल सिद्ध हुई। उसकी असफलता के दो प्रधान कारण थे। पहला कारण यह था कि किसान बढ़ी हुई दर पर कर देने को तैयार न थे और दूसरा कारण यह था कि अकाल पड़ जाने से लोगों की कर देने की सामर्थ्य ही समाप्त हो गई थी।

(२) राजधानी का परिवर्तन— सिंहासन पर बैठने के दूसरे वर्ष सुल्तान ने अपनी राजधानी को दिल्ली से देवगिरि ले जाने का निश्चय किया और देवगिरि का नाम बदल कर दौलताबाद रख दिया। राजधानी के परिवर्तन के दो प्रधान कारण बतलाये जाते हैं। पहला कारण यह था कि देवगिरि सुल्तान के राज्य के मध्य में था और वहाँ से वह अपने पूरे राज्य की देख-भाल कर सकता था। दूसरा कारण यह था कि दक्षिण में अभी सुल्तान की सत्ता ठीक से स्थापित न हो सकी थी, अतएव दक्षिण में अपनी राजधानी बनाकर वह उत्तर की भाँति दक्षिण में भी अपनी सत्ता को सुदृढ़ बना सकता था। फलतः उसने दिल्ली के सभी लोगों को दौलताबाद जाने की आज्ञा दे दी। सुल्तान ने दौलताबाद में बहुत सुन्दर भवन बनवा दिये थे और हर प्रकार से अपनी राजधानी को सुशोभित बना दिया था, जिससे दिल्ली के लोग प्रसन्न रहें। मार्ग में भी सुल्तान ने सभी प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु जब दिल्ली के लोग दौलताबाद पहुँचे, तब वहाँ पर उनका मन न लगा और दिल्ली की याद उन्हें सताने लगी। इससे लोगों में बड़ा असन्तोष फैला। सुल्तान ने जब लोगों को असन्तुष्ट देखा, तब फिर लोगों को दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दे दी। यद्यपि सुल्तान ने मार्ग में हर प्रकार की सुविधा देने का प्रयत्न किया, परन्तु अधिकांश लोग मार्ग में ही मर गये और बहुत कम लोग वापस लौटे।

इस प्रकार सुल्तान की दूसरी योजना भी असफल सिद्ध हुई। इस योजना की असफलता के भी दो प्रधान कारण थे। पहला कारण यह था कि दिल्ली के लोगों का दौलताबाद में मन न लगा और वे दिल्ली वापस लौटने के लिए आतुर हो रहे थे और दूसरा कारण यह था कि सुल्तान का राजधानी बदलने का तरीका गलत था। उसे राजधानी का परिवर्तन धीरे-धीरे करना चाहिए था। पहले उसे सरकारी दफ्तरों तथा सरकारी कर्मचारियों को ही भेजना चाहिए था और फिर धीरे-धीरे अन्य लोगों को भेजना चाहिए था। इसके विपरीत उसने सभी लोगों को एक साथ भेज दिया, यही सुल्तान की सबसे बड़ी भूल थी।

(३) मुगलों का आक्रमण— सुल्तान के राजधानी-परिवर्तन की विफलता से प्रोत्साहित होकर १३२९ ई० में मुगलों ने तरमाशिरीन की अध्यक्षता में भारत पर आक्रमण कर दिया। सुल्तान के लिए यह बड़े सङ्कट का काल था अतएव उसने मुगलों को बहुत-सा धन देकर पीछा छुड़ाया।

सुल्तान की इस नीति की भी तीव्र आलोचना की गई है, क्योंकि इस धन देने की नीति के सुल्तान की कायरता प्रकट होती है और इससे मुगलों का भारत पर आक्रमण करने का उत्साह बढ़ गया। परन्तु इस सङ्कट-काल में सुल्तान ने जिस नीति

का अनुसरण किया, वह उचित थी। तरमाशिरीन ने सदैव सुल्तान के साथ मैत्री रक्खी। इससे स्पष्ट है कि सुल्तान ने कायरता-वंश मुगलों को धन नहीं दिया था।

(४) ताँबे का सिक्का—राजधानी-परिवर्तन की आयोजना के विफल हो जाने के उपरान्त सुल्तान ने ताँबे का सिक्का चलाने की योजना बनाई। इस योजना के बनाने के कई कारण थे। इसका पहला कारण यह था कि सुल्तान ने बहुत-सा धन पुरस्कार देने, राजधानी के परिवर्तन करने, मुगलों को रिश्वत देने तथा विद्रोह को शान्त करने में व्यय कर दिया था, अतएव अब वह सोने-चाँदी की मुद्राओं को सुरक्षित रखना चाहता था। इसका दूसरा कारण यह था कि इन दिनों न केवल भारत में वरन् सारे संसार में चाँदी की कमी का अनुभव किया जा रहा था। अतएव किसी नई धातु के सिक्के का चलाना आवश्यक था। इसका तीसरा कारण यह था कि सुल्तान को नई-नई योजनाओं के बनाने का बड़ा शौक था। इन्हीं दिनों चीन में कुबलाई खाँ ने कागज की मुद्राएँ चलाई थीं। फारस के शासक ने संकेत-मुद्रा का प्रचलन आरम्भ कर दिया था। अतएव सुल्तान ने भी संकेत-मुद्रा का प्रचलन आरम्भ किया। अब सोने-चाँदी की मुद्रा के स्थान पर ताँबे के सिक्के का प्रयोग होने लगा। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद लोगों ने अपने घरों में टकसाल खोल दिये और ताँबे के सिक्के बनाने लगे। इससे व्यापारियों का विश्वास ताँबे के सिक्के पर से उठ गया और उन लोगों के ताँबे के सिक्के के बदले में माल देने से इन्कार कर दिया। इससे ताँबे के सिक्के की योजना निष्फल हो गई। सुल्तान ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए यह आज्ञा निकाल दी कि लोग ताँबे के बदले में सोने-चाँदी की मुद्राएँ ले जायँ। इसका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली में ताँबे के सिक्के के ढेर लग गये और सुल्तान का खजाना सोने-चाँदी के सिक्कों से खाली हो गया।

ताँबे के सिक्के की योजना के विफल हो जाने का सबसे बड़ा कारण यह था कि इन मुद्राओं पर कोई सरकारी चिन्ह न था और न मुद्रा बनाने पर सरकार का एकाधिकार था। संकेत मुद्रा चलाने के पहले सुल्तान को ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिए थी कि लोग अपने घरों में मुद्राएँ न बना सकें। ताँबा ताँबा ही था और उसमें विश्वास पैदा करने के लिए सुल्तान को बड़ी सतर्कता से काम करना चाहिए था। लोगों के मन में यह बात पैदा हो गई कि सुल्तान ने लोगों का सोना-चाँदी हड़प करने के लिए ताँबे के सिक्के चलाये हैं। अतएव यह योजना ध्वस्त हो गई।

(५) खुरासान-विजय की आयोजना—सुल्तान ने खुरासान-विजय की भी आयोजना बनाई थी। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जब सुल्तान मुगलों से युद्ध करने में असमर्थ था, तब उसने खुरासान पर आक्रमण करने की योजना कैसे बनाई। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल सरदार तरमाशिरीन से मैत्री हो जाने के कारण ही सुल्तान को प्रोत्साहन मिला था। इन दिनों फारस की स्थिति भी बड़ी शोचनीय थी। वहाँ पर आन्तरिक झगड़ा चल रहा था और मिस्र का शासक तथा मंगोल लोग भी फारस पर अपनी दृष्टि लगाये थे। इन परिस्थितियों में खुरासान पर आक्रमण करने की योजना बनाना सुल्तान के लिए स्वाभाविक ही था। अब भारत में

उसे कोई नई विजय नहीं करनी थी। अतएव अब विदेशों में विजय का कार्य कर सुल्तान अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहता था। फलतः उसने एक विशाल सेना खुरासान पर आक्रमण करने के लिए तैयार की। परन्तु यह योजना कार्यान्वित न हो सकी और त्याग दी गई।

खुरासान-विजय की योजना को त्यागने का पहला कारण यह था कि इसमें बहुत अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता थी। इसका दूसरा कारण यह था कि अब फारस के आन्तरिक झगड़े समाप्त हो गये थे और अपने पड़ोसियों के साथ फारस के शाह का मनोमालिन्य समाप्त हो गया था। सम्भवतः मार्ग की कठिनाइयों का भी अनुभव करके सुल्तान ने इस योजना का त्याग कर दिया।

(६) नगरकोट-विजय की आयोजना—नगरकोट पंजाब के काँगड़ा जिले में स्थित है। नगरकोट का दुर्ग अपनी सुदृढ़ता के लिए प्रसिद्ध था। सुल्तान ने इस दुर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय कर लिया और १३३० ई० में एक विशाल सेना के साथ नगरकोट के लिए प्रस्थान कर दिया। नगरकोट पर सुल्तान का प्रभुत्व स्थापित हो गया, परन्तु दुर्ग को उसने वहाँ के राय को लौटा दिया।

(७) कराजल पर विजय की आयोजना—कराजल का राज्य चीन तथा भारत के बीच हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में स्थित था। फिरिश्ता का कहना है कि वास्तव में सुल्तान चीन पर आक्रमण करना चाहता था। चूँकि कराजल मार्ग में पड़ता था अतएव अपनी चीन-विजय को सरल बनाने के लिए ही सुल्तान ने कराजल-विजय की योजना बनाई। परन्तु अब इतिहासकारों की यह धारणा है कि सुल्तान ने चीन-विजय के लिए नहीं, वरन् हिमालय-प्रदेश के कुछ विद्रोही सरदारों का दमन करने के लिए ही यह योजना बनाई थी। प्रारम्भ में सुल्तान को बड़ी सफलता मिली, परन्तु जब वर्षा आरम्भ हो गई, तब सुल्तान की सेना को बड़ी क्षति पहुँची। कहा जाता है कि केवल दस सैनिक अपनी दुःखद कहानी सुनाने के लिए उसके पास वापस लौटे।

विद्रोहों का काल—मुहम्मद तुगलक की योजनाओं के विफल हो जाने के कारण उसके कोष पर बहुत बड़ा धक्का लगा और जनता में बड़ा असन्तोष फैला। इस असन्तोष से सुल्तान के प्रान्तपतियों तथा अधीनस्थ राज्यों ने लाभ उठाने का प्रयत्न किया और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। फलतः सुल्तान के शासन के अन्तिम सोलह वर्ष बड़े सङ्कट के थे और इस काल को विद्रोहों का काल माना जाता है। इन विद्रोहों का ध्यान से अध्ययन करने पर इनमें कई विशेषताएँ मिलती हैं। इनकी पहली विशेषता यह है कि इनका क्षेत्र बड़ा विस्तृत था। इनका विस्फोट राज्य के किसी एक भाग में नहीं, वरन् राज्य के सभी भागों में एक साथ हुआ। इन विद्रोहों की दूसरी विशेषता यह थी कि यदि एक विद्रोह उत्तर में होता था तो दूसरा सुदूर दक्षिण में, यदि एक पश्चिम में होता था तो दूसरा सुदूर पूर्व में। इससे इन विद्रोहों को दबाने में बड़ी कठिनाई होती थी और प्रायः विद्रोह सफल हो जाते थे। इन की तीसरी विशेषता यह थी कि यह विद्रोह एक-दूसरे से सम्बन्धित थे और ऐसा

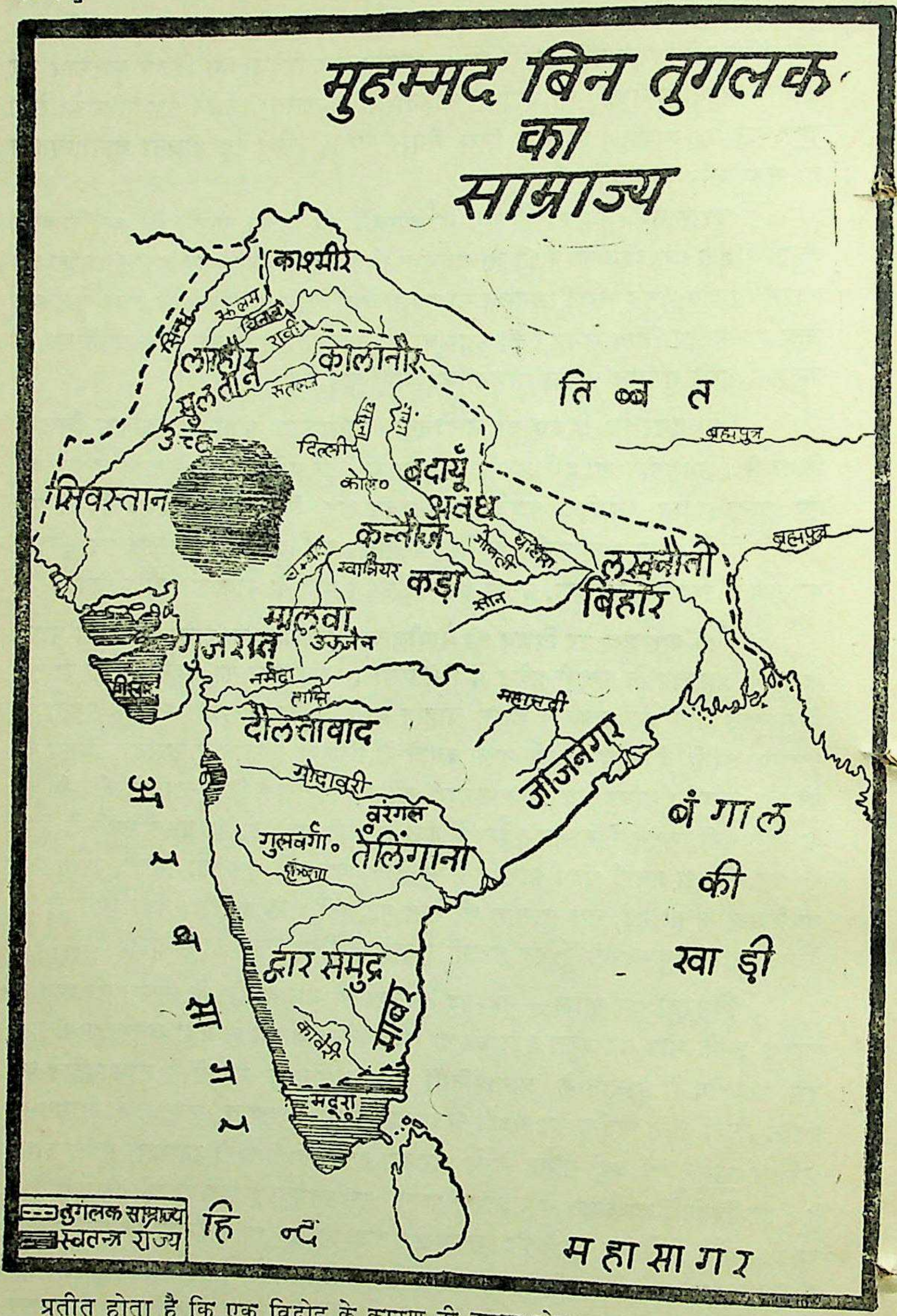
मुहम्मद बिन तुगलक का साम्राज्य
काश्मीर
झेलम
चिनाब
सिन्धु
रावी
लाहौर
कुलानौर
मुलतान
सतलज
उच्छ
तिब्बत
ब्रह्मपुत्र
दिल्ली
कोल
बदायूँ
अवध
सिवस्तान
कन्नौज
गोमती
घाघरा
चम्बल
ग्वालियर
कड़ा
सोन
लखनौती
ब्रह्मपुत्र
बिहार
मालवा
उज्जैन
गुजरात
नर्मदा
ताप्ती
दौलताबाद
महानदी
जाजनगर
गोदावरी
वरंगल
गुलबर्गा
तेलिंगाना
कृष्णा
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
द्वार समुद्र
माबर
कावेरी
मदूरा
तुगलक साम्राज्य
स्वतन्त्र राज्य
हिन्द महासागर

प्रतीत होता है कि एक विद्रोह के कारण ही दूसरा होता था। इन विद्रोहों का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अनेक स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई। दक्षिण-भारत में विजयनगर तथा वहमनी नामक दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्यों की स्थापना हुई जिनका भारत के इतिहास में वहुत वड़ा महत्त्व है।

शासन-प्रबन्ध—दिल्ली-सल्तनत के सिंहासन पर अभी तक जितने सुल्तान बैठे थे, उनमें मुहम्मद तुगलक सबसे अधिक पढ़ा-लिखा तथा विद्वान् था, उसका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था और वह अपनी प्रजा की सेवा करना चाहता था। अतएव उसने शासन-प्रबन्ध को सुधारने का प्रयत्न किया। उसके शासन-प्रबन्ध की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

लौकिक शासन – मुहम्मद तुगलक के शासन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उसने बलबन तथा अलाउद्दीन खिलजी की भाँति राजनीति को धर्म से अलग कर दिया था और एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की थी। वह शासन के सम्बन्ध में उलेमा लोगों का परामर्श नहीं लेता था। वह जानता था कि उलेमा लोगों का पतन हो गया है और धर्मान्ध तथा संकीर्ण विचार के होने के कारण वे सही सलाह नहीं दे सकते थे। फलतः उसने उलेमा लोगों के प्रभाव को राज्य में समाप्त कर दिया। इससे उलेमा लोग उससे बहुत अप्रसन्न थे और उसकी निन्दा किया करते थे।

धार्मिक सहिष्णुता—मुहम्मद तुगलक के शासन की दूसरी विशेषता यह थी कि उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया था। उसके शासन-काल में हिन्दुओं के साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होता था। उसके शासन-काल में न तो हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया गया और न उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ा गया। चूंकि हिन्दू लोग राज्य की सैनिक सेवा नहीं करते थे, अतएव उन्हें जजिया नामक कर देना पड़ता था, परन्तु ब्राह्मण लोग इस कर से मुक्त थे। हिन्दुओं को पूजा-पाठ करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। सुल्तान की इस धार्मिक सहिष्णुता की नीति से भी उलेमा वर्ग बहुत अप्रसन्न रहता था और उसकी निरर्थक निन्दा किया करता था।

स्वेच्छाचारी शासन – उस युग के अन्य शासकों की भाँति मुहम्मद तुगलक का भी शासन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था। राज्य की सारी शक्ति सुल्तान के हाथ में थी और वही सब अधिकारों का स्रोत समझा जाता था। यद्यपि सुल्तान राज्य का सर्वेसर्वा था, परन्तु वह शासन के महत्त्वपूर्ण मामलों में अपने प्रमुख अमीरों तथा बड़े-बड़े अफसरों का परामर्श ले लिया करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान का अपना व्यक्तित्व इतना अधिक ऊँचा था कि उसके परामर्शदाता उसे सही परामर्श देने का साहस नहीं करते थे। इसी से वे सुल्तान को विभिन्न प्रकार की आयोजनाएँ बनाने से रोक न सके। ऐसा प्रतीत होता है कि उलेमा लोगों की ही भाँति देशी अमीरों का भी पतन हो गया था। जब सुल्तान ने देशी अमीरों की अयोग्यता का अनुभव किया, तब उसने विदेशी अमीरों को राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद देना आरम्भ किया। परन्तु सुल्तान की इस नीति का परिणाम राज्य के लिए अच्छा न हुआ। यह विदेशी अमीर राज-भक्त न रह सके। ये लोग विद्रोह करके अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। इसके अतिरिक्त देशी तथा विदेशी अमीरों में बड़ी ईर्ष्या फैल गई और उनमें भीषण संघर्ष चलने लगा।

आर्थिक समस्या—अपने शासन को ठीक से चलाने तथा अपनी आयोजनाओं को सफल बनाने के लिए सुल्तान ने आर्थिक सुव्यवस्था का भी प्रबन्ध किया । मालगुजारी वसूल करने के लिए उसने सारी भूमि शिकों में बाँट दी थी और प्रत्येक शिक में एक शिकदार नियुक्त कर दिया, जो लगान वसूल करके सरकारी खजाने में भेज देता था । कभी-कभी भूमि ठेकेदारों को दे दी जाती थी ।

मुद्रा के भी सुधार का सुल्तान ने प्रयत्न किया था । उसने कई प्रकार की मुद्राएँ चलाईं, जो बड़ी सुन्दर थीं । उसने 'दीना' दीनार नामक सोने की मुद्रा और 'अदली' नामक चाँदी की मुद्रा का जीर्णोद्धार करवाया था । उसने संकेत-मुद्रा का भी प्रचलन किया, परन्तु उसमें वह सफल न हो सका ।

सुल्तान अपने राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता को बनाये रखने में सफल न रहा । इसके दो प्रधान कारण थे । पहला कारण तो प्रकृति का प्रकोप था । उसके शासन-काल में सात वर्षों तक दुर्भिक्ष चलता रहा, जिसका प्रभाव उसकी प्रजा की आर्थिक स्थिति तथा उसके राज-कोष पर घातक सिद्ध हुआ । दूसरा कारण उसकी संकेत-मुद्रा की नीति थी । उसने ताँबे के सिक्के के बदले में सोने-चाँदी की मुद्राएँ देकर राज्य की प्रतिष्ठा की तो रक्षा कर ली, परन्तु उसका खजाना बिल्कुल खाली हो गया जिससे उसे अपने शासन को सुचारु-रीति से चलाने में बड़ी कठिनाई पड़ी । राजधानी के परिवतन तथा विजय-सेनाओं में भी उसे बड़ा धन व्यय करना पड़ा था, जिसके उसके कोष पर बहुत बड़ा धक्का लगा था ।

न्याय-व्यवस्था—मुहम्मद तुगलक ने न्याय को धर्म से अलग कर दिया था और लौकिक न्याय की स्थापना की थी । वह बिल्कुल निष्पक्ष न्याय किया करता था और अपराधियों को दण्ड देने में वह लेश-मात्र संकोच नहीं करता था । उसका दण्ड-विधान बड़ा कठोर था और वह अपराधियों को बड़े कठोर दण्ड दिया करता था । मृत्यु तथा अंग-भंग का दण्ड, प्रायः दोनों ही दिया जाता था । न्याय का कार्य प्रायः काजी किया करता था, जिसकी सहायता के लिए मुफ्ती हुआ करते थे । मुकदमों की अपीलों को सुल्तान स्वयं सुना करता था ।

पुलिस तथा जेल—अपराधों को रोकने तथा उनका पता लगाने के लिये सुल्तान ने पुलिस की भी व्यवस्था कर रक्खी थी । कोतवाल पुलिस-विभाग का एक बड़ा पदाधिकारी था, जो शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी होता था । अपराधों का पता लगाने के लिए गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे । चूंकि प्रायः मृत्यु तथा अंग-भंग के दण्ड दिये जाते थे, अतएव जेलों की बड़ी कमी थी । प्रायः दुर्ग ही जेल का काम देते थे और उन्हीं में अपराधियों को रक्खा जाता था ।

डाक-व्यवस्था—सुल्तान ने डाक को ले जाने का भी अच्छा प्रबन्ध किया था । डाक घुड़सवारों तथा पैदल-हरकारों, दोनों के द्वारा भेजी जाती थी । सड़कों के दोनों किनारों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर डाक चौकियाँ बनी रहती थीं । प्रत्येक चौकी पर दस आदमी डाक ले जाने के लिए रहते थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पत्र तथा सूचनाएं ले जाया करते थे ।

गुलामों की व्यवस्था—मुहम्मद तुगलक के काल में गुलामों की अधिकता थी। कहा जाता है कि सुल्तान के कई हजार पुरुष तथा स्त्री गुलाम थे। इन गुलामों में से अधिकांश युद्ध के कैदी थे। इन गुलामों के साथ प्रायः अच्छा व्यवहार किया जाता था और इन्हें राज्य में नौकरियाँ मिल जाती थीं। ऊँचे पद पर भी ये लोग नियुक्त किये जाते थे। सुल्तान के अंग-रक्षक प्रायः यही लोग नियुक्त किये जाते थे। गुलाम स्त्रियाँ गुप्तचर का भी काम किया करती थीं।

साहित्य तथा शिक्षा—मुहम्मद तुगलक स्वयं उच्च-कोटि का विद्वान् तथा बड़ा ही सभ्य व्यक्ति था, अतएव वह विद्वानों का बड़ा आदर करता था और उनकी सहायता कर उन्हें प्रोत्साहन दिया करता था। बद्रे चाच उसके दरबार का बहुत बड़ा कवि था। मीर हसन देहलवी उसके दरबार का दूसरा विख्यात विद्वान् था। जियाउद्दीन बरनी तथा इब्नबतूता इस काल के बहुत बड़े इतिहासकार थे।

शिक्षा धर्म-प्रभावित थी और प्रत्येक मदरसा या मकतब किसी-न-किसी मस्जिद से संलग्न रहता था। शिक्षा का कार्य मुल्ला-मौलवियों के हाथ में था। यह लोग फारसी तथा अरबी की शिक्षा दिया करते थे। हिन्दू लोग अपनी पाठशालाओं में संस्कृत की शिक्षा दिया करते थे और काशी संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र था। परन्तु भक्ति-आन्दोलन के साथ-साथ प्रान्तीय भाषाओं का विकास हो रहा था, क्योंकि सुधारक सन्त प्रान्तीय भाषाओं में अपने उपदेश दिया करते थे। हिन्दी का विकास हो रहा था और कवि अमीर खुसरो हिन्दी का बड़ा प्रेमी था। हिन्दुओं की शिक्षा भी धर्म-प्रभावित थी।

मुहम्मद तुगलक की विफलता—मुहम्मद बिन तुगलक के जीवन तथा उसके शासन की समीक्षा करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका जीवन तथा उसका शासन विफलताओं की एक करुण कहानी है। उसकी विफलता का उल्लेख करते हुए डा० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "यह सत्य है कि वह असफल रहा, परन्तु उसकी असफलता अधिकांशतः उन परिस्थितियों के कारण हुई, जिन पर उसका बहुत कम या बिलकुल नियन्त्रण न था।"[1] इतना बड़ा विद्वान्, योग्य तथा प्रजा के हित को ध्यान में रखने वाला शासक उसके पूर्व दिल्ली के सिंहासन पर न बैठा था, परन्तु उसके जीवन की सभी आकांक्षाएँ असफल सिद्ध हुईं और उसका जीवन विफलताओं का एक क्रमबद्ध इतिहास बन गया। उसकी विफलताओं के निम्नलिखित कारण प्रतीत होते हैं :—

(१) सुल्तान की त्रुटियाँ—अपनी असफलताओं के लिए बहुत बड़े अंश में सुल्तान स्वयं उत्तरदायी था। वह बड़ी ही उग्र प्रकृति का व्यक्ति था। जब लोग उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करते अथवा उसके साथ सहयोग नहीं करते थे, तब उसके

---

[1] "It is true he failed but his failure was largely due to icrcumstances over which he had little or no control."

—Dr. Ishwari Prasad.

क्रोध की सीमा नहीं रह जाती थी और वह लोगों को बड़े कठोर दण्ड दिया करता था। परन्तु कठोर दण्ड से लोगों का असन्तोष और बढ़ जाता था। सुल्तान की दूसरी बहुत बड़ी दुर्बलता यह थी कि उसमें उतावलापन बहुत अधिक था, जिससे किसी काम को वह गम्भीरतापूर्वक विचार करके नहीं कर पाता था। उसे आदमियों की भी परख न थी, इससे जिन लोगों पर वह विश्वास करता था वे ही उसको धोखा दे दिया करते थे।

(२) कट्टर-पन्थियों का असहयोग--सुल्तान बड़े ही उदार स्वभाव का व्यक्ति था। उसमें धार्मिक कट्टरता अथवा धर्मान्धता न थी। अतएव उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया और उलेमा लोगों को राजनीति से अलग कर दिया। इससे कट्टरपन्थी मुसलमान उससे अप्रसन्न हो गये और उसके साथ असहयोग करने लगे।

(३) आयोजनाओं का समय से आगे होना—सुल्तान की बहुत-सी आयोजनाओं के असफल होने का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि वे अपने समय से बहुत आगे थीं और उनको लोग ठीक से समझ नहीं पाते थे। इससे लोग सुल्तान के साथ सहयोग नहीं करते थे और वे ध्वस्त हो जाती थीं। सुल्तान की संकेत-मुद्रा की असफलता का यह भी एक कारण था।

(४) प्रजा का असहयोग—यह सुल्तान का बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि उसकी प्रजा ने उसकी आयोजनाओं को ठीक से समझा नहीं और सफल बनाने के स्थान पर उनमें बाधा उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। उसकी राजधानी परिवर्तन की आयोजना की विफलता का यही कारण था। उसकी प्रजा ने दौलताबाद में रहना पसन्द न किया और वह दिल्ली वापस जाने के लिए आतुर हो उठी।

(५) प्रकृति की प्रतिकूलता—सुल्तान को अपनी अनेक योजनाओं में प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण भी विफलता प्राप्त हुई। उसके शासन-काल में लगभग सात वर्षों तक दुर्भिक्ष का प्रकोप रहा। यह दुर्भिक्ष उसी समय आरम्भ हुआ, जब सुल्तान ने दोआब में कर की वृद्धि की। सुल्तान की कराजल-विजय की योजना में वर्षा से बड़ी बाधा पहुँची थी। इस प्रकार प्रकृति ने सुल्तान की आयोजनाओं को असफल बनाने में बड़ी सहायता पहुँचाई।

(६) योग्य अधिकारियों का अभाव—यह सुल्तान का बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि उसे योग्य सेनापतियों तथा कुशल शासकों की सेवाएँ न प्राप्त हो सकीं। यदि उसे उसी प्रकार के योग्य सेनापतियों की सेवाएँ मिली होतीं, जिस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी को, तो वह विद्रोह का दमन करने में निश्चित रूप से सफल हुआ होता। इस प्रकार यदि उसे योग्य परामर्शदाताओं की सेवाएँ प्राप्त होतीं, तो वे उसे काल्पनिक आयोजनाओं को करने से रोकते, जिस प्रकार काजी अला-उल-मुल्क ने अलाउद्दीन खिलजी को रोका था।

(७) विदेशियों का शासन में प्रवेश—जब सुल्तान को देशी अमीरों का सहयोग न मिला और उसने उनको निकम्मा तथा स्वार्थी पाया, तब उसने विदेशी

अमीरों की सहायता से शासन करने का प्रयत्न किया। ये विदेशी अमीर राज-भक्त न बन सके। अवसर पाकर इन लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना आरम्भ कर दिया।

(८) **प्रान्तपतियों का विद्रोह**—सुल्तान एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य का स्वामी था। जब उसके राज्य में असन्तोष की अग्नि भड़की, तब दूर-दूर के प्रान्तपतियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और एक के बाद एक स्वतन्त्र होते गये।

क्या मुहम्मद बिन तुगलक पागल था ?—एल्फिन्स्टन तथा अनेक अन्य इतिहासकारों ने मुहम्मद तुगलक को पागल तथा झक्की बतलाया है। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सुल्तान के समकालीन किसी भी इतिहासकार ने सुल्तान पर पागलपन का आरोप नहीं लगाया है। यद्यपि बरनी तथा इब्नबतूता ने सुल्तान के कार्यों की बड़ी आलोचना की है, परन्तु पागलपन का आरोप इन इतिहासकारों ने भी नहीं लगाया है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "ऊपर से देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान विरोधी तत्त्वों का सम्मिश्रण था। परन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं है। रक्त-पिपासा तथा पागलपन के भी आरोप बाद के इतिहासकारों द्वारा लगाये जाते हैं, उनमें से अधिकांश निराधार हैं। कोई भी समकालीन लेखक सुल्तान के पागलपन की ओर संकेत तक नहीं करता है।"[1] अतएव सत्य का पता लगाने के लिए उन सभी आरोपों की विवेचना कर लेना आवश्यक है, जिनके आधार पर सुल्तान को पागल बतलाया गया है।

(१) **रक्त-रंजन की रुचि का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए पहला प्रमाण यह दिया जाता है कि उसमें रक्त-रंजन की रुचि थी और लोगों का रक्त बहाने में उसे बड़ा आनन्द आता था। इस आरोप का आधार बरनी का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि सदैव कोई-न-कोई मृतक शरीर सुल्तान के महल के सामने दिखाई देता था। बरनी के इस कथन के आधार पर सुल्तान को पागल कहना उचित नहीं है, क्योंकि सुल्तान निर्दोष लोगों को दण्ड नहीं देता था, वरन् जो लोग उसका विरोध करते थे, उन्हीं को वह कठोर दण्ड दिया करता था। बात यह थी कि सुल्तान बड़ी उग्र प्रकृति तथा क्रोधी स्वभाव का था और वह विरोध सहन नहीं कर पाता था। उस युग में अपने विरोधियों को प्राण-दण्ड अथवा अंग-भंग का दण्ड देना कोई आश्चर्य की बात न थी। यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी ने दो दिन के भीतर हजारों नव-मुसलमानों की हत्या करवा दी थी, परन्तु उसे कोई भी पागल नहीं कहता। यह

---

[1] "Superficially viewed, the Sultan seems to be an amazing compound of contradictions. But he is not really so. The charges of blood thirstiness and madness brought against him by later writers are mostly unfounded. No contemporary writer gives the barest indication of the Sultan's madness."

—Dr. Ishwari Prasad.

ती याद रखने की बात है कि बरनी उलेमा वर्ग का था और चूँकि सुल्तान ने उलेमा र्ग के विशेषाधिकारों को छीन लिया था, अतएव वह उसकी निरर्थक निन्दा किया करता था। ऐसी स्थिति में बरनी के कथन पर विश्वास करना और सुल्तान को पागल कहना उचित नहीं है।

(२) **कर-वृद्धि का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि उसने एक पागल की भाँति दोआब में दस या बीस गुना अधिक कर बढ़ा दिया और बड़ी बर्बरता के साथ वसूल किया। इतना ही नहीं, बरनी के कथनानुसार जब लोग अपना घर और खेत छोड़कर जंगलों में भाग गये, तब वहाँ पर भी उनका पीछा किया गया और उन्हें दण्ड दिया गया। ये सब कार्य एक पागल आदमी ही कर सकता था। यह आरोप भी ठीक नहीं प्रतीत होता। यह कदापि सत्य नहीं प्रतीत होता कि कर की दर दस या बीस गुना बढ़ा दी गई थी। कर बढ़ाया अवश्य गया था, परन्तु इतना अधिक नहीं। दोआब के समृद्धिशाली तथा विद्रोही प्रदेश में कर का बढ़ाना स्वाभाविक ही था। बलबन तथा अलाउद्दीन खिलजी ने भी दोआब में कर बढ़ाया था। प्रजा के कष्ट बढ़ जाने का कारण यह था कि इन्हीं दिनों देश में अकाल पड़ गया। परन्तु जब सुल्तान को यह पता लगा कि प्रजा को बड़ा कष्ट है, तब उसने कर को घटा दिया, भोजन और चारे का प्रबन्ध किया और लोगों नें तकावी बँटवाई। बरनी का यह कथन कि लोगों का जंगलों में पीछा किया गया ौर दण्ड दिया गया, सत्य नहीं प्रतीत होता। बरनी की जन्मभूमि बरान के लोगों ो भी सुल्तान ने दंड दिया था, इससे बरनी सुल्तान से विद्वेष रखता था और उसकी ालोचना तथा निन्दा किया करता था।

(३) **राजधानी के परिवर्तन का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए तीसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि उसने एक पागल की भाँति दिल्ली की सारी जनता को दौलताबाद जाने के लिए विवश किया। इब्नबतूता के कथनानुसार लँगड़ों तथा अन्धों को भी घसीट कर दौलताबाद की चालीस दिन की यात्रा कराई गई। बरनी का कहना है कि मनुष्य को कौन कहे कुत्ते और बिल्ली भी दिल्ली में न रह गये। इस प्रकार के काम एक पागल सुल्तान ही कर सकता था। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इब्नबतूता तथा बरनी की उपर्युक्त उक्तियों में सत्य का अंश बहुत कम है। सुल्तान की राजधानी परिवर्तन की योजना बड़ी ही तर्कपूर्ण थी। दक्षिण में अपनी सत्ता को सुदृढ़ रूप से स्थापित करने के लिए राजधानी दक्षिण में ले जाना आवश्यक था। इस परिवर्तन के काल में सुल्तान अपनी प्रजा को जितनी सुविधाएँ दे सकता था उतनी उसने दीं परन्तु प्रजा ने उसके साथ सहयोग नहीं किया। अतएव उसकी विफलता का पूरा उत्तरदायित्व उसकी प्रजा पर पड़ता है। राजधानी का परिवर्तन सभी देशों और सभी कालों में होता चला आया है और उसके आधार पर सुल्तान को पागल कहना उचित नहीं है।

(४) **ताँबे की मुद्रा चलाने का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए चौथा प्रमाण यह दिया जाता है कि उसने एक पागल व्यक्ति की भाँति ताँबे

की मुद्रा चला दी। न उस पर राज्य का एकाधिकार रक्खा और न कोई राज-चिह्न। उसे समझ लेना चाहिये था कि ताँबा ताँबा ही है और यह योजना सफल नहीं हो सकती थी। परन्तु इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसकी योजना के पहले चीन तथा फारस में कागज की मुद्रा का प्रयोग हो चुका था। आज-कल भी ताँबे तथा कागज की मुद्राओं का प्रयोग होता है। वास्तव में उसकी संकेत-मुद्रा की योजना अपने समय से बहुत आगे थी और उसकी प्रजा का सहयोग उसे न प्राप्त हुआ जिससे योजना सफल न हो सकी, अन्यथा योजना में कोई ऐसी बात न थी, जिससे सुल्तान को पागल कहा जाय।

(५) **खुरासान तथा चीन की विजय-योजनाओं का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए पाँचवाँ प्रमाण यह दिया जाता है कि मार्ग की कठिनाइयों पर ध्यान न देकर उसने एक पागल की भाँति खुरासान तथा चीन पर आक्रमण करने की योजनाएँ बनाई थीं, जिनमें उसे कोई सफलता न मिली। इस आरोप की विवेचना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सुल्तान पागल न था। वास्तव में सुल्तान महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। जब भारत में उसके लिए कुछ विजय करना शेष नहीं रह गया तब विदेशों में जाकर विजय का कार्य कर ख्याति प्राप्त करने का प्रयत्न करना एक सुल्तान के लिए स्वाभाविक ही था। अलाउद्दीन खिलजी ने तो सिकन्दर की भाँति विश्व-विजय की कल्पना की थी, परन्तु उस पर किसी ने पागलपन का आरोप नहीं लगाया है। खुरासान पर आक्रमण करने की योजना में कोई ऐसी बात न थी, जिससे सुल्तान को पागल कहा जाय। यदि खुरासान से भारत पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया जा सकता है, तो भारत से भी खुरासान पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया जा सकता है। उन दिनों खुरासान के सिंहासन पर कम अवस्था का एक बालक बैठा था और उसके पड़ोसी उसके राज्य पर अपनी दृष्टि लगाये थे। इस प्रकार खुरासान पर आक्रमण करने के लिए परिस्थितियाँ भी सुल्तान के अनुकूल थीं। सुल्तान के पास एक विशाल सेना तथा अन्य साधन भी थे। अतएव उसकी खुरासान पर विजय प्राप्त करने की योजना सार्थक थी, निरर्थक नहीं। सुल्तान की चीन को जीतने की कोई योजना न थी। उसकी चीन के साथ मैत्री थी और उसने इब्नबतूता को अपना राजदूत बना कर चीन के राजा के यहाँ भेजा था। वास्तव में सुल्तान ने हिमालय प्रदेश के एक विद्रोही सरदार को दण्ड देने की योजना बनाई थी और उसमें वह सफल भी हुआ था। अतएव उसकी विजय-योजनाओं में कोई ऐसी बात न थी, जिससे सुल्तान को पागल कहा जाय।

(६) **काल्पनिकता का आरोप**—सुल्तान को पागल सिद्ध करने के लिए उस पर एक यह भी आरोप लगाया जाता है कि वह बड़ा ही कल्पनाशील था और एक पागल व्यक्ति की भाँति वह काल्पनिक योजनाएँ बनाया करता था, जो सदैव विफल हो जाया करती थीं। यह आरोप भी निराधार ही है। वास्तव में सुल्तान का मस्तिष्क बड़ा ही उर्वर था और उसकी प्रतिभा बड़ी ही अलौकिक थी।

उसका काल्पनिक तथा योजना-प्रेमी होना स्वाभाविक ही था। उसकी कोई

भी योजना ऐसी न थी, जो अनुकूल परिस्थितियों में सफल नहीं हो सकती थी। उनकी असफलता का कारण यह न था कि वे अव्यावहारिक थीं, वरन् वे इसलिए असफल हुई थीं कि वे अपने समय से आगे थीं जिससे सुल्तान को उनको कार्यान्वित कराने में अपनी प्रजा का सहयोग न प्राप्त हो सका।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि मुहम्मद बिन तुगलक पागल अथवा झक्की न था वरन् वह बड़ा ही बुद्धिमान तथा विचारशील शासक था। वास्तव में वह अपने समय से बहुत आगे था, जिससे उसकी प्रजा उसे समझ न पाती थी और उसके साथ सहयोग नहीं करती थी। सुल्तान ने एक लौकिक राज्य की स्थापना कर धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया था, जिससे उसकी दूरदर्शिता तथा उसकी उदारता एवं उसके व्यापक दृष्टिकोण का पता चलता है। अतएव सुल्तान को मूर्ख या पागल कहना सर्वथा निराधार तथा निर्मूल है। वास्तव में वह एक बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ था। गार्डनर ब्राउन ने ठीक ही लिखा है, "वह पागल था, यह ऐसा मत है, जिसकी ओर समकालीन इतिहासकार कोई संकेत नहीं करते; वह काल्पनिक था, इस पर हमें उसके बहुमुखी व्यावहारिक तथा कर्त्तव्यशील चरित्र को देखते हुए विश्वास नहीं होता। उसे स्वेच्छाचारी कहना सत्य हो सकता है, परन्तु मध्य-काल में किसी अन्य प्रकार की सरकार की कल्पना की ही नहीं जा सकती थी।"[१]

मुहम्मद बिन तुगलक के कार्यों का मूल्यांकन—डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "यह निर्विवाद है कि मध्य-काल के अभिषिक्त अध्यक्षों में मुहम्मद तुगलक योग्यतम व्यक्ति था। उन सम्राटों में, जो मुस्लिम विजय के उपरान्त दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुए थे, वह सबसे अधिक विद्वान् तथा गुणवान् था।"[२] मुहम्मद बिन तुगलक का शासन काल विफलताओं की एक करुण कहानी है। उसे अपने पिता से एक विशाल साम्राज्य तथा अत्यन्त परिपूर्ण राजकोष प्राप्त हुआ था, परन्तु न तो वह अपने पिता के उस साम्राज्य को सुरक्षित रख सका और न उसके विपुल राजकोष को। उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों में

---

1. "That he was a mad is a view of which contemporaries give no hint; that he was a visionary, his many-sided practical and vigorous character forbids us to believe. To call him a despot may be true, but no other form of Government was conceivable in the middle ages."

—Gardner Brown.

2. "Muhammad Tughluq was undoubtedly the ablest man among the crowned heads of the middle ages. Of all kings, who had sat upon the throne of Delhi since the Muslim conquest, he was undoubtedly the most learned and accomplished."

—Dr. Ishwari Prasad.

विद्रोह के झंडे खड़े हो गये, जिससे उसका साम्राज्य विश्रृङ्खलित तथा पतनोन्मुख हो गया। दुर्भिक्ष तथा उसकी योजनाओं की विफलता ने उसके राजकोष को खाली कर दिया, जिससे तुगलक-साम्राज्य की जड़ हिल गई। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में सुल्तान का जीवन विफल ही रहा।

यद्यपि राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में सुल्तान को विफलता का ही आलिंगन करना पड़ा, परन्तु धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सुल्तान ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। उस धर्मान्धता तथा धार्मिक कट्टरता के युग में भी सुल्तान ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। उसके शासन-काल में न हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया गया, न उनके मन्दिरों अथवा मूर्तियों को तोड़ा गया और न उनके साथ किसी प्रकार का अत्याचार किया गया। उसने हिन्दुओं से जजिया नामक कर अवश्य वसूल किया, परन्तु वह उन्हें सैनिक सेवा न करने के कारण देना पड़ता था।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सुल्तान को बड़ी सफलता प्राप्त हुई थी। उसने दिल्ली में एक कारखाना स्थापित करवाया था, जहाँ पर विलास की अत्यन्त सुन्दर चीजें बनाई जाती थीं। सुल्तान स्वयं उच्च-कोटि का विद्वान् था और वह विद्वानों की सहायता कर उन्हें प्रोत्साहित किया करता था। शिक्षा की सैंकड़ों संस्थाएँ राजधानी में विद्यमान थीं। सुल्तान ने अनेक नगरों को बसाया तथा भवनों का निर्माण करवाया था। उसने 'जहाँपनाह' नामक नगर को बसाया था। दिल्ली में उसने अनेक इमारतों का निर्माण करवाया था। सम्भल में उसने एक बहुत बड़ी मसजिद बनवाई थी। बदायूँ की शम्सी मसजिद का जीर्णोद्धार भी सुल्तान ने करवाया था, जिसका निर्माण इल्तुतमिश के पुत्र रुकनुद्दीन ने कराया था। इस प्रकार मुहम्मद बिन तुगलक का जीवन सफलताओं तथा विफलताओं का सम्मिश्रण कहा जा सकता है।

फीरोजशाह तुगलक (१३५१-१३८८)—मुहम्मद बिन तुगलक के कोई सन्तान न थी, अतएव अपने जीवन-काल में ही उसने अपने चचेरे भाई फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। १३५१ ई० में जब सुल्तान अपनी सेना के साथ एक विद्रोह का दमन करने के लिए गया, तब एकाएक थट्टा में उसकी मृत्यु हो गई। इस गम्भीर परिस्थिति में राजधानी में शान्ति रखना आवश्यक था। अतएव प्रधान मन्त्री ख्वाजा जहाँ ने सुल्तान के कथित अल्प-वयस्क पुत्र को सिंहासन पर बिठा दिया और इसकी सूचना फीरोज के पास भेज दी। फीरोज ने अपनी सेना के साथ दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। जब वह दिल्ली पहुँचा, तब वहाँ पर अमीरों ने उसे सुल्तान स्वीकार कर लिया। फलतः मुहम्मद तुगलक का कथित पुत्र सिंहासन से हटा दिया गया और फीरोज दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया।

फीरोज की नीति—फीरोज का पिता सिपहसालार रजब गयासुद्दीन तुगलक का भाई था और उसकी माँ भट्टी घराने के एक राजपूत की पुत्री थी। प्रायः यह देखा गया है कि मिश्रित रक्त के लोग बड़े ही कट्टरपन्थी होते हैं। फीरोज भी एक

कट्टर सुन्नी मुसलमान था और न केवल हिन्दुओं को वरन् शिया मुसलमानों को भी वह घृणा की दृष्टि से देखता था। उसने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया और एक बार फिर दिल्ली का शासन धर्म-प्रभावित हो गया। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने उसके शासन के सम्बन्ध में लिखा है, "वह बड़ा ही कट्टरपन्थी था, जिसने कट्टरता के सबसे सीधे मार्ग को ग्रहण किया और शासन के संचालन में उसने कुरान के धार्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण किया।"[1] मुहम्मद बिन तुगलक ने जिस लौकिक शासन की स्थापना की थी, उसका अन्त हो गया और उलेमा तथा मुल्ला-मौलवियों का प्रभाव राज्य में फिर बढ़ गया। फीरोज उलेमा वर्ग को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था और उन्हीं की सहायता से शासन किया करता था। उसका कुरान के नियमों में पूरा विश्वास था और उनका वह अक्षरशः पालन करता था। यद्यपि फीरोज कट्टरपंथी था और उसने हिन्दुओं के साथ अनुदार नीति का अनुसरण किया, परन्तु वास्तव में वह बड़ा ही उदार तथा दयालु व्यक्ति था और मुसलमानों के साथ वह बड़ी उदारता का व्यवहार करता था। उससे अधिक उदार शासक अभी तक दिल्ली के सिंहासन पर बहुत कम बैठे थे। अतएव दिल्ली सल्तनत की राजनीति में कठोरता की कमी आ गई और लोक-हित के कार्यों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा। फीरोज महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति न था और न उसमें एक योग्य सैनिक के गुण ही विद्यमान थे। अतएव उसने राज्य-विस्तार की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना शासन की ओर।

फीरोज का शासन-प्रबन्ध—फीरोज के शासन-सम्बन्धी कार्यों की व्याख्या करने के पूर्व उसके शासन की रूप-रेखा बतला देना आवश्यक है। उस युग की प्रथा के अनुसार फीरोज का शासन भी स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था और उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण न था। परन्तु वह अमीरों तथा उलेमा लोगों की सहायता से सिंहासन पर बैठा था, अतएव उसने उन्हें प्रसन्न रखने का सदैव प्रयत्न किया और उन्हीं के परामर्श तथा सहायता से उसने शासन किया। फलतः उसके शासन को कुलीन तन्त्र कह सकते हैं, क्योंकि उसमें कुलीनों अर्थात् उच्च वर्ग के लोगों का बहुत बड़ा प्रभाव रहता था।

फीरोज के शासन की दूसरी विशेषता यह थी कि वह धर्म-प्रभावित था। फीरोज बड़ी ही धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था, अतएव वह सभी कार्यों को कुरान के नियमों के अनुसार करता था। चूंकि फीरोज एक कट्टरपन्थी सुल्तान था, अतएव सभी वर्ग वालों को उसकी सुधार-योजनाओं से समान रूप से लाभ नहीं हुआ। फीरोज ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया था, अतएव उसने

---

[1] "He was an uncompromising bigot who followed the straightest path of orthodoxy, and in the management of the government employed the theocratic principles of the Quran."

—Dr. Ishwari Prasad.

हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया। उसने ब्राह्मणों पर फिर से जजिया कर लगवा दिया और एक ब्राह्मण को उसने एक साधारण अपराध के लिए अपने राजभवन के सामने जिन्दा जलवा दिया था। उसने हिन्दुओं के मन्दिरों तथा उनकी मूर्तियों को उसी प्रकार तुड़वाया, जिस प्रकार उसके पहले के कट्टरपन्थी सुल्तानों ने किया था।

फीरोज के शासन की रूपरेखा को समझ लेने के उपरान्त उसकी शासन-सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की योजनाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है। उसने अपने शासन-काल में निम्नलिखित सुधार-योजनाएँ कीं—

(१) **मुहम्मद तुगलक के कार्यों का प्रायश्चित्त**—फीरोज की मुहम्मद तुगलक के प्रति श्रद्धा थी और उसे वह बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। अतएव उसके अपराधों के लिए फीरोज ने स्वयं प्रायश्चित्त किया। उसने उन सभी लोगों की भूमि तथा जागीरें लौटा दीं, जो मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में छीन ली गई थीं और उन लोगों के उत्तराधिकारियों से, जिन्हें प्राण-दण्ड अथवा अङ्ग-भङ्ग का दंड दिया गया था, उसने क्षमापत्र प्राप्त किये। इन क्षमापत्रों को उसने एक सन्दूक में रखवा कर मुहम्मद तुगलक की कब्र के नीचे गड़वा दिया, जिससे उसकी आत्मा को शान्ति मिले।

(२) **उदारता के कार्य**—धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति होने के कारण फीरोज बड़ा ही उदार तथा दान-शील था। उसने गरीबों की सहायता के लिए एक दान-विभाग खोल दिया था, जिसे 'दीवाने खैरात' कहते थे। इस विभाग से गरीब मुसलमानों की लड़कियों के विवाह के लिए धन दिया जाता था। रोगियों की सहायता के लिए फीरोज ने दिल्ली में एक 'दारुलशफा' अर्थात् औषधालय बनवाया था, जहाँ पर लोगों को मुफ्त दवा दी जाती थी। तीर्थ-यात्रियों को सुल्तान दान तथा अन्य प्रकार की सहायता दिया करता था। फीरोज के शासन-काल में दासों की बड़ी दयनीय दशा हो गई थी और उनकी संख्या में बड़ी वृद्धि हो गयी थी। सुल्तान ने इन गरीब दासों की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया। उसने दासों के प्रबन्ध के लिए एक अलग विभाग खोल दिया और उनकी जीविका का प्रबन्ध कर दिया। बहुत से दास सुल्तान के अंग-रक्षक बना लिये गये और अनेक को विभिन्न विभागों तथा प्रान्तीय गवर्नरों की सेवा में रख दिया गया। बेकारी की समस्या को भी दूर करने का सुल्तान ने प्रयत्न किया। उसने बेकारी की समस्या को सुलझाने के लिए एक अलग विभाग खोल दिया, जो बेकार लोगों उनकी योग्यता के अनुसार जीविका देने का प्रयत्न करता था। सुल्तान ने लोक-सेवा के भी अनेक कार्य किये। उसने फीरोजाबाद, जौनपुर, फतेहाबाद, हिसार, फीरोजा आदि नगरों की स्थापना की थी। उसने बहुत से भवनों, महलों, मस्जिदों, तालाबों, बाँधों, पुलों तथा बाग-बगीचों का निर्माण करवाया था।

(३) **सेना का प्रबन्ध**—फीरोज न तो उच्च-कोटि का सेनापति था और न उसमें सैन्य-संगठन की प्रतिभा ही थी। उसने अपनी सेना का संगठन जागीर-प्रथा के आधार पर किया था। उसने अपने स्थायी सैनिकों को जागीरें दे रक्खी थीं और

अस्थायी सैनिकों को नकद वेतन देता था। उसके सैन्य-संगठन में एक बहुत बड़ा दोष यह था कि उसने सैनिकों का पद आनुवंशिक कर दिया और जब कोई सैनिक मर जाता था, तब उसके लड़के या दामाद अथवा गुलाम को उसके स्थान पर भरती कर लिया जाता था। अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी वह सैनिकों को सेना से अलग नहीं करता था। इससे सेना में दुर्बलता आ गई और उसका पतन हो गया।

(४) जागीर-प्रथा—अलाउद्दीन खिलजी ने जागीर-प्रथा को समाप्त कर दिया था और अपने अफसरों को नकद वेतन देना आरम्भ कर दिया। परन्तु फीरोज ने जागीर-प्रथा को फिर अपनाया। न केवल अपने स्थायी सैनिकों को वरन् प्रशासकीय विभाग के अफसरों को भी वह जागीरें दिया करता था। आगे चलकर जागीर-प्रथा के परिणाम तुगलक-वंश के लिए बड़े हानिकारक सिद्ध हुए। जब तुगलक-वंश की स्थिति डावाँडोल हो गई, तब यह जागीरदार विद्रोह कर बैठे और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

(५) **कर-नीति**—फीरोज को अपना कोष भरने की उतनी चिन्ता न थी, जितनी अपनी प्रजा के जीवन को सुखी बनाने की; अतएव जितने कष्टदायक कर थे, उन सभी को सुल्तान ने हटा दिया। कहा जाता है कि इस प्रकार के २६ करों को सुल्तान ने हटा दिया था। उसने केवल चार करों अर्थात् खिराज, जकात, जजिया तथा खाम को रक्खा, जो कुरान द्वारा अनुमोदित हैं। युद्ध में जो लूट का माल मिलता था, वह सैनिक तथा सुल्तान में कुरान के नियमानुसार बाँट दिया जाता था। भूमि-कर आय का सबसे बड़ा साधन था। कर से जो धन प्राप्त होता था वह सेना, शासन तथा लोक-हित के विभिन्न कार्यों में व्यय कर दिया जाता था।

(६) **कृषि का प्रबन्ध**—मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में किसानों को बड़े कष्ट भोगने पड़े थे। इस कष्ट के दो प्रधान कारण थे अर्थात् करों में वृद्धि तथा अकाल का प्रकोप। फीरोज ने इन दोनों कष्टों से अपनी प्रजा को मुक्त करने का प्रयत्न किया। उसने हिसामुद्दीन नामक व्यक्ति को किसानों की दशा के जानने तथा लगान की जाँच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया। हिसामुद्दीन ने लगभग ६ वर्षों तक राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण किया और किसानों की वास्तविक दशा का पता लगाया। हिसामुद्दीन की रिपोर्ट पर लगान निश्चित की गई और पहले से बहुत कम कर दी गयी। किसानों को जो अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे, उनकी संख्या में भी कमी कर दी गई। इस प्रकार किसानों के कर का बोझ हल्का कर दिया गया, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सुधर गई।

अकाल से किसानों की रक्षा करने के लिए फीरोज ने सिंचाई की बड़ी ही उत्तम व्यवस्था की, जिससे वर्षा न होने पर किसानों की खेती को हानि न पहुँचे। उसने चार बड़ी-बड़ी नहरों का निर्माण करवाया। इन नहरों की देख-भाल के लिए कुशल इंजीनियर नियुक्त किये गये थे। सिंचाई की सुविधा के लिए नदियों में बाँध भी बाँधे गये और बहुत से कुएँ और तालाब खुदवाये गये। सिंचाई की सुविधा हो जाने से अकाल का भय न रहा और किसानों की दशा में बड़ा सुधार हो गया।

(७) **न्याय-व्यवस्था**—फीरोज की धर्म-परायणता तथा उदारता का प्रभाव उसकी न्याय-व्यवस्था पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। न्याय कुरान के नियमों के अनुसार होता था। इस प्रकार न्याय-व्यवस्था धर्म-प्रभावित हो गई थी और हिन्दुओं के साथ न्याय होने की बहुत कम सम्भावना रह गई थी। अपने उदार स्वभाव के कारण फीरोज ने दण्ड-विधान की कठोरता को बहुत कम कर दिया था। प्राण-दंड अथवा अंग-भंग का दण्ड बहुत कम दिया जाता था। प्राय: अपराधी दण्ड से भी बच जाते थे और उनके अपराधों को क्षमा भी कर दिया जाता था। इससे अपराधों की संख्या में वृद्धि होने लगी।

(८) **शिक्षा तथा साहित्य**—फीरोज के रचनात्मक कार्य शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में भी दिखाई देते हैं। शिक्षा के प्रसार के लिए उसने बहुत से मकतब तथा मदरसे खुलवाये। चूंकि फीरोज बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था, अतएव इन मदरसों में धार्मिक शिक्षा देने की विशेष रूप से व्यवस्था की गयी थी और प्रत्येक विद्यालय में मस्जिद का निर्माण करवाया गया था। इन शिक्षा-संस्थाओं को राज्य की ओर से सहायता मिलती थी, जो प्राय: इन्हें भूमिदान के रूप में दे दी जाती थी। सुल्तान ने साहित्यकारों की सहायता कर साहित्य की उन्नति में बड़ा योग दिया। बरनी ने अपनी पुस्तक 'तारीखे फीरोजशाही' की रचना फीरोज के शासन-काल के प्रारम्भिक भाग में की थी। शम्से सिराज अफीफ ने अपनी इतिहास की पुस्तक भी इसी काल में लिखी थी। मौलाना जलालुद्दीन रूमी इसी काल के बहुत बड़े विद्वान् थे। फीरोज ने कई संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया था।

(९) **कला**—निर्माण-कार्य में फीरोज की बड़ी रुचि थी। यमुना नदी के किनारे उसने अपने नाम का नगर बसाया था और अम्बाला जिले से अशोक का प्रसिद्ध स्तम्भ लाकर यहाँ पर प्रस्थापित किया था। अशोक का एक दूसरा स्तम्भ मेरठ से मँगवा कर उसने अपनी राजधानी में प्रस्थापित किया। जामा मस्जिद का उसने निर्माण करवाया था, जो अब जीर्ण-शीर्ण हो गई है। उसने बहुत से कालेजों तथा मकतबों को भी बनवाया था।

फीरोज की विदेशी नीति—फीरोज बड़ी ही शान्त प्रकृति का व्यक्ति था। न उसमें कोई महत्त्वाकांक्षा थी और न राज्य-विस्तार की कामना। वह युद्ध करके मुसलमानों का रक्त-पात करना नहीं चाहता था। अतएव फीरोज की विदेशी-नीति बड़ी दुर्बल थी और उसमें उसे विशेष सफलता न प्राप्त हुई। यद्यपि फीरोज ने राज्य-विस्तार का कोई प्रयत्न नहीं किया, परन्तु उसे निम्नलिखित विद्रोहों का दमन करना पड़ा :—

(१) **बंगाल पर आक्रमण**—मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के अन्तिम भाग में ही बंगाल दिल्ली-सल्तनत से स्वतन्त्र हो गया था। इन दिनों इलियास शाह बंगाल में शासन कर रहा था। फीरोज़ ने बंगाल पर फिर से अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय कर लिया। अतएव १३५३ ई० में उसने एक बिशाल सेना के साथ बंगाल के लिए प्रस्थान कर दिया। जब इलियास को इसकी सूचना मिली तब उसने इकदला

के किले में अपने को बन्द कर लिया। सुल्तान को इलियास के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई, परन्तु अपनी दुर्बलता के कारण सुल्तान अपनी विजय से कोई लाभ न उठा सका। कहा जाता है कि दुर्ग में बन्द स्त्रियों के करुण-क्रन्दन को सुनकर उसने दुर्ग पर अपना अधिकार करने के निश्चय को छोड़ दिया। जब उसके सेनापति तातार खाँ ने बंगाल को दिल्ली-सल्तनत में मिलाने का परामर्श दिया, तब सुल्तान ने यह कह कर टाल दिया कि बंगाल जैसे दलदली प्रदेश को साम्राज्य में मिलाना बेकार है।

(२) **जाजनगर पर विजय**—बंगाल से लौटते समय फीरोज ने जाजनगर अर्थात् वर्तमान उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया। जाज के राय ने फीरोज की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर देने का वचन दिया। इतना होने पर भी फीरोज ने यहाँ पर अपनी धार्मिक कट्टरता तथा असहिष्णुता का परिचय दिया। पुरी में उसने जगन्नाथ के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट करवा दिया और वहाँ की मूर्तियों को समुद्र में फिकवा दिया। इसके बाद फीरोज दिल्ली लौट आया।

(३) **नगरकोट पर आक्रमण**—नगरकोट पंजाब के काँगड़ा जिले में स्थित था। यहाँ का राजा मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में ही स्वतन्त्र हो गया था। फीरोज ने नगरकोट पर फिर से प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। नगरकोट पर आक्रमण करने का दूसरा कारण यह था कि वहाँ पर ज्वालामुखी देवी का एक मन्दिर था, जो अपनी धन-सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ पर सहस्रों यात्री दर्शन के लिए आया करते थे और मूर्ति की पूजा किया करते थे। यह सब फीरोज के लिए असह्य था। उसने नगरकोट पर आक्रमण कर दिया। वहाँ के राय ने ६ महीने तक मुसलमानों का बड़ी वीरता के साथ सामना किया, परन्तु अन्त में विवश होकर उसे सुल्तान से क्षमा की प्रार्थना करनी पड़ी। सुल्तान ने उसे क्षमा कर दिया। परन्तु जाजनगर की भाँति नगरकोट में भी सुल्तान ने अपनी धार्मिक कट्टरता का परिचय दिया। उसने ज्वालामुखी मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट करवा दिया और उसमें प्रस्थापित देवी की मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये। इस प्रकार उसने अपनी धर्मान्धता तथा विचार-संकीर्णता का परिचय दिया।

(४) **सिन्ध-विजय**—मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के अन्तिम भाग में सिन्ध में भयानक विद्रोह हो गया था। इस विद्रोह को दबाने के प्रयत्न में ही ज्वर से पीड़ित होकर थट्टा में मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हो गई थी। फीरोज ने फिर से सिन्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया और १३७१ ई० में उसने सिन्ध पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि इस युद्ध में फीरोज को कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई, परन्तु जब सिन्ध के शासक ने उससे क्षमा की प्रार्थना की, तब उसने तुरन्त उसे क्षमा कर दिया और इस प्रकार अपनी दुर्बलता के कारण उसने सिन्ध को दिल्ली-सल्तनत में सम्मिलित नहीं किया।

फीरोज के अन्तिम दिवस—फीरोज के अन्तिम दिन सुख तथा शान्ति से न बीत सके। वृद्ध हो जाने के कारण सुल्तान स्वयं शासन को सँभाल नहीं सकता था, अतएव राज्य की सारी शक्ति उसके प्रधान मन्त्री खाने-जहाँ मकबूल के हाथ में चली

गई, जो सिंहासन प्राप्त करने का स्वप्न देखने लगा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने शाहजादा मुहम्मद के विरुद्ध सुल्तान के कान भरने आरंभ किये, परन्तु शाहजादे ने बड़ी सतर्कता के साथ काम किया। एक दिन वह पालकी में बैठकर राज-वश की स्त्रियों के साथ चुपके से राजमहल में सुल्तान के सामने उपस्थित हुआ और उसके पैरों पर गिरकर उससे क्षमा माँगी और समझाया कि प्रधानमन्त्री स्वयं सिंहासन को लेना चाहता है। यह बात सुल्तान की समझ में आ गई। उसने तुरन्त प्रधान मंत्री को कैद करने की आज्ञा दे दी। प्रधान मन्त्री डर कर मेवाड़ की ओर भाग गया, परन्तु वहाँ पकड़ा गया और उसकी हत्या करवा दी गई। इस प्रकार पिता-पुत्र में समझौता हो गया। परन्तु सुल्तान अब बिल्कुल वृद्ध हो गया था और १३८८ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में उसका परलोकवास हो गया।

फीरोज के कार्यों का मूल्यांकन—फीरोज के शासन-काल के प्रसिद्ध इतिहासकार बरनी तथा अफीफ ने उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे एक आदर्श सुल्तान बतलाया है। इस प्रशसा का कारण यह है कि यह दोनों ही विद्वान् उलेमा वर्ग के थे और फीरोज़ उलेमा वर्ग को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था और उन्हीं के परामर्श से शासन करता था। उनकी प्रशसा का दूसरा कारण यह है कि वह बड़ी ही धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और कुरान के नियमों का अक्षरश: पालन करता था। फीरोज में धार्मिक असहिष्णुता थी और वह हिन्दुओं के साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार करता था। उलेमा वर्ग इस नीति का समर्थक तथा प्रशंसक था। अतएव बरनी तथा अफीफ का मत पक्षपात-पूर्ण है और फीरोज के कार्यों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं करता।

फीरोज के कार्यों का सही मूल्यांकन उसके सैनिक तथा प्रशासकीय कार्यों का विवेचन करके किया जा सकता है। एक सेनापति के रूप में फीरोज का स्थान अत्यन्त निम्न-कोटि का था। न उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं में कोई विस्तार किया और न उसे संगठित ही रख सका। सेना में सैनिकों के पद को आनुवंशिक बनाकर तुर्कों की सैनिक शक्ति को बड़ा निर्बल बना दिया।

एक शासक के रूप में भी फीरोज अधिक सफल न हो सका। उसने बहुत-सी ऐसी योजनाएँ कीं, जो सुल्तान के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुईं। उसकी जागीर की प्रथा, दासों की संख्या में वृद्धि, धार्मिक असहिष्णुता, सभी साम्राज्य के लिए बड़ घातक सिद्ध हुए। उसकी असीम उदारता तथा दयालुता के कारण उसका शासन शिथिल पड़ गया। चौदहवीं शताब्दी में जब सर्वत्र षड्यन्त्र तथा कुचक्र चला करते थे, इतने उदार शासक की आवश्यकता न थी। अतएव फीरोज न तो एक सैनिक के रूप में सफल रहा और न एक शासक के रूप में। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है, "न तो वह एक योग्य सेनापति था और न दृढ़ तथा दूरदर्शी शासक ही।"[१]

---

[1] "He was neither a capable General nor a stern and far-sighted administrator." —Dr. Ishwari Prasad.

फीरोज बड़े ही संकीर्ण विचार का शासक था। वह अपने युग से आगे न बढ़ सका और न केवल हिन्दुओं वरन् शिया मुसलमानों के साथ भी उसने कठोरता का व्यवहार किया। उसकी यह नीति साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई।

परन्तु फीरोज की चाहे जितनी आलोचना की जाय, इसमें सन्देह नहीं कि उस क्रूरता तथा निर्दयता के युग में उसने उदारता तथा दयालुता का संचार किया। प्रजा के कल्याण को उसने राज्य का प्रधान लक्ष्य बनाया। उसने लोक-हित के इतने अधिक कार्य किये, जिनसे मुसलमानों तथा हिन्दुओं दोनों को ही लाभ हुआ। यह उसका दुर्भाग्य था कि उसे ऐसे देश में शासन करना पड़ा जहाँ बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी। यदि वह किसी मुस्लिम देश की प्रजा का शासक होता, तो निस्सन्देह वह एक आदर्श शासक कहलाता और बड़ी ख्याति प्राप्त किये होता। परन्तु भारतवर्ष में उसे असफलता का ही आलिंगन करना पड़ा।

तुगलक-वंश का पतन—फीरोज की मृत्यु के उपरान्त तुगलक-वंश में कई अयोग्य तथा निकम्मे शासक हुए जो साम्राज्य को पतनोन्मुख होने से बचा न सके। राज-वंश के लोगों, अमीरों तथा गुलामों के षड्यन्त्र तथा कुचक्र चलने लगे और आन्तरिक संघर्ष तथा कलह का प्रकोप बढ़ने लगा। इस संकटापन्न स्थिति से प्रान्तपति भी लाभ उठाने का प्रयत्न करने लगे। सुअवसर पाते ही ये लोग अपने को स्वतन्त्र घोषित करने लगे। हिन्दू राजाओं और विशेषकर मेवातियों ने भी परिस्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न आरम्भ किया और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। तुगलक-वंश का अन्तिम शासक महमूद तुगलक था जो बिलकुल निर्बल तथा निकम्मा था। वह केवल नाम-मात्र का शासक था और वास्तविक शक्ति उसके मन्त्री मलिक सरवर के हाथ में चली गई। अमीरों तथा हिन्दू सरदारों ने मनमाना कार्य करना आरम्भ कर दिया और खोखरों ने पंजाब में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। मालवा का गवर्नर दिलावर खाँ एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा और कर भेजना बन्द कर दिया। दोआब के लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए सुल्तान ने मलिक सरवर को १३९४ ई० में भेजा, परन्तु उसने जौनपुर जाकर वहाँ पर अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया। १३९६ ई० में गुजरात के शासक जफर खाँ ने भी अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और मुजफ्फरशाह की उपाधि धारण कर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। पंजाब में दिपालपुर के गवर्नर सरंज खाँ ने खोखरों के विद्रोह का दमन किया और स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। इस प्रकार तुगलक साम्राज्य नष्ट हो गया और केवल दिल्ली के आस-पास तक ही सीमित रह गया था और यहाँ भी निरन्तर षड्यन्त्र तथा कुचक्र चला करते थे। इन्हीं गम्भीर परिस्थितियों में तैमूर ने भारत पर आक्रमण कर दिया।

तैमूर का आक्रमण—तैमूर समरकन्द का रहने वाला चग़ताई तुर्क था। फारस को जीतने के बाद उसने हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम के प्रदेश तथा अफगानिस्तान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब उसने हिन्दुस्तान पर आक्रमण

करने का निश्चय किया।

भारतवर्ष पर आक्रमण करने के उसके कई कारण थे। इसका पहला कारण यह था कि तैमूर बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और हिन्दुस्तान को जीत कर ख्याति प्राप्त करना चाहता था। इसका दूसरा कारण तुगलक-राज्य की तत्कालीन दयनीय दशा थी। तैमूर जानता था कि दिल्ली-सल्तनत को हराना कठिन नहीं है। इसका तीसरा कारण यह था कि तैमूर कट्टर मुसलमान था और मूर्ति-पूजकों से उसे घृणा थी। अतएव वह उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ कर और उनका वध करवा कर गाजी की उपाधि लेना चाहता था। इसका चौथा कारण यह था कि भारत एक धन-सम्पन्न देश था और तैमूर इस धन को लूटना चाहता था। इस आक्रमण का तात्कालिक कारण मुल्तान के हाकिम सरंज खाँ तथा तैमूर के पोते पीर मुहम्मद का संघर्ष था। पीर मुहम्मद काबुल पर शासन कर रहा था। उसने मुल्तान पर आक्रमण कर दिया और उच्च तथा मुल्तान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद १३९८ ई० में तैमूर ने भी समरकन्द से भारत के लिए प्रस्थान कर दिया।

सितम्बर के महीने में तैमूर पीर मुहम्मद से आ मिला। उसने खोखरों को परास्त किया और भटनेरा के राजपूतों का हत्या-कण्ड करवाया। तैमूर बड़ा ही बर्बर तथा निर्दयी था। मार्ग में लूट तथा मार-काट करता हुआ तैमूर दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली का सुल्तान महमूद उसका सामना करने के लिए अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा। यद्यपि वह बड़ी वीरता के साथ लड़ा, परन्तु परास्त हो गया और गुजरात की ओर भाग गया। अब तैमूर ने अपनी सेना के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। कई दिन दिल्ली में लूट-मार तथा भीषण हत्याकाण्ड चलता रहा। सहस्रों व्यक्ति तलवार के घाट उतार दिये गये और बहुत से गुलाम बना लिये गय।

दिल्ली को लूटने के बाद १३९९ ई० के आरम्भ में तैमूर ने मेरठ के लिए प्रस्थान कर दिया। मेरठ को उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके बाद उसने हरिद्वार की ओर प्रस्थान कर दिया। जिस किसी स्थान पर वह गया उसे उसने खूब लूटा और उजाड़ा। अन्त में वह नगरकोट तथा जम्मू होता हुआ पंजाब पहुँचा। खिज्र खाँ को पंजाब का शासक बना कर वह स्वयं समरकन्द चला गया। दिल्ली की उसने कोई व्यवस्था नहीं की। महमूद गुजरात से दिल्ली लौट आया, परन्तु खिज्र खाँ से उसका संघर्ष चलता रहता। १४१३ ई० में महमूद का परलोकवास हो गया और दूसरे वर्ष खिज्र खाँ ने दिल्ली पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

तुगलक-वंश के पतन के कारण—वास्तव में तुगलक-वंश का पतन मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में ही आरम्भ हो गया था। फीरोज तुगलक के शासन-काल में साम्राज्य पतनोन्मुख होता गया और उत्तर-कालीन तुगलक-शासकों के शासन-काल में उसकी समाधि तैयार हो गई और वह समाप्त हो गया। अब उसके पतन के कारणों की व्याख्या कर देना आवश्यक है।

(१) **मुहम्मद बिन तुगलक का उत्तरदायित्व**—मुहम्मद बिन तुगलक की

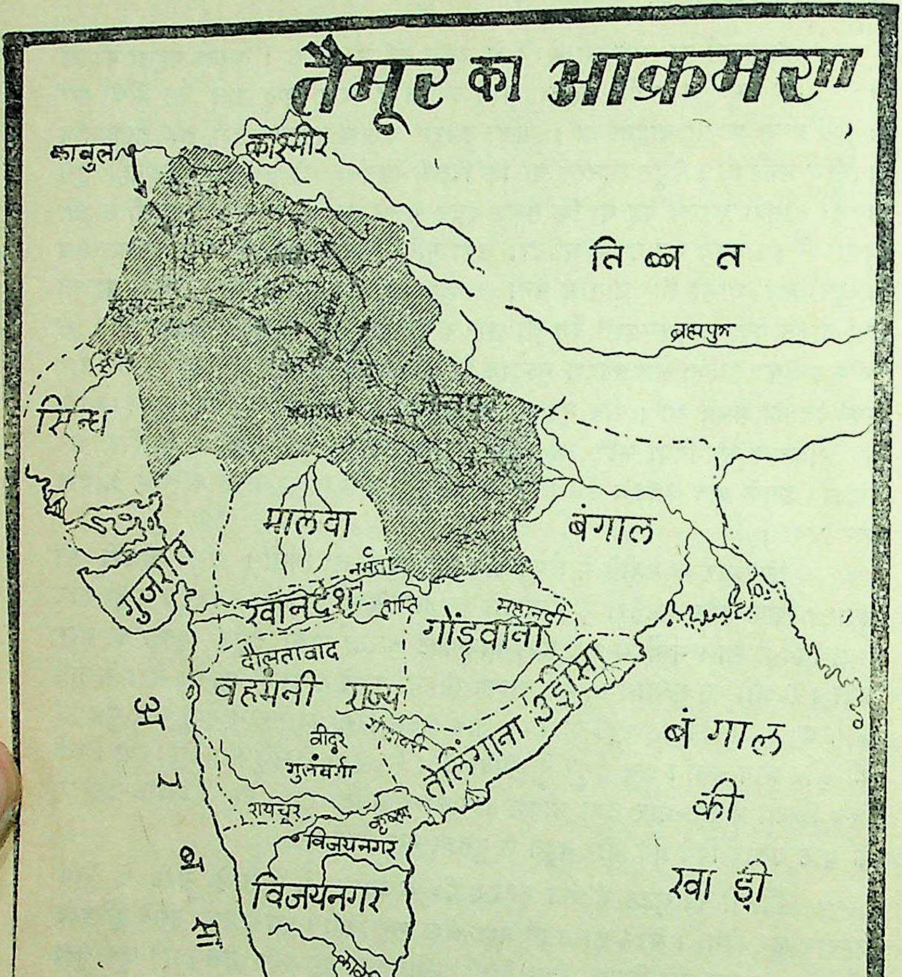
तैमूर का आक्रमण
काबुल
काश्मीर
तिब्बत
ब्रह्मपुत्र
सिन्ध
जौनपुर
मालवा
बंगाल
नर्मदा
गुजरात
खानदेश
ताप्ति
गोंडवाना
महानदी
दौलताबाद
बहमनी राज्य
उड़ीसा
बीदर
गुलबर्गा
गोदावरी
तैलिंगाना
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
रायचूर
कृष्णा
विजयनगर
विजयनगर
कावेरी
लंका
हिन्द महासागर
तैमूर का मार्ग
दिल्ली सल्तनत

आयोजनाओं की विफलता का साम्राज्य पर बहुत बडा धक्का लगा। उसका कोष खाली हो गया, जिसका साम्राज्य पर बडा घातक प्रभाव पडा। आयोजनाओं की विफलता से प्रजा में बड़ा असंतोष फैला और विद्रोह का विस्फोट होने लगा। मुहम्मद तुगलक की कठोर नीति से भी लोगों में बडा असन्तोष फैल गया और विद्रोह होने लगे। दुर्भिक्ष का भी साम्राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव पडा और शासक तथा प्रजा दोनों ही की आर्थिक दशा खराब हो गई। मुहम्मद तुगलक ने देशी अमीरों के स्थान पर विदेशी

अमीरों को राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद दिये। इन अमीरों में न तो राजभक्ति थी और न स्वामिभक्ति। अवसर पाकर ये लोग विद्रोह करने लगे और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में लग गये।

(२) **फीरोज तुगलक का उत्तरदायित्व**—साम्राज्य का जो पतन मुहम्मद तुगलक के समय में आरम्भ हुआ था, वह फीरोज के समय में रुक न सका, वरन् वह धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ता ही गया। यद्यपि फीरोज बड़ा ही शान्तिप्रिय शासक था और अपनी प्रजा के कल्याण की वह बड़ी चिन्ता किया करता था, परन्तु उसकी नीति इतनी दोष-पूर्ण थी कि वह साम्राज्य के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई। उसकी बाह्य नीति बड़ी ही अस्थिर तथा दुर्बल थी। सैनिक-प्रतिभा के अभाव के कारण न वह तुगलक-वंश के विशाल साम्राज्य को सुरक्षित ही रख सका और न उसे सुसंगठित बना सका। फलतः प्रान्तीय शासक तथा हिन्दू-सरदार स्वतन्त्र होने लगे और उन्होंने साम्राज्य से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। सैनिकों के पद को आनुवंशिक बना कर और वृद्ध सैनिकों को सेना से अलग न करके तथा सेनापतियों को जागीरें देकर उसने सेना को दुर्बल बना दिया और साम्राज्य की समाधि तैयार कर दी। फीरोज की आन्तरिक नीति साम्राज्य के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुई और साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने से बच न सका। फीरोज बड़ा ही कट्टर तथा धर्मान्ध सुन्नी मुसलमान था। अतएव उसने उलेमा लोगों के परामर्श से शासन करना और धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। इससे न केवल हिन्दू लोग वरन् शिया मुसलमान भी साम्राज्य के शत्रु बन गये और उसकी जड़ खोदने लगे। फीरोज की दासों को संरक्षण देने तथा उन्हें राज्य में ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त करने की नीति का भी साम्राज्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इस नीति से प्रतिष्ठित अमीरों में बड़ा असन्तोष फैला और वे षड्यन्त्र रचने लगे। वास्तव में फीरोज उस युग में शासक बनने योग्य न था। उन दिनों बड़े ही कठोर तथा दृढ़प्रतिज्ञ शासक की आवश्यकता थी। परन्तु उसमें इन दोनों गुणों की कमी थी। वह बड़े ही उदार तथा परिवर्तनशील विचारों का व्यक्ति था। उदारता का परिणाम यह हुआ कि शासन अत्यन्त शिथिल हो गया और निर्भीक होकर लोग विद्रोह करने लगे और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने लगे।

(३) **उत्तर-कालीन तुगलक शासकों का उत्तरदायित्व**—फीरोज के बाद तुगलक-वंश में जितने शासक हुए, वे सभी अयोग्य तथा निकम्मे थे, जो तुगलक साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से रोक न सके। ये शासक अमीरों के हाथ की कठपुतली बन गये और ये अमीर दरबार में निरन्तर षड्यन्त्र तथा कुचक्र चलाया करते थे।

(४) **योग्य सेनापतियों तथा मन्त्रियों का अभाव**—तुगलक-वंश के साम्राज्य के पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि इस काल में न तो कोई योग्य सेनापति हुआ, जो साम्राज्य को सुरक्षित रखता और उसमें वृद्धि करता और न कोई बड़ा योग्य तथा स्वामिभक्त प्रधान मन्त्री हुआ, जो साम्राज्य को संगठित रखता, वरन् ये लोग बड़े ही षड्यन्त्रकारी तथा कुचक्री थे और अपने ही स्वार्थ की सिद्धि में लगे

रहते थे।

(५) **प्रान्तपतियों के षड्यन्त्र तथा कुचक्र**—ज्यों-ज्यों केन्द्रीय शक्ति निर्बल होती गई, त्यों-त्यों प्रान्तपतियों को स्वयं को स्वतन्त्र घोषित करने और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के सुअवसर मिलने लगे। इन सुअवसरों से उन्होंने पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। पहले साम्राज्य के छोर पर स्थित और बाद में निकटस्थ प्रान्तपतियों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और वे स्वतन्त्र शासक बन बैठे। इससे साम्राज्य संकीर्ण तथा निर्बल बनता गया और उत्तर-कालीन शासकों के शासन-काल में तो वह दिल्ली तथा उसके आस-पास के प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। वह इतना दुर्बल हो गया था कि उसे उखाड़ कर फेंक देने के लिए केवल एक आँधी की आवश्यकता थी और वह आँधी तैमूर के आक्रमण के रूप में आ गई।

(६) **तैमूर के आक्रमण का प्रभाव**—तैमूर के आक्रमण ने तुगलक-साम्राज्य की जड़ को हिला कर उसे उन्मूलित कर दिया। उत्तर-कालीन तुगलक शासकों ने सीमा की सुरक्षा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि तैमूर निर्विरोध दिल्ली के निकट तक चला आया और बड़ी सरलता से शत्रु को परास्त कर दिल्ली में प्रवेश कर गया। वह जहाँ कहीं गया, वहीं उसने प्रजा को लूटा और उजाड़ा। इससे तुगलक-साम्राज्य की आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई। विपन्नता तथा रोगों का प्रकोप सर्वत्र व्याप्त हो गया। तैमूर ने पंजाब तक अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित कर लिया और खिज्र खाँ को वहाँ का शासक नियुक्त कर अपने देश को चला गया। उसके चले जाने के बाद तुगलक-साम्राज्य के लिये बन्दर-बाँट आरम्भ हो गई। खिज्र खाँ की दृष्टि दिल्ली पर लगी हुई थी। उसने वहाँ पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार तुगलक-वंश का अन्त हो गया और दिल्ली में एक नये राज-वंश की स्थापना हो गई जो सैयद-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

●

अध्याय ३१

सैयद-वंश

(१४१४-५१)

"The history of the Sayyid dynasty, which numbered four rulers consisted mainly a perpetual struggle to retain some sort of control of the small territory still attached to the kingdom of Delhi."

—Stanley Lane-Poole.

सैयद कौन थे ?—सैयद का शाब्दिक अर्थ होता है सरदार। सैयद उन लोगों को भी कहते हैं, जो अपने को पैगम्बर का वंशज बतलाते हैं। कहा जाता है कि बुखारा के एक सन्त ने खिज्र खाँ को सैयद कहकर पुकारा था और तभी से वह सैयद कहलाने लगा। चूंकि तुगलक-वंश के बाद खिज्र खाँ ने दिल्ली में अपने राजवंश की स्थापना की, अतएव यह सैयद-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

खिज्र खाँ (१४१४-२१ ई०)—१४१४ ई० में खिज्र खाँ दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, परन्तु उसने कभी सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की, वरन् तैमूर तथा उसके पुत्र की अधीनता में ही शासन करता रहा। उसका सात वर्ष का शासन-काल विद्रोही जागीरदारों, मुस्लिम प्रान्तपतियों तथा हिन्दू-सरदारों का दमन करने में व्यतीत हुआ। १४२१ ई० में उसका परलोकवास हो गया और उसके स्थान पर उसका पुत्र मुबारक शाह दिल्ली का सुल्तान बन गया।

मुबारक शाह (१४२१-४५ ई०)—मुबारक शाह सैयद-वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक था। उसने समरकन्द से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और स्वतन्त्र रूप से दिल्ली में शासन करने लगा। मुबारक में वैसी सैनिक योग्यता न थी, जैसी उसके पिता में थी परन्तु अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को संगठित तथा सुरक्षित रखने में वह सफल रहा। उसने पंजाब तथा दोआब के विद्रोही सरदारों को दबाया और मालवा तथा जौनपुर के शासकों के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा की। १४३४ ई० में उसके मन्त्री ने षड्यन्त्र रचकर उसकी हत्या करवा दी और उसके स्थान पर उनका भतीजा सुल्तान बना दिया गया।

मुहम्मद शाह (१४३४-४५ ई०)—मुबारक के बाद उसका भतीजा मुहम्मद शाह दिल्ली का सुल्तान हुआ, परन्तु राज्य की वास्तविक शक्ति प्रधान मन्त्री सरवर के ही हाथ में रही। इससे अमीरों में बड़ा असन्तोष फैला और उन लोगों ने मिलकर

सरवर की हत्या करवा दी। मुहम्मद शाह एक निर्बल शासक था और उसे भयानक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। यद्यपि उसने ग्यारह वर्ष तक शासन किया, परन्तु सल्तनत का पतन ही होता गया और जब १४४५ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तब उसकी सत्ता दिल्ली के आस-पास केवल ४० मील तक ही सीमित थी।

आलम शाह (१४४५-५१ ई०)—मुहम्मद शाह के बाद उसका पुत्र अलाउद्दीन आलम शाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। यद्यपि आलम शाह का अर्थ है दुनिया का बादशाह, परन्तु इस सुल्तान में छोटे से राज्य पर भी शासन करने की क्षमता न थी। दो-तीन वर्ष दिल्ली में शासन करने के बाद वह बदायूँ चला गया और वहीं पर स्थायी रूप से निवास करने लगा। इससे दिल्ली की दशा बड़ी शोचनीय हो गई। विवश होकर अमीरों ने पंजाब के शासक बहलोल लोदी को आमन्त्रित किया और उसे १४५१ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया। इस प्रकार एक नये वंश का आरम्भ हुआ, जो लोदी-वंश कहलाता है। आलम शाह लगभग बीस वर्षों तक जीवित रहा और बदायूँ में शान्ति का जीवन व्यतीत करता रहा।

अध्याय ३२

लोदी-वंश

(१४५१-१५२६)

"A throne depending on the allegiance of an aristocracy of rapacious and turbulent chiefs demands politic concessions on the part of the monarch." —Stanley Lane-Poole.

लोदी कौन थे ?—लोदी अरबी भाषा के 'लोद' शब्द से बना है। लोद का शाब्दिक अर्थ होता है, आज्ञा का पालन न करना अथवा विद्रोही स्वभाव का होना और लोदी उन लोगों को कहते हैं, जो विद्रोही प्रवृत्ति के होते थे। वास्तव में लोदी एक अफगान कबीले का नाम था, जो बड़ी विद्रोही प्रवृत्ति का था। इस कबीले के लोग बड़े ही वीर, साहसी तथा स्वतन्त्रता-प्रेमी थे। अतएव वे बड़ी ही विद्रोही प्रवृत्ति के होते थे। यह लोग बड़े ही वीर तथा कुशल सैनिक होते थे। अतएव यह भारतीय सुल्तान की सेनाओं में भर्ती हो गये। इन्हीं लोदियों में से एक ने, जिसका नाम बहलोल लोदी था, दिल्ली में एक नये राज-वंश की स्थापना सैयद-वंश के स्थान पर की जो लोदी-वंश के नाम से विख्यात हुआ। चूंकि बहलोल लोदी लोदी-कबीले का था अतएव इस राज-वंश का नाम लोदी-वंश पड़ गया।

बहलोल लोदी (१४५१-८९ ई०)—बहलोल लोदी सरहिन्द के गवर्नर इस्लाम खाँ लोदी का भतीजा था। बहलोल की प्रतिभा से प्रभावित होकर इस्लाम ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। अतएव इस्लाम खाँ की मृत्यु के उपरान्त बहलोल सरहिन्द का शासक बन गया। चूंकि इन दिनों दिल्ली-सल्तनत की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो रही थी, अतएव बहलोल सरहिन्द का स्वतन्त्र शासक बन गया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जब सैयद-वंश के अन्तिम शासक अलाउद्दीन आलमशाह के बदायूँ चले जाने पर दिल्ली में गड़बड़ी फैलने लगी, तब प्रधान मंत्री हमीद खाँ ने बहलोल को दिल्ली का सिंहासन लेने के लिए आमंत्रित किया। बहलोल ने तुरन्त इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया और १४५१ ई० में वह दिल्ली का सुल्तान बन गया और उसने एक नये राज-वंश की स्थापना की जो लोदी-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बहलोल लोदी के कार्य—बहलोल एक योग्य सैनिक था अतएव उसने दिल्ली सल्तनत की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ किया। सबसे पहले उसने प्रधान मंत्री हमीद खाँ को, जिसने अपने स्वामी आलमशाह को धोखा देकर अपने अमीरों के साथ षड्यन्त्र रच कर बहलोल को दिल्ली का सिंहासन लेने के लिये आमन्त्रित किया था, कैदखाने में डाल दिया। इस प्रकार हमीद खाँ को अपने

विश्वासघात का दण्ड मिल गया और बहलोल का मार्ग भी स्वच्छ हो गया, क्योंकि हमीद फिर षड्यन्त्र रचकर स्वयं सुल्तान बनने का प्रयत्न नहीं कर सकता था।

अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के उपरान्त सुल्तान ने बलूची सरदार से मुल्तान को छीनने के लिए प्रस्थान कर दिया। परन्तु इसी समय जौनपुर के एक शासक महमूद शाह ने दिल्ली पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए एक विशाल सेना के साथ प्रस्थान कर दिया। अतएव बहलोल की मुल्तान लेने की योजना सफल न हो सकी और महमूद शाह का सामना करने के लिए वह वापस लौट आया। बहलोल ने डटकर वीरता के साथ महमूद शाह का सामना किया और उसे पीछे ढकेल दिया। विवश होकर महमूद शाह जौनपुर वापस लौट गया। परन्तु जौनपुर तथा दिल्ली सल्तनत का संघर्ष समाप्त न हुआ। वास्तव में बहलोल का शासन-काल जौनपुर तथा दिल्ली के निरन्तर संघर्ष का काल था। इस दीर्घकालीन संघर्ष में अन्तिम विजय बहलोल को ही प्राप्त हुई। उसने अपने पुत्र बारबक शाह को जौनपुर का शासक नियुक्त कर दिया। अनेक हिन्दू तथा मुसलमान सरदारों पर आक्रमण कर उसने उन्हें नत-मस्तक किया। १४८८ ई० में बहलोल बीमार पड़ा और उसका परलोकवास हो गया।

सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७ ई०)—बहलोल लोदी की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकारी की समस्या खड़ी हो गई। बहलोल के बड़े पुत्र का नाम बारबक शाह था, जो जौनपुर का शासक था और जो एक अयोग्य शासक सिद्ध हो चुका था। उसके दूसरे पुत्र का नाम निजाम खाँ था, जो एक सुनारिन के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण अमीरों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु निजाम खाँ बड़ा ही योग्य तथा रूपवान् व्यक्ति था और बहलोल के बाद वही सिकन्दर शाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

सर्व-प्रथम सिकन्दर का संघर्ष अपने भाई बारबक शाह के साथ हुआ, जिसे परास्त कर उसने जौनपुर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने बिहार के शासक हुसेन शाह शर्की पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर बिहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बंगाल के शासक के साथ सिकन्दर की मैत्री हो गई। विद्रोही हिन्दू राजाओं का दमन करने में भी सिकन्दर सफल रहा।

सिकन्दर बड़ा ही योग्य तथा प्रतिभावान शासक था। उसने अमीरों तथा जमींदारों पर अपना पूरा नियंत्रण रक्खा। परन्तु सिकन्दर बड़ा ही कट्टरपन्थी तथा धर्मान्ध शासक था। प्रायः यह देखा गया है कि मिश्रित रक्त के व्यक्ति बड़े ही असहिष्णु तथा संकीर्ण विचार के होते हैं। जिन शासकों की माँ हिन्दू और पिता मुसलमान थे, उन्होंने पिता-पक्ष का अधिक ध्यान रक्खा और माता-पक्ष का बहुत कम। फीरोज तुगलक की माँ राजपूतानी और उसका पिता मुसलमान था। फीरोज बड़ा ही कट्टर तथा असहिष्णु सुन्नी मुसलमान था। सिकन्दर की माँ हिन्दू सुनारिन और उसका पिता मुसलमान था। फलतः वह भी बड़ा कट्टर तथा असहिष्णु मुसलमान था। उसने फीरोज तुगलक की भाँति धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण

किया और हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया। उसने उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ा और उनके साथ भाँति-भाँति के अत्याचार किये। परन्तु सिकन्दर बड़ा ही न्यायप्रिय शासक था और अपनी प्रजा के हित का बड़ा ध्यान रखता था। वह साहित्य का बड़ा प्रेमी था और फारसी में कविताएँ किया करता था। १५१७ ई० में सिकन्दर का परलोकवास हो गया।

इब्राहीम लोदी (१५१७-१५२६ ई०)—सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त उसका भाई इब्राहीम लोदी दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। वह बड़ी ही उग्र प्रकृति का तथा हठी व्यक्ति था। उसमें व्यवहार-कुशलता बिल्कुल न थी। अतएव वह अपने अमीरों को प्रसन्न न रख सका और वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे। इन असन्तुष्ट अमीरों ने इब्राहीम के चाचा जलाल की अध्यक्षता में विद्रोह कर दिया और जलाल को जौनपुर का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। इब्राहीम ने जौनपुर पर आक्रमण कर दिया। जलाल कालपी भाग गया और वहाँ से वह ग्वालियर के हिन्दू राजा के यहाँ चला गया, जिसने उसे अपने यहाँ शरण दी। जब इब्राहीम को इसकी सूचना मिली तब उसने ग्वालियर के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत कर दिल्ली साम्राज्य में मिला लिया। जलाल वहाँ से गोंडवाना भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

इब्राहीम का मेवाड़ के राणा साँगा के साथ भी कई बार युद्ध हुआ। इन युद्धों में कभी राणा साँगा की तो कभी इब्राहीम लोदी की विजय होती थी, परन्तु अन्तिम युद्ध अनिर्णयात्मक ही रहा।

अब इब्राहीम लोदी ने बड़ी क्रूरता के साथ अपने अमीरों का दमन करना आरम्भ किया और कई का वध करवा दिया। इससे असन्तोष बहुत बढ़ गया। पंजाब का गवर्नर इब्राहीम के इन अत्याचारों से इतना आतंकित हो उठा कि उसने फरगना के शासक बाबर के साथ इब्राहीम लोदी के विरुद्ध पत्र-व्यवहार करना आरम्भ किया। बाबर को इससे बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और १५२६ ई० में इब्राहीम को परास्त कर दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार दिल्ली-सल्तनत का अन्त हो गया और भारत में एक नये राज-वंश की स्थापना हो गई जो मुगल-वश के नाम से प्रसिद्ध है।

दिल्ली-सल्तनत के पतन के कारण—दिल्ली सल्तनत की स्थापना १२०६ ई० में हुई थी और १५२६ ई० में इसका अन्त हो गया। इस प्रकार यह साम्राज्य ३२० वर्षों तक चलता रहा। इन ३२० वर्षों में पाँच राज-वंशों ने दिल्ली में शासन किया। गुलाम-वंश का शासन-काल इस साम्राज्य का शैशव-काल था। इस काल में दिल्ली-सल्तनत की स्थापना की गई तथा उसे संगठित किया गया। अलाउद्दीन खिलजी का शासन-काल इस साम्राज्य की युवावस्था का काल था। इस काल में साम्राज्य का चूड़ान्त विकास किया गया और उत्तर तथा दक्षिण भारत में उसका विकास किया गया। तुगलक-वंश का काल सल्तनत की वृद्धावस्था का काल था। इस काल में सल्तनत में दुर्बलता आ गई और वह पतनोन्मुख हो चली। सैयद-वंश तथा लोदी-वंश सल्तनत की अन्त्येष्टि-क्रिया का काल था। इस काल में सल्तनत का

विनाश हो गया और उसके स्थान पर मुगल-साम्राज्य की स्थापना हो गई। सल्तनत के पतन तथा विनाश के निम्नलिखित प्रधान कारण थे :—

(१) **स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन**—दिल्ली-सल्तनत का शासन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था और स्वेच्छाचारी शासन की मुख्य विशेषता यह होती है कि योग्य शासकों के समय में वह फलता-फूलता है और अयोग्य शासकों के काल में वह धराशायी हो जाता है। फीरोज शाह तुगलक के बाद दिल्ली के सिंहासन पर कोई इतना योग्य सुल्तान न बैठा, जो उस विशाल साम्राज्य को सुरक्षित तथा संगठित रख सकता जिसका निर्माण अलाउद्दीन खिलजी ने किया था।

(२) **साम्राज्य की विशालता**—दिल्ली-सल्तनत का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि उसके अन्तर्गत उत्तर तथा दक्षिण भारत दोनों आ गये थे। इस विस्तृत साम्राज्य को उस युग में, जब यातायात के साधनों का अभाव था, कोई बड़ा ही योग्य व्यक्ति सुरक्षित रख सकता था। चूँकि सैयद तथा लोदी-वंश में कोई इतना प्रतिभावान् व्यक्ति न हुआ जो इस विशाल साम्राज्य को सुरक्षित तथा संगठित रखता, अतएव यह पतनोन्मुख हो चला और अन्त में धराशायी हो गया।

(३) **केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता**—फीरोज शाह तुगलक की मृत्यु के उपरान्त केन्द्रीय शक्ति अत्यन्त दुर्बल हो गई। ज्यों-ज्यों केन्द्रीय शक्ति का पतन होता गया, त्यों-त्यों प्रान्तपतियों को अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर प्राप्त होता गया। फलतः वे विद्रोह का झण्डा खड़ा करने लगे और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने लगे।

(४) **अमीरों का षड्यन्त्र**—दिल्ली-सल्तनत का शासन कुलीन-तन्त्र सैनिक शासन था, जिसमें अमीरों का बहुत बड़ा प्रभाव था। प्रत्येक सुल्तान को इन अमीरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था। जिस व्यक्ति को इन अमीरों की सहायता तथा उनका समर्थन प्राप्त होता था, उसी के सुल्तान बनने की सबसे अधिक सम्भावना रहती थी। ऐसी स्थिति में इन अमीरों का प्रभाव राज्य में बढ़ता गया और वे सुल्तान-निर्माता बन गये। यद्यपि आरम्भ में यह अमीर सल्तनत के प्रधान स्तम्भ थे, परन्तु कालान्तर में उनका पतन हो गया और वे बड़े षड्यन्त्रकारी तथा कुचक्री बन गये। वे प्रायः विद्रोही मनोवृत्ति के हो गये और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में लग गये।

(५) **उत्तराधिकार के नियम का अभाव**—मुसलमानों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था। अतएव प्रत्येक सुल्तान के जीवन-काल में उत्तराधिकार की समस्या आ खड़ी होती थी और षड्यन्त्र तथा कुचक्र आरम्भ हो जाते थे। इससे राजवंशीय कलह आरम्भ हो जाता था और अमीर लोग इससे अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे। वे प्रायः अयोग्य व्यक्तियों को सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न करते थे, जिससे उनका प्रभाव बना रहे और सुल्तान उनके हाथ की कठपुतली बन जाय। सल्तनत की सुदृढ़ता पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

(६) **प्रजा का असहयोग**—दिल्ली-सल्तनत के पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उसे प्रजा का पूर्ण सहयोग न प्राप्त हो सका। उसकी बहु-संख्यक

प्रजा हिन्दू थी, जिसकी दृष्टि में मुस्लिम शासक सदैव विदेशी बने रहे। मुसलमानों ने केवल शक्ति के बल से हिन्दुओं पर शासन करने का प्रयत्न किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कभी दिल्ली-सल्तनत की शक्ति कम हो जाती थी तो उसकी हिन्दू प्रजा विद्रोह कर बैठती थी। यद्यपि अधिकांश राजपूतों को दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों ने नत-मस्तक कर दिया था, परन्तु उनके हृदय में वे राजभक्ति न उत्पन्न कर सके थे अतएव जब कभी वे अवसर पाते थे, तब विद्रोह कर देते थे और सल्तनत को भारी क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करते थे।

(७) **धार्मिक असहिष्णुता की नीति**—दिल्ली के सुल्तानों ने एक बहुत बड़ी भूल यह की थी कि थोड़े से सुल्तानों को छोड़कर शेष सभी ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया था और हिन्दुओं के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के अत्याचार किये थे। इससे हिन्दू सदैव असन्तुष्ट रहते थे और वे दिल्ली-सल्तनत के शत्रु बने रहे। हिन्दुओं के असहयोग के कारण दिल्ली-सल्तनत को बहुत बड़ी क्षति पहुँची।

(८) **सैनिक शासन**—दिल्ली-सल्तनत का शासन विशुद्ध सैनिक शासन था। सैनिक शक्ति द्वारा उसका निर्माण तथा संगठन किया गया था और सैनिक शक्ति द्वारा ही वह सुरक्षित तथा संगठित रक्खा जा सकता था। अतएव जब सल्तनत की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई, तब उसका पतनोन्मुख तथा विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था। मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु के बाद ही दिल्ली-सल्तनत की सैनिक शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया था।

(९) **मुहम्मद तुगलक तथा फीरोज की विशेषताएँ**—मुहम्मद बिन तुगलक तथा फीरोज शाह तुगलक की विशेषताओं का सल्तनत पर इतना घातक प्रभाव पड़ा कि उसका फिर सँभलना कठिन हो गया। मुहम्मद तुगलक की योजनाओं का सल्तनत की आर्थिक स्थिति तथा उसकी प्रतिष्ठा पर ऐसा आघात लगा कि उसके पतन को रोकना कठिन हो गया। फीरोज की दुर्बल सैनिक-नीति तथा उसके सेना-सम्बन्धी सुधारों से सल्तनत की सैनिक-शक्ति पर घातक प्रहार हुआ। उसके अनेक प्रशासकीय सुधार यथा दास-प्रथा, जागीरदारी की प्रथा आदि सल्तनत के लिए घातक सिद्ध हुए।

(१०) **मुसलमानों का पतन**—दिल्ली-सल्तनत के पतन का एक यह भी कारण था कि अब मुसलमानों में पुराना उत्साह तथा साहस न रह गया था। कहा जाता है कि शक्ति भ्रष्टाचार की जननी है और अनियन्त्रित शक्ति अनियंत्रित भ्रष्टाचार की जननी है। मुसलमानों की लगभग तीन सौ वर्षों की प्रभुत्व-शक्ति ने उन्हें विलासी तथा निकम्मा बना दिया था। फलतः उनके साम्राज्य का विनाश हो जाना अवश्यम्भावी था। लेन-पूल महोदय ने ठीक ही लिखा है, "भारत के मुसलमान अशक्त हो गये थे। वह पुरानी शक्ति, जिसके द्वारा पर्वतीय प्रदेश के लोग हिन्दुओं की समृद्ध तथा प्राचीन सभ्यता को कुचल देने में समर्थ हुए थे, समाप्त हो गयी थी।[1]

(११) **मुगलों के आक्रमण**—मुगलों के आक्रमण दिल्ली-सल्तनत पर निरन्तर होते रहते थे, जिनका सल्तनत की शक्ति पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया और बाबर के आक्रमण ने उसे सदैव के लिए समाप्त कर दिया।

●

---

[1] The Muslim of India had grown effete. The old hardy vigour which had enabled the hillsmen to trample upon the rich and ancient civilization of the Hindus was extinct."—Lane-Poole.

अध्याय ३३

बहमनी तथा विजयनगर के राज्य

> "The battle of Talikota is one of the most decisive battles in Indian history. It sounded the death knell of the Hindu empire in the south and produced a state of chaos which invariably follows the collapse of vast political organisation."
>
> —Dr. Ishwari Prasad.

बहमनी-राज्य की स्थापना—मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल के अन्तिम भाग में इस्माइल नामक एक अमीर ने दौलताबाद में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। १३४७ ई० में उसने हसन जफर खाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। हसन ने अलाउद्दीन बहमन शाह की उपाधि धारण की और गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाकर उसने शासन करना आरम्भ किया। जिस राज्य पर बहमन शाह ने शासन किया, वह बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

फिरिश्ता के कथनानुसार हसन पहले दिल्ली के गंगा नामक ब्राह्मण के यहाँ नौकर था, जो एक प्रसिद्ध ज्योतिषी था। एक दिन हसन को अपने स्वामी के खेत में स्वर्ण-मुद्राओं से भरा एक घड़ा मिला। उसने स्वामी को इस घड़े का अधिकारी समझा और उसको दे दिया। वह ब्राह्मण हसन की ईमानदारी से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक से उसकी ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति की बड़ी प्रशंसा की। सुल्तान ने अपने राज्य में हसन को नौकरी दे दी। ब्राह्मण के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने अपना नाम हसन काँगू अथवा हसन गंगू रख लिया। कहा जाता है कि ब्राह्मण ने हसन के राजा होने की भविष्यवाणी भी की थी। अतएव जब हसन राजा हो गया, तब उसने अपना नाम ब्राह्मण अथवा बहमन रख लिया और जिस राज्य पर उसने शासन किया, वह बहमनी कहलाया। परन्तु आधुनिक इतिहासकार फिरिश्ता के विवरण से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि हसन अपने को फारस के बादशाह बहमन बिन इस्फन्दियार का वंशज समझता था। इसी से उसने सिहासन पर बैठने के बाद बहमन शाह की उपाधि धारण की थी और जिस राज्य पर उसने शासन किया, वह बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बहमनी राज्य का उत्थान—यद्यपि दौलताबाद को ही दक्षिण के गवर्नरों की राजधानी बनने का श्रेय बहुत दिनों से प्राप्त था, परन्तु हसन ने गुलबर्गा को अपनी

राजधानी बनाया। फीरोज तुगलक ने दक्षिण को फिर से अपने अधिकार में करने का कोई प्रयत्न न किया, अतएव हसन को अपनी शक्ति को संगठित करने का पूरा अवसर मिल गया। उसने अपने प्रान्त को चार भागों में विभक्त कर दिया, अर्थात् दौलताबाद, गुलबर्गा, बरार तथा बीदर। यह राज्य उत्तर में एलिचपुर से दक्षिण में कृष्णा तक, पश्चिम में समुद्र-तट से लेकर पूर्व में वारंगल राज्य की सीमा तक फैला था, जहाँ पर एक हिन्दू राजा शासन करता था। हसन गुजरात पर आक्रमण करने का विचार कर ही रहा था कि १३५८ ई० में वह बीमार हो गया और ग्यारह वर्ष शासन करने के उपरान्त परलोकवासी हो गया।

हसन के बाद उसका पुत्र मुहम्मद शाह प्रथम गुलबर्गा के सिंहासन पर बैठा। उसने विजयनगर तथा वारंगल के हिन्दू-राज्यों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया और वह न केवल बहमनी राज्य को सुरक्षित रख सका, वरन् उसकी प्रतिष्ठा तथा सीमा में भी वृद्धि की। विजयनगर तथा बहमनी राज्य का संघर्ष आनुवंशिक हो गया और रायचूर दोआब के लिए, जो तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदियों के बीच स्थित था, इन दोनों राज्यों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा। वास्तव में यह दोनों राज्य एक-दूसरे को उखाड़ फेंकने के प्रयत्न में संलग्न हो गये। अन्त में विजयनगर की ही पराजय हुई और उसका अस्तित्व समाप्त हो गया।

मुहम्मद शाह प्रथम के बाद बहमनी-राज्य में अनेक योग्य शासक हुए जिन्होंने राज्य की सीमा को बढ़ाया और उसकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की। महमूद गवाँ के मन्त्रित्व-काल में बहमनी-राज्य अपने चूड़ान्त विकास को पहुँच गया, अतएव उसके जीवन तथा कार्यों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

महमूद गवाँ गिलाली ईरान का निवासी था। पैंतालिस वर्ष की अवस्था में वह एक व्यापारी के रूप में गुलबर्गा आया था। अपनी योग्यता तथा कार्य-कुशलता के बल से विदेशी अमीरों में उसे प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया और अन्त में वह प्रधान-मन्त्री के पद पर पहुँच गया। जिन दिनों महमूद गवाँ को शासन का भार उठाना पड़ा, उन दिनों गुलबर्गा के सिंहासन पर एक अल्प-वयस्क शासक आसीन था और उसकी माता उसकी संरक्षिका थी। बहमनी राज्य के लिए यह बड़े संकट का काल था और उसके शत्रुओं ने इससे लाभ उठाने का प्रयत्न आरम्भ किया, परन्तु महमूद गवाँ में इन शत्रुओं का सामना करने की पूरी क्षमता थी। तेलंगाना तथा उड़ीसा के राजाओं की सेनाओं ने बहमनी-राज्य पर आक्रमण कर दिया और उनकी सेनाएँ बीदर तक पहुँच गईं। मालवा के शासक महमूद खिलजी ने भी बहमनी-राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसकी सेनाओं ने बीदर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। महमूद गवाँ ने इस संकट-काल में बड़े धैर्य से काम लिया और गुजरात के शासक की सहायता से बहमनी-राज्य से शत्रुओं को मार भगाया। १४६३ ई० में बहमनी राज्य के शासक निजाम शाह की मृत्यु हो गई और उसका छोटा भाई, जिसकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी, मुहम्मद तृतीय के नाम से गुलबर्गा के सिंहासन पर बैठा। महमूद गवाँ ने अट्ठारह वर्ष तक अनन्य भक्ति के साथ अपने इस अल्प-वयस्क

स्वामी की सेवा की और उसका पथ-प्रदर्शन करता रहा। महमूद गवाँ ने न केवल बहमनी-राज्य को सुरक्षित रक्खा, वरन् उसने उसकी सीमाओं में भी विस्तार किया। उसने दक्षिणी तथा विदेशी अमीरों के झगड़े को शान्त किया और विदेशी होते हुए भी महमूद गवाँ ने निष्पक्षता के साथ सरकारी पदों का वितरण किया। महमूद गवाँ ने अमीरों की शक्ति को कम करने और राजा की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने सेना पर राजा का पूरा नियन्त्रण स्थापित कर दिया और अर्थ-व्यवस्था का पुनर्सङ्गठन किया। उसने न्याय-व्यवस्था में उन्नति की और शिक्षा की उन्नति पर विशेष रूप में ध्यान दिया। बीदर में महमूद गवाँ ने अपना एक कालेज स्थापित किया था, जो अपने पुस्तकालय के लिए प्रसिद्ध था। लगान निश्चित करने के लिए उसने भूमि की नाप करवाई और शासन को हर प्रकार से व्यवस्थित बनाया। परन्तु इस स्वामिभक्त तथा कर्त्तव्य-परायण मन्त्री का अन्त बड़ा दुखद हुआ। अमीरों ने षड्यंत्र रच कर सुल्तान द्वारा ही १४८१ ई० में ७८ वर्ष की आयु में उसका वध करा दिया। बाद में जब सुल्तान को इस षड्यन्त्र का पता लगा तब उसे ऐसी ग्लानि उत्पन्न हुई कि उसने आत्म-हत्या कर ली। महमूद गवाँ के मरते ही बहमनी-राज्य का पतन आरम्भ हो गया और थोड़े ही दिनों बाद उसका विनाश हो गया।

बहमनी राज्य का पतन—महमूद गवाँ के मरते ही बहमनी-राज्य का विनाश आरम्भ हो गया। दक्षिणी तथा विदेशी अमीरों में संघर्ष आरम्भ हो गया और वे एक-दूसरे को विनष्ट करने के लिए दृढ़ संकल्प हो गये। सुल्तान नाम-मात्र का शासक रह गया और अमीर तथा प्रान्तपति अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये। कासिम बरीद नामक एक गुलाम ने इस अवसर से लाभ उठाकर अपने को राज्य का स्वामी बना लिया। बरीद का अनुसरण अन्य प्रान्तपतियों ने भी किया और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। इस प्रकार बहमनी-राज्य का अन्त हो गया और उसके स्थान पर पाँच स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई। यूसुफ आदिल खाँ ने बीजापुर में आदिलशाही, बुरहान निजाम शाह ने अहमदनगर में निजामीशाही, फतहउल्लाह इमादुलमुल्क ने बरार में इमादशाही, सुल्तान कुली कुतुबुलमुल्क ने गोलकुण्डा में कुतुबशाही और कासिम बीदर ने बीदर में बीदरशाही राज्य की स्थापना कर ली।

बहमनी-राज्य के पतन के कारण—बहमनी-राज्य के उत्थान तथा पतन का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब उसके पतन के कारणों का पता लगा लेना आवश्यक है।

(१) महमूद गवाँ की मृत्यु—महमूद गवाँ के मन्त्रित्व-काल में ही बहमनी-राज्य पर आपत्तियों के बादल मँडरा रहे थे। परन्तु उसने राज्य को इन आपत्तियों से मुक्त कर उसे सुरक्षित तथा सुसंगठित रक्खा। परन्तु उसके वध के बाद ही विनाशकारी शक्तियाँ काम करने लगीं और राज्य में अराजकता रोकी न जा सकी। महमूद गवाँ के बाद जो मन्त्री हुए वे स्वार्थी थे और अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे।

(२) **विभिन्न दलों का संघर्ष**—बहमनी-राज्य में मुसलमानों के अनेक दल तथा वर्ग विद्यमान थे, जो एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन वर्गों में दक्षिणी तथा विदेशी अमीरों का वर्ग एक-दूसरे को विनष्ट करने में संलग्न हो गया। जब तक महमूद गवाँ जीवित रहा, तब तक उसने इन पर नियन्त्रण रक्खा। परन्तु उसके मरते ही यह लोग राजधानी की सड़कों पर लड़ने लगे। अमीरों का यह संघर्ष राज्य के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ और वह पतनोन्मुख हो गया।

(३) **परवर्ती सुल्तानों की अयोग्यता**—बहमनी-राज्य में जितने परवर्ती सुल्तान हुए, वे बड़े ही अयोग्य तथा विलासी थे। इससे वे अपने अमीरों तथा प्रान्त-पतियों पर नियन्त्रण न रख सके और विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोक न सके, जिससे राज्य का पतन अनिवार्य हो गया।

(४) **प्रान्तपतियों की महत्त्वाकांक्षाएँ**—बहमनी-राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। इन प्रान्तों के प्रान्तपति बड़े ही महत्त्वाकाँक्षी थे। न उनमें राजभक्ति थी और न स्वामिभक्ति। ज्यों-ज्यों केन्द्रीय शक्ति निर्बल होने लगी, त्यों-त्यों वे अपनी शक्ति को बढ़ाने लग गये और जब केन्द्रीय शक्ति बिल्कुल निर्बल हो गई, तब इन लोगों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये।

विजयनगर-राज्य की स्थापना—विजयनगर का राज्य कृष्णा और कावेरी नदियों के मध्य स्थित था। इस राज्य की स्थापना हरिहर तथा बुक्का नामक दो भाईयों ने १३३६ ई० में की थी। ये दोनों भाई यादव-वंशीय क्षत्रिय थे और वारंगल के राजा प्रताप रुद्रदेव की सेना में बहुत दिनों तक थे। जब १३२३ ई० में दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने वारंगल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब यह दोनों भाई भाग कर रायचूर दोआब के राजा के यहाँ चले गये और वहाँ नौकरी कर ली, परन्तु थोड़े ही दिन बाद मुहम्मद तुगलक ने रायचूर दोआब को भी जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। उस समय ये दोनों भाई कैद कर लिये गये और दिल्ली लाये गये। ये वहीं पर रहने लगे और कहा जाता है कि उन्होंने इस्लाम-धर्म को भी स्वीकार कर लिया था। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के अन्तिम भाग में जब दक्षिण में उपद्रव आरम्भ होने लगे, तब वहाँ पर शान्ति स्थापित करने के लिए सुल्तान ने इन्हें रायचूर दोआब का शासक बनाकर भेज दिया। वहाँ पहुँचने के बाद इन दोनों भाइयों ने अपना स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य स्थापित करने की कल्पना करनी आरम्भ की। इस कार्य में उन्हें संस्कृत के महान् विद्वान् माधव विद्यारण्य से उसी प्रकार सहायता मिली, जिस प्रकार मौर्य साम्राज्य की स्थापना करने में चन्द्रगुप्त को महर्षि कौटिल्य से मिली थी। अपने गुरु तथा सहायक विद्यारण्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इन दोनों भाईयों ने तुंगभद्रा नदी के तट पर विद्यानगर अथवा विजयनगर नामक नगर की स्थापना की, जो आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य बन गया और विजयनगर-राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विजयनगर राज्य का उत्थान—विजयनगर में कुल चार राज-वंशों ने शासन किया। प्रथम दो राज-वंशों का पड़ोस के बहमनी राज्य से निरंतर संघर्ष

चलता रहा और दोनों एक दूसरे को उन्मूलित करने के प्रयत्न में लगे रहे। जब तीसरे राज-वंश का शासन आरम्भ हुआ, तब बहमनी राज्य छिन्न-भिन्न होकर पाँच राज्यों में विभक्त हो गया था। अतएव संघर्ष कुछ कम हो गया। चौथे राज-वंश के शासन-काल में विजयनगर का राज्य पतनोन्मुख हो गया और १६१४ ई० में वह बिल्कुल समाप्त हो गया।

प्रथम राज-वंश ने १३३६ से १४८६ ई० तक शासन किया। इसका प्रथम शासक हरिहर था। वह बड़ा ही वीर तथा उत्साही व्यक्ति था। उसने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया और चार वर्ष के भीतर ही उसने तुंगभद्रा नदी की घाटी तथा कोंकण के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और मालाबार के तट तक अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। हरिहर के बाद १३५३ ई० में बुक्का सिंहासन पर बैठा। उसका बहमनी-राज्य के साथ भीषण संग्राम आरम्भ हो गया। मुसलमानों ने बारूद तथा तोपों का प्रयोग यूरोपवासियों तथा तुर्कों की सहायता से किया। इससे बुक्का की पराजय हो गई और उसे बड़ी क्षति उठानी पड़ी। हरिहर द्वितीय इस वंश का तीसरा प्रबल शासक था। हरिहर तथा बुक्का ने कभी राजा की उपाधि नहीं धारण की। हरिहर द्वितीय प्रथम शासक था, जिसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस वंश का अंतिम शक्तिशाली शासक देवराज द्वितीय था। इस वंश के राजाओं ने बहमनी-राज्य के अतिरिक्त दक्षिण के हिन्दू-राजाओं के साथ भी युद्ध किया और उन्हें परास्त कर सुदूर दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार किया।

विजयनगर के द्वितीय राज-वंश ने १४८६ से १५०५ ई० तक शासन किया। इस वंश का प्रथम शासक नरसिंह था। इस वंश ने राज्य-विस्तार के साथ-साथ शासन-सुधार का भी काम किया। परन्तु यह राज-वंश स्थायी सिद्ध न हुआ।

तीसरे राज-वंश ने १५०५ से १५७० ई० तक शासन किया। इस वंश का प्रथम शासक नरेश नायक था। वह विजयनगर की सेना का सेनापति था और उसने अपने स्वामी की हत्या कर सिंहासन छीन लिया था। इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रतापी शासक कृष्णदेव राय था। उसके शासन-काल में विजयनगर अपनी चरम उन्नति को पहुँच गया। उसने कृष्णा नदी के दक्षिण में अपनी सीमा का विस्तार किया। पूर्व में उसने उड़ीसा के राजा के राज्य का कुछ भाग जीत लिया। रायचूर दोआब पर भी उसने फिर अपना अधिकार जमा लिया। उसने संस्कृत तथा तेलगू-साहित्य की उन्नति में भी योग दिया। १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसके मरते ही विजयनगर-राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

विजयनगर राज्य का पतन—कृष्णदेव राय के उत्तराधिकारी बड़े शक्तिहीन थे और वे विजयनगर-राज्य को पतन से बचा न सके। कृष्णदेव राय के एक उत्तराधिकारी सदाशिव राय के शासन-काल में राज्य की सारी शक्ति उसके मन्त्री रामराजा के हाथ में चली गई। वह बड़ा अत्याचारी था। उसने पड़ोस के मुसलमान राज्यों के साथ युद्ध छेड़ दिया और मुसलमानों के साथ बड़ा अत्याचार किया।

इससे दक्षिण के मुसलमान राज्यों ने एक संघ बनाकर विजयनगर पर आक्रमण कर दिया। कृष्णा नदी के तट पर स्थित तालीकोट नामक स्थान पर भीषण संग्राम हुआ, जिसमें रामराजा की पराजय हुई और वह मारा गया। मुसलमानों ने विजयनगर को खूब लूटा और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके बाद फिर विजयनगर सँभल न सका।

विजयनगर में एक चौथे राज-वंश ने १५७० से १६१४ ई० तक शासन किया। इस वंश में कई नाम-मात्र के शासक हुए, जो विजयनगर को नष्ट होने से बचा न सके। इस वंश का अन्तिम शासक रङ्ग तृतीय था। वह बड़ा अयोग्य था और १६१४ ई० में उसका राज्य समाप्त हो गया। इसके उत्तरी भाग पर मुसलमानों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इसके दक्षिण भाग पर मदुरा तथा तंजौर के नायकों ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

विजयनगर राज्य के पतन के कारण—विजयनगर का हिन्दू-राज्य लगभग ३०० वर्षों तक दक्षिण-भारत में फलता-फूलता रहा। इटली के यात्री निकोला कोण्टी, जो १४२२ ई० में और अब्दुर्रज्जाक, जो फारस के राजदूत के रूप में १४४२ ई० में विजयनगर आये थे, इस नगर की सम्पन्नता तथा वैभव से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। परन्तु अपनी नीति की असफलता तथा अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण यह राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इसके पतन के निम्नलिखित प्रधान कारण थे :—

(१) **बहमनी-राज्य के साथ संघर्ष**—विजयनगर-राज्य की स्थापना दक्षिण भारत में उस समय हुई थी, जब उसके पड़ोस में बहमनी-राज्य अत्यन्त प्रबल हो चुका था। कूटनीतिज्ञता के अभाव के कारण यह दोनों राज्य एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये और एक दूसरे को उखाड़ कर फेंक देने के प्रयत्न में लग गये। यह संघर्ष दोनों ही राज्यों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। इस संघर्ष में विजयनगर की प्रायः पराजय हो जाती थी। परन्तु विजयनगर इतना प्रबल राज्य था कि बहमनी राज्य के शासक उसे समूल नष्ट न कर पाये। फिर भी विजयनगर की शक्ति पर इन पराजयों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

(२) **सैनिक दुर्बलता**—बहमनी राज्य के विरुद्ध विजयनगर के निरन्तर परास्त होते जाने का प्रधान कारण उसकी सैनिक दुर्बलता थी। विजयनगर की अश्वारोही सेना अधिक अच्छी न थी और वे हाथियों पर ही अधिक भरोसा करते थे, परन्तु ये हाथी कुशल मुस्लिम तीरंदाजों के सामने ठहर नहीं पाते थे। इसके अतिरिक्त बहमनी-राज्य की सेना में बारूद तथा तोपखाने का अच्छा प्रबन्ध था और इनका प्रयोग करने के लिए कुशल यूरोपीय तथा तुर्की लोग रक्खे जाते थे।

(३) **मुसलमानों के साथ अत्याचार**—जब कभी विजयनगर के हिन्दू-राजाओं को मुसलमानों पर विजय प्राप्त हुई, तब उन्होंने उन पर बड़ा अत्याचार किया और बड़ी निर्दयता के साथ उनका वध कराया। इससे मुसलमानों में प्रतिशोध अर्थात बदला लेने की भावना आरम्भ हो गई।

(४) **मुस्लिम-संघ की स्थापना**—मुसलमानों के साथ अत्याचार करने तथा बहमनी-राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जो मुस्लिम राज्य स्थापित हुए, उनकी राजनीति में हस्तक्षेप करने का परिणाम यह हुआ कि विजयनगर के विरुद्ध मुसलमान राज्यों का एक प्रबल संघ बन गया, जिसका सामना करने की विजयनगर में क्षमता न थी।

(५) **तालीकोट का युद्ध**—मुसलमान-राज्यों के संघ ने विजयनगर की सेनाओं को तालीकोट के युद्ध में बुरी तरह परास्त किया और विजयनगर को इतना लूटा कि उसकी सम्पन्नता तथा उसका वैभव समाप्त हो गया। तालीकोट के युद्ध की पराजय ने विजयनगर राज्य की रीढ़ की हड्डी को तोड़ दिया और वह फिर सँभल न सका।

(६) **अंतिम शासकों की दुर्बलताएँ**—कृष्णदेव राय विजयनगर का अन्तिम प्रतापी सम्राट् था। उसकी मृत्यु के उपरान्त फिर कोई योग्य शासक न हुआ, जो इसे पतन से बचा सकता। रामराजा की दुर्नीति के कारण तालीकोट का युद्ध हुआ था, जिसने विजयनगर की शक्ति को नष्ट कर दिया और उसके बाद अयोग्य शासकों की एक शृंखला बन गयी, जिससे विजयनगर का पतन रुक न सका और वह अन्त में समाप्त ही हो गया।

(७) **प्रान्तपतियों की प्रबलता**—विजयनगर के विनाश का एक यह भी कारण था कि उसके प्रान्तपति बड़े सबल हो गये थे और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में लग गये थे। जब विजयनगर के दुर्दिन आरम्भ हुए, तब मदुरा तथा तंजौर के नायकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और विजयनगर से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

(८) **पश्चिमी समुद्र-तट पर पुर्तगालियों का आवास**—विजयनगर-राज्य के पश्चिम में समुद्र-तट पर पुर्तगाली लोग बस गये थे। यद्यपि ये लोग व्यापारी के रूप में आये थे, परन्तु धीरे-धीरे ये लोग भारतीय राजनीति में भाग लेने लगे और विजयनगर-राज्य के लिए बड़े घातक सिद्ध हुए।

विजयनगर की शासन-व्यवस्था— विजयनगर राज्य के शासन की रूपरेखा निम्नांकित थी :—

(१) **धर्म सापेक्ष शासन**—विजयनगर का शासन धर्म-सापेक्ष था अर्थात् व धर्म-प्रभावित था। इसका कारण यह था कि विजयनगर राज्य का पड़ोसी मुसलमा राज्यों के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहा। इसके अतिरिक्त राज्य की स्थापन हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति तथा हिन्दू-जनता की रक्षा के लिए की गई थी। धर्म-सापेक्ष होने के कारण राज्य में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव था और वे ऊँचे-ऊँचे पदों प नियुक्त किये जाते थे। परन्तु धर्म-सापेक्ष राज्य होने पर भी इस राज्य में धर्मान्धता न थी और अन्य धर्मावलम्बियों से साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था औ उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी विजयनगर के राजा मुसलमानों के साथ बड़ा अत्याचार कर देते थे, परन्तु ऐसा वे केवल शत्रुओं

साथ करते थे, क्योंकि विजयनगर की सेना में बहुत से मुसलमान सैनिक भी थे ।

(२) **स्वेच्छाचारी शासन**—विजयनगर का शासन सैनिक तानाशाही शासन था । राज्य की सभी शक्तियाँ सम्राट् के हाथ में थीं । शासन, न्याय तथा सेना सभी का वह प्रधान था । यद्यपि सम्राट् की सहायता तथा उसे परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी, परन्तु सम्राट् उसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य न था । मन्त्रियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था । इससे उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने का उन्हें साहस नहीं होता था ।

(३) **सेना का संगठन**—विजयनगर के राजाओं का अपने पड़ोसी मुसलमान राजाओं के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहता था । अतएव अपनी सेना के संगठन की ओर उन्हें विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता था । परन्तु विजयनगर की सेना में कुछ दोष थे, जिसके कारण पड़ोस के मुसलमान राजाओं से वे प्रायः परास्त हो जाया करते थे । उनकी सेना में पहला दोष यह था कि वे पैदल-सेना तथा हाथियों पर अधिक निर्भर रहते थे, जो मुसलमान अश्वारोहियों के सामने टिक नहीं पाते थे। विजयनगर की सेना में कुशल अश्वारोहियों की बड़ी कमी थी । विजयनगर की सेना में दूसरा बहुत बड़ा दोष यह था कि राज्य को अपने प्रान्तपतियों की सेना पर निर्भर रहना पड़ता था, जिनकी स्वामिभक्ति बड़ी संदिग्ध थी ।

(४) **न्याय-व्यवस्था**—विजयनगर की न्याय-व्यवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दंड-विधान बड़ा कठोर था। सम्राट् स्वयं न्याय-विभाग का प्रधान होता था और उसके मन्त्री न्याय करने में उसकी सहायता किया करते थे । न्याय हिन्दू-न्याय-विधान के अनुसार होता था। यद्यपि अपराधियों को बड़े कठोर दंड दिये जाते थे, परन्तु ब्राह्मणों को मृत्यु-दंड नहीं दिया जाता था ।

(५) **आय के साधन**—भूमि-कर राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन था । भूमि-कर के अतिरिक्त किसानों को चरागाह पर भी कर देना पड़ता था । इन्हें विवाह कर भी देना पड़ता था । चुंगी भी राज्य की आय का बहुत बड़ा साधन था । जिन वस्तुओं की बिक्री होती थी, उन पर व्यापारियों को चुंगी देनी पड़ती थी । वेश्याओं को भी कर देना पड़ता था । यद्यपि कर-नीति कठोर थी परन्तु कर से प्राप्त धन सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय किया जाता था । इससे देश धन-धान्यपूर्ण था और प्रजा बड़ी सुखी थी ।

(६) **शासन की इकाइयाँ**—शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण राज्य लगभग दो सौ प्रान्तों में विभक्त था । प्रत्येक प्रान्त का शासन एक प्रान्तपति को सौंप दिया जाता था । प्रत्येक प्रान्तपति केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में और उसी के आदेशानुसार कार्य किया करता था । प्रान्तपतियों को अपनी सेनाएँ रखनी पड़ती थीं, जिनके द्वारा वे राज्य की सेवा किया करते थे । प्रत्येक प्रान्त कई जिलों में विभक्त रहता था । यह जिले नाडु या कोट्टम कहलाते थे । शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव होता था । गाँव का प्रबन्ध गाँव की पंचायत किया करती थी । इन पंचायतों के प्रधान आयंगर कहलाते थे । आयंगर का पद पुश्तैनी होता था और पिता के

बाद उसका पुत्र नियुक्त कर दिया जाता था। गाँव की पंचायतें गाँव का कर वसूल करती थीं, वहाँ के छोटे-मोटे झगड़ों का निर्णय करती थीं और गाँव में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखती थीं।

सामाजिक दशा—समाज में वर्णाश्रम-धर्म का पालन किया जाता था। अतएव समाज में ब्राह्मण बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उन्हें प्राण-दंड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण शाकाहारी होते थे और उनका चरित्र बड़ा पवित्र होता था। शेष लोग मांसाहारी होते थे। समाज में वलि की प्रथा थी और भेड़ों तथा बैलों की वलि दी जाती थी। समाज में धार्मिक सहिष्णुता थी और किसी के साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता था। स्त्रियाँ बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था और उनमें बहुत-सी राज-भवन में लेखिका का कार्य किया करती थीं। वेश्या-कर्म प्रचलित था। इन वेश्याओं को राज-कर देना पड़ता था। आभूषणों का प्रयोग खूब होता था। प्राय: लोग सोने-चाँदी के आभूषण पहनते थे। अब्दुर्रज्जाक के कथनानुसार साधारण लोग भी जवाहरात तथा सोने के आभूषणों का प्रयोग किया करते थे। समाज में आमोद-प्रमोद के अनेक साधन प्रचलित थे।

साहित्य तथा कला—विजयनगर के शासक साहित्य तथा कला के प्रेमी थे उन्होंने साहित्य तथा कला की उन्नति में योग दिया। अनेक साहित्यकारों तथा कलाकारों को विजयनगर के उदार शासकों का आश्रय तथा संरक्षण प्राप्त था। कई शासक स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् तथा कलाकार थे। संस्कृत तथा तेलगू दोनों ही के साहित्य की उन्नति इस राज्य में हुई। राज-दरबार के विद्वानों में सायण का नाम अग्रगण्य है, जिसने ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक पर टीकाएँ लिखी हैं। सायण के भाई माधवाचार्य भी संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् थे। अलसनी तेलगू भाषा का बहुत बड़ा विद्वान् तथा कवि था। विजयनगर के राजाओं की भवन-निर्माण में बड़ी रुचि थी और अपनी राजधानी में उन्होंने बड़े सुन्दर भवनों का निर्माण करवाया था। बहुत से भव्य मन्दिरों का भी इन उदार राजाओं ने निर्माण करवाया था। इन भवनों तथा मन्दिरों पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गई थी। यद्यपि इनमें से अधिकांश को मुसलमानों ने विध्वंस कर दिया है, परन्तु जो बचे हैं वे उस काल की कला की उच्चता को प्रकट करते हैं।

अध्याय ३४

सूफी-मत तथा भक्ति-आन्दोलन

> "The influence of Islam is clearly manifest in the teachings of Namadeva, Kabir and Nanak who all condemned caste, polytheism and idolatry and pleaded for true faith, sincerity and purity of life."
>
> —Dr. Ishwari Prasad.

सूफी का अर्थ—सूफी अरवी भाषा के सफ शव्द से वना है। सफ का अर्थ होता है चटाई। सफ से सफ्फा शव्द बना है, जिसका अर्थ है कतार या गिरोह। सूफी उन लोगों को कहते थे जो चटाई पर कतार में वैठकर ईश्वर का चिन्तन तथा उसकी उपासना किया करते थे। मुहम्मद साहव ने एक मस्जिद वनवाई थी। उस मस्जिद के पास एक चबूतरा था। चबूतरे पर लोग वैठकर भगवान का ध्यान किया करते थे। यह लोग सूफी कहलाये। अरवी के सफ शव्द से सफा शव्द बना है; जिसका अर्थ होता है शुद्ध या पवित्र। इस प्रकार जो लोग वड़ी शुद्ध तथा पवित्र आत्मा के होते थे और जो संसार के मोह-जाल से अपने को दूर रखते थे, वे सूफी कहलाये। सूफी शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से की जा सकती है। सूफी अरवी के सूफ शव्द से वना है। सूफ का अर्थ है भेड़ का वाल और सूफी उन लोगों को कहते थे, जो भेड़ के वाल के अर्थात् मोटे तथा साधारण कपड़े पहनते थे। व्यापक अर्थ में सूफी मुसलमान विचारकों तथा चिन्तकों का वह सम्प्रदाय था, जो सांसारिक भोग-विलास तथा विषय-वासनाओं से बहुत दूर रहते थे और जो वड़ा ही सरल तथा संयम का सीधा-सादा, साधारण जीवन व्यतीत करते थे और जिनके जीवन का लक्ष्य परोपकार करना तथा समाज एवं दीन-दुखियों की सेवा करना और आत्म-त्याग तथा आत्म-नियंत्रण एवं तपस्या का जीवन व्यतीत करके अपनी आत्मा को शुद्ध बनाकर अन्त में ईश्वर में अपनी आत्मा का विलयन कर देना होता था।

सूफी-मत का सिद्धान्त—सूफी-सम्प्रदाय की उत्पत्ति तथा उसका विकास इस्लाम की गोद में हुआ था। मुहम्मद साहव के साथियों में से कुछ ऐसे थे, जिन्हें संसार से घोर घृणा थी और वे सांसारिक भोग-विलास से दूर रहना चाहते थे। यह लोग रहस्यवादी थे और वड़ी ही तपस्या का तथा सरल जीवन व्यतीत करते थे। यह समाज से दूर एकाकी जीवन व्यतीत करना चाहते थे। वास्तव में इनका जीवन सन्तों का जीवन था और यह अपना सारा समय भगवद्-भक्ति तथा उसके चिन्तन में लगाते थे। आत्म-नियन्त्रण तथा आत्म-संयम इनका प्रथम सिद्धान्त था।

यह लोग पथ-प्रदर्शक में विश्वास करते थे, जिसे यह लोग पीर या शेख कहते थे। इस पीर अथवा शेख में पूर्ण विश्वास होना चाहिये था और उसके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए था। इन सूफी महात्माओं का ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम तथा उसमें अपार भक्ति होती थी। यह महात्मा संगीत के आश्रय से अपने प्रेम को प्रकट करते थे और आनन्द-विभोर हो जाते थे। इन सूफी महात्माओं का प्रधान लक्ष्य अपनी आत्मा को पवित्र तथा शुद्ध बनाना और प्रेम तथा भक्ति द्वारा उसका ईश्वर में विलयन कर देना होता था। आत्मा का ईश्वर में विलयन हो जाना 'फना' कहलाता है और यही सूफियों का अंतिम लक्ष्य होता है। इस प्रकार सूफी मत भारतीय भक्ति-मार्ग तथा वेदान्त-दर्शन से बड़ा मेल खाता है। सूफी-सम्प्रदाय में बहुत से बड़े-बड़े महात्मा हुए, जिन्होंने आत्म संयम तथा आत्म त्याग द्वारा ऐसा तपोमय जीवन व्यतीत किया कि वे अजर-अमर हो गये। इन महात्माओं में कुछ का परिचय दे देना आवश्यक है।

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती—चिश्ती सूफियों का एक वर्ग था। इनकी स्थापना ख्वाजा अब्दुल चिश्ती ने की थी। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा उस्मान हारुनी के शिष्य थे। इनका जन्म ११४३ ई० में सीस्तान में हुआ था। शमसुद्दीन मुहम्मद गोरी के आक्रमण के थोड़े ही दिन पूर्व वे भारत आये थे। उन्हें अपने त्यागमय तथा तपस्या-पूर्ण जीवन से इतनी ख्याति मिली कि वे 'सुल्तानुल हिन्द' अर्थात् भारत के आध्यात्मिक सम्राट की उपाधि से विभूषित कर दिये गये। अपनी युवावस्था में वे आध्यात्मिक गुरु की खोज में इधर-उधर घूमते रहे। अन्त में वे नीशापुर के प्रान्त में स्थित हारुन नामक नगर में पहुँचे, जहाँ वहाँ के सुविख्यात महात्मा ख्वाजा उस्मान हारुनी के शिष्य बन गये। अपने गुरु की प्रेरणा तथा आदेश से वे भारत आ गये।

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने ११९० ई० में भारत में प्रवेश किया। सबसे पहले वे लाहौर गये, जो उन दिनों विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। वहाँ पर वे कुछ दिनों तक चिन्तन करते रहे। लाहौर से वे दिल्ली चले आये और दिल्ली से अजमेर चले गये, जहाँ उन दिनों राय पृथ्वीराज शासन कर रहा था। एक हिन्दू-राज्य में जाकर इस महानुभाव महात्मा ने अपनी तपस्या, अपने त्याग, अपनी भक्ति तथा अपने चिन्तन से जो ख्यति प्राप्त की, वह आज भी अमर है। १२३४ ई० में ख्वाजा साहब का परलोकवास हो गया।

ख्वाजा फरुद्दीन मसऊ गजशकर—दूसरे प्रसिद्ध सूफी महात्मा ख्वाजा फरुद्दीन थे, जो बाबा फरीद के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हें एकाकी जीवन अत्यधिक प्रिय था और अमीरों तथा धनिकों की संगति उन्हें बिल्कुल पसन्द न थी और उनसे वे बातचीत तक नहीं करना चाहते थे। फलतः वे राजधानी से दूर रहते थे। उनका कहना था कि साधु-सन्तों को राजाओं तथा अमीरों के साथ नहीं रहना चाहिये और न उन्हें अपने पास आने देना चाहिये, क्योंकि यह उनकी आत्मा के लिए बड़ा घातक सिद्ध होता है। सुल्तान बलबन बाबा फरीद को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था,

परन्तु बाबा ने कभी इससे कोई लाभ न उठाया। बाबा फरीद का जीवन बड़ा ही पवित्र तथा तपोमय था। १२६५ ई० में ९३ वर्ष की आयु में उनका परलोकवास हो गया और पाकपतन में उनकी समाधि बना दी गई, जो बहुत बड़ा तीर्थ-स्थान बन गया है।

भक्ति-आन्दोलन—जिन दिनों भारतवर्ष में सूफी-मत का प्रचार हो रहा था उन्हीं दिनों हिन्दुओं में एक नई विचार-धारा चल पड़ी थी, जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन का भारतीयों के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अतएव इसकी विस्तृत विवेचना कर लेना आवश्यक है।

भक्ति का अर्थ—'भक्ति' शब्द संस्कृत के भज् शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है, भजन करना या उपासना करना। भक्त उस व्यक्ति को कहते हैं, जो किसी देवता या देवी की उपासना करता हो और अपने उपास्यदेव के प्रति भक्त की जो अपार श्रद्धा तथा असीम प्रेम होता है, उसी को 'भक्ति' कहते हैं। इस 'भक्ति' से भक्त को अपने उपास्यदेव में 'प्रसाद' अर्थात् आशीर्वाद या कृपा प्राप्त होती है। उपास्यदेव की अपने भक्त पर जो कृपा होती है, उसी को 'प्रसाद' कहते हैं। उपास्यदेव के इस प्रसाद के प्राप्त हो जाने पर भक्त को मोक्ष मिल जाता है। 'भगवद्गीता' में मोक्ष की प्राप्ति के तीन साधन बतलाये गये हैं, अर्थात् ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। ज्ञान-मार्ग का यह तात्पर्य है कि मनुष्य अपनी अज्ञानता का विनाश करके और ज्ञान के आलोक की प्राप्ति करके मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। कर्म-मार्ग का यह तात्पर्य है कि मनुष्य अच्छे-अच्छे कर्म करके और बुरे-बुरे कर्मों से बच कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। भक्ति-मार्ग का यह तात्पर्य है कि भगवान् का भजन या उसकी उपासना कर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यह स्पष्ट है कि इन तीनों मार्गों में ज्ञान-मार्ग सबसे अधिक कठिन तथा जटिल है और भक्ति-मार्ग सबसे अधिक सरल तथा सीधा है।

भक्ति-सम्प्रदाय की प्राचीनता—भक्ति-सम्प्रदाय हिन्दुओं का अत्यन्त पुराना सम्प्रदाय था। इसकी उत्पत्ति उपनिषद् तथा भगवद्गीता से हुई थी। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अर्थात सभी धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आओ, यानी मेरी भक्ति करो। भक्ति की यह भावना, जिसके उद्गम-स्थल उपनिषद् तथा गीता हैं, निरन्तर हिन्दू-समाज में चलती रही। परन्तु आठवीं शताब्दी ई० में श्री शङ्कराचार्य जी कि शिक्षाओं के कारण इसकी गति मन्द पड़ गई। शङ्कराचार्य जी ज्ञान-मार्गी थे। उनके विचार में ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी ई० में शङ्कराचार्य जी की शिक्षाओं का घोर विरोध आरम्भ हुआ, और भक्ति-मार्ग ने फिर जोर पकड़ा। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में इस विचार-धारा ने हिन्दू-समाज में धार्मिक क्रान्ति का रूप धारण कर लिया, जिसे भक्ति-आन्दोलन के नाम से पुकारा गया है। अब इस आन्दोलन के कारणों का पता लगा लेना आवश्यक है।

भक्ति-आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कारण—सल्तनत-काल में भक्ति-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान क्यों हुआ ? इसके निम्नलिखित कारण बतलाये जाते हैं :—

(१) **आश्रय की खोज**—यह वह युग था, जब हिन्दू लोग अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को खो चुके थे और परतन्त्रता के बन्धन से मुक्त होने का उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। जब मनुष्य को मानवीय सहारे की आशा नहीं रहती तब वह ईश्वर की शरण में जाने का प्रयत्न करता है। फलतः इस काल के हिन्दू लोग भी भगवान् की शरण में चले गये और उसकी भक्ति में लग गये।

(२) **पराधीनता के विस्मरण का साधन**—हिन्दू लोग मुसलमानों के अधीन हो गये थे, इससे उनका जीवन बड़ा ही दुखी हो गया था। कहा भी गया है, 'करि विचार देखहु मन माहीं, पराधीन सुख सपनेहुँ नाहीं।' इस पराधीनता के विस्मरण का एकमात्र उपाय भगवद्-भजन था। भक्त अपने उपास्यदेव की भक्ति में मस्त रहता है और अपने को किसी बादशाह से कम नहीं समझता। वह अपने को स्वतन्त्र तथा सभी बन्धनों से मुक्त समझता है। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने अपनी पराधीनता का विस्मरण कराने में हिन्दुओं की बड़ी सहायता की।

(३) **क्रियात्मक शक्ति के नियोजन की आवश्यकता**—मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। निष्क्रियता उसके लिए बड़ी दुखदायी होती है। भारत में मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण हिन्दुओं के कार्य के अनेक मार्ग बन्द हो गये। अतएव नये मार्ग की खोज करना आवश्यक था। फलतः भगवद्-भजन तथा आत्म-चिन्तन का मार्ग निकाल लिया गया और इसी में हिन्दुओं ने बहुत बड़ी मात्रा में अपनी शक्ति को लगा दिया।

(४) **सूफी-मत का प्रभाव**—सल्तनत-काल में भक्ति-आन्दोलन के पुनरुद्धार पर सूफी-मत का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। सूफी महात्माओं ने ईश्वर-प्रेम तथा भगवद्-भक्ति का खूब प्रचार किया। बहुत से हिन्दू भी सूफी संतों के शिष्य बन गये। इस प्रकार सूफी संतों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाने के कारण हिन्दुओं में भी ईश्वर-प्रेम तथा भगवद्-भक्ति के भाव जाग्रत हो गये।

(५) **समन्वय की प्रेरणा**—हिन्दू तथा मुसलमान बहुत दिनों से एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये थे, अतएव वे एक दूसरे के विचारों को समझने लगे थे। अब इन दोनों जातियों की यह इच्छा हो रही थी कि वे शान्तिपूर्वक प्रेम के साथ एक दूसरे के साथ रहें। इसके लिए उन्हें धार्मिक क्षेत्र में एक नया मार्ग खोजना था, जो दोनों जातियों को एक-दूसरे के निकट ला सके। भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव इसी कामना का परिणाम था।

(६) **हिन्दू-धर्म के दोष**—इस काल के हिन्दू-धर्म में अनेक दोष आ गये थे। लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलते जा रहे थे और उसके बाह्याडम्बर के जाल में फँसते जा रहे थे। फलतः इस युग में अनेक धार्मिक चिन्तक तथा सुधारक हुए जिन्होंने धार्मिक क्रान्ति आरम्भ कर दी। अब उन धार्मिक चिन्तकों तथा सुधारकों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

भक्ति-मार्गी सन्त—भक्ति-मार्गी सन्तों में रामानुज, रामानन्द तथा कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है। अतएव इनकी शिक्षाओं का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

रामानुजाचार्य – आपका जन्म १०१६ ई० में दक्षिण-भारत में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई थी और अन्त में मैसूर में आपने अपना जीवन व्यतीत किया। रामानुज वैष्णव-धर्म के मानने वाले थे। वे विष्णु तथा लक्ष्मी के उपासक थे। उन्होंने अपने 'श्रीभाष्य' नामक ग्रन्थ में व्यक्तिगत देवता की उपासना पर बल दिया है, जो अपने भक्त को उसकी भक्ति के लिए पुरस्कृत करता है। रामानुज के विचार में मोक्ष की प्राप्ति का केवल यही एक मार्ग है। परन्तु रामानुज का यह भक्ति मार्ग केवल उच्चवर्ण वालों के लिए ही था। रामानुज एकेश्वरवादी थे, परन्तु वे ईश्वर को साकार तथा सगुण भी मानते थे, अर्थात् वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। रामानुज कट्टर हिन्दू थे। इसी से उन्होंने सदैव वेदों तथा ब्राह्मणों को आदर की दृष्टि से देखा। वह भगवद्-चिन्तन पर बड़ा जोर देते थे। रामानुज ने जाति-प्रथा का समर्थन किया और जातीय नियमों के पालन पर बल दिया। उन्होंने संस्कृत भाषा के माध्यम से उपदेश दिया। उनकी शिक्षाएँ उच्चवर्ण तक ही सीमित थीं। उनके सम्प्रदाय में शूद्रों के लिए कोई स्थान न था। वे केवल ब्राह्मणों को ही दीक्षा देते थे।

रामानन्दाचार्य—आपका जन्म दक्षिण-भारत में उस समय हुआ था, जब भारत में मुगल-वंश का शासन था। रामानन्द जी रामानुजाचार्य के शिष्यों में से थे। वे अपने गुरु से भी अधिक क्रान्तिकारी विचार के थे। आपने काशी को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया और वहीं पर निवास करना आरम्भ कर दिया। रामानन्द जी अपने धार्मिक विचारों में रामानुज से कहीं अधिक उदार थे। वे सभी जाति तथा धर्म वालों को अपने उपदेश देते थे। परन्तु वे प्राचीन परम्पराओं को पूर्ण-रूप से तोड़ने के लिए तैयार न थे। अपने 'आनन्द भाष्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार है। वे हिन्दुओं को मुसलमानों से और द्विजों को शूद्रों से श्रेष्ठतर मानते थे। खान-पान के मामलों में भी वे छूत-छात मानते थे। रामानन्द ने अपने उपदेश जन-साधारण की भाषा में दिये, जिससे उनकी शिक्षाएँ बड़ी लोकप्रिय हो गईं। १४७० ई० में रामानन्द का परलोक-वास हो गया।

कबीर—रामानन्द के शिष्यों में कबीर का एक प्रमुख स्थान है। कहा जाता है कि कबीर का जन्म १४४० ई० में एक विधवा ब्राह्मणी के पेट से हुआ था। लोक-लज्जा के भय से उस ब्राह्मणी ने बच्चे को बनारस के 'लोहर तालाब' में फेंक दिया। अली नामक एक जुलाहे की दृष्टि उस नव-जात शिशु पर पड़ गई। उसे उस पर दया आ गई और वह उसे अपने घर उठा ले गया। उसकी स्त्री नीमा के कोई सन्तान न थी। अतएव इन दोनों ने अपनी सन्तान के रूप में बच्चे का पालन-पोषण करना आरम्भ किया और उसका नाम कबीर रख दिया। यद्यपि कबीर का पालन-

पोषण मुस्लिम-परिवार में हुआ था और वे जुलाहे का कार्य करते थे, परन्तु हिन्दू-धर्म का भी उन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया था। 'कबीर बाल्य-काल से ही बड़े चिन्तनशील थे। जब वे बड़े हुए, तब उन्होंने धर्म-गुरु की खोज आरम्भ की। उन दिनों रामानन्द जी की बड़ी ख्याति थी। अतएव कबीर उन्ही के शिष्य बन गये। कबीर ने राम को अपना उपास्यदेव बनाया। परन्तु उन्होंने राम तथा रहीम में कोई अन्तर नहीं रक्खा। उनकी दृष्टि में ईश्वर तथा अल्लाह एक थे। कबीर स्वयं किसी नये धर्म के प्रवर्तक न थे, वरन् वे एक बहुत बड़े सुधारक थे। तत्कालीन समाज में जो दोष विद्यमान थे, उनका उन्होंने विरोध किया और लोगों को सही मार्ग अपनाने का निर्देश किया। कबीर एकेश्वरवादी थे और निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म में उनका विश्वास था। भगवद्-भक्ति में उनका दृढ़ विश्वास था और वे प्रेम को बड़ा उच्च स्थान देते थे। बाह्याडम्बरों से उन्हें घोर घृणा थी। मूर्ति-पूजा के वे घोर विरोधी थे और जाति-पाँति के भेद-भाव को नहीं मानते थे। कबीर ने गुरु को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है और गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। साधु की संगत को भी कबीर ने बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। माया से बचने के लिए कबीर ने उपदेश दिया है, जिसे उन्होंने महाठगिनी कहा है। कबीर बहुत बड़े समन्वयवादी थे और सच्चे धर्म का उपदेश देकर वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक-दूसरे के सन्निकट लाना चाहते थे। हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ही ने कबीर की शिष्यता ग्रहण की। यद्यपि कबीर ने अपने जीवन का अधिकांश समय काशी में बिताया, परन्तु अन्त में वे काशी से मगहर चले गये, जो गोरखपुर जिले में विद्यमान है। वहीं पर १५१८ ई० में कबीर का परलोकवास हो गया। कहा जाता है कि उनके मृतक शरीर पर उनके हिन्दू तथा मुसलमान शिष्यों में झगड़ा खड़ा हो गया। हिन्दू उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान उसे दफनाना चाहते थे। अन्त में जब लाश को खोला गया तो वहाँ पर फूलों के ढेर के अतिरिक्त कुछ न मिला, जिसे हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने आपस में बाँट लिया। मुसलमानों ने उसे मगहर नामक स्थान पर दफना दिया, जो मुस्लिम कबीर पंथियों का केन्द्र बन गया और हिन्दुओं ने उसे बनारस में जलाया। यह स्थान कबीर-चौरा के नाम से प्रसिद्ध है।

●

अध्याय ३५

पूर्व-मध्यकालीन भारत

> 'The Muslim state in india, as elsewhere, was a theocracy. The king was Caesar and Pope combined in one, but his authority in religious matters was strictly limited by the Holy Law.
>
> —Dr. Ishwari Prasad.

पूर्व-मध्यकाल को सल्तनत-काल के नाम से भी पुकारा जाता है। इसका कारण यह है कि इस काल में भारत के अधिकांश भाग पर दिल्ली के सुल्तानों ने शासन किया और उनके शासन का हमारे देश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु इसे पूर्व मध्यकाल के नाम से पुकारना अधिक उत्तम है, क्योंकि इस काल में दिल्ली के सुल्तानों के साथ-साथ राजपूतों ने भी भारत के बहुत बड़े भाग पर शासन किया था। इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों की राज-संस्थाएँ इस देश में विद्यमान थीं। इन दोनों राज-संस्थाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर यह था कि जहाँ सुल्तानों की राज-संस्था की प्रजा हिन्दू तथा मुसलमान दोनों थी, वहाँ राजपूतों की राज-संस्था की प्रजा केवल हिन्दू थी।

दो विभिन्न विचार-धाराओं का प्रवाह—मुसलमानों के पहले जितने आक्रमणकारी भारत में आये थे, वे कालान्तर में भारतीयों में घुल मिल गये और अपने अस्तित्व को खो बैठे। परन्तु मुसलमान लोग आद्योपान्त अपना पार्थक्य बनाये रहे और हिन्दू लोग उनको आत्मसात् न कर सके। इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि मुसलमान लोग भारत में अपने धर्म तथा अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करने आये थे। अतएव उन लोगों ने हिन्दुओं को मुसलमान बना कर उनको अपने में आत्मसात् करने का प्रयत्न आरम्भ किया। हिन्दुओं के लिए यह बड़े संकट का काल था। उनका धर्म, उनका समाज तथा उनकी संस्कृति खतरे में पड़ गयी थी। अतएव उन लोगों ने आत्म-रक्षा का प्रयत्न आरम्भ किया। हिन्दुओं ने अपनी पवित्रता पर बल दिया और मुसलमानों को म्लेच्छ कहा और उनसे दूर रहने का प्रयत्न आरम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में भी दो विरोधी विचार-धाराएँ प्रवाहित हो चलीं। इनमें से एक हिन्दू विचार-धारा थी और दूसरी मुस्लिम विचार-धारा। इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर दोनों विचार-धाराएं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं।

राजनीतिक दशा—पूर्व-मध्यकाल में भारत में दो प्रकार की राज-संस्थाएँ थीं, एक मुसलमानों की और दूसरी राजपूतों की। जब राजपूत लोग उत्तरी-भारत में मुसलमानों से परास्त हो गये, तब वे राजस्थान तथा दक्षिण-भारत में चले गये और वहीं पर शासन करने लगे। इन दोनों राज-संस्थाओं में मौलिक विभेद था। हिन्दू राजा उत्तराधिकार के नियम से सिंहासन पर बैठते थे अर्थात् राजा की मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंहासन पर बैठता था। परन्तु मुसलमानों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था। फलतः सिंहासन के लिए षड्यन्त्र तथा कुचक्र चला करते थे। दूसरा अन्तर यह था कि मुस्लिम राज-संस्था में सुल्तान राज्य तथा धर्म दोनों का प्रधान समझा जाता था और राज्य-प्रसार के साथ-साथ इस्लाम-धर्म का प्रचार भी उसका एक कर्त्तव्य होता था। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि मुस्लिम राज-संस्था धर्म-प्रभावित थी और मुल्ला-मौलवियों का बड़ा प्रभाव रहता था। इसके विपरीत हिन्दू राजा केवल राज्य के प्रधान होते थे और उनका कर्त्तव्य केवल शासन करना तथा राज्य का विस्तार करना होता था। धर्म-प्रचार से उनका कोई सम्बन्ध न था। उनकी राज-संस्था धर्म-अप्रभावित थी और पंडितों का उसमें कम महत्त्व का। चूंकि मुसलमानों की राज-संस्था धर्म-प्रभावित थी, अतएव सुल्तानों ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। इन लोगों ने अपनी हिन्दू प्रजा के साथ भाँति-भाँति के अत्याचार किये। मुस्लिम राज्यों में हिन्दू लोग ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदों से वंचित थे, उन्हें कर अधिक देना पड़ता था, वह सेना में भर्ती नहीं हो सकते थे और न अस्त्र-शस्त्र लेकर चल सकते थे। सारांश यह है कि वे नागरिक अधिकारों से वंचित थे और उनकी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध था। उन्हें जजिया कर तो देना ही पड़ता था, अन्य बहुत से करों के भार से भी वे लदे रहते थे। वे शंका की दृष्टि से देखे जाते थे और अपने शासक के विश्वासपात्र नहीं बन पाते थे। हिन्दू राजाओं के सामने इस प्रकार की कोई समस्या न थी, क्योंकि उनकी प्रजा हिन्दू थी। चूंकि मुस्लिम राज-संस्था धर्म-प्रभावित थी, अतएव सल्तनत का शासन कुरान के नियमों के अनुसार चलाया जाता था। सिद्धान्त रूप में दिल्ली के सुल्तान खलीफा को अपना प्रधान मानते थे और उसी के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। परन्तु व्यावहारिक रूप में वे पूर्ण स्वतन्त्र थे और अपनी इच्छानुसार शासन करते थे। हिन्दू राजा किसी धार्मिक ग्रन्थ के अनुसार शासन करने के लिए बाध्य न थे और न वे किसी बाह्य-शक्ति की अधीनता में शासन करते थे। मुस्लिम राज-संस्था में उलेमा लोगों का राजनीति में बड़ा जोर था और अधिकांश सुल्तानों ने उन्हीं के परामर्श से शासन किया। परन्तु हिन्दू राज-संस्था में पंडितों का कोई विशेष महत्त्व न था। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही शासक स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश थे और राज्य की सारी शक्तियाँ उन्हीं के हाथ में पुंजीभूत रहती थीं।

सामाजिक दशा—सामाजिक जीवन में भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों में बड़ा अन्तर था। हिन्दुओं में जाति-प्रथा का प्राबल्य था और छुआ-छूत की भावना बड़ी उच्चकोटि की थी। परन्तु मुस्लिम समाज बड़ा ही लोकतन्त्रवादी था। उसमें

जाति-पाँति का उस प्रकार का न भेद-भाव था और न छुआ-छूत की उस प्रकार की भावना थी, जिस प्रकार हिन्दुओं में थी। यद्यपि यह सत्य है कि विदेशी मुसलमान अपने को भारतीय मुसलमानों से ऊँचा समझते थे और सैयद लोग अपने को अभिजात मानते थे परन्तु खान-पान सब में था। हिन्दू लोग अपने को पवित्र समझते थे और मुसलमानों को म्लेच्छ समझते थे और उनसे दूर रहने का प्रयत्न करते थे। मुसलमानों में मद्य-पान की प्रथा का जोर था, परन्तु हिन्दुओं में इसका निषेध था मुसलमानों का जीवन-स्तर ऊँचा था और वे विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु मुसलमान शासकों की हिन्दू-प्रजा का जीवन-स्तर नीचा था और उसका जीवन संकटमय तथा दुःखमय दोनों था। मुसलमान शासक अपना हरम रखते थे, जिसमें वे रूपवती स्त्रियों को रखते थे और उनके साथ हास्य-विलास किया करते थे। हिन्दू-राजाओं में इस प्रकार की प्रथा न थी। हिन्दू लोग गाँवों में और मुसलमान लोग प्रायः नगरों में निवास करते थे। जहाँ हिन्दू तथा मुसलमान एक साथ रहते थे, वहाँ उनकी अलग-अलग वस्तियाँ होती थीं। पर्दे की प्रथा हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों में थी। इसी प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब तथा वहु-विवाह की प्रथा दोनों में थी। हिन्दुओं में सती-प्रथा का प्रचलन था और वहु-विवाह, वाल-विवाह की प्रथा का भी प्रादुर्भाव हो गया था। जिस प्रकार मुसलमानों में उलेमा लोगों को वड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे, उसी प्रकार हिन्दुओं में भी ब्राह्मणों को वड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। मुसलमानों में गुलाम-प्रथा का प्रचलन था, परन्तु गुलामों की उन्नति का मार्ग खुला रहता था और वे अपनी योग्यता तथा परिश्रम के वल से ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँच सकते थे।

धार्मिक दशा—धार्मिक दृष्टिकोण से भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों में वड़ा विभेद था। हिन्दू लोग मूर्ति-पूजक थे, परन्तु मुसलमानों को मूर्ति-पूजा से घोर घृणा थी और मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध 'जेहाद' या धर्म-युद्ध करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे, अतएव हिन्दुओं के मन्दिरों तथा उनमें प्रस्थापित मूर्तियों को तोड़ना मुसलमानों का कर्त्तव्य-सा वन गया था और अधिकांश सुल्तानों ने इसे अपनी राजनीति का एक अंग वना लिया था। मुसलमान एकेश्वरवादी थे, परन्तु हिन्दू लोग अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। दिल्ली-सल्तनत की हिन्दू-प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता न थी। न उन्हें सार्वजनिक अनुष्ठानों को करने की स्वतन्त्रता थी, न नये मन्दिरों को वनवाने और न पुराने मन्दिरों के जीर्णोद्धार कराने की। हिन्दुओं के मन्दिरों को तुड़वा कर मस्जिदें वनवाना सुल्तानों की नीति का एक अंग वन गया था। सारांश यह है कि इस काल में धार्मिक असहिष्णुता उच्च कोटि की थी और हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए उनके साथ भाँति-भाँति के अत्याचार किये जाते थे और उन्हें प्रलोभन दिये जाते थे। परन्तु अन्त में हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने एक-दूसरे को समझा और सन्निकट आने का प्रयत्न किया। मुसलमानों में सूफी आन्दोलन का प्रचार हुआ, जिसके फलस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हो गया।

आर्थिक दशा—आर्थिक दृष्टिकोण से भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों की दशा में बड़ा अन्तर था। मुसलमान लोग शासक वर्ग के होने के कारण बड़े सम्पन्न थे और विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु हिन्दू लोग शासित वर्ग के होने के कारण शोषित वर्ग के थे। करों के भार से वे लदे रहते थे और ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदों से वंचित रहने के कारण उनका जीवन सामान्य था। कृषि ही उनका मुख्य व्यवसाय था। परन्तु देश धन-धान्यपूर्ण था, क्योंकि देश का धन कहीं बाहर नहीं जाता था। दिल्ली के सुल्तानों ने देश की आर्थिक उन्नति का यथा-शक्ति प्रयत्न किया। उन्होंने कृषि की उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाएँ बनाईं और यातायात के साधनों में वृद्धि की जिससे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही लाभान्वित हुए। विदेशों के साथ सम्पर्क बढ़ जाने के कारण व्यापार में भी वृद्धि हुई। हिन्दू-राज्य भी बड़े सम्पन्न थे। इसी से दिल्ली के सुल्तानों ने उन पर आक्रमण कर उन्हें खूब लूटा और अपार सम्पत्ति दिल्ली ले आये।

सांस्कृतिक दशा—पूर्व-मध्यकाल में दो विभिन्न संस्कृतियों का साथ-साथ विकास हुआ। इनमें से एक थी हिन्दू-संस्कृति और दूसरी थी मुस्लिम संस्कृति। हिन्दू संस्कृति का विकास हिन्दू-राज्यों में अक्षुण्ण गति से चल रहा था। हिन्दी अपभ्रंश काल से निकल कर वीर-गाथा काल में पहुँच चुकी थी और द्रुतगति से उसकी उन्नति हो रही थीं। चन्दवरदाई, जगनिक आदि ने वीर-रस पूर्ण अच्छी कविताएँ कीं। हिन्दी के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भी उन्नति हुई और उसमें साहित्य की रचना की गई। राजपूत राजाओं ने हिन्दू-कला को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया और उनके राज्यों में अनेक मन्दिर बनवाये गये।

दिल्ली के सुल्तानों ने भी साहित्य तथा कला की उन्नति का प्रयास किया और कवियों तथा साहित्यकारों को बड़ा प्रोत्साहन दिया। इस काल में अरबी और विशेषकर फारसी-साहित्यकारों की बड़ी उन्नति हुई। उर्दू का भी प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ। मुसलमानों को इतिहास लिखने का बड़ा शौक था। अतएव इस काल में अनेक बड़े-बड़े इतिहासकार हुए, जिन्होंने ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की। अमीर खुसरो इस काल का बहुत बड़ा कवि था, जिसने हिन्दी में भी कविताएँ की थीं। कला के क्षेत्र में भी दिल्ली में कुछ सुल्तानों ने बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया। इस काल में अनेक मस्जिदों, राज-प्रासादों तथा भव्य-भवनों का निर्माण किया गया। चूंकि हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ कर, उनकी सामग्री से और हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही कलाकारों की सहायता से इन इमारतों का निर्माण किया गया था, अतएव भारत में एक नई वास्तु-कला का विकास हुआ, जो इण्डो-मुस्लिम कला के नाम से विख्यात है।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान—यद्यपि हिन्दुओं तथा मुसलमानों का पार्थक्य बहुत दिनों तक चलता रहा, परन्तु कालान्तर में उसमें शिथिलता आ गई। इस शिथिलता के निम्नलिखित कारण थे:—

(१) **दीर्घकालीन सम्पर्क**—अत्यन्त दीर्घकाल तक एक-दूसरे के साथ निवास

करने तथा घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाने के कारण इन दोनों जातियों का एक दूसरे से अलग रहना और एक दूसरे के प्रभाव से बचना सम्भव न रहा।

(२) इस्लाम-धर्म को स्वीकार करने वाले हिन्दुओं का प्रभाव---असंख्य हिन्दुओ ने विभिन्न कारणों से इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक दूसरे के सन्निकट लाने में इन लोगों ने कड़ी का काम किया।

(३) हिन्दू-नारियों का प्रभाव—अनेक मुस्लिम विजेताओं ने हिन्दू-स्त्रियों के साथ विवाह कर लिया था, जिनका मुस्लिम-हरम में प्रवेश हो गया था। इन हिन्दू-स्त्रियों ने हिन्दू रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहारों को अपने हरम में प्रचलित किया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में मेल उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

(४) शान्ति तथा सुव्यवस्था की आवश्यकता—मुसलमान शासकों ने इस बात का अनुभव किया कि विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना करने और राज्य के वैभव को बढ़ाने के लिए शान्ति तथा सुव्यवस्था की बड़ी आवश्यकता है और शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सहयोग तथा सद्भावना का होना आवश्यक है। अतएव सुल्तानों ने भी हिन्दू तथा मुस्लिम प्रजा को सन्निकट लाने का प्रयत्न किया।

(५) सहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव—अन्त में मुसलमान शासकों ने इस बात का अनुभव किया कि हिन्दुओं को उन्मूलित करना असम्भव है, क्योंकि अपने धर्म तथा अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए वे प्राण-पण से तैयार थे। अतएव इन लोगों ने सहिष्णुता को अपनाया। इस नीति के फलस्वरूप भी हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे के सन्निकट आ गये।

(६) एक दूसरे की ओर आकर्षण—अधिक दिनों तक एक दूसरे के सन्निकट रहने के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे के रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहारों की ओर आकृष्ट हुईं और उसमें उनको अपनाने की भावना उत्पन्न हुई। इससे दोनों जातियो में आदान-प्रदान-आरम्भ हो गया।

(७) सन्तों का प्रभाव—पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे हिन्दू तथा मुसलमान साधु-महात्मा हुए, जिनका दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक तथा सहिष्णुता-पूर्ण था। इन उदार तथा सहिष्णु संतों ने दोनों जातियों को एक दूसरे के सन्निकट लाने में बड़ा योग दिया

(८) सुधार आन्दोलनों का प्रभाव—पूर्व-मध्यकाल के अनेक उदार सुधार-आन्दोलनों का ध्येय हिन्दुओं तथा मुसलमानों के संघर्ष को कम करना तथा उनमें सहयोग, सद्भावना तथा सहिष्णुता की भावना को जागृत करना था। इन सुधार आन्दोलनों ने भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक दूसरे के सन्निकट लाने में बड़ा योग दिया।

हिन्दुओं तथा मुसलमानों में पारस्परिक आदान-प्रदान—पार्थक्य के समाप्त हो जाने के कारण हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क

में आ गये और एक-दूसरे के रीति-रिवाजों, आचार-व्यवहारों तथा एक-दूसरे की सभ्यता और संस्कृति को समझने का प्रयत्न किया। फलतः दोनों ही ने एक-दूसरे को न्यूनाधिक प्रभावित किया। यह प्रभाव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिलक्षित होता है।

हिन्दुओं के जीवन पर मुस्लिम शासन का प्रभाव—मुस्लिम शासन का हिन्दुओं के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के जीवन पर प्रभाव पड़ा। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़े। अब इन विभिन्न प्रकार के प्रभावों की अलग-अलग विवेचना की जायगी।

राजनीतिक जीवन पर प्रभाव—मुस्लिम-विजय का हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :—

(१) **हिन्दू राज-संस्थाओं की समाप्ति**—मुसलमानों के सामने हिन्दू-शासक ठहर न सके। अतएव उनकी राज-संस्थाएँ समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर मुस्लिम राज-संस्थाएँ स्थापित हो गईं। फलतः हिन्दू लोग उनकी प्रजा वन गये और शासित वर्ग में आ गये।

(२) **हिन्दुओं का राजनीतिक अधिकारों से वंचित होना**—मुस्लिम राज्य की प्रजा होने के कारण हिन्दू सभी राजनीतिक अधिकारों से वंचित हो गये। न वे सेना में भर्ती हो सकते थे और न उन्हें ऊँचे सरकारी पद मिल सकते थे। उन्हें जजिया नामक कर देना पड़ता था और वे सदैव शंका की दृष्टि से देखे जाते थे।

(३) **नये आदर्शों तथा सिद्धान्तों का समावेश**—मुस्लिम राज-संस्था के स्थापित हो जाने से नये सिद्धान्तों तथा आदर्शों का समावेश हुआ। मुस्लिम राज-संस्था धर्म-प्रभावित थी, जिसमें काफिरों के साथ उदारता या सहिष्णुता दिखलाने के लिए स्थान न था। इन सिद्धान्तों के फलस्वरूप हिन्दुओं की दशा वड़ी ही शोचनीय हो गई।

(४) **हिन्दू-संस्थाओं तथा परिपाटियों का स्थायित्व**—यद्यपि मुसलमान शासकों ने राजनीति में अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों का अनुसरण किया, परन्तु शासन को सुचारु रीति से संचालित करने के लिए वे अनेक हिन्दू-संस्थाओं तथा परिपाटियों को ग्रहण करने के लिए विवश हो गये। ग्राम-संस्थाएँ पूर्ववत् वनी रहीं और गाँवों के प्रबन्ध के लिये हिन्दुओं को ही रक्खा गया।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दीर्घकालीन सम्पर्क का हिन्दुओं के सामाजिक जीवन पर निम्नांकित प्रभाव पड़ा :—

(१) **जाति प्रथा में कठोरता**—हिन्दू लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अपने विचारों तथा व्यवहारों में कट्टर हो करके ही वे अपने समाज तथा अपने धर्म की मुसलमानों के प्रहारों से रक्षा कर सकते हैं। अतएव जाति प्रथा के वन्धनों को उन्होंने अत्यन्त कठोर वना दिया। हिन्दुओं ने अपनी पवित्रता पर वल दिया। उन्होंने मुसलमानों को म्लेच्छ कहा और उनसे दूर रहने का प्रयत्न किया।

(२) **पर्दे की प्रथा तथा वाल-विवाह का प्रादुर्भाव**—मुसलमान शासकों का

नैतिक स्तर अत्यन्त गिरा हुआ था। हिन्दुओं की स्त्रियों को अपमानित करने में उन्हें लेश मात्र भी संकोच नहीं होता था। अतएव अपनी स्त्रियों की मर्यादा की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने पर्दे की प्रथा तथा वाल-विवाह को आरम्भ कर दिया।

(३) **वाल-हत्या तथा जौहर की प्रथा का प्रादुर्भाव**—मुसलमानों के अत्याचार से अपनी वहू-वेटियों की मर्यादा तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए राजपूतों में वाल-हत्या तथा जौहर की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ।

(४) **हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार**—मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दुओं के साथ वड़ा दुर्व्यवहार किया गया। उन्हें काफिर समझा जाता था और उन्हें वलात् मुसलमान वना लिया जाता था। उन्हें विभिन्न प्रकार से अपमानित किया जाता था और नागरिकता के अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। वस्तुतः हिन्दुओं की वड़ी विपन्नावस्था थी।

(५) **दास प्रथा का प्रसार**—मुसलमानों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दुओं में भी दास-प्रथा का प्रचलन आरम्भ हो गया। दास-प्रथा मुस्लिम-समाज की एक प्रमुख विशेषता थी। दासों के वाजार लगते थे और उनमें दास-दासियों का क्रय-विक्रय होता था। दिल्ली के सुल्तान, उनके सभासद तथा अमीर लोग सहस्रों की संख्या में दास रखते थे। हिन्दू-राजाओं तथा उनके सामन्तों में भी इस प्रथा का प्रचलन आरम्भ हो गया।

धार्मिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के घनिष्ठ सम्पर्क का प्रभाव हिन्दुओं के धार्मिक जीवन पर भी पड़ा। यह प्रभाव निम्नांकित थे :—

(१) **हिन्दू-धर्म में लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का समावेश**—इस्लाम-धर्म वड़ा ही लोकतन्त्रात्मक है। उसका प्रभाव हिन्दू-सुधारकों पर भी पड़ा। इन सुधारकों ने विभिन्न जातियों की समानता पर वल दिया और वतलाया कि मोक्ष की प्राप्ति में जाति किसी भी प्रकार वाधक नहीं सिद्ध हो सकती।

(२) **भक्ति-आन्दोलन**—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के घनिष्ठ सम्पर्क के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। मुसलमान विचार-धारा का प्रभाव हिन्दू सन्तों तथा दार्शनिकों पर पड़ना आरम्भ हो गया और नामदेव, कबीर, नानक आदि के उपदेशों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के प्रभाव का सुन्दर समन्वय है। भक्ति-मार्गी उपदेशकों ने जाति-पाँति के भेद-भाव, मूर्ति-पूजा तथा वाह्याडम्बर का खण्डन किया था। यह लोग ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे और राम तथा रहीम के भेद-भाव को मिटा देना चाहते थे।

(३) **हिन्दू-स्मृतिकारों तथा व्यवस्थाकारों का प्रादुर्भाव**—भारत में इस्लाम-धर्म का प्रचार वड़े जोरों के साथ हो रहा था। इस प्रचार को रोकने के लिए हिन्दू-स्मृतिकारों तथा व्यवस्थाकारों ने अथक प्रयास किया और जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे, उनको पुनः हिन्दू-समाज में लाने का प्रयत्न आरम्भ किया। फलतः पुरानी स्मृतियों पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। इस काल में कई ऐसे स्मृतिकार हुए जिन्होंने

हिन्दू-समाज की अपूर्व सेवाएँ कीं और उसके बन्धनों को ढीला कर उसे समयानुकूल बना दिया।

(४) **बौद्ध-धर्म का पतन**— मुसलमानों की विजय का बौद्ध-धर्म पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। इस राष्ट्रीय-संघर्ष के युग में अहिंसा-धर्म के लिए कोई स्थान न था। फलतः वह लुप्तप्राय हो गया।

आर्थिक जीवन पर प्रभाव—मुस्लिम-विजय का हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव निम्नांकित था :—

(१) **कृषि ही मुख्य उद्योग-धन्धा**— मुस्लिम-विजय के फलस्वरूप हिन्दू लोग अधिकाँश सरकारी नौकरियों से वंचित कर दिये गये। फलतः कृषि ही हिन्दुओं का मुख्य व्यवसाय रह गया।

(२) **करों का बाहुल्य**— हिन्दुओं को जजिया कर तो अनिवार्य रूप से देना ही पड़ता था, क्योंकि वे सैनिक-सेवा से मुक्त रहते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें भूमि कर पशु-कर, गृह-कर आदि अनेक कर देने पड़ते थे।

(३) **निर्धनता का प्रकोप**—चूंकि मुस्लिम-शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार थे, अतएव वे उनका विभिन्न प्रकार से रक्त-शोषण किया करते थे। फलतः उस काल में हिन्दुओं का जीवन बड़ा ही विपन्न तथा दुःखी था।

सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दीर्घ-कालीन सम्पर्क का साहित्य तथा कला पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। यह प्रभाव निम्नलिखित था :—

(१) **उर्दू का विकास**—मुसलमान शासकों तथा उनकी हिन्दू-प्रजा ने इस बात का अनुभव किया कि विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक सरल भाषा का होना आवश्यक है। फलतः संस्कृत तथा फारसी के सम्मिश्रण से उर्दू भाषा का जन्म हुआ जिसके माध्यम से यह दोनों जातियाँ एक-दूसरे को समझने लगीं।

(२) **साधारण बोल-चाल की भाषा का विकास**—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्पर्क के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का और भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप साधारण बोल-चाल की भाषा का विकास हुआ। फलतः हिन्दी, मराठी, बँगला आदि भाषाओं की द्रुतगति से उन्नति हुई।

(३) **हिन्दू-कला का अधःपतन**—भारत में मुस्लिम राज-संस्था के स्थापित हो जाने से हिन्दू-कला को भारी ठेस लगी। मुसलमानों ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया और हिन्दुओं के मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ा और नये मन्दिरों के निर्माण का निषेध कर दिया। इससे हिन्दू-कला का अधःपतन हो गया।

(४) **दक्षिण-भारत में हिन्दू-संस्कृति का विकास**—उत्तर-भारत में हिन्दू-संस्कृति को जो ठेस लगी, उसकी पूर्ति दक्षिण-भारत में की गई। यहाँ पर हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति को प्रोत्साहन मिलता गया और उत्तरोत्तर उसका विकास होता गया।

(५) **हिन्दुओं का चारित्रिक पतन**—मुसलमानों की प्रजा होने के कारण हिन्दुओं में चाटुकारिता, कपटाचरण आदि आ गये, क्योंकि उन्हें अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाकर मुसलमानों की खुशामद तथा प्रशंसा करनी पड़ती थी। मद्य-पान, जुआ आदि दुर्गुण भी हिन्दुओं में आ गये।

हिन्दू-सम्पर्क का मुसलमानों पर प्रभाव—न केवल मुसलमानों ने हिन्दुओं के जीवन को प्रभावित किया वरन् हिन्दुओं ने भी मुसलमानों के जीवन को प्रभावित किया। यह प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में थोड़ा बहुत दिखाई देता है।

राजनीतिक जीवन पर प्रभाव—भारत में मुसलमानों की राज-संस्था स्थापित हो जाने के फलस्वरूप मुसलमानों के राजनीतिक जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :—

(१) **विशेषाधिकार का उपभोग**—मुसलमान शासक होने के कारण विशेषाधिकारी वर्ग के बन गये। राज्य के अधिकांश पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार मुसलमान शासक और हिन्दू शासित बन गये।

(२) **सैनिक शक्ति में शिथिलता**—विशेषाधिकारी होने के कारण मुसलमान लोग अपार सम्पत्ति के उपभोक्ता बन गये। फलतः वे आमोद-प्रमोद में संलग्न रहने लगे और विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगे। इससे उनके सैनिक बल में शिथिलता आ गई।

(३) **हिन्दू-संस्थाओं का प्रयोग**—प्रशासकीय विभाग के मुसलमानों ने हिन्दुओं से बहुत कुछ सीखा और अर्थ तथा राजस्व-विभाग में हिन्दू-प्रथाएँ तथा परम्पराएँ ही चलती रहीं। मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं की स्थानीय शासन-व्यवस्था को पूर्ववत् ही रहने दिया।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क का मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। यह प्रभाव निम्नलिखित था :—

(१) **मुसलमानों में वर्गीयता का प्रादुर्भाव**—हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी अनेक वर्ग तथा उपवर्ग, जातियाँ तथा उप-जातियाँ उत्पन्न हो गईं। अब उनमें भी रक्त की शुद्धता तथा पवित्रता पर ध्यान दिया जाने लगा और कुलीनता को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। फलतः विदेशी तथा देशी मुसलमानों के अलग-अलग वर्ग बन गये।

(२) **आचार-व्यवहार पर प्रभाव**—हिन्दुओं का मुसलमानों के आचार व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ा। जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे और जो हिन्दू लड़कियाँ मुसलमानों के घर पहुँच गयी थीं, उन्होंने हिन्दू रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहारों का प्रचलन मुस्लिम-समाज में कर दिया। हिन्दुओं के सम्पर्क के फलस्वरूप मुसलमानों का नैतिक स्तर ऊँचा उठने लगा और उनमें आचरण की सभ्यता आने लगी। हिन्दुओं की भाँति उनमें भी संयुक्त-परिवार की प्रथा का प्रचलन हो गया। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी मान-दान, मन्नत आदि की प्रथा का प्रचलन हो गया।

धार्मिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दू-सम्पर्क का मुसलमानों के धार्मिक जीवन पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव निम्नांकित था :—

(१) **फकीरों तथा पीरों की पूजा का प्रादुर्भाव**—हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी फकीरों, पीरों तथा मकबरों की पूजा आरम्भ हो गई। सत्य पीर की पूजा बंगाल में बड़े जोरों के साथ चली थी।

(२) **वेदान्त दर्शन का प्रभाव**—मुसलमानों के रहस्यवाद और विशेषकर सूफी महात्माओं को हिन्दुओं के वेदान्त-दर्शन से बड़ी प्रेरणा मिली। कतिपय मुसलमानों ने योग-दर्शन, वेदान्त आदि का अध्ययन किया और उससे लाभान्वित हुए।

सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव—हिन्दुओं के सम्पर्क का मुसलमानों के सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। यह प्रभाव निम्नांकित था :—

(१) **साहित्यिक प्रभाव**—बहुत से मुसलमानों ने संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन, अनुवाद तथा टीकाएँ कीं। अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतवन आदि मुस्लिम लेखकों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं और हिन्दू-जीवन, संस्कृति तथा धर्म का सुन्दर चित्रण किया।

(२) **कलात्मक प्रभाव**—हिन्दुओं के सम्पर्क का मुस्लिम-कला पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा और दोनों के सम्मिश्रण से एक नई कला का आविर्भाव हुआ, जिसे 'इण्डो-इस्लामिक कला' भी कहते हैं। इस कला में हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य-कला का सम्मिश्रण है।

(३) **खान-पान पर प्रभाव**—हिन्दुओं के सम्पर्क के फलस्वरूप मुसलमानों को भारतीय भोजन अपनाना पड़ा और यहाँ की जलवायु के अनुकूल उन्हें अपना वस्त्र बदलना पड़ा।

●

प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान

हड़प्पा
मोहेनजोदड़ो
कम्बोज
तक्षशिला
गान्धार
पांचाल
मथुरा
लुम्बिनी
कपिलवस्तु
पावा
कुशीनगर
वैशाली
कोशल
कान्यकुब्ज (कन्नौज)
वाराणसी
श्रीनगर
कौशाम्बी
प्रयाग
पाटलिपुत्र
सारनाथ
नालन्दा
चम्पा
राजगृह
गुजराज
भिलसा (विदिशा)
सौराष्ट्र
बल्लभी
द्वारिका
जूनागढ़
द्वारसमुद्र
एलिचपुर
उज्जैन
प्रतिष्ठानपुर
काबुल
पुरुषपुर (पेशावर)
इन्द्रप्रस्थ
श्रावस्ती
बोधगया
साँची
ताम्रलिप्ति
कलिंग
मदुरा
बैक्ट्रिया
कनिष्कपुर
अयोध्या
काँची
नासिक
गया
कामरूप
गौड़
ग्वालियर
मंदसौर
भीतरगाँव
मालवा
रणथम्भौर
अन्हिलवाड़ा
कालिंजर
धार
वारंगल
कांजीवरम्
चित्तौड़
देवगिरि (दौलताबाद)
अजमेर
पैठन
उदयपुर
पुरी
कपिशा
अहमदनगर
थानेश्वर
बीजापुर
विक्रमशिला
गोलकुण्डा
कल्याणी
बीदर
वातापी
बरार
तंजौर
पूना
अजन्ता
विजयनगर
एलौरा
रायचूर
लाहौर
बदायूं
मुल्तान
लखनौती
दिल्ली
कड़ा
आगरा
मेवात
बरन
रामेश्वरम्
जयसलमेर
गुलबर्गा
जाजनगर
विन्ध्याचल
हिमालय पर्वत
हिन्दूकुश पर्वत
आबू पर्वत
सिन्धु नदी
सतलज
व्यास
झेलम
चिनाब
रावी
गंगा नदी
यमुना नदी
ब्रह्मपुत्र
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
महानदी
गोदावरी
कृष्णा नदी
कावेरी नदी
तुङ्गभद्रा नदी
खैबर दर्रा
बोलन दर्रा
गोमल दर्रा
दार्जिलिंग
भड़ौंच
नगरकोट

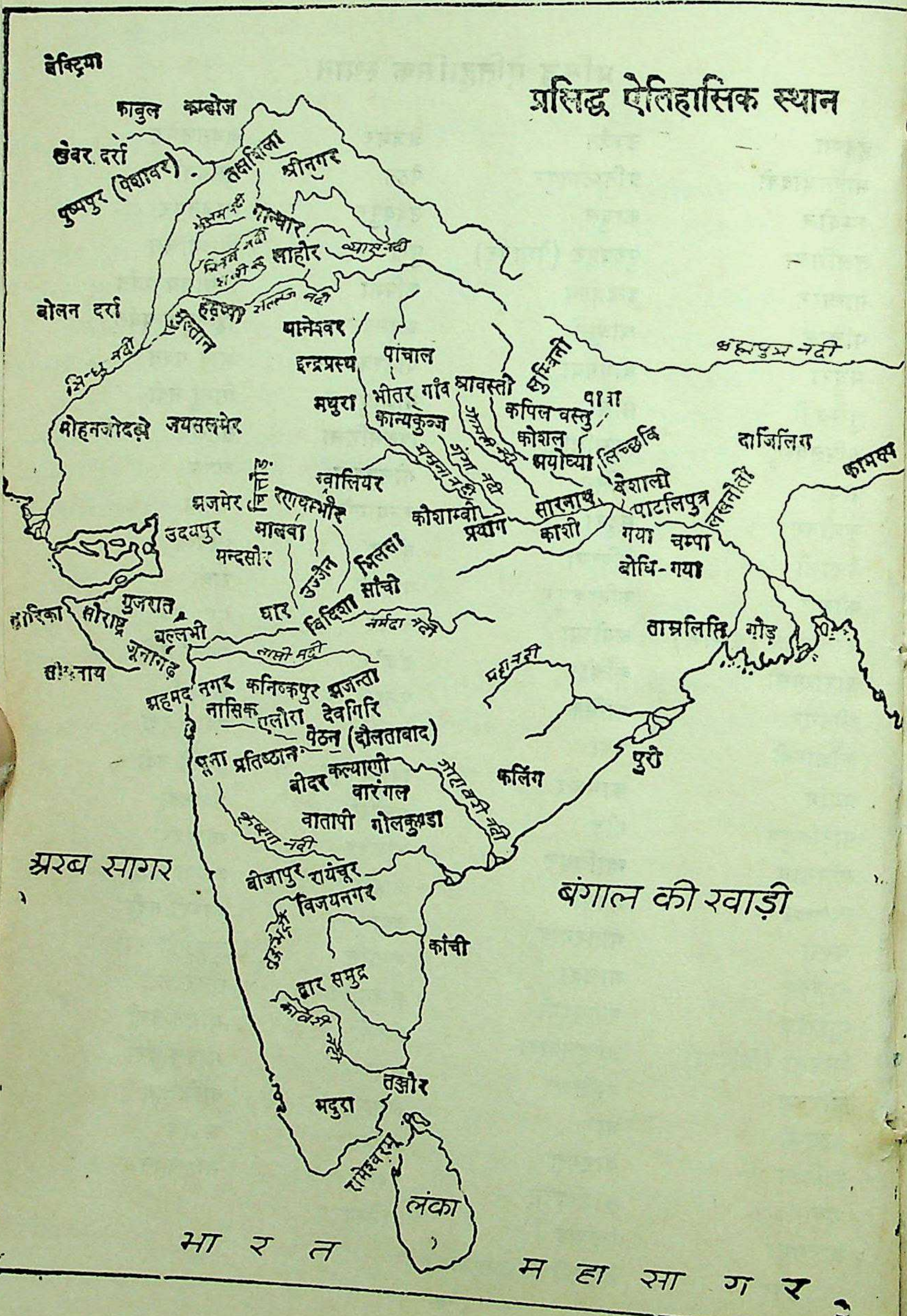

प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान

बैक्ट्रिया
काबुल
कम्बोज
खैबर दर्रा
पुष्पपुर (पेशावर)
तक्षशिला
श्रीनगर
झेलम नदी
गान्धार
चिनाब नदी
रावी नदी
लाहौर
व्यास नदी
बोलन दर्रा
हड़प्पा
सतलज नदी
मुल्तान
सिन्धु नदी
थानेश्वर
इन्द्रप्रस्थ
पांचाल
भीतर गांव
श्रावस्ती
लुम्बिनी
ब्रह्मपुत्र नदी
मथुरा
कान्यकुब्ज
पावा
कपिल वस्तु
कोशल
मोहनजोदड़ो
जयसलमेर
गोमती नदी
गंगा नदी
यमुना नदी
अयोध्या
लिच्छवि
दार्जिलिंग
कामरूप
चित्तौड़
ग्वालियर
अजमेर
रणथम्भौर
कौशाम्बी
सारनाथ
वैशाली
पाटलिपुत्र
लखनौती
उदयपुर
मालवा
प्रयाग
काशी
गया
चम्पा
मन्दसौर
बोधि-गया
उज्जैन
भिलसा
सांची
गुजरात
धार
विदिशा
नर्मदा नदी
ताम्रलिप्ति
गौड़
द्वारिका
सौराष्ट्र
बल्लभी
जूनागढ़
ताप्ती नदी
सोमनाथ
महानदी
अहमद नगर
कनिष्कपुर
अजन्ता
नासिक
एलौरा
देवगिरि
पैठन (दौलताबाद)
पूना
प्रतिष्ठान
कल्याणी
पुरी
बीदर
वारंगल
कलिंग
गोदावरी नदी
वातापी
गोलकुण्डा
कृष्णा नदी
अरब सागर
बीजापुर
रायचूर
विजयनगर
बंगाल की खाड़ी
तुङ्गभद्रा
कांची
द्वार समुद्र
कावेरी
तञ्जौर
मदुरा
रामेश्वरम्
लंका
भारत महासागर

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१—किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

२—"भारत की विभिन्नता में एकता विद्यमान है, परन्तु भौगोलिक एकता उतनी स्पष्ट नहीं जितनी भिन्नता ।" इस कथन की पुष्टि कीजिये ।

३—भारत का इतिहास जानने के हमारे कौन-कौन से साधन हैं ?

४—द्रविड़ कौन थे ? उनकी सभ्यता का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

५—सिंधु-घाटी के लोगों के सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का परिचय दीजिये ।

६—सिंधु-घाटी की सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।

७—आर्य कौन थे ? उनके आदि-देश के विषय में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं ? उनमें कौन-सा सिद्धान्त आपको तर्क-संगत प्रतीत होता है ?

८—प्रधान वैदिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दीजिये और उनके महत्त्व को समझाइये ।

९—ऋग्वेद कालीन आर्यों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिये और बताइये कि उत्तर-वैदिक काल में उनके जीवन में कौन-कौन परिवर्तन आ गये ?

१०—सिंधु-घाटी की सभ्यता को स्पष्ट कीजिये ।

११—"वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम भारतीय आर्यों के सामाजिक जीवन के दो प्रधान स्तम्भ थे ।" इस कथन की पुष्टि कीजिये ।

५०३. मौर्य चन्द्रगुप्त का भारतीय विवरण लिखिये

१२—महाकाव्यों के काल की सभ्यता तथा संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

१३—"छठी शताब्दी ई० पू० क्रान्ति का युग था ।" इस कथन की पुष्टि करते हुए इस क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डालिये ।

१४—जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि जैन-धर्म की भारत को क्या सांस्कृतिक देन है ?

१५—गौतम बुद्ध के जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिये और उनकी शिक्षाओं तथा उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिये ।

१६—बौद्ध-धर्म की उन्नति तथा पतन के कारण बतलाइये ।

१७—बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म की तुलना कीजिये । वैदिक धर्म

१८—बौद्ध-धर्म की भारत को क्या सांस्कृतिक देन है ?

सांस्कृतिक

१९—छठी शताब्दी ई० पू० में भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा कैसी थी ?

२०—सिकन्दर के आक्रमण का संक्षिप्त परिचय दीजिये । इस आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२१—मौर्य कौन थे ? मौर्य-काल का इतिहास जानने के हमारे कौन-कौन से प्रमुख साधन हैं ?

२२—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

२३—अशोक के शासन पर प्रकाश डालते हुए बतलाइये कि उसका शासन कहाँ तक लोक-मङ्गलकारी था ?

२४—अशोक के धर्म की व्याख्या कीजिये और बतलाइये कि अपने धर्म के प्रचार के लिए उसने क्या-क्या उपाय किये ?

२५—अशोक की गणना भारत के महान् सम्राटों में क्यों होती है ?

२६—मौर्य-साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे ?

२७—मौर्य-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

२८—कुषाण कौन थे ? कनिष्क इस वंश का सबसे बड़ा सम्राट् क्यों माना जाता है ?

२९—समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन क्यों कहा गया है ?

३०—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-प्रबन्ध का वर्णन कीजिये ।

३१—गुप्त-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

३२—गुप्त-काल को भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग क्यों माना जाता है ?

३३—हर्षवर्द्धन की गणना भारत के महान् सम्राटों में क्यों की जाती है ?

३४—मेगस्थनीज, फाह्यान तथा ह्वेनसांग का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

३५—राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं ? उनमें कौन-सा सिद्धान्त सबसे अधिक तर्क-संगत है ?

३६—राजपूतों के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए उनके पतन का कारण बतलाइये ।

३७—प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में किस प्रकार हुआ ?

३८—अरब वालों का शासन सिन्ध में अस्थायी क्यों सिद्ध हुआ ?

३९—महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की दशा कैसी थी ?

४०—इल्तुतमिश ने दिल्ली-सल्तनत की क्या सेवाएँ कीं ?

४१—बलबन के कृत्यों तथा उसके राजस्व-सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये ।

४२—अलाउद्दीन खिलजी के क्या उद्देश्य थे ? उसे अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफलता मिली ?

४३—अलाउद्दीन खिलजी के शासन-प्रबन्ध का वर्णन कीजिये ।

४४—अलाउद्दीन खिलजी के बाजारों के प्रबन्ध का परिचय दीजिये ।

४५—अलाउद्दीन खिलजी के सैनिक तथा आर्थिक सुधारों का वर्णन कीजिये ।

४६—अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिण-विजय का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

४७—अलाउद्दीन खिलजी को दिल्ली-सल्तनत का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान मानना कहाँ तक उचित है

४८—मुहम्मद बिन तुगलक की आयोजनाओं का वर्णन कीजिये और उनकी विफलता के कारण बतलाइये ।

४९—मुहम्मद बिन तुगलक को पागल कहना कहाँ तक उचित है ?

५०—फीरोज शाह तुगलक के शासन-प्रबन्ध का वर्णन कीजिये ।

५१—तुगलक-वंश के पतन के क्या कारण थे ? मुहम्मद बिन तुगलक तथा फीरोज तुगलक इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी थे ?

५२—ब्रहमनी-वंश के उत्थान तथा पतन का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

५३—विजयनगर राज्य की शासन-व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय दीजिये और उसके पतन के कारण बतलाइये ।

५४—दिल्ली-सल्तनत के पतन के कारणों का वर्णन कीजिये ।

५५—भक्ति-आन्दोलन के क्या कारण थे ? किन्हीं दो भक्तों के जीवन तथा उपदेशों का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

1. [illegible]
2. तक्षशिला
3. सारनाथ
4. नालन्दा
5.

1. राजपूतों की पराजय के कारण तथा तुर्कों की विजय के क्या कारण थे।

तालीकोट का 'युद्ध' -Notes बनाने हैं।